बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्
पटना-८००००४

कृपया यह ग्रन्थ नीचे निर्देशित तिथि के पूर्व अथवा उक्त तिथि तक वापस कर दें। विलम्ब से लौटाने पर प्रतिदिन दस पैसे विलम्ब शुल्क देना होगा।

4/5/82		
14-6-84		

वाराणसी-वैभव

पं० कुबेरनाथ सुकुल

बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्
पटना

प्रकाशक :
बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्
पटना—८००००४

प्रथम संस्करण, २०००

शकाब्द १८९९; विक्रमाब्द २०३४; खीष्टाब्द १९७७।

मूल्य : ३५.०० रुपए

मुद्रक :
बेनीमाधव प्रेस
हिन्द पीढ़ी, राँची

वक्तव्य

चिर-प्रतीक्षित गुरुगौरव-ग्रन्थ 'वाराणसी-वैभव' को प्रकाशित करते हुए हमें अपार हर्ष एवं आत्मसन्तोष का अनुभव हो रहा है। देवनगरी वाराणसी का ऐतिहासिक महत्त्व तो अपनी विशिष्टता और आकर्षकता के लिए सर्वविदित ही है, किन्तु देव-प्रतिष्ठानों की नगरी होने का सौभाग्य भी इसकी अपनी सर्वातिशायिनी विशेषता है। इस ग्रन्थ में वाराणसी के देव-प्रतिष्ठानों, तीर्थों आदि की ऐतिहासिक परम्परा, उनका मूलोच्छेदन, पुनः प्रतिष्ठापन और सही स्थिति आदि का ऊहापोह-पूर्वक विस्तृत विवेचन इतिहास, पुराणों और निबन्ध-ग्रन्थों की अनुश्रुतियों तथा प्रामाणिक उद्धरणों के साथ किया गया है; साथ ही तीर्थों के १६ मानचित्र और मन्दिरों तथा देवमूर्त्तियों के यथाप्राप्त चित्र भी दिये गये हैं। इस प्रकार यह अपने विषय का पूर्ण प्रामाणिक सन्दर्भ-ग्रन्थ बन गया है। वाराणसी के देव-प्रतिष्ठानों और मन्दिरों की सही जानकारी के लिए इस ग्रन्थ की उपयोगिता सर्वत्र स्वीकृत होगी, ऐसा हमारा दृढ़ विश्वास है।

ग्रन्थ-लेखक पं० श्रीकुबेरनाथ सुकुल अपने विषय के निष्णात विद्वान् हैं। वे वाराणसी के निवासी हैं और उन्होंने अपनी जानकारी के सभी सन्दर्भों का अध्ययन करके इस ग्रन्थ को प्रामाणिक बनाने में अथक परिश्रम किया है। काशी के माहात्म्य के अनुकूल इस अध्यवसायपूर्ण स्तुत्य प्रयास के लिए ज्ञानवयोवृद्ध श्रीसुकुलजी सभी सुविज्ञ पाठकों के अभिनन्दनीय होंगे, इसमें सन्देह नहीं है।

परिषद् जन्मकाल से ही अपने उद्देश्य के अनुसार पारगामी विद्वद्वृन्द द्वारा लिखित ग्रन्थों को प्रकाशित कर हिन्दी-वाङ्मय के भाण्डार को अनवरत समृद्ध और अलंकृत करती आ रही है। इसीलिए, परिषद् शिखरस्थ भारतीय मनीषियों की प्रशस्तियों का पात्र भी बन सकी है। यह 'वाराणसी-वैभव' नामक ग्रन्थ भी उसी अविच्छिन्न शृंखला की एक बहुमूल्य कड़ी के रूप में प्रस्तुत किया जा रहा है। आशा है, अभिज्ञजन हमारे इस नवीन ग्रन्थ को भी परिषद् के अन्य प्रकाशनों की तरह अपनाकर हमारी प्रगति में उत्प्रेरक बनेंगे और हमारा उत्साहवर्द्धन करके हमें कृतकृत्य करेंगे।

गंगा-दशहरा
सं० २०३४ विक्रमाब्द

हंसकुमार तिवारी
निदेशक

प्रस्तावना

हिन्दू-समाज में सहस्रों वर्षों से काशी तथा वाराणसी के प्रति बड़ी श्रद्धा रही है। यह श्रद्धा इतनी प्रगाढ़ थी और है कि भारतवर्ष में काशी को ही सर्वाधिक पवित्र हिन्दू-तीर्थ माना जाता रहा है और यह परम्परा पर्याप्त प्राचीन हो गई है। सुदूर दक्षिण से कश्मीर तक तथा असम से गुजरात तक के सभी प्रदेशों से अत्यधिक कष्ट सहकर लाखों यात्री आज भी काशी-यात्रा को आते हैं और अपने अन्तःकरण में शान्ति तथा उल्लास का अनुभव करते हैं। इस कारण काशी के विषय में अधिकाधिक, परन्तु आधिकारिक साहित्य का अपना ही महत्त्व है। वर्त्तमान समय तथा पुराणकाल की मानसिक परिस्थितियों में इतना बड़ा अन्तर है कि सभी पुरातन बातें अब ग्राह्य-मान्य नहीं रह गईं, परन्तु जिन बातों को अब भी धर्मप्राण जनसाधारण ढूँढ़ते हैं, वे भी धीरे-धीरे भूलती जा रही हैं और इधर बहुत दिनों से ऐसा साहित्य सामने नहीं आया, जिसमें इनको जीवित रखने का प्रयत्न किया गया हो। महाभारतकाल से प्रारम्भ होकर ब्रह्मवैवर्त्तपुराण तथा पद्मपुराण के समय तक के पौराणिक तथा अन्य परवर्त्ती साहित्य वाराणसी की धार्मिक परिस्थिति का विस्तृत विवेचन करते हैं, परन्तु सन् ११९४ ई० में काशी के मुसलमानों के अधिकार में आने के बाद के परिवर्त्तनों का विवेचन तथा विश्लेषण कहीं नहीं मिलता। वाचस्पति मिश्र के तीर्थचिन्तामणि (सन् १४६० ई०), भट्टनारायण के त्रिस्थली-सेतु (सन् १५८० ई०) तथा मित्र मिश्र के तीर्थप्रकाश (सन् १६२० ई०) से कुछ सामग्री प्राप्त हो सकती है, परन्तु ये सभी ग्रन्थ संस्कृत में हैं। इधर सौ वर्ष पूर्व शेरिंग ने काशी के विषय में अथक परिश्रम करके अपनी पुस्तक 'बनारस दि सैक्रेड सिटी ऑव दि हिन्दूज' अँगरेजी में लिखी। दो-तीन और अँगरेजों ने भी इस विषय में पुस्तकें लिखीं। यह सब होते हुए भी हिन्दी-भाषा में इस विषय पर कोई आधिकारिक पुस्तक नहीं लिखी गई। अब से प्रायः पैंसठ वर्ष पूर्व पं० नारायणपति त्रिपाठी जी ने काशीखण्ड का हिन्दी-अनुवाद प्रकाशित किया था, परन्तु वह भी बहुत दिनों से अलभ्य है। ब्रह्मवैवर्त्तपुराण के काशीरहस्य से अभी भी हिन्दी जाननेवाले लाभ नहीं उठा सकते। अन्य पुराणों में काशी के विषय में जो छिटपुट सामग्री मिलती है, वह भी एकत्र नहीं हो पाई। इन सभी कारणों से जनमानस काशी के आधिदैविक वैभव को भूलने लगा है। जो लोग इस विषय से उदासीन हैं, उनकी तो बात ही क्या, अपितु जो लोग इस विषय को जानने के लिए उत्सुक हैं, उनको भी इस विषय की सामग्री सुलभ नहीं है। समाचारपत्रों में यदा-कदा कुछ लेख निकलते हैं। कुछ समाचारपत्रों ने काशी-विषयक विशेषांक भी निकाले हैं। हिन्दी जाननेवालों के लिए बस इतनी ही जानकारी हो पाती है। इस कमी को दूर करने की दृष्टि से ही इस पुस्तक का निर्माण हुआ है। सभी बातों का इसमें आना न तो सम्भव ही था और न हुआ ही है। तीर्थों के माहात्म्य का विषय इतना विस्तृत तथा गहन है कि उसके समुचित निर्वाह के लिए एक स्वतन्त्र ग्रन्थ अपेक्षित है। इस कारण उसका समावेश अत्यन्त संक्षेप में ही करना पड़ा है।

पुराण-साहित्य के अनुसार वाराणसी की आधिदैविक विभूतियाँ बहुसंख्यक हैं। एक सहस्र से कुछ अधिक तीर्थों का विवरण पुराण-साहित्य में लेखक को मिला है। इनकी भौगोलिक स्थिति का पुराणकालीन वर्णन सहायक होते हुए भी अब स्पष्ट नहीं हो पाता; क्योंकि बहुत-से ह्रद, कुण्ड तथा सरोवर पाट दिये गये, वन-प्रदेश कट गये और बहुत-से तीर्थ तथा देवायतन अपने स्थान से इधर-उधर हट गये। इस प्रकार पुराणों में वर्णन किये गये इन तीर्थों का ठीक-ठीक पता वर्त्तमान काल में नहीं लगता। प्रस्तुत ग्रन्थ में इस बात का प्रयत्न किया गया है कि जिन देवस्थानों तथा तीर्थों का अभीतक पता लग सका है, उनका वर्त्तमान स्थान-निर्देश स्पष्ट रूप से कर दिया जाय और बहुत अंश तक इसमें सफलता भी मिली है। परिशिष्ट में इन सुविख्यात तीर्थों की एक तालिका वर्णानुक्रम से अलग भी दे दी गई है। इन्हें मानचित्रों (नक्शों) में भी दिखलाया गया है। जो इस पुस्तक के साथ ही परिशिष्ट में प्रकाशित किये जा रहे हैं।

सन् ११९४ ई० तक तो स्थिति स्पष्ट तथा असन्दिग्ध थी। जनमानस श्रद्धालु था और यात्रामात्रा का क्रम निर्बाध चलता रहता था, जिससे जानकार लोगों की संख्या बहुत बड़ी थी, परन्तु उस समय अचानक राजनीतिक वज्रपात हुआ, जिससे हिन्दू-समाज स्तब्ध हो गया और बहुत दिनों तक इसी दशा में रहा। इस अवधि में काशी के सभी मन्दिर ध्वस्त कर दिये गये और भीषण आतंक का साम्राज्य स्थापित हुआ। इसके बाद धीरे-धीरे कुछ शान्ति हुई और धार्मिक-सामाजिक जीवन पुनः सँभलने लगा। मन्दिरों का पुनः निर्माण हुआ। कुछ देवताओं को अपने स्थान से हटकर अन्यत्र प्रतिस्थापित होना पड़ा। परन्तु शीघ्र ही विनाश की दूसरी लहर आई, और फिर तीसरी, चौथी और पाँचवीं। बारम्बार की इस तोड़फोड़ तथा तज्जनित स्थानान्तरणों से जनमानस में भ्रम उत्पन्न होने लगे, यात्राओं में कठिनाइयाँ होने लगीं, और परिणामस्वरूप, यात्राक्रमों में परिवर्त्तन आवश्यक हुए। ऐसी परिस्थिति प्रायः पाँच सौ वर्षों तक चलती रही। अठारहवीं शताब्दी के मध्य से पुनः शान्ति स्थापित हुई और मन्दिरों का निर्माण तथा पुनर्निर्माण प्रारम्भ हुए। बहुत-से पुराने मन्दिर, जो खंडहरों के रूप में पड़े थे, फिर से बने और इस प्रकार एक ही देवता के दो या दो से अधिक स्थान हो गये। इससे कुछ द्विविधा उत्पन्न होने लगी तथा भ्रम का एक और कारण उपस्थित हो गया। अँगरेजी शिक्षा के प्रभाव से धीरे-धीरे हिन्दू-समाज में धर्म की आस्थाओं के प्रति उदासीनता का उदय होने लगा और एक-के-बाद-एक आनेवाली नई पीढ़ियों की धार्मिक अनभिज्ञता क्रमशः बढ़ती गई और इस कारण बहुत-से तीर्थों तथा देवायतनों के नाम भी जनमानस भूलने लगा। यही स्थिति इस समय भी है। पचास वर्ष पूर्व जितने तीर्थों का पता-ठिकाना लोग जानते थे, उनमें से बहुतों को अब लोग भूल गये हैं। इन सबका परिणाम यह हुआ है कि इस समय पुराणोक्त प्रायः तीन सौ तीर्थ तथा देवायतन ऐसे हैं, जिनका पता-ठिकाना बीस वर्ष के सतत परिश्रम के बाद भी नहीं लगा।

इन कारणों के अतिरिक्त भ्रम का एक और प्रबल कारण भी इधर पचास वर्षों में उत्पन्न हो गया। हमारे नवीन इतिहासकारों ने तीर्थों के सम्बन्ध में बहुत-सी शंकाएँ उठाईं तथा आक्षेप किये। इनका समुचित समाधान करने का कोई प्रयत्न नहीं हुआ, जिसका फल यह

हुआ कि इन शंकाओं पर पुट पड़ने लगे तथा हिन्दू-समाज का युवक-मण्डल इन शंकाओं तथा आक्षेपों को ठीक मानने लगा और उसकी श्रद्धा, जो अँगरेजी शिक्षा के प्रभाव से यों ही संकुचित हो रही थी, और भी शिथिल होने लगी।

इस परिस्थिति का सामना करने की दिशा में यह एक छोटा-सा प्रयास है। तीर्थों के स्थान स्थिर करने और उनका पता-ठिकाना स्पष्ट रूप में देने के साथ ही इन शंकाओं का समाधान तथा आक्षेपों का उत्तर देने का भी यहाँ प्रयत्न किया गया है। आर्यधर्म के क्रमिक इतिहास तथा विशेषतः काशी अथवा वाराणसी में उसके विकास का भी संक्षेप में विवेचन कर दिया गया है। तीर्थों के स्थानान्तरण का भी यथासम्भव विस्तृत विश्लेषण पाठकों की सेवा में उपस्थित किया गया है।

जो लोग लेखक से सहमत न हों, उनसे विनती है कि वे कृपया अपना मत जनमानस के सामने रखने की कृपा करें और जो लोग लेखक के विचारों को ठीक समझें, उनसे प्रार्थना है कि वे कृपया इस विषय पर अपने ज्ञान का लाभ जनसाधारण को देने का अवसर निकालें।

यथासम्भव सभी प्रयत्न करने पर भी पुस्तक में भूलों का रह जाना स्वाभाविक है। अतएव पाठकों से निवेदन है कि इन त्रुटियों की सूचना लेखक को देने की दया करें, जिससे अगले संस्करणों में वे ठीक कर दी जा सकें।

इस पुस्तक के लिखने में तथा इसकी सामग्री एकत्र करने में इतने अधिक लोगों से सहायता मिली है कि उनको व्यक्तिगत रूप से धन्यवाद देना यहाँ सम्भव नहीं है। फिर भी, चिरंजीवी ज्वालाप्रसाद मिश्र का इस विषय में इनका अधिक योगदान रहा है कि उसका उल्लेख आवश्यक है। वे हमारे शिष्य हैं, अतएव उन्हें धन्यवाद देना अनुचित होगा। इसलिए उनको अनेक आशीर्वाद देकर ही सन्तोष करना पड़ता है। गोयनका पुस्तकालय के अध्यक्ष पं० श्रीकृष्णजी पन्त की कृपा के बिना यह प्रयत्न सम्भव ही नहीं था, अतएव उनके हम अत्यन्त आभारी हैं और उन्हीं के साथ-साथ पं० मुरलीधर पाण्डेय जी के भी। यदि आदरणीय रायकृष्ण दास जी तथा स्व० डॉ० सम्पूर्णानन्दजी द्वारा निरन्तर हमारा उत्साहवर्द्धन न होता रहता तो कदाचित् यह पुस्तक पूरी न हो पाती; क्योंकि शारीरिक तथा कौटुम्बिक कठिनाइयों से ओतप्रोत हमारे जीवन में विघ्नों की कमी नहीं रही है। अतः इन गुरुजनों को हमारा सादर प्रणाम अर्पित है।

बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् ने इस पुस्तक को प्रकाशित करने का भार उठाकर हमको अपना ऋणी बनाया है और विशेषतः श्रीहवलदार त्रिपाठी 'सहृदय' जी ने न केवल इस विषय में, अपितु पुस्तक की कमियों को भी पूरा करने में हमारी सहायता की है। दिवोदासेश्वर का वर्णन छूट ही गया था। यह उन्हीं के इंगित करने पर लिखा गया। उनके भी हम आभारी हैं। राजकीय पुरातत्त्व-संग्रहालय, लखनऊ तथा भारत-कला-भवन, वाराणसी ने भी चित्रों के प्रकाशन में सहायता की है। उनके भी हम कृतज्ञ हैं। वाराणसी के पुराने कलक्टर श्रीप्रिन्सेप की पुस्तक 'वीउज ऑव बनारस' से उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ के महत्त्वपूर्ण चित्र मिले हैं। उनको भी धन्यवाद देना हमारा कर्त्तव्य है।

—कुबेरनाथ सुकुल

विषयानुक्रमणिका

वाराणसी-वैभव

पहला अध्याय

मानव-जीवन में आर्य-धर्मावलम्बियों का लक्ष्य तथा उसकी पूर्त्ति के साधन

भिन्न-भिन्न देशों तथा सांस्कृतिक परम्पराओं में पुराने समय से मनुष्य अपने जीवन के लक्ष्य पर विचार करते आये हैं और देश तथा काल के अनुसार इन लक्ष्यों में परिवर्त्तन भी होते रहे हैं। इसी आधार पर विभिन्न संस्कृतियों के अपने-अपने जीवन-दर्शन प्रतिपादित हुए और विभिन्न सम्प्रदायों का उदय भी वहुधा इसी सन्दर्भ में हुआ है।

वैदिक काल से ही इस सम्वन्ध में विचार हुआ है और वैदिक तथा अन्य ऋषियों ने इस सम्बन्ध में अपने मतों का प्रतिपादन भी समय-समय पर किया है। इस विषय का विस्तृत विवेचन इस पुस्तक का विषय नहीं है, परन्तु वैदिक धर्म के विविध अंगों का रहस्य समझने के लिए इस लक्ष्य को हृदयंगम करना अनिवार्य है।

वैदिक आर्य-परम्परा के अनुसार धर्म, अर्थ, काम, तथा मोक्ष जीवन के चार लक्ष्य निर्धारित हुए थे। इनको पुरुषार्थ-चतुष्टय भी कहा जाता है और इनका स्वरूप विकासात्मक है। मनुष्य का अन्तिम लक्ष्य मोक्ष है और धर्म, अर्थ तथा काम क्रमशः उस लक्ष्य को प्राप्त करने की सीढ़ियाँ हैं। धर्म के विना अर्थ की सात्त्विक प्राप्ति सम्भव नहीं और धर्म तथा अर्थ के विना कामनाओं की पूर्त्ति हो ही नहीं सकती। रहा मोक्ष, वह तो कामना की सर्वोच्च स्थिति है, जिसके लिए कर्म का ही नाश आवश्यक है। इस विचारधारा के अनुसार जीवन को सफल बनाने की आधारशिला धर्म है। विना धर्म का आश्रय लिये यह सफलता सम्भव नहीं होती।

धर्म शब्द का अर्थ बड़ा व्यापक है। जन्म से मृत्यु-पर्यन्त जितने भी कर्त्तव्य हैं, सभी धर्म हैं। इसी प्रकार जितनी भी प्राकृतिक क्रियाएँ हैं, वे सभी धर्म के अंग हैं। धर्म की परिभाषा करना बड़ा कठिन काम है, अतएव उसकी व्यापकता को समझने के लिए यह कहा जाता है कि जो भी अधर्म नहीं है, वह धर्म है। अधर्म की परिभाषा अपेक्षाकृत सरल है। किसी भी शारीरिक, कौटुम्बिक, सामाजिक, नैतिक अथवा वैधानिक नियम की अवहेलना अधर्म है। इस दृष्टिकोण से देखने पर धार्मिक जीवन का अर्थ इन सभी नियमों का पालन करते हुए सात्त्विक जीवन-यापन करना होता है। ये नियम देश-काल के अनुसार समय-समय पर बदलते रहे हैं और यही कारण है कि भिन्न-भिन्न स्मृतियों में इस विषय में भेद दिखाई पड़ते हैं। तात्पर्य यह कि वर्णाश्रम-धर्म का निर्वाह करते हुए सात्त्विक जीवन सभी सफलताओं की आधारशिला है। परन्तु, केवल इतने से ही अर्थ, काम, तथा मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती। उसके लिए इसके साथ-साथ कुछ-न-कुछ दैवी आश्रय

भी अपेक्षित होता है और इस भगवत्कृपा को प्राप्त करने के लिए प्रयत्न करना पड़ता है। इसी प्रयत्न को जनसाधारण धार्मिक कृत्य कहते हैं। देवपूजन, यज्ञ, हवनादि कर्म, दान, तीर्थयात्रा, भजन, कीर्त्तन, नामोच्चारण इत्यादि इसी प्रयत्न के साधन हैं।

संसार के सभी आस्तिक धर्मों की यही पुकार है कि नैतिक जीवन के साथ-साथ ईश्वर की आराधना की जाय, यद्यपि इस आराधना का स्वरूप प्रत्येक धर्म में अलग-अलग है। इसी प्रकार प्रत्येक धर्म के विचार से कुछ स्थान-विशेष माहात्म्यवाले माने जाते हैं। ईसाई लोगों के लिए येरूशलम तथा मुसलमानों के लिए मक्का-मदीना की यात्रा पुनीत कही जाती है। बौद्धधर्मावलम्बी लुम्बिनी, बोधगया सारनाथ, कुशीनगर की यात्रा करते हैं और जैन लोग गिरिनार और पार्श्वनाथ पर्वत के दर्शनों को पुण्यात्मक मानते हैं। विश्वास यह है कि तीर्थों में जाने से पुण्यलाभ होता है और भगवत्कृपा की प्राप्ति होती है। भारतवर्ष बहुत बड़ा देश है, अतएव यहाँ के तीर्थों की संख्या भी बड़ी है, यद्यपि उनमें भी तीन तीर्थों को प्राधान्य दिया गया है, अर्थात् काशी, प्रयाग तथा गया। इसी प्रकार, सात पुरियाँ हैं और चार धाम। इन सभी का अपना-अपना महत्त्व है और हिन्दुओं के धार्मिक जीवन में किसी-न-किसी रूप में इनका कुछ-न-कुछ समावेश होता ही है।

यों तो, सात्त्विक जीवन सदैव ही पुण्यमय है, परन्तु तीर्थयात्रा के समय उसपर विशेष बल दिया जाता है, जैसा आगे चलकर कहा जायगा। तीर्थयात्रा अल्पकालीन होती है, अतएव उससे प्राप्त होनेवाला पुण्य भी यात्राकाल में ही संचित होता है। इस बात को ध्यान में रखते हुए तीर्थवास का माहात्म्य सामने आता है और जीवन के अन्तिम दिनों में जब मनुष्य संसार के झगड़ों से निवृत्त होते हैं, तब किसी तीर्थ में शान्तिमय जीवन और भगवद्भजन की इच्छा उनके मन में उठती है। तीर्थवासियों के जीवनक्रम की अपनी एक अलग मर्यादा होती है, जिसका उल्लेख भी यथासमय किया जायगा।

भारतवर्ष में आर्य लोग कब आये, इस विषय में विद्वानों में मतैक्य नहीं है और न वे इस बात पर एकमत हो पाये हैं कि आर्यलोगों का पुराना देश कौन था। पाश्चात्य विद्वान् मध्य एशिया के पामीर-प्रदेश को आर्यों का आदि देश मानते हैं, परन्तु श्रीबाल-गंगाधर तिलक ने यह सिद्ध किया है कि वेदों का उदय उत्तरी ध्रुव के समीप हुआ था। एक मत यह भी है कि आर्य लोग सप्तसिन्धु, अर्थात् पंजाब में ही रहते थे। जो कुछ भी हो, यह तो निर्विवाद है कि भारतवर्ष में आर्य लोगों का पहला निवास-स्थान पंजाब में था। पंजाब के पश्चिम के प्रदेशों को आर्य तिरस्कार की दृष्टि से देखते थे, इसका प्रमाण वेदों में मिलता है और इसी प्रकार पंजाब के पूर्व के प्रदेश भी तिरस्कृत समझे जाते थे। आधुनिक इतिहासकारों का मत है कि पूर्व के प्रदेश अनार्यों के अधिकार में होने के कारण प्रारम्भ में तिरस्कृत थे, परन्तु जैसे-जैसे वे आर्यों के अधिकार में आते गये, वैसे-वैसे उनकी प्रतिष्ठा बढ़ती गई। यह बात ठीक हो सकती है, परन्तु गान्धार तथा मूजवान् प्रदेश क्यों तिरस्कृत थे, इसका कोई ठीक कारण नहीं मिलता। इस आधार पर कुछ लोगों का यह भी मत है कि आर्यों का आदि देश पंजाब ही था और उसके चारों ओर के प्रदेशों में अनार्य-धर्म तथा संस्कृति प्रचलित थी।

इस पृष्ठभूमि में अब हम काशी के विषय में सर्वांगीण विचार करेंगे और यह देखने का प्रयत्न करेंगे कि वेदों के संहिताकाल से पुराणों के समय तक इस तीर्थ का क्या स्वरूप था और किस प्रकार विकसित होकर वह अपने वर्त्तमान रूप तक पहुँचा। इन सहस्रों वर्षों में वैदिक धर्म का अपना विकास भी हो रहा था और नई-नई धार्मिक रूढियाँ तथा परम्पराएँ स्थापित हो रही थीं। अनार्य-धर्म की पुरानी मान्यताएँ भी इन नवागन्तुक विचारधाराओं से प्रभावित होकर नये स्वरूप धारण कर रही थीं और इस प्रकार भारतवर्ष का धार्मिक स्वरूप निरन्तर निखर रहा था। धार्मिक विकास की यह परम्परा पुराणकाल के बाद भी अक्षुण्ण रूप से चलती रही और अब भी चल रही है और जैसा हम आगे चलकर देखेंगे, इस विकास में काशी का बहुत बड़ा हाथ रहा है। यही कारण है कि अखिल हिन्दू-समाज में काशी का नाम इतने आदरपूर्वक लिया जाता है। यहाँपर हम अपने पाठकों का ध्यान एक आवश्यक बात की ओर दिलाना चाहते हैं। वह यह कि यद्यपि आजकल काशी शब्द वाराणसी नगर के अर्थ में प्रयुक्त होता है, तथापि प्राचीन काल में इस शब्द से काशी-राज्य या काशी-जनपद का बोध होता था, जिसकी राजधानी वाराणसी नगरी थी।

काशी का धार्मिक इतिहास

आदिम निवासियों का धर्म—आर्यों द्वारा वैदिक धर्म के प्रसार के पूर्व काशी-प्रदेश में किस धर्म का प्रचार था और उसका क्या स्वरूप था, इसको समझने के लिए उस समय के भारत का धार्मिक स्वरूप जानना आवश्यक है। अतएव, तत्कालीन धर्म का स्थूल वर्णन करने के बाद ही काशी के विषय में कुछ कहा जा सकेगा।

इस विषय में आधुनिक विद्वानों का मत है कि जब मानव बाँस और लकड़ियों से झोपड़ियाँ बनाकर उनमें रहने लगे थे, तब वे वृक्षों तथा पर्वतों की पूजा करते थे, जिसमें फल, फूल तथा मांस का प्रसाद लगाया जाता था। पशुओं की बलि देने की प्रथा भी चल चुकी थी। बाद में 'माता' की (जो कदाचित् प्रकृति अथवा शक्ति थीं) पूजा होने लगी। इसी के साथ-साथ बहुत-से ग्रामदेवताओं की आराधना भी प्रारम्भ हुई। ये देवी-देवता वर्त्तमान देवी-देवताओं से भिन्न थे और उनकी प्रसन्नता के लिए पशुओं तथा कभी-कभी मनुष्यों की भी बलि दी जाती थी। मुर्दे गाड़े भी जाते थे और जलाये भी जाते थे। बची हुई अस्थियाँ मिट्टी के बरतनों में भरकर गाड़ दी जाती थीं। धर्म का यह रूप उस समय समस्त भारत में प्रचलित था। तत्कालीन भारतवर्ष के समस्त निवासियों को आजकल के विद्वान् द्रविड मानते हैं, यद्यपि पुराणों के अनुसार द्रविड देश विन्ध्य-पर्वत-श्रेणी के दक्षिण के भाग का नाम था। सम्भवतः, द्रविड देश के आदिनिवासी उत्तर भारत में भी फैले हुए थे अथवा देश-भर में उस समय सभी एक ही वर्ग के मनुष्य रहते थे। जो कुछ भी हो, पुराणकाल में कर्णाटक, तैलंग, गुर्जर, महाराष्ट्र तथा आन्ध्रदेश को, जो विन्ध्याचल के दक्षिण में थे, द्रविड देश माना जाता था और उनमें रहनेवालों के लिए 'पंचद्रविड' शब्द प्रयोग में आता था :

कार्णाटाश्चैव तैलङ्गा गुर्जरा राष्ट्रवासिनः।
आन्ध्राश्च द्राविडाः पञ्च विन्ध्यदक्षिणवासिनः ॥ १ ॥ (स्कन्दपुराण)

ऋग्वेद में इनके लिए 'दस्यु' शब्द मिलता है, जिसका अर्थ है शत्रु अथवा दास। आर्यों का इनके साथ संघर्ष हुआ था, जिसके वेदों में सर्वत्र संकेत मिलते हैं और इन लोगों के लिए ही वहाँ 'शिश्नदेवा' शब्द का भी प्रयोग किया गया है, ऐसा आधुनिक विद्वानों का मत है। मोहनजोदड़ो तथा हड़प्पा की खुदाई में जो सामग्री मिली है, उससे यह भी जान पड़ता है कि जिस समय ऋग्वेदीय आर्य-सभ्यता का पंजाब में विकास हो रहा था, उससे सैकड़ों वर्ष पूर्व सिन्धु नदी की घाटी में एक पूर्णतः विकसित सभ्यता का विकास हो चुका था, जिसका सम्बन्ध भी द्रविडों से माना जाता है। इन लोगों के धर्म में प्रकृतिदेवी अथवा मातृदेवी का सबसे प्रमुख स्थान था, जिनकी पूजा उस समय पश्चिमी एशिया में भी प्रचलित थी। इसके अतिरिक्त, तीन मुखवाले एक देवता की भी आराधना होती थी, जिनके चारों ओर पशुओं की आकृतियाँ बनी हैं। विद्वानों के अनुसार यह शिव अथवा पशुपति का तत्कालीन प्रतिरूप है। वर्त्तमान आकार से मिलते-जुलते आकार के शिवलिंग भी पूजे जाते थे और वृक्षों तथा पशुओं की भी पूजा होती थी। यहाँ भी मुर्दे गाड़े जाते थे और जलाये भी जाते थे तथा अवशिष्ट अस्थियाँ मिट्टी के बरतनों में रखकर गाड़ दी जाती थीं।

विचार करने से यह दीख पड़ता है कि उपर्युक्त आदिम धर्म का ही यह विकसित स्वरूप था। सिन्धु-घाटी की सभ्यता गंगा नदी की घाटी में पूर्णरूपेण कदाचित् कभी नहीं फैली, परन्तु उसके छोटे-छोटे प्रतिनिधि उत्तर भारत में भी कहीं-कहीं पर मिलते हैं। मध्यप्रदेश के पश्चिमी तथा पंजाब के दक्षिण-पूर्वी भागों में इन स्थानों की एक श्रृंखला-सी पाई जाती है। उत्तरप्रदेश में कौशाम्बी के सबसे प्राचीन स्तर पर इस सभ्यता के प्रभाव गढ़ के फाटक की रक्षा-व्यवस्था में दिखाई पड़ते हैं, जिससे यह समझा जाता है कि इस सभ्यता का प्रत्यक्ष नहीं तो परोक्ष प्रभाव उत्तरप्रदेश में इलाहाबाद के आस-पास तक पहुँच गया था।

जो कुछ भी हो, इस दिग्दर्शन से भारत में प्रचलित तत्कालीन धर्म के स्वरूप का कुछ-न-कुछ भास होता है, जिससे जान पड़ता है कि उस समय भिन्न-भिन्न नामवाली देवियों तथा ग्रामदेवताओं की आराधना होती थी। इन देवी-देवताओं की संख्या बहुत बड़ी थी और उनके नाम तथा लक्षण पूरी तरह निर्धारित हो चुके थे। भिन्न-भिन्न देवी-देवताओं की आराधना में होनेवाली विभिन्नताएँ स्पष्ट रूप से स्थिर हो चुकी थीं और उनकी आराधना के साथ-साथ कुछ पशुओं की पूजा होती थी।

काशी के आदिम निवासियों के धर्म का भी ठीक यही स्वरूप था, जिसकी झलक अब भी विन्ध्याचल-पर्वत में रहनेवाले आदिवासियों के आचार-व्यवहार में मिलती है, और जिस समय आर्य लोग पंजाब से चलकर इस भू-भाग में पहुँचे, उस समय इसी धर्म के माननेवाले यहाँ बसे थे। भारतवर्ष के अन्य भागों में बसनेवालों से काशीवासियों में अथवा उनके धर्म में कोई स्पष्ट विशेषता होने के प्रमाण अभी तक नहीं मिले हैं।

आर्यों द्वारा काशी की भू-प्रतिष्ठा तथा वहाँ का धार्मिक महत्त्व

राज्य-विस्तार करते हुए आर्य लोग विदेघ माथव के नेतृत्व में जिस समय कुरुक्षेत्र से पूर्व की ओर चले और सदानीरा नदी (वर्त्तमान गण्डक नदी) तक पहुँचकर ही रुके, उसी समय उनका एक दल इस भू-भाग में वस गया, ऐसा समझ पड़ता है। यहीं से काशी की वैदिक परम्परा का आरम्भ होता है, यद्यपि जनसाधारण काशी के धार्मिक महत्त्व को अनादि काल से मानते हैं और यहाँ की महत्ता को केवल शैव ही नहीं, वरन् अन्य देवताओं के उपासक भी स्वीकार करते हैं और सहस्रों वर्षों से स्वीकार करते आये हैं। यह विषय इतना महत्त्वपूर्ण है कि इस सम्बन्ध में विस्तृत विचार आवश्यक प्रतीत होता है।

काशी की धार्मिक महत्ता की खोज में मनुस्मृति से कुछ सूचना मिलती है। वहाँ आर्य-देश को चार भागों में विभाजित किया गया है, जो केन्द्र से प्रारम्भ होकर बराबर फैलते गये हैं और इसी प्रकार उनका माहात्म्य भी कम होता गया है। सबसे पवित्र तथा सबसे छोटा ब्रह्मावर्त्त था, जो सरस्वती तथा दृषद्वती नदियों के बीच में था (मनुस्मृति, २।१७)। यह स्थान कुरुक्षेत्र के आसपास था। इसको 'महाभारत' में 'कुरुक्षेत्र' ही कहा गया है (महाभारत, ३।८३।४ तथा २०५)। इससे बड़ा इसके चारों ओर ब्रह्मर्षि देश था, जिसमें कुरुक्षेत्र, अर्थात् ब्रह्मावर्त्त के अतिरिक्त मत्स्य देश, पांचाल तथा शूरसेन-प्रदेश थे (मनु० २।१९)। इसका धार्मिक महत्त्व ब्रह्मावर्त्त से कम था, परन्तु और आगे कहे जानेवाले प्रदेशों से अधिक था। इसके बाद मध्यदेश था, जिसमें ये दोनों भाग सम्मिलित थे; परन्तु पूर्व में उसकी सीमा प्रयाग, अर्थात् वर्त्तमान इलाहाबाद तक पहुँचती थी। इसके उत्तर और दक्षिण में हिमालय तथा विन्ध्य-पर्वतश्रेणियाँ थीं। इसका महत्त्व ब्रह्मावर्त्त तथा ब्रह्मर्षि देश से कम था। तदुपरान्त, सबसे बड़ा भूभाग आर्यावर्त्त था, जो हिमालय तथा विन्ध्य-पर्वतश्रेणियों के मध्य में पूर्व समुद्र से पश्चिम समुद्र तक था (मनु० २।२१–२२)। इसका धार्मिक महत्त्व सबसे कम था।

अब प्रश्न यह उठता है कि 'मनुस्मृति' में वर्णन की हुई परिस्थिति किस समय थी और काशी की धार्मिक महिमा कब बढ़ी। इसके मूल में यह प्रश्न है कि काशी में वैदिक आर्यधर्म की स्थापना किस समय हुई। आधुनिक विचार से 'मनुस्मृति' की रचना ईसा-पूर्व ३०० से पहले की नहीं है, परन्तु मानव-धर्मसूत्र, जिनके आधार पर मनुस्मृति बनी है, 'गौतम-धर्मसूत्र' तथा 'बोधायन-धर्मसूत्र' के समकक्ष माना जाता है, यद्यपि अब वह अलभ्य है। उसका समय प्रायः ५०० ई० पू० होगा। उपनिषदों की रचना ई० पू० ६०० के पहले मानी जाती है। उनमें काशिराज अजातशत्रु का वर्णन है। शतपथब्राह्मण के, जिसकी रचना ई० पू० ८०० समझी जाती है, बहुत पहले काशिराज धृतराष्ट्र ने अश्वमेघ किया था। एक बात और भी ध्यान में रखनी है कि मनुस्मृति में जिस परिस्थिति का वर्णन है, वह उसकी समकालीन परिस्थिति नहीं है, वरन् बहुत पहले की है। क्योंकि ईसा-पूर्व छठी-सातवीं शताब्दी में तो काशी की धार्मिक महत्ता सर्व-स्वीकृत हो चुकी थी और इसी कारण भगवान् बुद्ध ने अपना धर्म-चक्र-प्रवर्त्तन वहीं आकर किया था।

विदेघ माथव द्वारा कुरुक्षेत्र के पूर्व के भू-भाग को अपने अधिकार में लेने का उल्लेख पहले किया जा चुका है। इसका वर्णन शतपथब्राह्मण में इस प्रकार मिलता है कि विदेघ माथव अग्निवैश्वानर को अपने मुख में धारण किये हुए अपनी पूर्व की यात्रा के लिए उद्यत हैं। मुख में अग्नि धारण करने के कारण वे मौन हैं और अपने पुरोहित गोतम राहुगण की बात का उत्तर नहीं देते। पुरोहितजी के कई वेदमन्त्रों को पढ़ने का भी कोई फल नहीं होता। अन्त में जब वे **तं त्वा घृतस्नवी मह** इत्यादि मन्त्र को पढ़ते हैं, तब इसके प्रभाव से विदेघ माथव के मुख में अग्निवैश्वानर प्रज्वलित हो उठते हैं और पृथ्वी पर उतरकर अपने निकट की वस्तुओं को जलाते हुए पूर्व की ओर चल पड़ते हैं। विदेघ माथव तथा गोतम राहुगण अपने अनुयायियों के साथ उनके पीछे-पीछे चलते हैं। मार्ग में पड़नेवाली सभी नदियों को जलाते-सुखाते जब अग्निवैश्वानर सदानीरा नदी के तट पर पहुँचते हैं, तब रुक जाते हैं। यह नदी उस समय कौशल तथा विदेह की सीमा बनाती थी। इस प्रकार, सदानीरा के पश्चिम का भाग वैश्वानर द्वारा दग्ध होने के कारण पवित्र हो जाने से आर्यों के रहने योग्य हो गया, परन्तु उसके पूर्व का प्रदेश 'अनग्निदग्ध' होने के कारण अपवित्र ही बना रहा।

यहाँ यह ध्यान में रखना है कि वैदिक कर्मकाण्ड के अनुसार अग्निहोत्र की अग्नि को जब एक स्थान से दूसरे स्थान ले जाना होता है, तब या तो उसको किसी पात्र में रखकर साथ ले चलते हैं, अन्यथा मन्त्र के द्वारा उसको अपने मुख में स्थापित कर लेते हैं और जबतक उसको फिर से जला नहीं लेते, तबतक बोलते नहीं। यह प्रथा आज भी अग्निहोत्रियों में प्रचलित है।

ऊपर की पारिभाषिक शब्दावली में कही हुई बात का सामान्य भाषा में यह तात्पर्य हुआ कि नये राज्य की स्थापना के लिए विदेघ माथव पूर्व की ओर बढ़ने का उपक्रम कर रहे थे। उनके पुरोहित गोतम राहुगण तथा अन्य अनुयायी उनके साथ थे और श्रौताग्नि का उनके साथ जाना धार्मिक कारणों से अनिवार्य था। इस परिस्थिति में उन्होंने अग्नि को वैदिक प्रक्रिया से अपने मुख में स्थापित कर रखा था और इसी कारण वे मौन थे, परन्तु **तं त्वा घृतस्नवी मह** इत्यादि मन्त्र के प्रभाव से अग्नि प्रज्वलित हो उठी और पूर्व की ओर बढ़ चली। इसके दो अर्थ सम्भव हैं। एक तो यह कि सरस्वती नदी के पूर्व के जंगलों में आग लग गई, जिसके कारण जंगल जलते गये और यह अग्निकाण्ड छोटी नदियों से भी नहीं रुक सका और पूर्व की ओर बढ़ती हुई यह दावाग्नि सदानीरा तक जा पहुँची। यह नदी हिमालय से निकलती थी और इसमें सभी ऋतुओं में ठण्डा जल बहता था। इस नदी के तट पर पहुँचकर दावानल बुझ गया और इसके उस पार पूर्व के स्थान जलने से बच गये। दूसरा यह कि इस अग्निकाण्ड के पीछे-पीछे विदेघ माथव के नेतृत्व में जो जन-समुदाय चल रहा था, उसमें से कुछ लोग इस भू-भाग के निवास-योग्य स्थानों में क्रमशः बसते गये और इस प्रकार श्रौताग्नि का वहाँ प्रचार तथा प्रसार होता गया और सदानीरा नदी तत्कालीन वैदिक यज्ञ तथा कर्मकाण्ड के क्षेत्र की पूर्वीय सीमा बन गई। अर्थात्, उस समय सदानीरा के पूर्व में वैदिक धर्म का प्रचार नहीं हुआ और इसी कारण वह क्षेत्र अवैदिक तथा गर्हित माना गया और बहुत दिनों तक वहाँ

का जाना निन्द्य समझा जाता रहा। कोशल तथा काशी के आर्यराज्यों की भू-प्रतिष्ठा इसी समय हुई।

यह परिस्थिति किस समय की है, इसपर विचार करने से ऐसा समझ पड़ता है कि 'अथर्ववेद' की 'पैप्पलाद-शाखा' के रचनाकाल तक विदेघ माथव द्वारा वैदिक धर्म का प्रचार काशी तक नहीं पहुँचा था और इसी कारण वह क्षेत्र उस समय तक न तो मध्यदेश में माना जाता था और न ब्रह्मावर्त्त की आर्य-परम्परा उसको अपना करके समझती थी। कालान्तर में विदेघ माथव सदानीरा नदी (वर्त्तमान गण्डक) तक पहुँच गये तथा अग्निवैश्वानर के आदेश से सदानीरा के पार जाकर रहने लगे (शतपथ, १।४।१।१५—१७) और इस प्रकार वहाँ भी यज्ञादि वैदिक कर्मकाण्ड होने लगा, जिससे उस क्षेत्र का 'अक्षेत्र-तरत्व' मिट गया और सदानीरा के पश्चिम में कोशल तथा पूर्व में विदेह दोनों एक ही समान पवित्र होकर विदेघ माथव के अधिकार में हो गये। अथर्ववेद की शौनकीय आदि अन्य शाखाओं की रचना के समय पूर्व में अंगदेश ही अपवित्र क्षेत्र था, जो वैदिक धर्म-क्षेत्र के बाहर था। गया के आसपास के मगध के दक्षिणी भाग में, जिसका नाम कीकट देश था, अनार्य रहते थे, ऐसा यास्क ने अपने निरुक्त में लिखा है: **कीकटो नाम देशो-ऽनार्यनिवासः** (निरुक्त, ६।३२)। इस प्रकार, मगध तथा अंग के तिरस्कृत होने का कारण अनार्य होना ही समझ पड़ता है।

इस अनुमान के आधार पर ऐसा समझ पड़ता है कि काशी-प्रदेश पर आर्यों का अधिकार विदेघ माथव की पूर्वीय यात्रा के समय ही हुआ, जो शतपथब्राह्मण के समय के बहुत पहले का है; क्योंकि सदानीरा के पूर्व के प्रदेश के पवित्र हो जाने की बात उसमें स्पष्ट रूप से लिखी है। मैक्समूलर के अनुसार 'शतपथब्राह्मण' का समय ई० पू० ६०० से ८०० तक है, परन्तु कुछ आधुनिक विद्वान् इस काल को ई० पू० १००० तक ले जाते हैं। इस प्रकार, आर्यों द्वारा काशी पर अधिकार ई० पू० १००० के बहुत पहले ही हुआ, ऐसा समझ पड़ता है। इस बात की पुष्टि एक अन्य प्रकार से भी होती है। बौद्धग्रन्थ 'दीघनिकाय' के गोविन्दसुत्त के अनुसार बुद्ध के बहुत पहले प्राचीन काल में राजा रेणु के ब्राह्मण-मन्त्री महागोविन्द ने वाराणसी नगरी को बसाया और धृतरट्ठ (धृतराष्ट्र) वहाँ के पहले राजा हुए। 'ऐतरेय ब्राह्मण' (७।१७।७) तथा 'सांख्यायन श्रौतसूत्र' (१५।२६।१) के अनुसार रेणु विश्वामित्र के पुत्र थे। विश्वामित्र का परुष्णी के युद्ध में पराजित होने का उल्लेख ऋग्वेद में मिलता है, जो ई० पू० १००० के बहुत पहले का है। शतपथ-ब्राह्मण में भी काशी के राजा धृतराष्ट्र का उल्लेख है, जिन्होंने अश्वमेध प्रारम्भ किया था और उनके यज्ञ के घोड़े को शतानीक सात्राजित ने छीन लिया था। काशी के राजा दिवोदास महाभारत-युद्ध के बहुत पहले हो चुके थे, यह बात सभी पुराणों में है। इसके अतिरिक्त, एक बात भी ध्यान में रखनी है कि महाभारत-युद्ध के पहले ही भीष्म ने काशिराज की कन्याओं को लड़कर छीना था और उस युद्ध में काशिराज के लड़ने का भी उल्लेख है, जिससे यह स्पष्ट है कि भारत-युद्ध के पूर्व काशी-राज्य बन चुका था। महाभारत-युद्ध का समय ई० पू० १०००–१२०० प्रायः सर्वस्वीकृत है। इस प्रकार, वाराणसी का

वसाना तथा काशी में आर्यसत्ता की स्थापना ई० पू० १५०० अथवा इसके पहले ही हुई, ऐसा सिद्ध होता है।

आर्यों के काशी में बस जाने के बाद से उस क्षेत्र में वैदिक धर्म की निरन्तर अभिवृद्धि होती गई, यहाँतक कि काशिराज धृतराष्ट्र ने अश्वमेध यज्ञ भी प्रारम्भ किया। प्रत्येक राजा अश्वमेध करने का साहस नहीं करता था। प्रभावशाली तथा विस्तृत अधिकार-वाले राजा ही सम्राट् होने के प्रयत्न में यह यज्ञ करते थे। इससे स्पष्ट है कि उस समय काशी-राज्य समृद्ध और शक्तिशाली हो चुका था। अंगदेश भी एक धृतराष्ट्र के अधीन रह चुका है और सम्भवतः ये धृतराष्ट्र काशिराज धृतराष्ट्र ही थे। इसी प्रकार, नये धर्म के आरम्भकाल में इतने बड़े यज्ञ का उपक्रम नहीं हुआ करता। इससे यह भी निस्सन्देह है कि उस समय काशी-राज्य में वैदिक धर्म इतना व्यापक तथा परिपुष्ट हो चुका था कि इतना बड़ा यज्ञ ठाना जा सका। शतपथब्राह्मण ने लिखा है कि काशिराज धृतराष्ट्र के यज्ञ का घोड़ा शतानीक सात्राजित ने छीन लिया और फिर यह कि उस समय से शतपथब्राह्मण की रचना के समय तक इसी कारण काशीवासियों ने श्रौताग्निधारण करना छोड़ रखा था। इस अन्तिम वाक्य से 'काशी का इतिहास' के लेखक यह अनुमान करता है कि काशी में सम्भवतः वैदिक धर्म-पालन में शिथिलता थी। आगे चलकर वहाँ लिखा है कि "क्या इस घटना से काशीवासियों की वैदिक प्रक्रियाओं की ओर अवहेलना प्रकट होती है? ऐसा सम्भव है; क्योंकि वैदिक युग और बहुत बाद तक भी काशी-वासियों में धार्मिक कट्टरता की कमी थी, इसीलिए प्राचीन वैदिक दृष्टि में काशी की कोई धार्मिक महत्ता नहीं थी (का० इ०, पृ० २०)।" इस सम्बन्ध में तीन बातों को ध्यान में रखना है। एक तो यह कि काशिराज धृतराष्ट्र ने अश्वमेध यज्ञ प्रारम्भ किया, जिससे वैदिक प्रक्रियाओं में श्रद्धा स्पष्ट है। दूसरे यह कि उस यज्ञ के अपूर्ण रह जाने के फलस्वरूप ही काशीवासियों ने श्रौताग्नि धारण करना छोड़ा; क्योंकि 'शतपथब्राह्मण' में उसी स्थान पर इसका कारण यह लिखा है कि काशीवासी कहते हैं कि हमसे सोमपान छीन लिया गया है : **हैतदर्व्वाक्काशयंऽग्नीन्नादधतःआत्त सोमपीथाः स्म इति वदन्तः** (शतपथब्रा०, १३।५।४।१९)। इस प्रकार, श्रौताग्नि के धारण न करने का कारण धार्मिक शिथिलता नहीं, वरन् धार्मिक कट्टरता है। यज्ञ करने से ही उनके धार्मिक उत्साह का प्रमाण मिलता है, परन्तु दुर्भाग्य से वह यज्ञ पूरा नहीं हुआ। ऐसी स्थिति में देश-के-देश का यह संकल्प कि जबतक हम अपना यज्ञ पुनः पूरा न कर लेंगे, तबतक श्रौताग्नि धारण न करेंगे, धार्मिक कट्टरता का ही प्रमाण है, न कि शिथिलता का। जिस प्रकार द्रौपदी ने वेणीवन्धन तथा चाणक्य ने शिखा बाँधना छोड़ा था और चित्तौरगढ़ हाथ से निकल जाने पर महाराणा प्रताप ने सोने के बरतनों में भोजन न करने का संकल्प किया था, उसी प्रकार काशीवासियों ने अपने राजा के अश्वमेध की अपूर्त्ति का बदला लेने तक के लिए श्रौताग्नि धारण करना छोड़ दिया था। अब रही प्राचीन वैदिक दृष्टि में काशी की कोई महत्ता न होने की बात। इसका कारण ऊपर पहले ही कहा जा चुका है कि अथर्ववेद की पैप्पलाद-शाखा के समय तक सम्भवतः काशी आर्यों के अधिकार में नहीं आई थी, अतः उसकी धार्मिक महत्ता हो ही नहीं सकती थी और तदुपरान्त आर्यों के अधिकार में आने के बाद तत्कालीन पुण्यभूमि

ब्रह्मावर्त्त से वह इतनी दूर थी कि उसकी धार्मिक महत्ता स्थापित होने में समय लगाना स्वाभाविक था। 'काशी का इतिहास' में इस सम्बन्ध में यह संकेत किया गया है कि मनुस्मृति के अनुसार काशी-प्रदेश मध्यप्रदेश में भी नहीं था। यह बात ठीक है, परन्तु 'मनुस्मृति' में जिस धार्मिक परिस्थिति का भौगोलिक वर्णन है, वह मनुस्मृति के रचनाकाल की नहीं है, यह स्पष्ट है; क्योंकि ईसा-पूर्व ३०० के बहुत पहले काशी की धार्मिक महत्ता स्थापित हो चुकी थी। 'जाबालि-उपनिषद्' में काशी के माहात्म्य का वर्णन मिलता है और 'महाभारत' में भी काशी का तीर्थस्थान के रूप में उल्लेख है। महर्षि वाल्मीकि गंगाजी की स्तुति करते हुए वाराणसी की प्रशंसा कर चुके थे। यहाँ एक बात और भी विचारणीय है कि वैदिक धर्म अन्यधर्मावलम्बियों को अपने धर्म में नहीं लेता था। भारत के पुराने द्रविड-निवासियों को वैदिक धर्मावलम्वी बनाने की प्रक्रिया का कहीं उल्लेख नहीं मिलता। वे तो दस्यु अथवा दास के रूप में ही बने रहते थे। ऐसी स्थिति में वैदिक धर्म की आस्था या धार्मिक कट्टरता इत्यादि जिन गुणों की कमी काशीवासियों में 'काशी का इतिहास' ने स्थापित किया है, वह उन्हीं आर्यों तथा उनके वंशजों के विषय में है, जो विदेघ माथव के अनुयायी होकर आये थे और काशी में बस गये थे। क्या दो-तीन सौ वर्षों के काशी-वास से ही उनके विचारों में परिवर्त्तन हो गया था, जिसके कारण वे ब्रह्मावर्त्त के रहने-वाले अपने पुराने साथियों की दृष्टि में पतित हो गये थे? यह बात तो कुछ समझ में नहीं आती। इतिहास इस बात का साक्षी है कि पूर्व दिशा में आर्यों की सत्ता के क्रमशः बढ़ने के परिणामस्वरूप धर्मक्षेत्र की पूर्वीय सीमा निरन्तर बढ़ती गई है, यहाँतक कि अन्ततोगत्वा वह करतोया नदी तक पहुँच गई, जो बंगाल तथा आसाम की सीमा बनाती है और विदेघ माथव के धर्मक्षेत्र की सीमा सदानीरा की प्राचीन स्मृति के प्रभाव से करतोया का नाम सदानीरा भी हो गया। यह स्थिति महाभारत की रचना के पूर्व पहुँच गई थी; क्योंकि उसमें गण्डकी और सदानीरा को एक न मानकर पृथक्-पृथक् दो नदियाँ कहा गया है और 'अमरकोष' में करतोया और सदानीरा एक ही नदी के दो नाम बतलाये गये हैं :

> गण्डकीं च सदानीरां शर्करावर्त्तमेव च।
> एकपर्वतयो नद्यः क्रमेणैत्या व्रजन्तु ते॥ (महाभारत, २। २०। २७)

सदानीरा के पार करने से धर्म का क्षय होने का जो पुराना विश्वास था, वह उस समय करतोया के सम्बन्ध में माना जाने लगा। इसी पुरानी बात का स्मरण रखते हुए स्मृतिकार ने कहा है :

> कर्मनाशाजलस्पर्शात् करतोयाविलङ्घनात्।
> गण्डकीबाहुतरणात् धर्मः क्षरति कीर्त्तनात्॥

तात्पर्य यह कि शत्रुस्थली होने के कारण पहले काशी-प्रदेश धर्मक्षेत्र नहीं था, परन्तु जैसे-जैसे आर्यों की राज्यसत्ता आगे बढ़ती गई, वैसे-वैसे न केवल काशी, वरन् मगध, अंग, वंग तथा पुण्ड्र भी धर्मक्षेत्र माने जाने लगे।

काशी में धार्मिक विकास

जिस समय काशी में वैदिक धर्म की नींव पड़ी, उस समय यह धर्म केवल आर्यों के उस छोटे-से जनसमूह का धर्म था, जो विदेघ माथव के अनुयायियों में से वहाँ बस गये थे। वहाँ के पुराने निवासियों का धर्म उस समय अनार्य-धर्म ही था। आधुनिक विद्वान् इन लोगों को बहुत-सी वर्त्तमान शूद्र जातियों के पूर्वपुरुष मानते हैं। काशी-प्रान्त में किसी विकसित अनार्य-राज्य के होने का कोई प्रमाण नहीं मिलता। आर्य लोग उस समय जिस वैदिक धर्म को मानते थे, उसमें धर्म-परिवर्त्तन की कोई परम्परा नहीं थी। तत्कालीन वैदिक साहित्य में अन्य धर्मावलम्बियों को आर्यधर्म की दीक्षा देने की कोई प्रक्रिया ही नहीं थी, यहाँतक कि शूद्रों तथा दास एवं दस्युओं को वेद सुनने तक की आज्ञा नहीं थी। इसके पूर्व मध्य एशिया तथा ईरान में जो संघर्ष हुए थे और जिनको देवासुर-संग्राम की संज्ञा मिलती है, वे आर्यों तथा असुरों के बीच हुए थे और धर्म-परिवर्त्तन उनमें कहीं भी युद्ध का कारण नहीं हुआ। वे झगड़े सदैव ही आर्थिक, राजनीतिक अथवा भौगोलिक कारणों से ही हुए। स्थान का संकोच, भोजन की कमी और प्रभुता की आकांक्षा ही इन संघर्षों के मूल में थी। ठीक वही स्थिति उस समय भारतवर्ष में थी। यहाँ के आदिवासियों के अधिकार के भू-भागों को छीनकर आर्य लोग नये राज्य स्थापित कर रहे थे, नये नगर बसा रहे थे, बड़े-बड़े क्षेत्रों में अपनी खेती तथा गोपालन की व्यवस्था कर रहे थे। वे अनार्य जी तोड़कर लड़ते थे, परन्तु आर्यों के सामने ठहर नहीं पाते थे और हार जाते थे। युद्ध में पराजित होने पर उनमें से कुछ तो दासता स्वीकार कर लेते थे और कुछ अपना घरबार छोड़कर पहाड़ों तथा जंगलों में भाग जाते थे। आर्यों और अनार्यों के संघर्ष का यही स्वरूप था। धार्मिक कारणों से उनमें कभी संघर्ष नहीं हुआ। ठीक यही बात काशी में बसनेवाले आर्यों के विषय में भी सत्य है।

इस प्रकार, काशी में बसनेवाले आर्य अपने वैदिक धर्म का निर्वाह करते थे, अपने देवताओं की आराधना तथा उनकी प्रसन्नता के लिए हवन-यज्ञादि कृत्य करते थे और उनसे पराजित आदिवासी अपने अनार्य-धर्म के अनुसार धार्मिक क्रियाएँ करते रहे होंगे। यह प्रक्रिया सैकड़ों वर्षों तक चलती रही होगी। साथ-साथ रहने के कारण आर्यधर्म का प्रभाव उन अनार्यों पर भी पड़ना स्वाभाविक था और कठिनाइयों तथा संकट के समय धार्मिक दुर्बलता से आक्रान्त होकर कुछ आर्यों ने भी अनार्य-परम्पराओं को अपनाया होगा। आर्यों के जनसमूह में जो शूद्र-संज्ञक वर्ग था, उसका दासों अथवा दस्युओं के साथ सहवास अधिक था, अतएव उसका अनार्य-कर्मकाण्ड एवं आराधनाओं से प्रभावित होना कोई आश्चर्य की बात नहीं। इस प्रकार के उदाहरण आज भी मिलते हैं। हिन्दुओं के द्वारा गाजी मियाँ की पूजा, या मकबरों पर चादर चढ़ाना, या रोजा तथा निमाज सँभालना इसी प्रक्रिया के उदाहरण हैं। आर्यों तथा अनार्यों का यह सहवास ई० पू० १४०० से प्रायः ८०० वर्षों तक चलता रहा, जिस अवधि में आर्यधर्म निरन्तर विकसित होता गया और ऋग्वेद के वैदिक धर्म से उपनिषदों के विकसित दर्शनों तक पहुँच गया। यह धार्मिक विकास आर्यों के द्विजवर्गों में ही हुआ। शूद्र लोग, जिनका अनार्यों से घनिष्ठ सहवास-सम्बन्ध था, अपने प्रकार से आर्यधर्म का पालन करते हुए भी अनार्यों की

परम्पराओं से प्रभावित होते रहे और क्रमशः यह प्रभाव बढ़ता गया। अनार्य लोग अपने धर्म का ही परिपालन करते रहे, परन्तु आर्यों के सहवास के कारण उनके धर्म में भी बहुत-सी आर्य-परम्पराएँ प्रवेश कर गईं। इसी के साथ-साथ आर्यधर्मावलम्बी कुछ द्विजों की धार्मिक शिथिलता से अथवा वर्णसंकर आदि लौकिक कारणों से आर्यधर्म तथा अनार्य-धर्म की परम्पराओं का सम्मिश्रण भी हो रहा था, जिससे एक नये धर्म की सृष्टि होती रही। इस प्रकार, अन्ततोगत्वा चार प्रकार के धर्म दीख पड़ने लगे, अर्थात् शुद्ध आर्यधर्म शुद्ध अनार्य-धर्म, संकर आर्यधर्म तथा संकर अनार्य-धर्म। कालान्तर में अन्तिम दोनों धर्म प्रायः मिल-से गये और केवल तीन ही प्रकार के धर्म रह गये। संख्या के विचार से शुद्ध आर्यधर्म के अनुयायियों की संख्या बहुत छोटी थी; क्योंकि केवल आर्यों की सन्तति ही इस वर्ग में थी। शुद्ध अनार्य-धर्म नगर से दूर वनों तथा विन्ध्य-पर्वत के प्रदेशों में ही बच रहा। इसके पालन करनेवालों की संख्या भी अपेक्षाकृत छोटी ही रही। अनार्य जनता की संख्या की प्रचुरता के कारण संकर अनार्य-धर्म के माननेवालों की संख्या स्वतः बहुत बड़ी थी और संकर आर्यधर्मवालों के मिल जाने से यह संख्या और भी बढ़ गई।

यह तो हुआ आर्य तथा अनार्य-धर्म के सहवास का प्रभाव। इसके अतिरिक्त, वैदिक आर्यधर्म में जो विकासाश्रित परिवर्त्तन इन आठ सौ वर्षों में हुए, उनपर भी दृष्टिपात आवश्यक है।

आदिम वैदिक, अर्थात् ऋग्वेदकाल में पृथ्वी, सोम तथा अग्नि; वायु, मरुत् तथा पर्जन्य; वरुण, द्यौस् तथा आश्विनेय; सूर्य, सावित्री तथा पूषन्; मित्र, विष्णु तथा यम और श्रद्धा, मन्यु तथा उषस् ये मुख्य देवता थे, जिनकी आराधना होती थी। ऋभुओं तथा अप्सराओं का भी इसी श्रेणी में कहीं-कहीं समावेश मिलता है। सबसे प्रधान देवता वरुण थे और उनके बाद इन्द्र। इन सभी की स्तुति की जाती थी और दूध, घी, अन्न का प्रसाद अर्पित होता था। आराधना का मुख्य अंग हवन था और यज्ञ के लिए अग्नि की रक्षा की जाती थी। यही अग्नि श्रौताग्नि कहलाती थी। पशुओं की बलि भी कुछ यज्ञों का अंग होती थी। कालान्तर में ऊपर कहे हुए देवताओं में से दो-दो की आराधना साथ-साथ होने लगी। मित्रावरुण, द्यावापृथिवी इत्यादि युग्म बन गये। सूर्य, सावित्री, मित्र, पूषन् तथा विष्णु सूर्य के ही विभिन्न ध्यान माने जाने लगे। यह आराधना भी हवनप्रधान थी। इन भिन्न-भिन्न देवताओं की पूजा करते हुए भी उस समय विश्वास यही था कि परमात्मा एक ही है और ये सब उसी के स्वरूप हैं:

इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयत। रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव। (ऋ० वे०, ६।४७।१८)
इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्या ससुपर्णो गरुत्मान्।
एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः॥ (ऋ० वे०, १।१६४।४६)
अदितिर्द्यौरदितिरन्तरिक्षमदितिर्माता सपिता सपुत्रः।
विश्वेदेवा अदितिः पञ्चजना अदितिर्जातमदितिर्जनित्वम्॥ (ऋ० वे०, १।७९।१०)

यजुर्वेद, सामवेद तथा अथर्ववेद के समय भी वैदिक धर्म का स्वरूप तो वही बना रहा और देवता भी प्रायः वे ही रहे, परन्तु उनकी पारस्परिक महत्ता एवं उनके प्राधान्य में

कुछ परिवर्त्तन देख पड़ने लगे। पहले विष्णु को सूर्य का ही एक ध्यान माना जाता था, परन्तु अब उनका माहात्म्य बढ़ा, और साथ-ही-साथ रुद्र की आराधना भी विकसित हुई। पहले रुद्र अग्नि के ही स्वरूप थे, अब वे शिव कहे जाने लगे। इस प्रकार, प्राचीन सभी देवताओं की पूजा तो होती रही, परन्तु विष्णु तथा शिव का स्थान इनमें सर्वोपरि हो गया। हवन तथा यज्ञ अब भी प्रधान बने रहे और कर्मकाण्ड की महत्ता बढ़ने लगी। यज्ञ बहुत प्रकार के थे। कोई दो-तीन दिन में समाप्त हो जाते थे और कोई वर्षों तक चलते थे। इन यज्ञों का कर्मकाण्ड सहज नहीं था। उसका निर्वाह करने के लिए 'ब्राह्मण-ग्रन्थों' की रचना हुई, जिनमें भिन्न-भिन्न यज्ञों में वैदिक मन्त्रों के प्रयोग की विशद व्याख्या की गई। कर्मकाण्ड की विधि पर अधिकाधिक बल पड़ता रहा और यज्ञ आराधना के माध्यम न रहकर स्वयं ही आराधना के स्वरूप बन गये। कर्मानुसार पुनर्जन्म तथा स्वर्ग-लाभ में ऋग्वेद-काल से ही विश्वास किया जाता था। यह विश्वास और भी दृढ हुआ :

> इदं पितृभ्यो नमो अस्त्वद्य ये पूर्वासो य उपरास ईयुः।
> ये पार्थिवे रजस्या निषत्ता ये वा नूनं सुवृजनासु विक्षु ॥ (ऋ०वे०, १०।१५।२)
> सूर्यं चक्षुर्गच्छतु वातमात्मा द्यां च गच्छ पृथिवीं च धर्मणा।
> अपो वा गच्छ यदि तत्र ते हितमोषधीषु प्रतितिष्ठा शरीरैः ॥(ऋ०वे०, १०।१६।३)
> अजायमानो बहुधा विजायते। (यजु० वे०, ३१।१७)
> गर्भे सञ्जायते पुनः। (यजु० वे०, १२।६)

यहाँ एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण तथ्य की ओर पाठकों का ध्यान आकृष्ट करना आवश्यक प्रतीत होता है कि संसार के सभी धर्मों में तथा सभी समयों में प्रत्येक धर्म के दो प्रकार के अनुयायी होते आये हैं और आज भी हैं। एक तो जनसाधारण, जो धार्मिक कृत्यों को श्रद्धापूर्वक करते हैं और उनके द्वारा अपनी तथा अपने परिवार की कुशल-मंगल-कामना की पूर्त्ति की आशा करते हैं और दूसरे वे लोग, जो धार्मिक कृत्यों को केवल करते ही नहीं, वरन् उनपर तथा अन्य धार्मिक विषयों पर विचार भी करते हैं। धर्म की परम्परा जनसाधारण के द्वारा चलती है और उसकी परिपुष्टि तथा परिष्कार इन विचारशील व्यक्तियों के कारण ही होता है। बहुत-से कृत्यों का मर्म जनसाधारण नहीं जानते। सैकड़ों वर्षों की रूढिगत परम्परा में वह भूल जाता है। उस मर्म को पुनः जन-मानस में स्थापित करने का काम भी ये मनीषी ही करते हैं। धार्मिक शंकाओं का समाधान भी इन्हीं के द्वारा होता है। धार्मिक ग्रन्थों के जितने भाष्य हुए हैं, उनके सभी रचयिता उसी कोटि के लोग रहे हैं। ठीक यही स्थिति वैदिक धर्म के सम्बन्ध में भी उपस्थित होती रही है और जिस समय का हम यहाँ वर्णन कर रहे हैं, उस समय भी यह परिस्थिति थी। जनसाधारण तो तत्कालीन कर्मकाण्ड-प्रधान वैदिक धर्म का पालन-मात्र करने में सन्तुष्ट थे, परन्तु इस कर्मकाण्ड के महत्त्व को स्वीकार करते हुए और आराधना की इन रूढियों का स्वयं सावधानी से श्रद्धापूर्वक पालन करते हुए उस समय के मनीषियों ने इन कृत्यों के लक्ष्य की ओर विशेष ध्यान दिया और वेदों में प्रचुर संख्या में वर्त्तमान दार्शनिक मन्त्रों पर आग्रहपूर्वक विचार किया। इनमें से बहुत-से योगाभ्यासी भी थे, जो मन्त्रद्रष्टाओं की परम्परा में थे और जिन्होंने अपने आध्यात्मिक अनुभव को जन-

साधारण के लिए सुलभ करने का प्रयत्न किया। इस प्रकार, एक आध्यात्मिक कुतूहल का सूत्रपात हुआ, जिसका संकेत ऋग्वेद-काल में ही मिलता है। पृथ्वी के अन्त, विश्व के केन्द्र, सूर्य के कारणों, वाणी के उच्चतम क्षेत्रों इत्यादि के विषय में प्रश्न उसी समय उठने लगे थे :

पृच्छामि त्वां परमन्तं पृथिव्याः पृच्छामि यत्र भुवनस्य नाभिः।
पृच्छामि त्वा वृष्णो अश्वस्य रेतः पृच्छामि वाचः परमं व्योम॥
(ऋ० वे०, १।१६४।३४)

इनके उत्तर भी यत्र-तत्र वेदों में मिलते हैं। यथा :

चत्वारि वाक् परिमिता पदानि तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः।
गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति॥
(ऋ० वे०, १।१६४।४५)

वाणी के चार चरण होते हैं, जो मनीषी ब्राह्मण ही जानते हैं। इनमें से तीन चरण गुफा में छिपे हैं, जिनको जनसाधारण नहीं जानते। मनुष्य केवल चौथी श्रेणी की वाणी बोलते हैं।

इस प्रकार के प्रश्नों पर निरन्तर विचार होता रहा और विद्वानों में परस्पर विचार-विमर्श भी चलता रहा, जिसके फलस्वरूप उपनिषदों की रचना हुई। यही वह कल्याणकारी वाणी थी, जिसे जनसाधारण तक पहुँचाने का आदेश ऋग्वेद ने दिया था :

इमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः।

जीवन के साथ कष्ट तथा दुःख का चोली-दामन का-सा साथ सदैव से रहा है और दुःख से निवृत्ति तथा सुख की प्राप्ति के उपायों की ओर मनुष्य का ध्यान हर समय जाना स्वाभाविक ही है। अपनी-अपनी रुचि तथा योग्यता के अनुसार मनुष्य सुख की परिभाषा करते आये हैं। सामान्य कोटि के लोग आरोग्यता तथा धनपुत्रादि सांसारिक प्राप्तियों की ओर आकृष्ट होते हैं और इन्हीं मनोरथों की भगवान् अथवा अपने इष्टदेव से भिक्षा माँगते हैं। इनसे कुछ ऊपर के लोगों का ध्यान पारलौकिक सुख की ओर रहता है। वे सांसारिक सुख को उतना महत्त्व नहीं देते। इन लोगों का लक्ष्य स्वर्गप्राप्ति, भक्ति तथा ईश्वर-सान्निध्य होता है, और वे इन्हीं को आनन्द का कारण मानते हैं। कुछ लोग ऐसे भी होते हैं, जो इन सब प्राप्तियों को तुच्छ समझते हैं और आवागमन से मुक्ति चाहते हैं। यों तो, देखने में ये सब मनोरथ भिन्न-भिन्न हैं, पर इन सबके मूल में दुःख से निवृत्ति तथा सुख की खोज है। भेद केवल सुख की परिभाषा का है और यह परिभाषा व्यक्ति-विशेष की आध्यात्मिक योग्यता के अनुरूप होती है। ऋग्वेद के समय से उपनिषद्-काल तक के मनीषी इस प्रश्न पर भी विचार करते रहे और उनमें परस्पर शंकाओं का समाधान तथा तर्क-वितर्क भी चलता रहा। सुख-दुःख, नित्य-अनित्य, जीवन-मरण इनके सभी पक्षों तथा अंगों पर विचार किया गया और अन्त में ब्रह्मज्ञान को सर्वोत्कृष्ट आनन्द का साधन और स्वरूप माना गया। उपनिषदों में इसी विचार-विमर्श का दिग्दर्शन होता है।

कुछ अँगरेज-विद्वानों का मत है कि वैदिक कर्मकाण्ड की रूढियों से ऊबकर या असन्तुष्ट होकर इन विचारकों ने उपनिषदों की रचना की और हमारे आधुनिक भारतीय इतिहास-कार भी इस मत को मानते हैं, ऐसा देखने में आया है। परन्तु, यह बात उपनिषदों के पढ़ने से किसी प्रकार सिद्ध नहीं होती। इसके विपरीत उपनिषदों में यज्ञ करने पर बड़ा बल दिया गया। छान्दोग्य-उपनिषद् में कहा गया है कि धर्म के तीन अंग हैं—यज्ञ, वेदा-ध्ययन तथा दान: **त्रयो धर्मस्कन्धा यज्ञोऽध्ययनं दानम्।** (छान्दोग्य, २।२३।१)

'मुण्डक-उपनिषद्' कहती है कि जिस समय हवन की अग्नि जले और उसमें ज्वाला उठने लगे, उस समय घृत की दो आहुतियों के बीच हव्य-द्रव्य की आहुति श्रद्धापूर्वक दे :

यदा लेलायते ह्यर्चिः समिद्धे हव्यवाहने।
तदाज्यभागावन्तरेणाऽऽहुतीः श्रद्धया हुतम्॥ (मुण्डक, १।२।२)

'श्रीमद्भगवद्गीता' में तो यह बात बहुत ही स्पष्ट रूप से कही गई है कि **यज्ञदानतपः कर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्**, अर्थात् यज्ञ, दान तथा तप-रूप जो कर्म हैं, वे छोड़ने योग्य नहीं हैं। उनका करना ही कर्त्तव्य है (गीता, १८।५)। वहाँ इसका कारण भी बताया गया है, कि कला के आदि में ब्रह्माजी ने यज्ञ तथा प्रजा दोनों को उत्पन्न किया और कहा कि मनुष्य यज्ञ करके देवताओं को प्राप्त करें और देवता मनुष्यों की कामनाओं को पूरा करें। (गीता, ३।१०) और बाद में भगवान् ने कहा कि जो मनुष्य इस प्रकार प्रवर्त्तित चक्र का अनुकरण नहीं करता, उसका जीवन पापमय तथा व्यर्थ है (गीता, ३।१६)। इतना ही नहीं, ब्रह्मज्ञान के सबसे पुराने आचार्य व्यास तथा उनके मुख्य भाष्यकार शंकराचार्य दोनों ही ने वेदाध्ययन तथा वेदोक्त कर्मकाण्ड करने का प्रबल आग्रह किया है। उपनिषद् ब्राह्मणों के ही अंग हैं और ब्राह्मण वैदिक कर्मकाण्ड के ग्रन्थ हैं। संहिता तथा ब्राह्मण मिलकर ही वेद कहे जाते हैं: **मन्त्रब्राह्मणयोर्वेद नामधेयम्।** (बौधायनधर्मसूत्र)

कुछ उपनिषदों के नामों में भी 'ब्राह्मण' शब्द आता है, जैसे 'कौषीतकी-ब्राह्मणोपनिषद्' और 'जैमिनीय उपनिषद्-ब्राह्मण।' 'ऐतरेय उपनिषद्' ऐतरेय ब्राह्मण के चौथे और छठे अध्यायों के संयोग से ही बनी है। बहुत-से वेदमन्त्र ज्यों-के-त्यों उपनिषदों में मिलते हैं और उन्हीं पर उपनिषद् का दर्शन आधृत होता है। उदाहरण के लिए, माध्यन्दिन शुक्लयजुर्वेदसंहिता के चालीसवें अध्याय के तीन मन्त्र ईशावास्य-उपनिषद् में मिलते हैं (ईशावा०उ०, १२।१४)। इसके अतिरिक्त, वेदमन्त्रों के आश्रय के विना उपनिषदों का पूरा अर्थ समझा ही नहीं जा सकता; क्योंकि वेदमन्त्रों में आये हुए शब्दों तथा सन्दर्भों का निरन्तर प्रयोग हुआ है। जैसा डॉ० सम्पूर्णानन्द ने कहा है, उपनिषद्-संहिताएँ बौद्धिक वैपरीत्य की परिचायिका नहीं हैं। वे तो उनके साथ पड़नेवाले ग्रन्थ हैं, जो वेदमन्त्रों में संक्षेप में कहे हुए विचारों का विस्तारपूर्वक विवेचन करते हैं (विद्याभवन के बिड़लानिधि-भाषण: 'हिन्दू-देवावली का विकास', पृ० ८)।

जैसा हम पहले कह चुके हैं वेदों तथा ब्राह्मणों में एक विशेष प्रकार की पारिभाषिक शब्दावली का प्रयोग हुआ है, जिसका अर्थ तुरन्त समझ में नहीं आता और न हर एक मनुष्य ही इसका तात्पर्य समझ सकता है। जो लोग वेदमन्त्रों तथा ब्राह्मणों को उनके

अँगरेजी-अनुवाद द्वारा पढ़ते हैं, उनको तो मूल शब्दों की ध्वनि और व्यंजना की भी सहायता नहीं मिलती, केवल विदेशीय विद्वानों की वैदिक अवगति ही उनको प्राप्त होती है और वह बहुत ही संकुचित तथा अपूर्ण है। जिन मन्त्रों के दर्शन के लिए महर्षियों को कठिन तपस्या करनी पड़ती थी, उन मन्त्रों का अर्थ इतना सहज नहीं है। जैसा डॉ० सम्पूर्णानन्द ने कहा है—"वेदों की पारिभाषिक तथा प्रतीकात्मक शब्दावली की कुंजी खो गई है और बहुत दिनों से वह किसी को नहीं मिल पाई है।" उपनिषदों में प्रायः वेदवाक्यों का ही विस्तार तथा विवेचन है। इसी कारण उपनिषदें भी वेदों के अनुसार विभाजित हुई हैं। यह बात ठीक है कि उपनिषदों में कहीं-कहीं कर्मकाण्ड की निन्दा की गई है; परन्तु यह निन्दा ब्रह्मज्ञान से तुलनात्मक है। जैसा मुण्डक-उपनिषद् में लिखा है कि कर्मकाण्ड से पारलौकिक सुख ही मिलता है, स्वर्ग की प्राप्ति होती है, परन्तु जब पुण्य क्षीण हो जाता है, तब पुनः पृथ्वी पर जन्म लेना पड़ता है। अतएव, कर्मकाण्ड से प्राप्त होनेवाली उपलब्धि ब्रह्मज्ञान द्वारा मिलनेवाली उपलब्धि से नीचे स्तर की होने के कारण निन्द्य है :

> इष्टापूर्त्तं मन्यमाना वरिष्ठं नान्यच्छ्रेयो वेदयन्ते प्रमूढाः।
> नाकस्य पृष्ठे ते सुकृतेऽनुभूत्वेमं लोकं हीनतरं चाविशन्ति॥
>
> (मुण्डक-उप०, १।२।१०)

> तस्मै स विद्वानुपसन्नाय सम्यक् प्रशान्तचित्ताय शमान्विताय।
> येनाक्षरं पुरुषं वेद सत्यं प्रोवाच तां तत्त्वतो ब्रह्मविद्याम्॥
>
> (मु० उप०, १।२।१३)

जीवन क्या है? उसका लक्ष्य क्या है? सत्य क्या है? नित्य क्या है? इस प्रकार की मौलिक बातों पर गम्भीरतापूर्वक विचार करनेवाले ऋषियों, तपस्वियों तथा मनीषियों के सतत परिश्रम से इन प्रश्नों के उत्तरों की रचना हुई और चिन्तन की प्रक्रियाओं तथा योगदृष्टि के द्वारा उनका उत्तरोत्तर परिष्कार हुआ। इस प्रकार विश्व, आत्मा, परमात्मा इत्यादि के स्वरूपों तथा उनके परस्पर सम्बन्ध आदि के विषय में इन मनीषियों ने अपने तर्क तथा विचार अभिव्यक्त किये। यही उपासना का ज्ञानमार्ग कहलाया, जो पहले उपनिषदों में प्रतिपादित हुआ और अन्त में सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक तथा मीमांसा-दर्शनों में सुव्यवस्थित हुआ। इस दार्शनिक विचारधारा के फलस्वरूप ऋग्वेद में कहे हुए पुनर्जन्मवाद तथा कर्मवाद का स्पष्ट स्वरूप सामने आया और अन्त में ब्रह्मवेत्ता लोग इस ध्रुव सत्य पर पहुँचे कि विश्व में केवल ब्रह्म ही सत्य है और वही नित्य है तथा सभी कुछ असत्य एवं अनित्य है : **ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या।**

साथ-ही-साथ, यह भी स्पष्ट हो गया कि ज्ञानमार्ग से ही ब्रह्म की प्राप्ति तथा उसमें लय सम्भव है। यही आनन्द की पराकाष्ठा तथा पुनर्जन्म से निवृत्ति का साधन है। इसी को मुक्ति अथवा मोक्ष कहा गया। इस विचारधारा का सबसे विकसित स्वरूप उत्तर-मीमांसा में सामने आया, जब अद्वैत-सिद्धान्त की अभिव्यक्ति हुई। **तत्त्वमसि** तथा **सोहं हंसः**, अर्थात् विश्व में केवल ब्रह्ममात्र है तथा सब कुछ उसी के भिन्न स्वरूप हैं, उनका अपना कोई अस्तित्व नहीं है। प्रत्येक जीव ब्रह्म का रूपान्तर मात्र है : **सर्वं खल्विदं ब्रह्म।**

एकं ब्रह्मैवाद्वितीयं समस्तं सत्यं सत्यं नेह नानास्ति किञ्चित्। इसी विकसित दार्शनिक विचार-धारा का नाम वेदान्त, अर्थात् वेदों का अन्तिम लक्ष्य हुआ।

उपनिषदों में जिन ब्रह्मवेत्ताओं का उल्लेख हुआ है, वे भारत के सभी भागों के निवासी थे और ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य तीनों वर्णों के थे। छान्दोग्य-उपनिषद् में कहा गया है, कि ब्रह्मविद्या पहले केवल क्षत्रियों के पास थी। उन्होंने बाद में उसे ब्राह्मणों को सिखाया। वहाँ पांचालों के राजा प्रवाहण जैवलि द्वारा अरुणि ब्राह्मण को ब्रह्मविद्या का उपदेश देने की बात कही गई है (छान्दोग्य-उप०, ५।३।७)। काशी के राजा अजातशत्रु का गार्ग्य बालाकि को ब्रह्मज्ञान देने का वर्णन भी मिलता है (कौशीतकी-ब्रा० उप०, ४।१९ तथा वृहदारण्यक-उप०, २।१।१५)। कैकय देश के राजा अश्वपति द्वारा भी ब्राह्मणों को ब्रह्मोपदेश दिये जाने की बात शतपथब्राह्मण में कही गई है (शतपथब्रा०, १०।६।१।२)। गीता में तो स्पष्ट ही कहा गया है कि ब्रह्मविद्या का उपदेश भगवान् ने सूर्य को, सूर्य ने मनु को तथा मनु ने इक्ष्वाकु को किया और **एवं परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः**, अर्थात् इस प्रकार परम्परा से (इस विद्या को) राजर्षियों ने जाना (गीता, ४।१।२)। मिथिला, अर्थात् विदेह के राजा जनक के ब्रह्मज्ञान की महत्ता सर्वविदित है। वैश्यों में सुरथ वैश्य के भी ब्रह्म-ज्ञान पाने का उल्लेख मार्कण्डेयपुराण में मिलता है। इन सबसे समझ पड़ता है कि द्विजों के सभी वर्णों में ब्रह्मज्ञानी लोग होते थे और इस विचारधारा के विकास में भारत के सभी प्रदेशों के निवासियों का हाथ रहा है।

उपनिषद्-काल में काशी ब्रह्मज्ञान का केन्द्र हो चुकी थी। यहाँ के राजा अजातशत्रु उच्चकोटि के ब्रह्मवेत्ता माने जाते थे और उनकी सभा में ब्रह्मज्ञानियों का बड़ा आदर होता था। अतएव, ब्रह्मविद्या पर बल दिये जाने के कारण वैदिक धर्म में जो भी परिवर्त्तन हुए, उन सभी में काशी के ब्रह्मवेत्ताओं का योगदान अवश्य ही रहा होगा। काशिराज अजातशत्रु द्वारा गार्ग्य बालाकि को ब्रह्मज्ञान का उपदेश तो स्पष्ट रूप से उल्लिखित ही है। उस समय ब्रह्मविद्या के दो मुख्य केन्द्र थे—काशी तथा मिथिला और तत्कालीन ब्रह्मज्ञानी इन दोनों स्थानों में अगत्या आया करते थे और उनमें शास्त्रार्थ भी निरन्तर चलता रहता था। मिथिला में होनेवाले इन शास्त्रार्थों का तो उपनिषदों में विस्तृत विवरण भी मिलता है, परन्तु काशी के सम्बन्ध में सामग्री कुछ कम है। इससे यह मानना पड़ता है कि उस समय तक काशी का महत्त्व मिथिला से कम था। गार्ग्य बालाकि के यह कहने पर कि हम तुमको ब्रह्म के विषय में बतलायेंगे, अजातशत्रु ने स्वयं जो बात कही थी, उससे भी यही ध्वनि निकलती है: **सहोवाचाजातशत्रुः सहस्रमेतस्यां वाचि दद्मो जनको जनक इति वै जना धावन्ति**, अर्थात् काशी में आकर हमारे सामने ब्रह्मविद्या-उपदेश की जो बात आपने कही, उसी के पुरस्कार-स्वरूप हम आपको सहस्र गौएँ देंगे; क्योंकि आजकल लोग 'जनक-जनक' करते हुए मिथिला को ही दौड़ते हैं (वृहदारण्यक-उप०, २।१।१)। उस समय ब्रह्मज्ञान पर इतना बल होते हुए भी जनसाधारण में जो वैदिक धर्म चल रहा था वह कर्मकाण्डप्रधान ही था और ब्रह्मज्ञान विशिष्ट व्यक्तियों के विचार-विमर्श का ही विषय बन पाया था, जो उसकी कठिनाई को ध्यान में रखते हुए अनिवार्य था और आज भी है। हठयोग भी वैदिक धर्म का एक प्रख्यात अंग हो गया था, जो प्राचीन योगाभ्यास तथा तपश्चर्या की परम्परा

में था। धार्मिक व्यक्तियों की कमी नहीं थी, परन्तु धार्मिक भावना रूढ़िवादी हो गई थी। धार्मिक भावना के शैथिल्य का उदाहरण महाभारत के युद्ध के समय ही उपस्थित हो चुका था, जिसके निवारण के लिए भगवान् कृष्ण को गीता का उपदेश करना पड़ा और अर्जुन को अपने विराट् स्वरूप का दर्शन भी देना पड़ा। इतना ही नहीं, भावनाशून्य इन्द्र-पूजन से हटाकर विष्णु-पूजन तथा प्राकृतिक प्रतीकों के पूजन की ओर जनता को ले जाने का प्रारम्भ श्रीकृष्ण ने इसके पहले ही प्रारम्भ कर दिया था। इसका तात्पर्य यह हुआ कि यह प्रक्रिया, जिसके द्वारा आगे चलकर सनातन धर्म का वर्तमान स्वरूप बन पाया, ईसा-पूर्व १२०० के लगभग प्रारम्भ हो चुकी थी।

जैनधर्म : जिस समय वैदिक धर्म की यह रूपरेखा थी उस समय जैनधर्म का उदय हुआ। पार्श्वनाथ का जन्म काशी में ही होने के कारण उनकी सभी कृतियों का केन्द्र काशी अवश्य ही रहा होगा। फिर, जब महावीर ने इस धर्म को जाज्वल्यमान किया, तब इसका प्रभाव चारों ओर फैला और उसने काशी को भी प्रभावित किया। परन्तु, जैनधर्म आत्मा का साक्षी था और तपस्या को आवश्यक मानता था। इस कारण इससे जनसाधारण में प्रत्यक्ष रूप से उतनी उथल-पुथल नहीं उत्पन्न हुई, जितनी इसके तुरन्त पीछे आनेवाली बौद्धधर्म से हुई। महावीर का जन्म ई० पू० ५९९ तथा निर्वाण ई० पू० ५२७ माना जाता है और गौतम बुद्ध का जन्म ई० पू० ५६३ में इनके जीवनकाल में ही हो चुका था।

बौद्धधर्म : जिस समय वैदिक धर्म का ऊपर कहा हुआ स्वरूप था और जैनधर्म भी प्रचलित था, उस समय गौतम बुद्ध का प्रादुर्भाव हुआ। उस समय के वैदिक धर्म का जो वर्णन उन्होंने किया है, वह उनके ही अनुभव पर आश्रित होने के कारण पूर्णतः प्रामाणिक है; क्योंकि बहुत वर्षों तक वे उसी धर्म के अनुयायी रहे। उनके वर्णनों से ऐसा समझ पड़ता है कि वैदिक धर्म का जो सार्वजनिक स्वरूप उस समय विदेह तथा मगध में था, वह प्रायः भावनाशून्य हो गया था। केवल रूढ़िगत कर्मकाण्ड तथा हठयोग का उसमें प्राधान्य था। इन्हीं दोनों के सहारे सिद्धार्थ ने संसार से दुःख का अन्त करने का उपाय ढूँढ़ने का अथक प्रयत्न किया, परन्तु असफल रहे। अन्त में, विचार तथा मनन के परिणाम-स्वरूप उनको ज्ञान प्राप्त हुआ, जिसके आधार पर उन्होंने अपने धर्म की स्थापना की।

बुद्ध के मतानुसार धार्मिक कृत्यों में 'अतिशय' का त्याग उचित है। मध्यम मार्ग ही हितकर होता है। उपासना नितान्त आवश्यक है; क्योंकि उसके बिना आध्यात्मिक बुद्धि नहीं उत्पन्न होती, परन्तु हठयोग की तपस्या हानिकर है; क्योंकि शरीर के क्षीण होने पर बुद्धि भी क्षीण होती है। उपासना और सदाचार पर बौद्धधर्म में पूरा बल दिया गया है। सांसारिक दुःखों के निवारण के लिए ज्ञान आवश्यक है, जिसकी प्राप्ति के लिए बुद्ध ने 'अट्ठंगिक मग्गम', अर्थात् 'अष्टांग मार्ग' का उपदेश दिया। इनके अनुसरण से दुःखों का नाश हो सकता है; क्योंकि इनसे अन्तःकरण शुद्ध होता है और ज्ञान की प्राप्ति होती है। इन आठों सोपानों पर विचार करने से जान पड़ता है कि ये सभी सन्तुलित, अधर्म-रहित, शुद्ध जीवन-चर्या के मार्ग हैं और अन्तःकरण की शुद्धि की आठ सीढ़ियाँ हैं, जिनका वैदिक धर्म के तत्त्वों से कोई भी विरोध नहीं है।

परन्तु इन्हीं सोपानों के आधार पर जो बौद्धधर्म स्थापित हुआ, उसमें ईश्वर तथा आत्मा का कोई स्थान नहीं था, जो वैदिक धर्म से मौलिक भेद था और जिसके कारण बौद्ध-धर्म एक नया धर्म माना गया। बुद्ध ने अपने धर्म की शिक्षा जनसाधारण को देना, जिसको बौद्ध लोग 'धर्मचक्रप्रवर्त्तन' कहते हैं, काशी-राज्य की राजधानी वाराणसी नगरी के निकट 'ईसिपत्तन' नामक स्थान पर प्रारम्भ किया, जो आजकल 'सारनाथ' के नाम से प्रख्यात है और बौद्धधर्मावलम्बियों के प्रधान तीर्थों में गिना जाता है। बौद्धधर्म की अभिवृद्धि के आरम्भ में सारनाथ इस धर्म का प्रधान केन्द्र था, परन्तु मगध के राजा बिम्बिसार के बौद्धधर्म ग्रहण कर लेने पर राजाश्रय से यह केन्द्र मगध की तत्कालीन राजधानी 'राजगृह' को चला गया।

बुद्ध ने ५०० शिष्यों का एक संघ बनाया और उनके लिए १० नियम निर्धारित किये। कालान्तर में बुद्ध के परिनिर्वाण के पश्चात् इन नियमों की भिन्न-भिन्न व्याख्याओं के आधार पर बौद्धधर्म में कई सम्प्रदाय बन गये, जिनके अपने-अपने दर्शन बने और जिनमें परस्पर संघर्ष भी होने लगा।

राजाश्रय मिल जाने के कारण बौद्धधर्म की चामत्कारिक अभिवृद्धि हुई और चक्रवर्त्ती महाराज अशोक के समय में तो वह भारतवर्ष की सीमाओं तक ही नहीं, वरन् विदेशों में भी फैल गया। यह सब होते हुए भी वह चिरस्थायी नहीं हुआ और शुंगों के समय उसका राजाश्रय छूटते ही जनमानस पुनः वैदिक धर्म की ओर प्रवृत्त होने लगा। शुंगों के समय से ही भारत की राजसत्ता बड़ी ही सहिष्णु रही और सभी धर्मों का समादर होता रहा; परन्तु जनसाधारण में वैदिक चेतना का विकास होता गया और क्रमशः बौद्धधर्मावलम्बियों की संख्या कम होने लगी। इस परिस्थिति का एक और कारण भी था।

प्रधान दर्शनशास्त्रों की रचना : जैन तथा बौद्धधर्मों के आविर्भाव के पूर्व जो धार्मिक शंकाएँ उत्पन्न होती थीं, वे श्रद्धावान् जिज्ञासुओं के मन में ही होती थीं। अतएव, विद्वानों तथा दार्शनिकों के द्वारा उनका समाधान सरलता से हो जाता था। पूरा उपनिषद्-साहित्य इस प्रकार की शंकाओं और उनके समाधानों से भरा पड़ा है। परन्तु, अब ये दो प्रतिस्पर्धी धर्म सामने आये थे, जो वैदिक धर्म की मान्यताओं को स्वीकार नहीं करते थे और उनके सम्बन्ध में छिद्रान्वेषण करते थे; उसपर आक्षेप तथा उसका खण्डन करते थे। ऐसी दशा में यह आवश्यक हुआ कि उनके इन आक्षेपों तथा खण्डन का समुचित उत्तर दिया जाय। इस कार्य के लिए वैदिक धर्म के ब्रह्मविज्ञान का स्वरूप सुव्यवस्थित करने की आवश्यकता पड़ी, जिसमें प्रतिपक्षियों के तर्कों का समुचित उत्तर दिया जा सके। वैदिक धर्म के छह प्रधान दर्शन इसी सुव्यवस्था के परिणाम हैं। उपनिषदों में ब्रह्मवाद का प्रति-पादन जिज्ञासुओं की शंकाओं के समाधान करने में हुआ है। अतएव, उस विषय का क्रम-बद्ध सर्वांगपूर्ण विवेचन एक स्थान में नहीं मिलता था। इस कमी को दूर करने के लिए तत्कालीन मनीषियों ने अपने-अपने दृष्टिकोण से ब्रह्मविद्या का निरूपण किया और इस प्रकार न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, पूर्वमीमांसा तथा उत्तरमीमांसा नाम के छह दर्शन रचे गये। यह रचना ई० पू० छठी शताब्दी से प्रारम्भ होकर प्रायः चार सौ वर्षों तक चलती

रही। इन दर्शनों के सूत्रग्रन्थों का उसी समय निर्माण हुआ और इनकी रचना के लिए जो बौद्धिक प्रयत्न हुआ, उसके परिणाम से इन विषयों के पारंगत पण्डित बहुत बड़ी संख्या में देश-भर में उत्पन्न हो गये, जो सभी स्थानों में अपने प्रतिपक्षियों से डटकर शास्त्रार्थ करने लगे। इन शास्त्रार्थों में जय तथा पराजय दोनों का ही जनसाधारण पर प्रभाव पड़ता था; क्योंकि जहाँ पराजय से बौद्धिक प्रयत्न बढ़े, वहीं विजय से जनमानस की श्रद्धा वैदिक धर्म की ओर बढ़ने लगी। जैन तथा बौद्धधर्मों के ह्रास का यह सबसे बड़ा कारण था। ब्रह्मर्षि देश उस समय भी मुख्य धार्मिक केन्द्र था, परन्तु काशी तथा विदेह भी दार्शनिक विचारधाराओं के केन्द्र बन चुके थे। एक बात और थी, जैसा अभी ऊपर कहा जा चुका है, यह दार्शनिक प्रयत्न सारे देश में व्याप्त था; अतएव इन दर्शनों का परिपाक भी सारे देश में हुआ। सांख्य के प्रवर्त्तक कपिल अहमदाबाद के निकट 'सिद्धपुर' में रहते थे और उन्होंने वहीं बिन्दुसरोवर के तट पर अपनी माता को सांख्य का उपदेश दिया था। न्याय के आचार्य गौतम विदेह में रहते थे। पूर्वमीमांसाकार जैमिनि ने उस दर्शन के प्राचीन आचार्यों में बादरायण, अर्थात् वेदव्यास का नाम लिखा है, जिनका स्थान कुरुदेश में था और वे उत्तरमीमांसा के भी आचार्य तथा ब्रह्मसूत्र के रचयिता माने जाते हैं। योगदर्शन के आचार्य पतंजलि भी पंजाब के निवासी थे। महाभाष्य के रचयिता पतंजलि योगदर्शन के प्रवर्त्तक नहीं हैं। योगशास्त्रों के आचार्य पतंजलि छठी शताब्दी ईसा-पूर्व में ही हुए थे।

जैसा अभी कहा जा चुका है, देश-भर में इन दर्शनों के आधार पर जैन तथा बौद्धधर्मों से वैदिक धर्म के शास्त्रार्थ चलने लगे और ईसा की आठवीं-नवीं शताब्दी तक निरन्तर चलते रहे। उस समय भट्ट कुमारिल तथा शंकराचार्य की प्रतिभा के सामने तत्कालीन जैन तथा बौद्ध आचार्य नहीं ठहर पाये और जनमानस में इनका प्रभाव प्रायः समाप्त हो गया। इन धर्मों के पहले के माननेवाले इन्हें मानते रहे, परन्तु नये लोगों का इनमें प्रवेश बहुत ही सीमित हो गया और इस प्रकार उनकी संख्या घटने लगी। यहाँ यह बात स्पष्ट रूप से स्मरण रखनी है कि यह संघर्ष केवल मौखिक शास्त्रार्थ तक ही सीमित था। युद्ध अथवा संग्राम इस सम्बन्ध में कभी कहीं नहीं हुए।

जिस समय ये दर्शन वैदिक ज्ञानमार्ग का पथ-प्रदर्शन कर रहे थे, उस समय आराधना तथा कर्मकाण्ड में भी पर्याप्त परिवर्त्तन तथा परिवर्द्धन हो रहे थे। ब्राह्मण-काल तथा उपनिषद्-काल की अर्चना में यज्ञ, हवन तथा बलि का प्रमुख स्थान था। देवताओं में शिव तथा विष्णु का प्राधान्य पूर्णरूपेण स्थापित हो चुका था; परन्तु उनका पूजन यज्ञ तथा हवन के द्वारा ही होता था, यद्यपि प्रतीक-पूजन प्राचीन काल से ही हो रहा था। आगे चलकर धीरे-धीरे इस प्रतीकात्मक तथा विग्रहात्मक देवपूजन का महत्त्व बढ़ा—पंचोपचार तथा षोडशोपचार पूजन की परिपाटी चली और हवन उसकी पूर्णाहुति के रूप में ही रह गया; परन्तु अब भी वह कर्मकाण्ड का आवश्यक अंग था और हवन के बिना देवपूजन अपूर्ण ही माना जाता था। बलिदान अब केवल देवी की उपासना में बच गया था, अन्यत्र वह समाप्त ही हो गया था। पर्वों तथा विशेष अवसरों पर तो हवन अनिवार्य बना रहा, परन्तु जनसाधारण के दैनिक धार्मिक जीवन में धीरे-धीरे उसका स्थान बहुत नीचे चला गया।

शुंग-राजाओं ने अश्वमेध यज्ञ किया था। समुद्रगुप्त ने भी अश्वमेध किया था। वाकाटक भारशिव राजाओं ने भी दस अश्वमेध यज्ञ किये, परन्तु ईसा की चौथी-पाँचवीं शताब्दी के पश्चात् इस प्रकार के यज्ञों का होना प्रायः समाप्त ही हो गया। इसके बाद दान, तीर्थ-यात्रा, तीर्थस्नान, देवार्चन का माहात्म्य निरन्तर बढ़ता गया। ईसा की सातवीं शताब्दी में महाराज हर्षवर्धन की तीर्थयात्रा तथा दानधर्म के बड़े विशद वर्णन मिलते हैं और तदुपरान्त यह परम्परा बराबर चलती रही।

शंकराचार्य ने जिस समय वैदिक धर्म की पुनर्व्यवस्था की, उस समय वह देवार्चन-प्रधान था और तीर्थयात्रा तथा दानधर्म उसके अंग थे। उस धर्म और उपनिषद्-कालीन वैदिक धर्म में इतना बड़ा अन्तर हो गया था कि उसको यदि पौराणिक धर्म कहा जाय, तो कदाचित् अनुचित न होगा। प्रायः वही धर्म इस समय सनातन-धर्म के नाम से चल रहा है। भिन्न-भिन्न प्रकार के यज्ञ आज भी यदा-कदा होते हैं। अग्निहोत्री लोग श्रौताग्नि तथा कुछ गृहस्थ स्मार्त्ताग्नि का निर्वाह भी करते हैं। वेदपाठ तथा हवन भी होते हैं और उनकी विधि आज भी ठीक वैसी ही है, जैसी ईसा-पूर्व १५०० वर्ष में थी; परन्तु वे सामान्य जनजीवन का अंग नहीं रह गये। सामान्य जनजीवन में केवल पंचमहायज्ञ, सन्ध्योपासन, देवार्चन, स्तुति, नामकीर्त्तन तथा जपयज्ञ ही बहुधा होते हैं और इनको करनेवाले धर्म-निष्ठ समझे जाते हैं।

शक्ति की उपासना : यों तो, ऋग्वेद के देवीसूक्त में पराशक्ति के विभिन्न कर्म-स्वरूपों का विस्तृत वर्णन है, जिससे स्पष्ट है कि शक्ति की उपासना बहुत प्राचीन काल से चल रही थी, परन्तु ईसवी-सन् की पाँचवीं तथा छठी शताब्दियों में इस उपासना का विशेष प्रसार हुआ और शक्ति के भिन्न-भिन्न ध्यान तथा उनकी आराधना का विस्तृत विवेचन हुआ। देवीभागवत की रचना भी सम्भवतः इसी समय हुई। इस साहित्य को तन्त्रशास्त्र तथा उपासना के इस मार्ग के अनुयायियों को शाक्त कहा गया। आठवीं तथा नवीं शताब्दियों में यह उपासना उत्तर भारत में चारों ओर फैली, परन्तु आगे चलकर आराधना-क्रम पौराणिक आराधना की ओर झुकने लगा और धीरे-धीरे यह सम्प्रदाय पौराणिक धर्म का अंग होकर उसमें लीन हो गया, यद्यपि शुद्ध तान्त्रिक तथा शाक्त परम्पराएँ विशेष कुटुम्बों में कुलाचार का अंग होकर चलती रहीं। चैत्र तथा आश्विन में नवरात्र के उत्सव इसी आराधना के पौराणिक स्वरूप हैं।

वेदान्तदर्शन के भिन्न स्वरूप : शंकराचार्य के द्वारा वैदिक धर्म की पुनर्व्यवस्था के बाद वेदान्तदर्शन को दृष्टि में रखकर जिन दर्शनों का उदय हुआ, उनमें से कश्मीर का शैवदर्शन उल्लेखनीय है। तदनन्तर, ग्यारहवीं शताब्दी में रामानुजाचार्य, बारहवीं में निम्बार्काचार्य तथा तेरहवीं में मध्वाचार्य ने वैष्णव धर्म के अन्तर्गत अपने-अपने विशिष्ट सम्प्रदाय चलाये, जो किसी-न-किसी रूप में वेदान्त के ही भिन्न-भिन्न स्वरूप हैं। पन्द्रहवीं शताब्दी के अन्त में वल्लभाचार्य ने शुद्धाद्वैत नामक दर्शन का प्रतिपादन किया, जिसके अनुयायी वल्लभ-सम्प्रदायवाले कहलाते हैं। यह वेदान्तदर्शन का आश्रय लेनेवाला अन्तिम दर्शन है, जो आज भी जीवित और जाग्रत् ही नहीं, वरन् प्रगतिशील है।

वैदिक धर्म तथा दर्शनों के विकास में काशी का स्थान: उपनिषद्-काल में ब्रह्मविद्या के विकास में काशी के योगदान के विषय में पहले कहा जा चुका है। महाभारत की रचना के समय तक वाराणसी धर्मक्षेत्र तथा तीर्थ के स्वरूप को पूरी तरह प्राप्त कर चुकी थी और तदनन्तर उसका माहात्म्य निरन्तर बढ़ता गया, यहाँतक कि आगे चलकर भारशिव सम्राटों ने काशी में ही अश्वमेध यज्ञ करना श्रेयस्कर माना, और आगे चलकर शंकराचार्य को ब्रह्मज्ञान काशी में ही प्राप्त हुआ, यद्यपि ब्रह्मविद्या उनको दक्षिण में मिली थी और यह ब्रह्मज्ञान देनेवाला काशी की राजधानी वाराणसी का चाण्डाल था, जिसने उनको देह तथा देही का भेद स्पष्ट किया। शाक्त परम्पराएँ भी काशी में पूर्ण रूप मे विकसित हुई और विभिन्न देवीपीठों के रूप में अपना प्रभाव छोड़ गईं, जो आज भी सनातन-धर्मावलम्बियों की अर्चना का आधार हैं। शैव उपासना तो काशी का प्रधान अंग ही है। वैष्णव-सम्प्रदायों के प्राय: सभी आचार्य वाराणसी आये और अपने मठों तथा धर्मपीठों की स्थापना कर गये। वल्लभाचार्य के अनुयायियों की तो संख्या काशी में बहुत बड़ी है ही और उनकी एक प्रभावशाली गद्दी यहाँ गोपालमन्दिर में स्थापित है। कबीरदास का जन्म और उनके सन्तमत का पूरा विकास काशी में ही हुआ। इस मत का परोक्ष प्रभाव अवश्य पड़ा, परन्तु सनातन या वैदिक धर्म प्रत्यक्ष रूप से उससे प्रभावित नहीं हुआ।

इन सबके बाद गत शताब्दी के अन्त में स्वामी दयानन्द सरस्वती ने वैदिक धर्म की एक नई तथा स्वतन्त्र व्याख्या की, जिसमें संहिताओं को प्रमाण मानते हुए भी ब्राह्मणों, उपनिषदों तथा पुराणों को प्रमाण नहीं माना गया। उनका मत आर्यसमाज के नाम से प्रसिद्ध हुआ। भारतवर्ष के पश्चिमीय भागों में तो इसका अत्यधिक प्रभाव पड़ा, किन्तु काशी को यह विशेष रूप से प्रभावित नहीं कर पाया। स्वामी दयानन्दजी अपने धर्म के प्रचार के लिए वाराणसी आये थे। यहाँ जमकर शास्त्रार्थ भी हुए थे, जिनका सभापतित्व तत्कालीन काशी-नरेश महाराज ईश्वरीप्रसादनारायण सिंहजी ने किया था। इन शास्त्रार्थों में जय-पराजय की बात अब स्पष्ट रूप से नहीं कही जा सकती; क्योंकि दोनों ही पक्ष अपनी-अपनी विजय बतलाते हैं, परन्तु इतना तो कहा ही जा सकता है कि इनके परिणामस्वरूप काशी की जनता में कोई विचार-परिवर्त्तन नहीं हुआ।

यज्ञपूजा: वैदिक धर्म के विकासाश्रित भिन्न-भिन्न स्वरूपों का क्रमानुसार वर्णन करने के पश्चात् एक परम महत्त्वपूर्ण तथ्य की ओर हम अपने पाठकों का ध्यान आकृष्ट करना चाहते हैं। जिस प्रकार मानव-समाज में रूढिगत धर्माचरण तथा विवेकपूर्ण धर्माचरण करनेवाले दो प्रकार के लोग होते हैं, जिनका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है, उसी प्रकार उच्च कोटि के तथा निम्न कोटि के व्यक्ति भी सदैव ही समाज का अंग रहे हैं। वैदिक परम्परा की उच्च कोटि में ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्यलोग माने जाते हैं तथा निम्न कोटि में शूद्र, जिनके साथ बाद में पुराने अनार्य दास या दस्यु भी मिल गये। इन दोनों जन-समूहों में न केवल आर्य तथा अनार्य का भेद था, वरन् संस्कार तथा संस्कृति का भी। जब आर्य-सभ्यता भारत में विकसित हुई, तब सभी आर्य उच्च कोटि के थे और सभी शूद्र दस्यु निम्न कोटि के। कालान्तर में बहुत-से सामाजिक तथा कामुक कारणों से वर्णसांकर्य होने लगा और वर्णों की संख्या चार से बढ़कर बहुत बड़ी हो गई, जिनका

स्मृतियों में विस्तृत वर्णन है। इनमें से बहुत-से नये वर्ण पतित माने गये और उनकी गणना भी निम्न कोटि के अन्तर्गत हुई। इस प्रकार, निम्न कोटि के सदस्यों की संख्या बढ़ने लगी। जो अनार्य लोग वनों में जाकर बस गये, उनका तो पुराना धर्म ज्यों-का-त्यों बना रहा; परन्तु जैसा पहले कहा जा चुका है, जो अनार्य द्विजों की सेवा में लगे रहे, उनपर द्विजों के सम्पर्क का प्रभाव पड़ने लगा और जो लोग वर्णसांकर्य के कारण पतित हुए, वे अपने पूर्वजों का धर्म अपने साथ लाये। इस प्रकार, निम्न कोटि के लोगों में एक नये प्रकार का धर्म चल पड़ा, जो वैदिक तथा अनार्य धर्मों के सम्मिश्रण से बना।

जिस समय समाज की यह परिस्थिति उत्पन्न हो चुकी थी, उस समय एक ओर तो उच्च कोटिवालों का शुद्ध वैदिक धर्म चल रहा था और दूसरी ओर निम्न कोटिवालों का यह नया धर्म, जिसमें आर्य तथा अनार्य दोनों प्रकार की उपासनाएँ सम्मिलित थीं। अनधिकारी होने के कारण प्रधान वैदिक देवताओं की आराधना तो इसमें नहीं थी, परन्तु अनार्य देवताओं के साथ-साथ वैदिक देवताओं में जो निम्न कोटि के देवता थे, उनकी उपासना होती थी। यक्ष, पिशाच, ब्रह्मराक्षस तथा भूत-प्रेत इन्हीं में से हैं। ऋग्वेद में भी इनकी ओर संकेत मिलते हैं (ऋ० वे०, १०।४।९) कुछ विद्वानों का मत है कि यक्षपूजा अनार्य-धर्म का अंग है, जो आर्यधर्म में स्वीकृत हो गई। भूत, प्रेत, पिशाच, ब्रह्मराक्षस इत्यादि सभी को वे अनार्य-धर्म के देवता मानते हैं और यक्षों को भी उसी कोटि में रखते हैं। 'काशी का इतिहास' ने तो 'बरम' (ब्रह्मराक्षस) और 'वीर' दोनों को यक्ष ही मान लिया है (का० इ०, पृ० ३२) और भभुआ के समीप चैनपुर के सुप्रसिद्ध 'हरसू बरम' को 'हरिकेश यक्ष' की उपाधि दे डाली है (का० इ०, पृ० ३४)। अतएव, यक्षपूजा के विषय में कुछ विवेचन आवश्यक है।

शुक्ल यजुर्वेद की सुबाल-उपनिषद् में यक्षों की उत्पत्ति का वर्णन है। उसमें लिखा है कि विराट् पुरुष के अपान से निषादों, यक्षों, राक्षसों तथा गन्धर्वों की उत्पत्ति है। ऋग्वेद की नादबिन्दु-उपनिषद् में ओंकार के स्वरूप का वर्णन करते हुए कहा गया है कि उसमें तीन मात्राएँ तथा एक अर्धमात्रा है। प्रत्येक मात्रा में उदात्त, अनुदात्त तथा स्वरित के विस्तार से तीन कलाएँ होती हैं। यदि प्रथम मात्रा की साधना के समय साधक की मृत्यु हो, तो वह भारतवर्ष में सम्राट् होकर जन्म लेता है। यदि द्वितीय मात्रा की साधना करते हुए मृत्यु हो, तो वह प्रतापी यक्ष होकर जन्म लेता है। इसी प्रकार, तृतीय मात्रा में विद्याधर और चतुर्थ मात्रा में गन्धर्व होता है। इस प्रकार, यह स्पष्ट है कि यक्ष वैदिक देवताओं के निम्न कोटि के देवताओं में हैं, न कि अनार्य देवता, और यक्षपूजा का प्रारम्भ निम्न कोटि के आर्यों के द्वारा ही प्रचलित हुआ।

रुद्र का कैलास पर्वत और यक्षों का देश अलकापुरी एक दूसरे के निकटवर्त्ती है। इसी कारण यक्षपति कुबेर को त्र्यम्बकसखा भी कहा जाता है। कैलास के निवासी प्रमथों तथा अलका के निवासी यक्षों में पड़ोसी का सम्बन्ध है। अतएव, उनका परस्पर स्नेह होना कोई आश्चर्य की बात नहीं। काशी के इतिहास में मत्स्यपुराण के एक श्लोक के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला गया है कि सैकड़ों वर्षों के संघर्ष के बाद गुप्तकाल में शैव-

धर्म ने यक्षधर्म को अपने में मिला लिया और जितने यक्ष थे, वे सब शिव के पार्षद हो गये :

कुबेरस्तु महायक्षस्तथा सर्वार्पितक्रियः ।
क्षेत्रसंवसनादेव गणेशत्वमवाप ह ॥ (मत्स्यपु०, १८०।६२)

'काशी का इतिहास' का कहना है कि कुबेर ने अपना क्रूर स्वभाव तथा हिंसात्मक वृत्ति छोड़ दी और शिव के गणों के प्रधान हो गये। 'सर्वार्पितक्रियः' का अर्थ वहाँ यही निकाला गया है। 'क्षेत्रसंवसनादेव' पर ध्यान ही नहीं दिया गया। परन्तु, वस्तुस्थिति तो यह है कि काशी-क्षेत्र में अपनी सभी जीवन-क्रियाएँ शिवार्पण करके रहने से कुबेर को गणेशत्व मिला। अर्थात्, मनसा वाचा कर्मणा सभी प्रकार से अपने को शिव को अर्पण करके काशीवास करने से वे शिवगणों के स्वामी हुए। इस शरणागति का ही प्रसाद उनको मिला। मत्स्यपुराण में ही एक दूसरा श्लोक भी है, जिसमें भगवान् शंकर ने कहा है कि अपने सभी कर्म हमको अर्पण कर देने पर हमारे भक्तों को जैसा मोक्ष यहाँ मिलता है, वैसा अन्यत्र नहीं। यहाँ भी 'सर्वार्पितक्रियः' पद प्रयुक्त हुआ है, जिससे स्पष्ट है कि इस पद का वह अर्थ नहीं है, जो 'काशी का इतिहास' ने निकाला है :

मन्मना मम भक्तश्च मयि सर्वार्पितक्रियः ।
यथा मोक्षमिहाप्नोति ह्यन्यत्र न तथा क्वचित् ॥ (मत्स्यपु०, १८०।५१)

यक्ष क्रूर स्वभाव के मांस खानेवाले तथा हिंसाप्रेमी होते थे :

गुह्यका बत यूयं वै स्वभावात् क्रूरचेतसः ।
क्रव्यादाश्चैव किंभक्षा हिंसाशीलाश्च पुत्रक ॥ (मत्स्यपु०, १८०।६।१०)

क्रूर स्वभाव प्रायः सभी निम्न कोटि के देवताओं का होता है और इसी कारण उनको मद्य-मांस का प्रसाद अर्पित होता है। इसी श्लोक में कहा गया है कि गुह्यकों के समान ही यक्षों का यह स्वभाव होता है और शिव के पार्षद होते हुए भी यक्षों के पूजन में आज भी तामसी प्रसाद ही अर्पित किया जाता है।

आगे चलकर बौद्धधर्म का अंग होकर भी यक्षपूजा का बहुत विस्तार हुआ था, परन्तु उस समय के साहित्य में शिवपूजा और यक्षपूजा के संघर्ष की बात कहीं नहीं आई। इस प्रकार के अनुमानों के कारण निरर्थक भ्रान्तियाँ उत्पन्न होती हैं, जिनसे इतिहास का स्वरूप विकृत हो जाता है। ऐसे ही अनुमान के आधार पर दिवोदास को अनार्य कहा गया है और शिव को भी अनार्य देवता माना गया है (अलतेकर, पृ० २)।

यहाँ पर काशी के इतिहासकार द्वारा कही हुई एक और बात का खण्डन करना भी अनिवार्य है। उनका कहना है कि भभुआ के समीप के 'हरसू बरम' का चौरा पुराणों के हरिकेश यक्ष का स्थान है (का० इ०, पृ० ३४)। यह बात वे किस आधार पर कहते हैं, यह उन्होंने नहीं लिखा; परन्तु अनुमान से नाम की समानता ही इसका कारण समझ पड़ती है। जो कुछ भी हो, यह बात बिलकुल निराधार है। हरसू बरम मरने के पूर्व 'हरसू तिवारी' थे, जो मौजा जमुआँव के रहनेवाले थे और चैनपुर के तत्कालीन राजा शालि-वाहन अथवा सारिवाँ के महामन्त्री थे। उनके वंशज आज भी वहाँ रहते हैं। राजा की पटरानी उनसे रुष्ट थीं और जिस समय हरसू तिवारी राजा के साथ शिकार को गये थे,

उस समय उन्होंने हरसू के घर को खोद डालने का उपक्रम किया। हरसू की स्त्री जौहरी देवी ने झगड़ा किया और इस संघर्ष में घायल होकर वह मर गई। यह समाचार मिलने पर हरसू तिवारी ने लौटकर राजा के कोट के प्रवेशद्वार के पास आमरण अनशन किया। इसका प्रभाव यह हुआ कि वे ब्रह्मराक्षस हुए और सबके पहले राजा शालिवाहन को ही त्रस्त किया, जिसके फलस्वरूप वे सकुटुम्ब समीप के कुएं में कूद पड़े। तभी से हरसू बरम की पूजा प्रारम्भ हुई। शेरशाह की मृत्यु तथा इसलामशाह के राज्य-शासन के समय की यह घटना है। हरसू तिवारी का हरिकेश यक्ष से कोई सम्बन्ध नहीं है। 'बरम' शब्द ब्रह्मराक्षस का संक्षिप्त अपभ्रंश है और इसी अर्थ में समस्त उत्तर भारत में सभी जगह प्रचलित है। आज भी गाँवों में ब्राह्मण लोग अन्यायियों तथा आततायियों के विरोध में ब्रह्मराक्षस होकर बदला लेने की धमकी देते हैं।

स्पष्ट प्रमाणों के अभाव में यक्षों को अनार्य देवता मानना कठिन प्रतीत होता है और यक्षपूजा और शिवपूजा में संघर्ष की बात तो समझ में ही नहीं आती। ये दोनों आराधनाएँ साथ-साथ चल रही थीं—शिवपूजा अपने स्थान पर और यक्षपूजा अपने स्थान पर। यक्ष लोग या तो पूजा करते ही नहीं थे या शिव की पूजा करते थे और मनुष्य इच्छानुसार यक्षों की अथवा शिव की। कुषाणकाल में भी यक्षों द्वारा शिव-पूजन का प्रमाण पुरातत्त्व के द्वारा प्राप्त है, अतएव मत्स्यपुराण के आधार पर उसको गुप्तकाल तक खींच लाने की आवश्यकता नहीं। राजकीय संग्रहालय, लखनऊ में क्रम-संख्या बी-१४१ की एक मूर्त्ति में यक्षों द्वारा शिव-पूजन स्पष्ट रूप में अंकित है। उच्च समाज में शिव की या विष्णु की या अन्य वैदिक देवताओं की पूजा होती थी और निम्न कोटि में यक्षों की तथा उसी वर्ग के अन्य देवताओं की। कभी-कभी निम्न कोटि में भी ऐसे व्यक्ति होते थे, जो शिव की पूजा और तपस्या करते थे। विरोध का प्रश्न तो तब उठता, जब शिवपूजक आर्य लोग अनार्यों को शिवपूजक बनाने का प्रयत्न करते, परन्तु यह तो आर्यधर्म में सम्भव ही नहीं था; क्योंकि परधर्मावलम्बियों को वैदिक धर्मावलम्बी बनाने का शास्त्र में कोई विधान ही नहीं है। यहाँतक कि इस धर्म-परिवर्त्तन की प्रक्रिया के अभाव में आज भी सनातन हिन्दू-धर्म दूसरे धर्मवाले को अपने धर्म में ले ही नहीं सकता। इतना ही नहीं, भूत, प्रेत, पिशाच, यक्ष तथा यक्षिणियों की पूजा आज दिन भी प्रचलित है और सावर तथा उसी प्रकार के अन्य मन्त्रों के द्वारा इनकी सिद्धि का भी प्रयत्न वर्त्तमान काल में भी होता है।

इसलाम धर्म : काशी में वैदिक धर्म के विकास पर विचार समाप्त करने के पूर्व इससे सम्बद्ध एक दूसरे विषय का भी उल्लेख आवश्यक है। जैनधर्म के उदय होने के पूर्व भारतवर्ष के आर्यों में वैदिक धर्म निर्विरोध चलता रहा। जैनधर्म तथा तदुपरान्त बौद्धधर्म ने पहली बार उसका खण्डन करना प्रारम्भ किया और यह संघर्ष प्रायः पन्द्रह सौ वर्षों तक चला, यद्यपि इस अवधि की अन्तिम शताब्दियाँ महत्त्वपूर्ण नहीं रह गई थीं; क्योंकि भारत के जनमानस ने इन धर्मों को स्वीकार नहीं किया था और शंकराचार्य के बाद उनका प्रायः विलयन ही हो गया। कुछ थोड़ी संख्या में इन धर्मों के अनुयायी अपना धार्मिक जीवन विताते रहे, परन्तु संघर्ष समाप्त हो गया। ये दोनों नये धर्म भारतीय ही थे और इनमें और वैदिक धर्म में बहुत कुछ साम्य था। परन्तु, ई० सन् १००० के बाद

पश्चिम एशिया के इसलाम-धर्म ने वैदिक धर्म पर जो आक्रमण किया, वह एक नये प्रकार का था। जैसा हम पहले कह चुके हैं, जैनधर्म तथा बौद्धधर्म के साथ वैदिक धर्म का संघर्ष शास्त्रबल तक ही सीमित था। उस धार्मिक संघर्ष में शस्त्रबल कभी काम में नहीं लाया गया था। इसलाम के द्वारा जो धार्मिक आक्रमण हुआ, उसमें केवल शस्त्रबल का ही बोलबाला था, शास्त्रबल तो कहीं काम में आया ही नहीं। जहाँ कहीं भी मुसलमान-सेना की विजय हुई, वहाँ हारे हुए हिन्दुओं के लिए मृत्यु से बचने का एक ही उपाय था मुसलमान हो जाना।

लूट-पाट के लिए बनारस पर सबसे पहला आक्रमण नियाल्तगीन का सन् १०३४ ई० में हुआ। परन्तु, इसके पहले पश्चिमी भारत पर महमूद गजनवी के कई आक्रमण हो चुके थे, जिनमें लूट-पाट तो हुई ही, परन्तु उनका उद्देश्य इसलाम-धर्म की अभिवृद्धि ही था। अपने सैन्यबल के द्वारा महमूद हिन्दुओं के धार्मिक स्थानों पर आक्रमण करता था और विजय के पश्चात् वहाँ के मन्दिरों तथा देवमूर्त्तियों को नष्ट-भ्रष्ट करना अपना सबसे पुनीत कर्त्तव्य मानता था। और फिर, पराजित हिन्दू लोग हजारों की संख्या में मारे-काटे जाते थे। विजय के बाद इन नगरों में 'कत्लेआम' होता था। हिन्दी-भाषा में 'कत्लेआम' के लिए कोई शब्द ही नहीं है, परन्तु इसका अर्थ यह होता है कि सेना नगर-भर में घूमती थी और जो कोई जहाँ भी मिलता था, उसका वध किया जाता था। इस प्राण-संकट से बचने का एक ही उपाय था मुसलमान हो जाना। महमूद का अन्तिम आक्रमण ईसवी-सन् १०२४ में सौराष्ट्र के सोमनाथ पत्तन पर हुआ था। उसके बाद उसका देहान्त हो जाने से कुछ दिनों के लिए यह संकट कम हो गया था। परन्तु, पंजाब तथा अजमेर में बहुत-से मुसलमान रहने लगे थे, विशेषतः मुसलमान फकीर, जिनमें ख्वाजा मुईनुद्दीन चिश्ती, अलीबिन् उस्मान अलहजबीसी तथा शेख इस्माइल बुखार उल्लेखनीय हैं। इन लोगों के आश्रय से दो काम चलते थे। एक तो गजनी के गुप्तचरों का पारस्परिक सम्पर्क इनकी खानकाहों और मस्जिदों में होता था और दूसरे हिन्दू-प्रजा को इनकी आध्यात्मिक शक्ति के द्वारा लाभ पहुँचने के कारण उसकी श्रद्धा इनके ऊपर जमती थी, जिसका लाभ इसलाम के अभियानों में उठाया जाता था। उदाहरण के लिए, जिस समय महमूद सोमनाथ पर चढ़ा था, अलीबिन् उस्मान के दबाव से सौराष्ट्र के रास्ते के कई राजा लोग उसके विरुद्ध नहीं लड़े। ईसवी-सन् १०३४ में महमूद के भाँजे सैयद सालार मसऊद अपने अनुयायियों के साथ एक सेना लेकर गजनी से अजमेर होते हुए उत्तरप्रदेश की ओर बढ़े और मुलतान, देहली, मेरठ, गढ़मुक्तेश्वर, देवबन्द और कन्नौज होते हुए उत्तर में गोंडा और बहराइच की तरफ आये, जहाँ पर वे राजा सुहृद्ध्वज या सौहलदेव से लड़ते हुए मारे गये। इनका मुख्य उद्देश्य इसलाम-धर्म की अभिवृद्धि करना था और इसी उद्देश्य से उन्होंने अपने एक सेनानायक मलिक अफजल अलवी को कुछ सिपाहियों तथा अनुयायियों के साथ बनारस की ओर भेजा। मुसलमानों का यह लश्कर बनारस के परकोटे तक पहुँच गया, जहाँ घमासान लड़ाई हुई और उस लश्कर के बहुत-से लोग काम आये। सिपाही तो लड़कर मर गये; परन्तु साथ के जो और लोग थे, जिनमें स्त्रियाँ तथा बच्चे भी थे, वे शरणागत हुए और बाद में शहर के बाहर बस गये। इसलाम-धर्म में काफिरों के मारनेवाले को 'ग़ाज़ी'

कहते हैं और आगे चलकर जव मुसलमानों का भारत पर राज्य हुआ, तव सैयद सालार मसऊद को 'ग़ाज़ी' की उपाधि मिली, जिसका छोटा रूप 'गाजी मियाँ' जनसाधारण में प्रचलित हुआ। कालान्तर में मुसलमानों की देखादेखी निम्न कोटि के हिन्दुओं ने भी इनकी कब्र की पूजा प्रारम्भ कर दी और इनकी कब्र का एक प्रतिरूप बनारस में भी बन गया, जो 'गाजी मियाँ' के नाम से पुजने लगा। बनारस पर मुसलमानों के इस पहले आक्रमण में हिन्दुओं की विजय हुई और इस कारण हिन्दुओं का धर्म-परिवर्त्तन नहीं हो पाया, परन्तु मुसलमानों के कुछ कुटुम्व बनारस में नागरिक रूप में रहने लगे। बाद में इन्होंने बनारस के राजाओं की सेना में नौकरी भी कर ली, ऐसी जनश्रुति है। जिन मुहल्लों में ये रहते थे, वे आगे चलकर 'सालारपुरा' तथा 'अलवीपुरा' के नाम से विख्यात हुए। ईसवी-सन् ११९३ ई० में थानेश्वर के युद्ध में पृथ्वीराज के मारे जाने तथा सन् ११९४ ई० में काशी तथा कन्नौज के गाहड़वाल राजा जयचन्द को हराने के बाद मुहम्मद गोरी ने अपने सेनापति कुतुबुद्दीन ऐबक को बनारस की विजय के लिए भेजा। इस युद्ध में हिन्दुओं की हार हुई और बनारस का कोट मुसलमानों ने जीत लिया और उसको तहस-नहस कर डाला। बनारस तथा भारत पर मुसलमानों के शासन का इसी समय श्रीगणेश हुआ। इसका पहला परिणाम यह हुआ कि बनारस के एक हजार से अधिक मन्दिर तोड़ डाले गये, जिनकी अपार सम्पत्ति १४०० ऊँटों पर लादकर मुहम्मद गोरी को भेज दी गई। बाद में कुतुबुद्दीन को दिल्ली के सुलतान-पद पर बैठाकर मुहम्मद गोरी अपने देश लौट गया और कुतुबुद्दीन ने बनारस के शासन के लिए सन् ११९७ ई० में अपना एक अधिकारी नियुक्त किया, जिसने बड़ी कड़ाई के साथ बनारस से मूर्त्तिपूजा हटाने का पूरा प्रयत्न किया (इलियट, २।२२२–२२४)। हिन्दुओं के लिए यह बड़े कष्ट का समय था। फलतः, नये मुसलमान शासकों के आतंक के कारण टूटे हुए मन्दिर ज्यों-के-त्यों पड़े रहे। यह सब होते हुए भी हिन्दू-धर्म के स्वरूप पर इस आक्रमण का कोई स्पष्ट प्रभाव नहीं पड़ा। यद्यपि यह सम्भव है कि वेदपाठ इत्यादि अपने घरों में धीमे स्वर में होने लगा हो। एक बात और भी हुई होगी कि हजारों हिन्दू मुसलमान बनाये गये होंगे, जिससे बनारस में मुसलमानों की संख्या में वृद्धि हुई होगी। वह समय इसलाम-धर्मावलम्बियों के अतिरिक्त सभी के लिए कष्टकर था। परन्तु, हिन्दू-धर्म में पुनरुत्थान की अदम्य शक्ति थी। बनारस के मन्दिर धीरे-धीरे फिर बने और सन् १२९६ ई० तक बनारस के मन्दिर पुनः नगर की शोभा बढ़ाने लगे। अलाउद्दीन खिलजी ने अपने राज्य के प्रारम्भ में तो मन्दिरों को हाथ नहीं लगाया, पर बनारस की जनश्रुति के अनुसार यहाँ के मन्दिर बाद में तोड़े गये। यह बात कब हुई, इसका ठीक पता नहीं है; परन्तु ईसवी-सन् १३०२ में वीरेश्वर नामक किसी व्यक्ति ने मणिकर्णीश्वर का मन्दिर बनवाया था और सन् १२९६ ई० में पद्म साधु ने विश्वेश्वर के द्वार पर पद्मेश्वर नामक विशाल मन्दिर का निर्माण करवाया था। इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि बनारस के मन्दिरों की तोड़-फोड़ अलाउद्दीन खिलजी के शासन के आदिम चरणों में नहीं हुई, वरन् आगे चलकर जब वह राजगद्दी पर पूरी तरह जम गया, तब हुई। स्मिथ ने अपने इतिहास में इसका संकेत किया है। हिन्दुओं को मुसलमान बनाने की प्रक्रिया जो सन् ११९४ ई० में प्रारम्भ हुई थी, निरन्तर चल रही थी और प्राणों

के मोह तथा आर्थिक लोभ के कारण बहुत-से हिन्दू अपने धर्म को छोड़कर इसलाम-धर्म ग्रहण कर रहे थे। यह सब सारे भारत में हो रहा था और बनारस में भी। सन् १३१६ ई० में अलाउद्दीन की मृत्यु के बाद शासन कुछ शिथिल हुआ और धीरे-धीरे मन्दिरों का पुनर्निर्माण होने लगा। तुगलक बादशाहों के राज्यकाल में बनारस के मन्दिरों के तोड़ने का स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता, परन्तु जौनपुर की अटालादेवी के मन्दिर को तोड़कर उसके स्थान पर मस्जिद का निर्माण फीरोज तुगलक ने सन् १३७६ ई० में प्रारम्भ किया, यह प्रख्यात है (फ्यूहरर, पृ० १८१)। एक बात और भी है कि फीरोज तुगलक के शासनकाल में बनारस में भी बहुत-सी मस्जिदों का निर्माण हुआ और ये सभी मस्जिदें हैं हिन्दू-मन्दिरों के ध्वंसावशेषों पर अथवा उनके मसालों से बनी। इससे यह संकेत तो अवश्य ही मिलता है कि अपने बादशाह की भांति उस समय बनारस के स्थानीय अधिकारी भी मस्जिदें बनवा रहे थे और इसलाम-धर्म के प्रचार तथा प्रसार का पूरा प्रयत्न कर रहे थे।

चौदहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में धार्मिक क्षेत्र में एक बात और हुई। इसलाम-धर्म में छुआछूत तथा जातिभेद नहीं है। अतएव, मुसलमान हो जाने पर अस्पृश्य जाति के हिन्दुओं को इस तिरस्कार से मुक्ति मिल जाती थी। उनको इस प्रलोभन से बचाने का प्रयत्न रामानन्द ने किया। रामानन्दी सम्प्रदाय में राम की भक्ति पर ही बल है, जाति और वर्ण का कोई विचार नहीं है : 'हरि को भजै सो हरि का होय'। सभी रामानन्दी, चाहे किसी भी जाति के हों, सहभोजी होते थे। रामानन्द का जन्म तो प्रयाग में सन् १२९९ ई० में हुआ था; परन्तु उनकी शिक्षा-दीक्षा बनारस में ही हुई और अपने सम्प्रदाय की स्थापना तथा अपने मत का प्रचार उन्होंने यहीं किया और यहीं एक सौ पन्द्रह वर्ष के वय में उनकी मृत्यु हुई।

रामानन्द के बाद सन्त कबीर सामने आये। उनका जन्म बनारस में सन् १४४० ई० के आसपास हुआ। जनश्रुति इनको रामानन्द का शिष्य कहती है और सम्भवतः प्रारम्भ में ये रामानन्दी सम्प्रदाय के रहे होंगे, परन्तु आगे चलकर इनकी विकसित विचारधारा बहुत आगे बढ़ गई और उस समय के कबीरपन्थ में शुद्ध सन्त-परम्परा चलने लगी, जिसमें सभी धार्मिक बाह्याडम्बरों का तिरस्कार था। केवल प्रेम ही परमात्मा माना जाता था। यह निर्गुण ब्रह्म की उपासना का ही एक स्वरूप था, जिसमें धार्मिक विभिन्नताओं का समावेश सम्भव ही नहीं था। यही कारण है कि हिन्दू लोग कबीर को हिन्दू मानते थे और मुसलमान लोग मुसलमान। परन्तु, इन दोनों धर्मों की जनता ने कबीरपन्थ को अधिक अपनाया नहीं और इसी कारण वह अल्पसंख्यक ही बना रह गया और हिन्दू-धर्म पर उसका कोई प्रभाव नहीं पड़ा। हिन्दू-धर्म अपनी पुरानी परम्परा पर अडिग बना रहा। बारम्बार कुचले जाने पर भी न वह मरा, न उसने अपना स्वरूप ही बदला : 'न दैन्यं न पलायनम्।' सन् १५१८ ई० में कबीर की मृत्यु बस्ती जिले के खलीलाबाद-तहसील के मगहर गाँव में हुई, जहाँ उनकी समाधि और मकबरा दोनों ही बने, जो अब भी वर्त्तमान हैं।

कबीर के जीवनकाल में ही सन् १४७७ ई० में वल्लभाचार्य का जन्म हुआ। इनकी प्रारम्भिक शिक्षा-दीक्षा मथुरा में हुई। परन्तु, ग्यारह वर्ष के वय में ही इनके पिता का देहान्त हो गया और तत्पश्चात् ये उत्तर भारत की यात्रा को निकल पड़े और बाद में बनारस में

बस गये। बादरायण के ब्रह्मसूत्र तथा श्रीमद्भगवद्गीता पर अपने भाष्य इन्होंने काशी में रहकर ही लिखे और विशुद्धाद्वैत अथवा पुष्टिमार्ग का सम्प्रदाय बनारस से ही प्रारम्भ हुआ और व्रजमण्डल की छत्रच्छाया में परिपुष्ट होकर इसका समस्त उत्तर भारत में स्वागत हुआ।

दिल्ली के सुलतानों की असहिष्णुता तथा अत्याचारों से पीडित हिन्दू-जनता की धार्मिक भावना को बल देने के प्रयत्न में ऊपर कहे हुए भक्तिमार्गों का पर्याप्त योगदान रहा और हिन्दू-मनीषियों के इस प्रयत्न के परिणामस्वरूप भक्ति-विषयक साहित्य का खुलकर निर्माण हुआ, जिसमें, जैसा ऊपर दिखाया गया है, काशी का बहुत बड़ा हाथ था।

इसी बीच सन् १३९३ ई० में जौनपुर में शरकी नाम के एक नये राज्य की स्थापना हुई, जिसके शासक इसलाम-धर्म के प्रचार की ओर अत्यन्त जागरूक थे। उन्होंने जौनपुर में कई मस्जिदें बनवाईं, जिनके लिए पत्थर के खम्मे तथा अन्य सामग्री, बनारस के मन्दिरों को तोड़कर, ले जाई गई, जैसा कि लाल दरवाजे की मस्जिद में लगे हुए बनारस के पद्मेश्वर-मन्दिर के एक शिलालेख से सिद्ध है। यह वही पद्मेश्वर का मन्दिर था, जिसके सन् १२९६ ई० में अलाउद्दीन के शासनकाल के प्रारम्भ में निर्माण होने का उल्लेख हम ऊपर कर चुके हैं। इन मस्जिदों के बनने की शृंखला सन् १४३६ से १४८० ई० तक चलती रही। इसी बीच जौनपुर का शरकी-राज्य समाप्त हो गया और उत्तर भारत का शासन लोदी-वंश के हाथ में आ गया। इस वंश का दूसरा बादशाह सिकन्दर लोदी हुआ, जिसने सन् १४९४ ई० में बनारस के सभी मन्दिरों को फिर तोड़ा। इस बार की तोड़-फोड़ ने हिन्दुओं को हताश कर दिया और मन्दिरों के ध्वंसावशेष बहुत दिनों तक टूटी-फूटी दशा में ही पड़े रहे, यहाँतक कि विश्वेश्वर का मन्दिर भी खण्डहर के रूप में ही रह गया। इसी तोड़-फोड़ की परिस्थिति का वर्णन करते हुए 'त्रिस्थलीसेतु' (सन् १५८० ई०) में कहा गया है:

अत्र यद्यपि विश्वेश्वरलिङ्गं कदाचिदपनीयते अन्यदानीयते च कालवशात्पुरुषैस्तथापि तत्स्थान-स्थिते यस्मिन्कस्मिंश्चित्पूजादि कार्यम्। मुख्यविश्वेश्वरज्योतिर्लिङ्गाभावेऽपि तत्स्थानस्थिते लिङ्गान्तरे पूजादि कार्यम्। यदापि म्लेच्छादिदुष्टराजवशात्तस्मिन्स्थाने किञ्चिदपि लिङ्गं कदाचि-न्नस्यात्तदापि प्रदक्षिणानमस्काराद्याः स्थानधर्मा भवन्त्येव तावतैव च नित्ययात्रासिद्धिः। स्नापनादयस्तु साधिष्ठाना न भवन्तीति निर्णयः। एवं लिङ्गान्तरे प्रतिमान्तरे च सर्वत्र ज्ञेयम्। वीरेश्वरादिष्वप्ययमेव पूजाप्रकारो ज्ञेयो विशेषानुक्तौ। तदुक्तौ तु स एव।

अर्थात्, संयोगवश कभी लोग विश्वेश्वर के लिंग को अपने स्थान से हटा देते हैं, कभी दूसरा नया लिंग उसके स्थान पर लाकर स्थापित करते हैं, तथापि उस स्थान पर जो कोई लिंग भी रहे, उसकी पूजा करनी चाहिए। जब म्लेच्छादि दुष्ट राजाओं के कारण उस स्थान पर कोई भी लिंग न हो, तब भी प्रदक्षिणा, नमस्कार इत्यादि स्थानधर्म से उस स्थान पर होते ही हैं और उन्हीं से यात्रा की सिद्धि हो जाती है। परन्तु, स्नान, पूजन इत्यादि ऐसी दशा में नहीं होते। यह बात अन्य लिंगों तथा प्रतिमाओं के सम्बन्ध में भी समझनी चाहिए। वीरेश्वर इत्यादि में भी यही पूजा का प्रकार जानना। जहाँ विशेष बात न हो, वहाँ यही नियम है। जहाँ विशेष बात कही गई हो, वहाँ उसीको मानना चाहिए। इसी प्रकार 'वीरमित्रोदय' (सन् १६२० ई०) में कहा गया है कि—

अत्र च स्वयम्भूतस्य लिङ्गस्यालाभे तत्स्थाने स्थापितलिङ्गान्तरपूजनादपि सर्वनिर्वाहः। दुर्दान्तम्लेच्छादिवशात्तत्र लिङ्गाभावे स्थानप्रदक्षिणेनैव नित्ययात्रा सिद्ध्यति स्नपनादिकं तु तदानिरधिष्ठानत्वान्निवर्त्तत इति शिष्टाः।

अर्थात्, विश्वेश्वर के स्वयं लिंग के अभाव में उसके स्थान पर स्थापित दूसरे लिंग के पूजन से धर्म का पूरा निर्वाह हो जाता है। दुर्दमनीय म्लेच्छों के कारण यदि वहाँ पर लिंग न हो, तो उस स्थान की प्रदक्षिणा से नित्ययात्रा पूरी हो जाती है, यद्यपि स्नानादि उपचारों द्वारा पूजा लिंग के अभाव में असम्भव है, ऐसा शिष्ट लोगों का मत है।

अकबर के शासनकाल में (सन् १५५६–१६०५ ई०) में हिन्दुओं को साँस लेने का अवसर मिला और मन्दिरों का पुनर्निर्माण हुआ, जिनमें विश्वेश्वर तथा विन्दुमाधव के मन्दिर भी थे। विन्दुमाधव का मन्दिर जयपुर के महाराज मानसिंह ने बनवाया और विश्वेश्वर का मन्दिर सन् १५८५ ई० में अपने गुरु पण्डितराज भट्टनारायण के आग्रह पर राजा टोडरमल ने। ये दोनों मन्दिर अपने समय के अद्वितीय थे, परन्तु दैववशात् सन् १६६९ ई० में औरंगजेब की आज्ञा से बनारस के सभी मन्दिरों के साथ-साथ ये दोनों मन्दिर फिर तोड़े गये। औरंगजेब ने बनारस में चार मस्जिदें बनवाईं, जिनमें से तीन उस समय के प्रसिद्ध हिन्दू मन्दिरों को तोड़कर बनीं।

१. विश्वेश्वर के मन्दिर के स्थान पर जो मस्जिद बनी, वह आज भी ज्ञानवापीवाली मस्जिद कही जाती है। इसमें मन्दिर की पश्चिम की दीवार ज्यों-की-त्यों छोड़ दी गई है और वह आज भी अपने वैभव की साक्षिणी है।

२. विन्दुमाधव के मन्दिर के स्थान पर धरहरेवाली मस्जिद बनी, जो गंगा-तट पर है।

३. कृत्तिवासेश्वर के मन्दिर की जगह आलमगीरी मस्जिद है, जो हरतीरथ के पास है। यही मस्जिद सबसे पहले बनी थी। यों तो, औरंगजेब ने कुछ मन्दिरों को तथा हिन्दुओं को जागीरें भी दी थीं, मगर यह सब बाद की बात है।

इन सिकन्दरी तथा आलमगीरी आँधियों का भी हिन्दू-धर्म पर कोई असर नहीं पड़ा; परन्तु भक्तिमार्ग के साहित्य के विस्तार द्वारा हिन्दुओं की धार्मिक भावना को दृढ करने का प्रयत्न चलता रहा। वल्लभाचार्य के समय से प्रवाहित हुई इस धारा का सूरदास, तुलसीदास तथा व्रज-साहित्य के सभी भक्तिमार्गी सन्तों और कवियों द्वारा परिपोषण हुआ। इस क्षेत्र में भी बनारस का बहुत बड़ा योगदान रहा है। तुलसीदास ने तो अपने बहुत-से ग्रन्थ बनारस में ही लिखे। इसी समय तुलसीदासजी की प्रेरणा से हनुमान्‌जी के पूजन की प्रथा बलवती हुई और ऐसा कहा जाता है कि उन्होंने स्वयं ही हनुमान्‌जी की चौबीस मूर्त्तियाँ नगर के भिन्न-भिन्न भागों में स्थापित कीं, जिनमें बनारस का प्रसिद्ध संकटमोचन-मन्दिर भी है।

औरंगजेब के मरने के बाद मुसलमानों की राज्यसत्ता शिथिल होने लगी और दक्षिण में मराठों का उत्कर्ष प्रारम्भ हुआ, जो दिल्ली तक प्रभावशाली हुए। बनारस में भी महाराज बलवन्त सिंह का अधिकार इसी के थोड़े दिनों बाद हुआ। अतएव, सन् १७०८ ई० के बाद बनारस पर कोई धार्मिक अत्याचार नहीं हुआ और पुराने मन्दिरों का जीर्णोद्धार तथा पुनर्निर्माण बलशाली हुआ। इस काम में इन्दौर की महारानी अहल्याबाई तथा प्रायः सभी

मुख्य मराठा-सरदारों का बहुत बड़ा हाथ रहा है। विश्वेश्वर, अन्नपूर्णा, कालभैरव, त्रिलोचन तथा साक्षी विनायक के वर्त्तमान मन्दिर तथा गंगा पर के बहुत से घाट इन्हीं लोगों ने बनवाये हैं और बहुतों का जीर्णोद्धार किया है। ज्ञानवापी के निकट का मुक्तिमण्डप भी इन्हीं की कृति है। इस सम्बन्ध में बंगाल की रानी भवानी का कार्य भी उल्लेखनीय है। दुर्गाजी का प्रसिद्ध मन्दिर तथा तारकेश्वर का शिवालय और कुरुक्षेत्र तथा मत्स्योदरी-संगम के पक्के तालाब इन्हीं ने ही बनवाये। मत्स्योदरी-संगम का तालाब प्राचीन कपाल-मोचन तीर्थ है, जहाँ भैरव के हाथ से कपाल छूटा था और जहाँ तेरहवीं शताब्दी में महाराज गोविन्दचन्द्र ने मत्स्योदरी योग, अर्थात् गंगा-मत्स्योदरी-संगम के अवसर पर स्नान किया था और एक दानपत्र लिखा था।

इसलाम के आक्रमण के फलस्वरूप हिन्दू-धर्म में प्रत्यक्ष कोई परिवर्त्तन नहीं हुआ; परन्तु सन् ११९४ से १७०८ ई० तक के पाँच सौ वर्ष हिन्दुओं के लिए बहुत ही कठिनाई के थे। उनके सभी धार्मिक कृत्यों में हर समय बाधा पड़ती थी। चौदहवीं शताब्दी के बाद तो वेदों का सस्वर पाठ शहरों में प्रायः बन्द ही हो गया था। काशी में भी वेदों के स्वर कानों में नहीं पड़ते थे और लोग उसको प्रायः भूले ही जा रहे थे। जनश्रुति तो यहाँतक कहती है कि संन्यास धर्म की दीक्षा देनेवाले अधिकारी काशी में रह ही नहीं गये थे। यह परिस्थिति पन्द्रहवीं शताब्दी के अन्त की है। सोलहवीं शताब्दी में महाराष्ट्र देश के कुछ विद्वान् काशीवास के निमित्त काशी में आकर बसे। उनके द्वारा वेदपाठ की कमी फिर पूरी हो पाई। फिर भी, कर्मकाण्ड की शिथिलता बनी ही रही, जो आगे चलकर मिटी। एक बात अवश्य थी। इन अत्याचारों की लहरें आती थीं। जब एक लहर निकल जाती थी, तब थोड़ी सुविधा हो जाती थी; परन्तु शीघ्र ही दूसरी लहर आती थी। इन विपरीत परिस्थितियों में भी हिन्दू-धर्म के विषय में वही बात सार्थक थी कि **प्रायः कन्दुकपातेव पतत्यार्यः पतन्नपि,** अर्थात् हिन्दू-धर्म सभी आक्रमणों और अत्याचारों को झेलता हुआ फिर उठ खड़ा होता था। उसने कभी दैन्य तथा पलायन का मार्ग नहीं पकड़ा। उसका यह गुण समस्त भारत में व्याप्त था; परन्तु वाराणसी में इसका प्रमाण स्पष्ट रूप से निरन्तर मिलता गया; क्योंकि हिन्दुओं का प्रधान तीर्थ होने के कारण इस्लामी आक्रमणों का लक्ष्य यह नगरी सदैव ही बनी रही। ये आक्रमण हिन्दू-धर्म का तो कुछ नहीं बिगाड़ पाये, परन्तु इनके फलस्वरूप हिन्दुओं का एक बहुत बड़ा समूह प्राणों के भय से मुसलमान हो गया, जिनके वंशजों की संख्या बढ़ते-बढ़ते भारत की जनसंख्या का चतुर्थांश हो गई और अन्ततः भारत को विभाजित होना पड़ा।

सनातन हिन्दू-धर्म में विधर्मियों को हिन्दू बनाने का कोई उपाय नहीं है। उस धर्म ने तो सभी धर्मों को आशीर्वाद देना ही सीखा था। इस कारण एक बार मुसलमान हो जाने पर उन हिन्दुओं को पुनः हिन्दू-धर्म में लाना सम्भव नहीं था। हिन्दू-धर्म के सभी सम्प्रदायों ने इस स्थिति को स्वीकार कर रखा था, परन्तु आर्यसमाज ने इसको नहीं माना और हिन्दू-धर्म के इस मत के अनुसार विधर्मियों को हिन्दू बनाना प्रारम्भ हो गया। पर, यह बात इतनी देर से हुई कि देश की स्थिति पर इसका कोई प्रभाव नहीं पड़ पाया। हाँ, भविष्य के लिए एक राह अवश्य खुल गई।

गत शताब्दी में हिन्दू-धर्म पर एक नया संकट आया। यह था ईसाई पादरियों द्वारा हिन्दुओं को ईसाई बनाने का प्रयत्न। यों तो, जब से अँगरेजों का प्रभाव भारतवर्ष में बढ़ने लगा, तभी से ईसाई धर्माध्यक्षों की दृष्टि इधर आई, परन्तु उन्नीसवीं शताब्दी में कई ईसाई मिशन इस कार्य में जी-जान से लगे। इन्होंने बहुत-से स्कूल खोले, जिनके द्वारा सामान्य शिक्षा-प्रसार करने के साथ-साथ बाइबिल की शिक्षा भी दी जाने लगी और छात्रवृत्तियों तथा पुरस्कारों के लोभ में गरीब लोग ईसाई बनने लगे। इनके अस्पतालों में दीन-दुःखियों की बड़ी सेवा होती थी, परन्तु अन्तिम तथा आन्तरिक लक्ष्य सदैव ही ईसाई बनाने का था। उच्च कोटि के लोगों पर तो इनका बहुत प्रभाव नहीं पड़ा, परन्तु निम्न वर्ग के विपन्न गरीब लोग विशेष करके अस्पृश्य जातियों के लोग पर्याप्त संख्या में ईसाई हो गये और अब भी हो रहे हैं: **बुभुक्षितः किन्न करोति पापम्।** स्वतन्त्रता मिल जाने के बाद भी इन लोगों का बल प्रायः पूर्ववत् ही है और यह कार्यक्रम अब भी चारों ओर चल रहा है।

यहाँपर एक बड़े महत्त्व की बात का उल्लेख आवश्यक है कि जबसे भारतवर्ष में अँगरेजी-शिक्षा का प्रचार तथा प्रसार हुआ, तबसे भारतीयों के मन में आध्यात्मिकता तथा धार्मिक भावना का ह्रास होने लगा। शिक्षा के क्षेत्र से धार्मिक शिक्षा का बहिष्कार हो जाने से पाँच-छह वर्ष के वय से ही बालकों की शिक्षा-दीक्षा में धर्म का अभाव हो जाता है और यह अभाव बीस-बाईस वर्ष की अवस्था तक बना रहता है। बाल्यकाल में धर्म का बीज बालक के मन में न तो बोया जा पाता है और न जमकर बढ़ता ही है। परिणाम यह होता है कि अपने धर्म तथा संस्कारों की ओर उसको श्रद्धा ही नहीं होती। धर्म के नाम से वह चिढ़ता है, तो फिर धर्म के लिए कष्ट सहने की तो बात ही क्या ! किसी ने कहा था कि जो काम छह सौ वर्षों में शस्त्रबल का प्रयोग करने पर भी मुसलमान-बादशाह नहीं कर सके, वह काम सौ वर्ष के भीतर में मेकाले ने अपने बुद्धिबल से कर दिखाया। बहुत-से हिन्दुओं के मन में धार्मिक श्रद्धा का अभाव हो गया और उनको अपने धर्म का अभिमान न रह गया। भारतवर्ष में आज की धार्मिक स्थिति यही है, परन्तु सन्तोष का विषय है कि वाराणसी में अब भी आध्यात्मिकता तथा धार्मिकता का इतना अभाव नहीं है। बाबा विश्वनाथ की इस नगरी में आज भी लाखों स्त्री-पुरुष नित्य गंगा-स्नान और देवमन्दिरों में अपने समय तथा शक्ति के अनुसार दर्शन-पूजन करते हैं।

दूसरा अध्याय

काशी का धार्मिक स्वरूप

काशी तथा वाराणसी का ब्रह्मवर्द्धन स्वरूप

सामान्यतः काशी तथा वाराणसी शब्दों का वाराणसी नगर, अर्थात् बनारस शहर के लिए आजकल प्रयोग किया जाता है; परन्तु जिस सन्दर्भ में अब हम लिख रहे हैं, उसमें तीर्थ-क्षेत्र के रूप में ही उसका विवेचन होना है। अतएव, जबतक वाराणसी नगर अथवा नगरी का स्पष्ट उल्लेख न किया जाय, तबतक काशी तथा वाराणसी तीर्थक्षेत्र से ही तात्पर्य मानना चाहिए।

जैसा पहले कहा जा चुका है, वेदों के संहिताकाल में काशी तथा वाराणसी के किसी विशेष धार्मिक महत्त्व का उल्लेख नहीं मिलता। ब्राह्मण-काल में काशी के राजा धृतराष्ट्र के अश्वमेध करने का वर्णन मिलता हैं; परन्तु यह काशी के तीर्थ होने का प्रमाण नहीं हैं। उपनिषदों से काशिराज अजातशत्रु के ब्रह्मवेत्ता होने का परिचय तो प्राप्त होता है; परन्तु उनमें भी काशी की धार्मिक महत्ता की ओर कोई संकेत नहीं है और न ब्रह्मज्ञान का केन्द्र होने के लिए तीर्थ होना आवश्यक है। राजा जनक की मिथिला ब्रह्मज्ञान का सर्वोपरि केन्द्र होते हुए भी तीर्थस्थली नहीं थी और न कभी हुई। ब्रह्मज्ञान के सम्बन्ध में काशी तथा मिथिला की प्रतिस्पर्धा थी। कदाचित् एकरूपता और समानता भी रही होगी, परन्तु इन सबसे काशी को तीर्थस्थली की पदवी नहीं मिल पाती। वाराणसी नगरी का तत्कालीन नाम ब्रह्मवर्द्धन, जिसका बौद्ध साहित्य में उल्लेख मिलता है, उसके इसी स्वरूप की ओर स्पष्ट संकेत करता है। कालान्तर में यद्यपि नगरी का यह नाम नहीं रह गया, तथापि ब्रह्मज्ञान के विषय में उसका महत्त्व बराबर बना रहा और अब भी सर्वस्वीकृत है।

काशी तथा वाराणसी का तीर्थ-स्वरूप

तीर्थ के रूप में वाराणसी का नाम सबसे पहले महाभारत में मिलता है :

> अविमुक्तं समासाद्य तीर्थसेवी कुरूद्वह।
> दर्शनाद्देवदेवस्य मुच्यते ब्रह्महत्यया ॥ (महाभारत, वन०, ८४।१८)
> ततो वाराणसीं गत्वा देवमर्च्य वृषध्वजम्।
> कपिलाह्रदमुपस्पृश्य राजसूयफलं लभेत् ॥ (महाभारत, वन०, ८२।७७)

बात तो यह है कि इसके पूर्व के साहित्य में तीर्थों के विषय में कुछ कहा ही नहीं गया है। उस समय धार्मिक केन्द्र कुरुक्षेत्र था, परन्तु देश-भर में आर्य लोगों को जाकर बसना था। वर्त्तमान तीर्थस्थलों में बहुधा जंगल थे, जिनमें आदिवासियों की इधर-उधर

कुछ बस्तियाँ छिटपुट बसी थीं। इनके अतिरिक्त वहाँ मनुष्यों का निवास ही नहीं था। आगे चलकर जब उत्तर भारत में सर्वत्र आर्य लोग फैल गये और उनके नगर बस गये, तब आध्यात्मिक सर्वेक्षण के द्वारा तीर्थों के अस्तित्व तथा माहात्म्य का पता चला। इस सम्बन्ध में महाभारत में कहा गया है कि जिस प्रकार शरीर के कुछ अवयव पवित्र माने जाते हैं, उसी प्रकार पृथ्वी के कतिपय स्थान पुण्यप्रद तथा पवित्र होते हैं। इनमें से कोई तो स्थान की विचित्रता के कारण, कोई जल के प्रभाव से और कोई ऋषि-मुनियों के सम्पर्क से पवित्र हो गया है :

भौमानामपि तीर्थानां पुण्यत्वे कारणं श्रृणु।
यथा शरीरस्योद्देशाः केचित् पुण्यतमाः स्मृताः।
तथा पृथिव्यामुद्देशाः केचित् पुण्यतमाः स्मृताः॥
प्रभावादद्भुताद्भूमेः सलिलस्य च तेजसा।
परिग्रहान्मुनीनां च तीर्थानां पुण्यता स्मृता॥

(महा०, कु० क० त०, पृ० ७-८)

आधुनिक विचारधारा इस बात को इस प्रकार कहती है कि जहाँ-जहाँ मानव के बहुमुख उत्कर्ष के साधन लभ्य हुए, वहीं-वहीं तीर्थों की परिकल्पना हुई। जो कुछ भी हो, विविध तीर्थों के नाम और उनके माहात्म्य सबसे पहले पुराण-साहित्य में मिलते हैं, जिनमें महाभारत का शीर्षस्थ स्थान है। यजुर्वेदीय जाबाल-उपनिषद् में काशी के विषय में महत्त्वपूर्ण उल्लेख है, परन्तु इस उपनिषद् को आधुनिक विद्वान् उतना प्राचीन नहीं मानते।

अथैनमत्रिः पप्रच्छ याज्ञवल्क्यं य एषोऽव्यक्तोऽनन्त आत्मा तं कथमहं विजानीयामिति। सहोवाच याज्ञवल्क्यः सोऽविमुक्त उपास्यो य एषोऽनन्तोऽव्यक्त आत्मा सोऽविमुक्ते प्रतिष्ठित इति। सोऽविमुक्तः कस्मिन्प्रतिष्ठित इति। वरणायां नाश्यां च मध्ये प्रतिष्ठित इति। का वै वरणा का च नाशीति। सर्वानिन्द्रियकृतदोषान्वारयति तेन वरणा भवतीति सर्वानिन्द्रियकृतान्पापान्नाशयति तेन नाशी भवतीति। (जाबाल-उपनिषद्, खं० २)

अविमुक्तं वै देवानां देवयजनं सर्वेषां भूतानां ब्रह्मसदनमत्र हि जन्तोः प्राणेषूत्क्रममाणेषु रुद्रस्तारकं ब्रह्म व्याचष्टे येनासावमृतीभूत्वा मोक्षीभवति तस्मादविमुक्तमेव निषेवितांविमुक्तं न विमुञ्चेदेवमेवैतद्याज्ञवल्क्यः। (जाबाल-उपनिषद्, खं० १)

अव्यक्त तथा अनन्त परमात्मा के सम्बन्ध में विचार-विमर्श करते हुए महर्षि अत्रि ने महर्षि याज्ञवल्क्य से पूछा कि उस अव्यक्त और अनन्त परमात्मा को हम किस प्रकार जानें। इसपर याज्ञवल्क्य ने कहा कि उस अव्यक्त तथा अनन्त आत्मा की उपासना अविमुक्त क्षेत्र में हो सकती है; क्योंकि वह वहीं प्रतिष्ठित है। इसपर अत्रि ने पूछा कि अविमुक्त क्षेत्र कहाँ है। याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया कि वह वरणा तथा नाशी नदियों के मध्य में है। वह वरणा क्या है और वह नाशी क्या है, यह पूछने पर उत्तर मिला कि इन्द्रिय-कृत सभी दोषों का निवारण करनेवाली वरणा है और इन्द्रिय-कृत सभी पापों का नाश करनेवाली नाशी है। वह अविमुक्त क्षेत्र देवताओं का देवस्थान और सभी प्राणियों का ब्रह्मसदन है। वहाँ ही प्राणियों के प्राण-प्रयाण के समय में भगवान् रुद्र तारक मन्त्र का उपदेश देते हैं, जिसके प्रभाव से वह अमृती होकर मोक्ष प्राप्त करता है। अतएव, अविमुक्त में सदैव निवास करना चाहिए। उसको कभी न छोड़े, ऐसा याज्ञवल्क्य ने कहा है।

जाबालोपनिषद् के अतिरिक्त 'लिखितस्मृति', 'शृंगीस्मृति' तथा 'पाराशरस्मृति' में भी काशी के माहात्म्य का वर्णन किया गया है। ब्राह्मीसंहिता तथा सनत्कुमारसंहिता में भी यह विषय प्रतिपादित है। प्रायः सभी पुराणों में काशी का माहात्म्य कहा गया है, यद्यपि इनके क्षेत्रीय विकास के कारण इनमें विषय के विस्तार में भेद है। ब्रह्मवैवर्त्त-पुराण में तो काशी-क्षेत्र के विषय में 'काशी-रहस्य' नामक एक पूरा ग्रन्थ ही है, जो उसका 'खिल' भाग कहा जाता है। इसी प्रकार, पद्मपुराण में काशी-माहात्म्य नामक ग्रन्थ है, यद्यपि उसके अतिरिक्त अन्यत्र भी काशी का वर्णन मिलता है। प्राचीन लिंगपुराण में सोलह अध्याय काशी के तीर्थों के सम्बन्ध में थे। वर्त्तमान लिंगपुराण में भी एक अध्याय है। स्कन्द-पुराण का काशीखण्ड तो काशी के तीर्थ-स्वरूप का विवेचन तथा विस्तृत वर्णन करता ही है। इस प्रकार, पुराण-साहित्य में काशी के धार्मिक माहात्म्य पर पर्याप्त सामग्री है। इसके अतिरिक्त, संस्कृत-वाङ्मय में भी कहीं-कहीं कुछ-न-कुछ मसाला मिलता ही है। दशकुमारचरित, नैषध तथा राजतरंगिणी में काशी का उल्लेख है और कुट्टनीमतम् में भी काशी के प्रधान देवायतन का सटीक वर्णन मिलता है, यद्यपि उस ग्रन्थ का उद्देश्य दूसरा ही है।

इन सभी आधारों पर काशी की धार्मिक महत्ता स्थापित है। इस सम्बन्ध में कालक्रम को लेकर चलना सम्भव नहीं है; क्योंकि पुराणों में निरन्तर परिवर्त्तन तथा परिवर्द्धन होते आये हैं और एक ही पुराण के भिन्न-भिन्न अंश भिन्न-भिन्न समय में बने हैं। लिंग-पुराण इसका स्पष्ट प्रमाण है; क्योंकि बारहवीं शताब्दी-ईसवी तक प्राप्त होनेवाले लिंग-पुराण में तीसरे अध्याय से अट्ठारहवें अध्याय तक काशी के देवायतनों तथा तीर्थों का विस्तृत वर्णन था। उसका बहुत-सा अंश लक्ष्मीधर के 'कृत्यकल्पतरु' में उद्धृत होने से बच गया है, जो ९९ पृष्ठों का है। 'त्रिस्थलीसेतु' नामक ग्रन्थ की रचना के समय (सन् १५८० ई०) लिंगपुराण का कुछ छोटे-मोटे परिवर्त्तनों के साथ वही स्वरूप था, जैसा उसमें स्पष्ट लिखा है कि **लैङ्गेऽपि तृतीयाध्यायात्षोडशान्तं लिङ्गान्युक्त्वोक्तम्**, अर्थात् लिंगपुराण में भी तीसरे अध्याय से सोलहवें अध्याय तक लिंगों का वर्णन करने के बाद कहा गया है कि—(त्रि० से०, पृ० १८१)। वर्त्तमान लिंगपुराण में केवल एक ही अध्याय काशी के विषय में है, जिसमें केवल १४४ श्लोक हैं। पुराणों की इस परिवर्त्तन-परम्परा के कारण उनके सहारे कालक्रम नहीं स्थापित किया जा सकता, अतएव इस विषय का स्वतन्त्र विवेचन ही सम्भव है।

जैसा पहले कहा जा चुका है, संसार के प्रत्येक धर्म के अपने-अपने तीर्थस्थान हैं, जिनकी यात्रा से पुण्यलाभ होना माना जाता है। भारतवर्ष के तीर्थों की संख्या भी उसकी भौगोलिक विशालता के अनुरूप है। महाभारत में ही इनकी संख्या छोटी नहीं है और यदि सभी पुराणों के आधार पर सूची बनाई जाय, तो वह बहुत ही बड़ी हो जाती है। 'शब्दकल्पद्रुम' में २६४ तीर्थों का उल्लेख है। परन्तु, महिमा के विचार से भारत के तीर्थों में चार धाम और सात पुरियों के नाम शीर्षस्थ माने जाते हैं। प्रयाग का नाम इनमें नहीं आता, परन्तु वह तो तीर्थराज है। इसी प्रकार, गया का नाम भी इनमें नहीं है और न गंगासागर का। एक बात और भी है कि तीर्थों के माहात्म्य समय-समय पर बदलते भी रहे हैं, परन्तु ऊपर के कहे हुए चौदह तीर्थों के प्राधान्य के विषय में मतभेद नहीं है। इनमें से बहुतों का सम्बन्ध गंगा से है, जो स्वयं तीर्थस्वरूपा हैं।

काश्यां मरणान्मुक्ति : अब यदि इन चौदह तीर्थों की महत्ता पर तुलनात्मक विचार किया जाय, तो हम देखते हैं कि चारों धामों की यात्रा तथा दर्शन से पुण्य होता है, स्वर्ग तथा अपवर्ग की प्राप्ति होती है, किन्तु मोक्ष नहीं मिलता। द्वारकापुरी चारों धामों में तो है ही, सप्तपुरियों में भी है, इससे उसका एक विशेष स्थान है। यों तो, ये सभी पुरियाँ मोक्षदायिनी कही गई हैं :

अयोध्या मथुरा माया काशी काञ्ची अवन्तिका।
पुरी द्वारवती चैव सप्तैता मोक्षदायिकाः॥

परन्तु, काशी को छोड़कर अन्य छह पुरियों में मरनेवालों को एक जन्म के लिए पुनः काशी में जन्म लेना पड़ता है और फिर वहाँ मरकर मोक्ष मिलता है :

अन्यानि मुक्तिक्षेत्राणि काशीप्राप्तिकराणि हि।
काशीं प्राप्य विमुच्येत नान्यथा तीर्थकोटिभिः॥

(का० खं०, त्रि० से०, पृ० ७७)

इसका कारण कदाचित् यह है कि इन छह पुरियों की उत्पत्ति तथा उनका लय काशी में ही माना गया है :

काश्याः सर्वा निःसृताः सृष्टिकाले
काश्यामन्तःस्थितिकाले वसन्ति।
काश्यां लीनाः सर्वसंहारकाले
ज्ञातव्यास्ताः मुक्तपुर्यो भवन्ति॥

(ब्र० वै० पु०, का० र०, २-१३।३६)

इतना ही नहीं, काशी में इनका निरन्तर निवास भी माना जाता है और अपनी-अपनी ऋतु में इनकी यात्रा भी होती है :

काश्यां नवौषराः सप्तपुर्यः सन्ति समागताः॥

(ब्र० वै० पु०, का० र०, २-१३।१४)

एक बात और भी है, इन छह पुरियों में पुण्यकर्मा लोगों को ही मरने पर मुक्ति मिलती है :

एताः षट् सिद्धिदा नृणां देहत्यागकृतां सताम्।
सर्वाः सुकृतसम्भारसम्भृताः पुण्यकर्मणाम्॥

(ब्र० वै० पु०, का० र०, २-१३।५२)

इसके विपरीत, काशी में मरने से पुण्यात्मा तथा पापी सभी को मुक्ति मिलती है :

पुण्यानि पापान्यखिलान्यशेषं सार्थं सबीजं सशरीरमार्ये।
इहैव संहृत्य ददामि बोधं यतः शिवानन्दमवाप्नुवन्ति॥

(सनत्कु० सं०, तीर्थसुधानिधि, पृ० ४५)

कृतप्रयत्नोऽप्यकृतप्रयत्नो इहावसाने लभतेव मोक्षम्।

(सनत्कु० सं०, तीर्थसुधानिधि, पृ० ४५)

इस सम्बन्ध में जाति, वर्ण इत्यादि का भी कोई भेद नहीं है। यहाँतक कि पशु भी इसके अधिकारी हैं। अपमृत्यु होने पर भी मोक्ष मिलता ही है :

ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्याः शूद्रा ये वर्णसङ्कराः ।
स्त्रियो म्लेच्छाश्च ये चान्ये सङ्कीर्णाः पापयोनयः ।।
कीटाः पिपीलिकाश्चैव ये चान्ये मृगपक्षिणः ।
चन्द्रार्द्धमौलिनः सर्वे ललाटाक्षा वृषध्वजाः ।
शिवे मम पुरे देवि जायते नात्र संशयः ।।
(मत्स्यपु०, १८१।१६—२१; कूर्मपु०, १।३१।३१-३२)

सर्पाग्निदस्युप्रभृतिभिर्निहतस्य जन्तोः
अपि अत्र मुक्तिः। (पद्मपु०, त्रि० से०, पृ० २६३)

यह तो हुई काशी तथा छह पुरियों की विवेचना। प्रयाग में मरने से मोक्ष अवश्य मिलता है, इसमें सन्देह नहीं। परन्तु, यह तभी होता है, जब मुक्ति की ही कामना से अथवा निष्काम भावना से प्रयागवास किया जाय और इस प्रकार वहाँ मृत्यु हो। यदि कोई भी दूसरी कामना या भावना मन में उत्पन्न होती है, तो उस कामना की पूर्त्ति होती है; परन्तु मोक्ष नहीं मिलता। इसके विपरीत, काशी में मुक्ति की कामना अपेक्षित नहीं, निष्काम भावना की भी आवश्यकता नहीं, पुण्यकर्म, योगाभ्यास इत्यादि हों या न हों, केवल काशी में मरने-मात्र से ही मोक्ष मिल जाता है। यही काशी की विशेषता है कि विषयों में फँसे हुए और धर्म से मन को हटाये हुए लोगों को भी काशी में मरने से मुक्ति मिलती है :

विषयासक्तचित्तोऽपि त्यक्तधर्मरतिस्त्वपि ।
कालेनोज्झितदेहोऽत्र न संसारं पुनर्विशेत् ।। (का० खं०, ६६।१२२)
विना तपोजपाद्यैश्च विना योगेन सुव्रत ।
निःश्रेयो लभते काश्यामिहैकेनैव जन्मना ।। (का० खं०, २२।११२)

एक बात और भी है कि प्रयागादि अन्य तीर्थों में मरनेवालों को सालोक्य, सारूप्य तथा सान्निध्य मुक्तियाँ ही मिलती हैं। सायुज्य मुक्ति केवल काशी में ही मिल सकती है :

सायुज्यमुक्तिरत्रैव साान्निध्यादिरथान्यतः ।
सुलभा सोऽपि नो नूनं काश्यां मोक्षोऽस्ति हेलया ।। (का० खं०, ६४।५५)

इसके अतिरिक्त, अन्य तीर्थों में अपवित्र स्थानों पर मरने से कर्म बिगड़ता है। पवित्र स्थल, कुशासन पर, आकाश के नीचे मरना ही पुण्यजनक माना गया है; परन्तु काशी में इसका कोई विचार नहीं है। सड़क पर, मलमूत्र में, चाण्डाल के घर में, श्मशान में, कहीं भी मरे, मुक्ति मिलती ही है। व्यतीपातादि दुष्ट योगों से भी कोई दोष नहीं है, और न उत्तरायण, दक्षिणायण की ही कोई बात है :

रथ्यान्तरे मूत्रपुरीषमध्ये चाण्डालवेश्मन्यथवा श्मशाने ।
कृतप्रयत्नोऽप्यकृतप्रयत्नो इहावसाने लभतेव मोक्षम् ।।
(सनत्कु० सं०, तीर्थसुधानिधि, पृ० ४५)

भूमौ जलेऽन्तरिक्षे वा यत्र क्वापि मृतो द्विज ।
ब्रह्मैकत्वं च प्राप्नोति काशीशक्तिरुपाहिता ।।

(पद्मपु०, तीर्थसुधानिधि, पृ० ४५)

सर्वस्तस्य शुभः कालो ह्यविमुक्ते म्रियेत यः ।
न तत्र कालो मीमांस्यः शुभो वा यदि वाशुभः ॥ (मत्स्यपु०, १८४।६१)

अन्य तीर्थों में निरन्तर योगाभ्यास करने पर सैकड़ों जन्मों में भी योगी को मुक्ति मिले या न मिले, परन्तु काशी में विना किसी प्रयत्न के केवल मरने-मात्र से मोक्ष मिलना निश्चित है :

बहुजन्मशताभ्यासाद्योगी मुच्येत वा न वा।
मृतमात्रोऽपि मुच्येत काश्यामेकेन जन्मना ॥ (का० खं०)

यह हुई मरने पर मोक्ष मिलने की बात। इसके अतिरिक्त, जो कुछ भी छोटा-बड़ा शुभ कर्म—दान, जप, पूजा, व्रत इत्यादि काशी में किया जाता है, वह सभी अक्षय होता है और अन्यत्र की अपेक्षा उसका फल भी अनन्त हो जाता है। थोड़े साधन से बहुत बड़ा साध्य प्राप्त होने की सम्भावना होती है। इसी प्रकार, धार्मिक सिद्धि न केवल स्वल्प श्रम से वरन् थोड़े समय में भी मिल सकती है :

दत्तं जप्तं हुतं चेष्टं तपस्तप्तं कृतं च यत्।
ध्यानमध्ययनं ज्ञानं सर्वं तत्राक्षयं भवेत् ॥ (कूर्मपु०, १।३१।२९)

मुक्ति के सम्बन्ध में यहाँ दो शंकाएँ उठ सकती हैं। एक तो यह कि पूर्वसंचित पापों के नाश हुए विना मुक्ति कैसे मिलेगी और दूसरी यह कि ऐसे पापी की काशी में मृत्यु होने की सम्भावना ही कैसे हो सकती है। इनमें से पहली शंका का समाधान यह है कि अन्यत्र किये हुए पापों का काशी-क्षेत्र में प्रवेश नहीं होता। वे काशी-क्षेत्र के बाहर ही रह जाते हैं। अर्थात्, काशी में प्रवेश-मात्र से पूर्वकृत पापों से छुटकारा मिल जाता है और मनुष्य निष्पाप हो जाता है। दूसरी शंका के विषय में यह कहा जा सकता है कि इस प्रकार निष्पाप हो जाने पर यदि मनुष्य सदाचार तथा श्रद्धा-भक्तिपूर्वक भगवान् की शरण में रहकर अपना काल-यापन करे और पापकर्म से बचने का निरन्तर प्रयत्न करता रहे, तो उसको काशी में मरण प्राप्त होना असम्भव नहीं है; क्योंकि काशी में रहते हुए वहाँ के विभिन्न तीर्थों के प्रभाव से अन्तःकरण शुद्ध होता है। परन्तु, यदि वह काशी में रहकर भी पापाचरण करता रहता है, तब दो सम्भावनाएँ होती हैं। एक तो यह कि दण्डपाणि उसको काशी-क्षेत्र के बाहर निकाल दें, अर्थात् किसी-न-किसी कारण से वह काशी से अन्यत्र चला जाय और दूसरी यह कि उसको काशी में रहकर पाप करने का दण्ड मिले, जिससे वह रुद्रपिशाच होकर अपने पापों का भोग भोगकर तब उसके बाद मुक्ति पाये।

कामक्रोधेन लोभेन ग्रस्ता ये भुवि मानवाः ।
निष्क्रमन्ते नरा देवि दण्डनायकमोहिताः ॥ (मत्स्यपु०, १८५।६३)

कलौ न काशी वसतिः स्थिरा भवेत्
पापात्मनां दण्डपाणिप्रभावात् ।
ममाज्ञया दण्डपाणिः शुभात्मा
ह्युद्वासयिष्यत्यथ पापकर्तॄन् ॥
(ब्र० वै० पु०, त्रि० से०, पृ० ११८-११९)

जन्मान्तरसहस्रेण यत्पापं पूर्वसञ्चितम् ।
अविमुक्ते प्रविष्टस्य तत्सर्वं व्रजति क्षयम् ॥ (मत्स्यपु०, १८१।१७-१८)

वाराणसीस्थतीर्थानामवगाहनतः पराम् ।
अन्तःकरणसंशुद्धिमाप्नुयाद्विजितेन्द्रियः ॥ (पद्मपु०, त्रि० से०, पृ० ३०७)
अत्रैव पापैः सह चेन्मृतोऽसौ न जन्ममृत्यू लभेत च काश्याम् ।
कालेन मे यामगणैः फलेषु नियोजितस्तत्सकलं प्रभुज्य ॥
अल्पेन कालेन समस्तमेव सार्धं पुना रुद्रपिशाचरुद्रैः ॥
भवप्रसादेन कृतोपदेशः पिशाचयोनेरपि मुक्तिमेति ॥
(सनत्कुमारसं०, त्रि० से०, पृ० ३०१)

वाराणस्यां स्थितो यो वै पातकेषु रतः सदा ।
योनिं प्रविश्य पैशाचीं वर्षाणामयुतः त्रयम् ॥
पुनरेव च तत्रैव ज्ञानमुत्पद्यते ततः ।
मोक्षं गमिष्यते सोऽपि गुह्यमेतत् खगाधिप ॥ (गरुडपुराण)
कृत्वापि काश्यां पापानि काश्यामेव म्रियेत चेत् ।
भूत्वा रुद्रपिशाचोऽपि पुनर्मोक्षमवाप्स्यति ॥
(का० खं०, त्रि० से०, पृ० ३०२)

पापं कृत्वा क्षेत्रमध्ये मृता ये
तेषां मुक्तिर्यातनान्ते भवेद्धि । (ब्र० वै० पु०, त्रि० से०, पृ० ३०७)

काशी में मरनेवाला यमराज के नियन्त्रण में नहीं होता, अतएव उसके पापों का दण्ड देने का अधिकार भैरव को है। इसी कारण इस दण्ड के कष्ट को भैरवी यातना कहा जाता है और उसको जीव रुद्रपिशाच होकर भोगता है। यह भैरवी यातना नरक-यातना से कहीं अधिक दारुण होती है; परन्तु पापों का दण्ड भोगने के बाद काशी में मरने के माहात्म्य से जीव मुक्ति पाता ही है।

तत्र पापं न कर्त्तव्यं दारुणा रुद्रयातना ।
अहो रुद्रपिशाचत्वं नरकेभ्योऽपि दुःसहम् ॥ (का० खं०, २२।९४)

इस रुद्रयातना को भोगने का केन्द्र श्मशान-स्तम्भ या महाश्मशान-स्तम्भ माना गया है, जो लाट भैरव-क्षेत्र में है।

यही कारण है कि काशीवास के नियम इतने कड़े हैं कि उनके पालन करने से मनुष्य पापों से बच सकता है।

अब प्रश्न यह उठता है कि काशी में मरने से मोक्ष क्यों और कैसे मिलता है। इसका उत्तर यह है कि वहाँ भगवान् शंकर सभी मरनेवालों के कान में तारक-मन्त्र का उपदेश स्वयं करते हैं, जिसके प्रभाव से वह ब्रह्मज्ञानी होकर मुक्ति प्राप्त करता है। स्वामी रामकृष्ण परमहंस को समाधि की अवस्था में मणिकर्णिका श्मशान पर इसका प्रत्यक्ष अनुभव हुआ था, ऐसा वर्णन उनके वाक्यों में मिलता है:

तत्र साक्षान्महादेवो देहान्ते स्वयमीश्वरः ।
व्याचष्टे तारकं ब्रह्म तथैवैकं विमुक्तिदम् ॥
यत्तत्परतरं तत्त्वमविमुक्तमिति स्मृतम् ।
एकेन जन्मना देवि वाराणस्यां तदाप्नुयात् ॥ (कूर्मपु०, १।३१।६०-६२)

यत्र विश्वेश्वरो देवः सर्वेषामेव देहिनाम्।
ददाति तारकं ज्ञानं संसारान्मोचकं परम्॥ (आदित्यपु०, त्रि० से०, पृ० ३०८)

पद्मपुराण में काशी-क्षेत्र के चार परिमाणों का उल्लेख है, जिनमें मरने से भिन्न-भिन्न प्रकार की मुक्तियाँ मिलती हैं। सबसे बड़ा काशी-क्षेत्र है, उसके भीतर उससे छोटा वाराणसी-क्षेत्र है, उसके भी भीतर उससे छोटा अविमुक्त-क्षेत्र है, और सबके भीतर सबसे छोटा अन्तर्गृह है। काशी-क्षेत्र में मरने से सालोक्य मुक्ति, वाराणसी-क्षेत्र में सारूप्य मुक्ति, अविमुक्त-क्षेत्र में सायुज्य मुक्ति तथा अन्तर्गृह में मरने से कैवल्य, अर्थात् परम मुक्ति मिलती है। परन्तु, एक बात पर सभी पुराणों में बल दिया गया है कि काशी-क्षेत्र में ऐसा सुई की नोक-भर भी स्थान नहीं है, जहाँ मरनेवाले को मोक्ष न मिले :

सूच्यग्रमात्रमपि नास्ति ममास्पदेऽस्मिन्
स्थानं सुरेश्वरि न यत्र मृतस्य मोक्षः। (पद्मपु०, त्रि० से०, पृ० २९३)

कृत्यकल्पतरु, तीर्थचिन्तामणि, त्रिस्थलीसेतु, वीरमित्रोदयादि सभी निबन्ध-ग्रन्थों में काशी, वाराणसी तथा अविमुक्त-क्षेत्रों की इस मुक्तिदायिनी शक्ति का वर्णन है। इसी कारण काशी का स्मरण करने और नाम लेने से अक्षय पुण्य होता है। ब्रह्मवैवर्त्तपुराण में स्पष्ट शब्दों में कहा है कि 'काशी, काशी, काशी' इस प्रकार बहुधा स्मरण करते रहने से पूर्वसंचित पापों का फल नहीं भोगना पड़ता। उनसे त्राण मिल जाता है :

काशी काशीति काशीति बहुधा संस्मरन्द्विजः।
न पश्यतीह नरकान्वर्त्तमानान्वयं कृतान्॥
(ब्र० वै० पु०, का० र०, ४।१०७)

वाराणसीति काशीति महामन्त्रमिमं जपन्।
यावज्जीवं त्रिसन्ध्यं तु जन्तुर्जातु न जायते॥ (स्कन्दपु०, त्रि० से०, पृ० ८८)
यथा विष्णोः शङ्करस्यापि नाम्ना
लोकः शोकं नाश्य मोक्षं प्रयाति।
वाराणस्या नाम गृह्णन्विशेषात्
तीर्त्वा मृत्युं मृत्युजेताः स्वयं स्यात्॥ (ब्र० वै० पु०, त्रि० से०, पृ० ८८)
वाराणसीति काशीति रुद्रावास इति स्फुटम्।
मुखाद्विनिर्गतं येषां तेषां न प्रभवेद्यमः॥ (स्कं० पु०, त्रि० से०, पृ० ८८)
काशीति वर्णद्वितयं स्मरंस्त्यजति पुद्गलम्।
यत्र क्वापि भवेत्तस्य कैलासे वसतिः स्फुटा॥
(पद्मपु०, त्रि० से०, पृ० ८७)

काशी-यात्रा

तीर्थयात्रा से मनुष्य के नैतिक तथा आध्यात्मिक उत्थान में इतनी सहायता मिलती है कि संसार के सभी प्राचीन धर्मों ने इसको अपनाया है। इसका कारण भी स्पष्ट है। जिस समय से यात्री अपने मन में तीर्थयात्रा करने का निश्चय करता है, उसी समय से उसके मन में यात्राकाल में अधर्म से बचने और धार्मिक जीवन व्यतीत करने का संकल्प

भी साथ-ही-साथ उत्पन्न होता है। इसका फल यह होता है कि वह धर्म तथा अधर्म में विवेक करना प्रारम्भ कर देता है। वहुत-सी वातों की नैतिकता से तो अवगत रहता ही है, परन्तु उनके अतिरिक्त अन्य विषयों की उसके मन में जिज्ञासा होती है। यदि वह विद्वान् है, तो अपनी यात्रा के सम्बन्ध का साहित्य खोजता है और यथासम्भव उसको पढ़ता है। यदि वह अपठित है, तो भी बड़े-बूढ़ों से इस विषय में परामर्श करता है। यात्राकाल में उसका मन निरन्तर अपने इष्टतीर्थ की ओर लगा रहता है और बहुधा वह अपने इष्टदेव का भी स्मरण करता ही जाता है। भोजन भी स्वतः सात्त्विक हो जाता है, जिससे अन्तःकरण भी शुद्ध होने लगता है। मार्ग में कुछ-न-कुछ भजन-कीर्त्तन भी चलता रहता है। यदि यात्रा कठिन है, तो कुछ-न-कुछ शरणागति की भावना भी कभी-कभी उदित होती ही है। यात्रा समाप्त होने पर वहुधा यात्री अपने जीवन को धार्मिक बनाये रखने का उद्योग करते हैं, यद्यपि इसमें उनको कितनी सफलता मिलती है, यह बहुत-सी दूसरी बातों पर निर्भर करती है।

वर्त्तमान काल में रेल इत्यादि साधनों के कारण यात्राकाल बहुत कम हो गया है। यात्रा के समय की दिनचर्या भी बदल गई है। इस कारण तीर्थयात्रा का अब उतना अधिक आध्यात्मिक प्रभाव नहीं पड़ पाता, जितना पहले पड़ता था, जब पैदल या बैलगाड़ी से यात्रा होती थी और सन्ध्या को बहुत-से यात्री पड़ाव पर एकत्र होकर भजन-कीर्त्तन करते थे। उदाहरण के लिए, काशी से सेतुबन्ध रामेश्वर की यात्रा में पहले तीन वर्ष लगते थे और यात्री तीन वर्षों तक सात्त्विक तथा आध्यात्मिक जीवन व्यतीत करते थे, जिसका मानसिक तथा नैतिक प्रभाव निरन्तर तीन वर्षों तक पड़ता रहता था, जो वहुधा चिरस्थायी होता था। अब वह बात नहीं रह गई, फिर भी नैतिक उत्थान में तीर्थयात्रा का कुछ-न-कुछ योगदान होता ही है। और फिर, यात्रा-स्थल में पहुँचकर वहाँ दर्शन, पूजन, स्नान, दान इत्यादि जो कुछ धार्मिक कृत्य होते हैं, उनका पुण्य तो यात्री को मिलता ही है।

यात्राकाल में जिन नियमों का पालन आवश्यक माना जाता है, उनका एक दिग्दर्शन ब्रह्मवैवर्त्तपुराण में मिलता है। यात्री को किसी प्रकार का भी दान लेने का निषेध है, दूसरे का अन्न भी ग्रहण नहीं करना चाहिए और न स्त्रियों से प्रेमालाप ही करना उचित है। दूसरे का धन न लेवे, असत्य न बोले, दुष्टजनों का साथ न करे, और किसी प्रकार की अनुचित बात मन में न लावे, दीन, अनाथ तथा पंगुओं की यथाशक्ति सहायता करे, ब्राह्मणों को दान देवे, पृथ्वी पर सोवे, तेल, उड़द, मांस, मछली इत्यादि तामसी भोजन से दूर रहे, सात्त्विक हविष्य अन्न का एक बार भोजन करे और यथासम्भव उपवास करे। शरीर में या शिर में तेल न लगावे, श्रृंगार न करे, छाता न लगावे तथा जूता न पहने। मन को इधर-उधर न भटकने दे, वरन् भगवान् का ध्यान तथा मनन करता रहे और मौन होकर यात्रा करे। जिस समय सन्ध्या को विश्राम करे, उस समय भजन, कीर्त्तन, कथा-श्रवण तथा धर्मचर्चा करे या जहाँ ऐसी चर्चा होती हो, वहीं उसको सुने।

इस वर्णन से स्पष्ट हो जायगा कि यात्राकाल में सभी प्रकार के राजसी तथा तामसी व्यवहार का निषेध किया गया है तथा सात्त्विक आचरण पर बल दिया गया है। इस

प्रकार का जीवन यदि महीनों तथा वर्षों तक चलता रहता है, तो उसका प्रभाव पड़ना अनिवार्य है, जो मनुष्य के नैतिक तथा आध्यात्मिक उत्थान में सहायक होता है।

पुराने समय में तीर्थयात्रा तथा तीर्थदर्शन दो बातें अलग-अलग मानी जाती थीं और इनके फल भी अलग-अलग होते थे। जो लोग किसी अन्य प्रसंगवश तीर्थ में पहुँचते थे और वहाँ नियमित दर्शन, पूजन, श्राद्ध इत्यादि करते थे, उनको इन सत्कर्मों का पुण्य मिलता था, परन्तु वह तीर्थयात्रा नहीं मानी जाती थी, और तीर्थयात्रा का फल उनको नहीं होता था; क्योंकि तीर्थयात्रा की मानसिक स्थिति उनकी नहीं होती थी और इसी कारण तीर्थ-यात्रा का जो नैतिक उत्कर्ष में योगदान होता है, वह उनको नहीं मिल पाता था। पुराणों में यह बात स्पष्ट रूप से कही गई है।

काशी-यात्रा का भी यही हाल है। अन्य सभी तीर्थों की भाँति यात्री यहाँ भी आते हैं और सहस्रों वर्षों से आते रहे हैं। अपनी सुविधा के अनुसार एक, दो या तीन रात्रि यहाँ बिता कर गंगास्नान, दर्शन, पूजन, श्राद्ध इत्यादि करके चले जाते हैं। कुछ लोग क्षेत्र की प्रदक्षिणा भी करते रहे हैं, जिसको पंचक्रोशी यात्रा कहा जाता है और जिसमें पाँच दिन लगते हैं। ये लोग काशी नगर अथवा वाराणसी नगरी में कुछ अधिक समय तक रुकते रहे हैं। इस प्रकार की यात्रा में तीर्थदर्शन, देवपूजन तथा श्राद्धकर्म का पुण्य मिल जाता है, जो अपने स्थान पर हितकर होता है और प्रशंसनीय है। यदि काशी की यह यात्रा तीर्थयात्रा के रूप में नियमपूर्वक की जाती है, तो इस पुण्य के साथ-साथ तीर्थयात्रा का मानसिक तथा आध्यात्मिक प्रभाव भी किसी-न-किसी अंश में पड़ता ही है। इस प्रकार, प्राप्त हुआ पुण्य अक्षय होने से जन्म-जन्मान्तर में सहायक होता है। परन्तु, मुख्य रूप से काशी में निवास करने पर बल है; क्योंकि बिना काशी-वास के काशी में मृत्यु दुर्लभ है, यद्यपि कभी-कभी ऐसे पुण्यात्मा लोग भी देखने को मिलते हैं, जो अकस्मात् ही काशी आकर शरीर छोड़ते हैं। परन्तु, ऐसे लोग विरले ही होते हैं। सामान्य रूप से काशी में निवास करनेवालों को ही काशी-लाभ होने का विशेष अवसर होता है। इसके अतिरिक्त, नियमित तीर्थ-वास से जो अन्तःकरणशुद्धि तथा आध्यात्मिक उत्कर्ष मिल सकता है, उसकी प्रगति भी तीर्थवास से ही होती है। प्रतिदिन की दैनिक यात्रा तथा देवदर्शन और देवपूजन का इस उन्नति में अपना स्थान है और नियमित जीवन तथा इन्द्रिय-निग्रह का अपना ही चमत्कार है।

काशी-वास

जिस प्रकार तीर्थयात्रा के समय सात्त्विक तथा आध्यात्मिक जीवन अनिवार्य है, ठीक उसी प्रकार तीर्थवास में भी मनुष्य को संयमपूर्वक काल-यापन करना आवश्यक है। इसके अति-रिक्त काशी-वास के लिए कुछ और बातें भी ध्यान में रखनी पड़ती हैं।

अपने वर्ण तथा आश्रम के अनुरूप जीवन-निर्वाह करते हुए अपनी शक्ति के अनुसार गुप्तदान देना चाहिए। दान में सबसे प्रधान है अन्नदान। गृहस्थ को अतिथि-सत्कार करना परम आवश्यक माना गया है। अपने मन को स्वार्थ से हटाकर परोपकार में लगाना श्रेयस्कर है। सांसारिक प्रपंच से दूर रहता हुआ मोह-माया से बचने का प्रयत्न करे। काम, क्रोध तथा लोभ को अपने से दूर रखे और मोह-ममता को भी तुच्छ समझने का

उपाय करे। सभी प्रकार के अधर्मों से बचे और धर्माचरण को ही अपना ध्येय बनाये। दूसरे का धन, पराई स्त्री तथा परनिन्दा से दूर रहे। किसी का भी अपकार न करे। किसी से ईर्ष्या न करे। दूसरों की बढ़ती देखकर प्रसन्न हो। अपने पुत्रों तथा परिवार-मोह से भी अपने मन को धीरे-धीरे खींचकर उसे केवल भगवान् के चरणों में लगाने का प्रयत्न करे। काशी-वास के समय धनोपार्जन न करे और यदि योगक्षेम के लिए वह आवश्यक हो, तो अपनी आय से अपने जीवन-निर्वाह-मात्र के लिए चतुर्थांश लेकर बचा हुआ द्रव्य दान कर दे। मन को चंचल न होने दे। शरीर के सुख को तथा इन्द्रियों की तृप्ति को सदा शंका की दृष्टि से देखता हुआ उनसे बचने का उपाय करे। मरने की इच्छा न करे और शरीर को सुखाने का भी प्रयत्न न करे। शरीर की रक्षा करता हुआ काल-यापन करे; क्योंकि सभी धर्माचरण का मुख्य साधन शरीर ही है। स्नान, व्रत, दर्शन, पूजन, यात्रा, कीर्त्तन, भजन, सभी पुण्यकर्मों के लिए स्वस्थ शरीर आवश्यक है और जितना ही अधिक अवसर इन सबके लिए मिल सके, उतना ही श्रेयस्कर है।

तामसी तथा राजसी भोजन से दूर रहे। जिह्वालौल्य के चक्कर में न पड़े। अपने भोजन करने में सुख न मानकर दूसरों को भोजन कराने में सुख माने। पशु-पक्षियों को भी यथासम्भव कुछ-न-कुछ खाने को देता रहे। पंचमहायज्ञ करे। अतिथि-सेवा करे और काशी-यात्रा की विधि से अधिकाधिक देवस्थानों तथा देवायतनों की यात्रा तथा दर्शन-पूजन करता रहे। अपनी योग्यता के अनुसार जप, तप, योगाभ्यास तथा उपवास करे और भगवान् के चरणों में अपने मन को लगावे। भगवद्भक्ति के द्वारा अन्तःकरण को शुद्ध करने का निरन्तर प्रयत्न करता रहे और असत्य से सभी प्रकार से बचे। मन की शुद्धि के विना सभी पुण्यकर्म वृथा हो जाते हैं, इसलिए इसका सदैव ध्यान रखे कि कोई भी अधर्म की बात मन में न आये। मनसा वाचा कर्मणा अधर्म से प्रयत्नपूर्वक बचने में ही कल्याण है।

काशी-वास में इन सभी बातों का विशेष ध्यान रखना आवश्यक है; क्योंकि काशी में किया हुआ अधर्म वज्रलेप होता है और उसका परिमार्जन बड़ा कठिन है। इसके विपरीत, काशी में किया हुआ पुण्यकर्म असंख्यगुणित तथा अक्षय होता है।

ऊपर कहे हुए क्रम से यदि जीवन-निर्वाह किया जा सके, तो यह प्रत्यक्ष ही है कि मनुष्य देवस्वरूप हो जायगा। यही काशीवास का ध्येय है और यही उसका चमत्कार :

आदौ काश्यां धर्ममार्गेण वासः
पापत्यागः काशिमाहात्म्यदृष्टिः।
देहं गेहं पुत्रमित्रादि यस्य।
सर्वं तुच्छं सोऽधिकारी महात्मा॥ (का० खं०, त्रि० से०, पृ० ११४)
विहाय काममर्थं च दम्भं मात्सर्यमेव च।
धर्ममोक्षौ पुरस्कृत्य निषेवेत विभोः पुरीम्॥
प्रतिग्रहादुपावृत्तः शान्तिदान्तिसमन्वितः।
शङ्करध्याननिरतो निषेवेत विभोः पुरीम्॥
अकुर्वन्कलुषं कर्म समलोष्टाश्मकाञ्चनः।
गृही चेद्धर्मनिरतो बहिरर्जितवित्तभुक्॥

व्यवहारोपयोग्यत्र गृह्णन्वा विमलं वसु।
स्वस्वजात्यनुसारेण यो धर्मो यस्य कल्पितः॥
तत्तद्धर्मयुतैरेव सेव्या वाराणसी पुरी॥
(पद्मपु०, त्रि० से०, पृ० १११)

परान्नं परदाराश्च परिवादस्तथा धनम्।
अदानाचारविद्वेषाभक्ष्यालस्यानुदैन्यताः ॥
दश दोषा महादेवि वर्ज्याः काशिनिवासिभिः।
(ब्र० वै० पु०, त्रि० से०, पृ० ११२)

स्नातव्यं जाह्नवीतोये द्रष्टव्यः पार्वतीपतिः।
स्मर्त्तव्यः कमलाकान्तो वस्तव्यं काशिकास्थले ॥
(का० खं०, त्रि० से०, पृ० ११३)

कामक्रोधोऽतिलोभश्च दम्भस्तम्भोऽतिमत्सरः ।
निद्रा तन्द्रा तथालस्यं पैशुन्यमिति ते दश ॥
अविमुक्तस्थिता विघ्नाः ।
(मत्स्यपु०, त्रि० से०, पृ० ११६)

लब्ध्वान्तर्द्रविणं त्वद्याश्चतुर्भागं त्यजेत्परम् ।
(सनत्कु० सं०, त्रि० से०, पृ० १२०)

परदारपरद्रव्यपरापकरणं त्यजेत् ॥
परापवादो नो वाच्यः परेर्ष्या न च कारयेत्।
असत्यं नैव वक्तव्यं ।
(का० खं०, त्रि० से०, पृ० १२२)

काश्यां स्थित्वाहीन्द्रियाणां व्ययं नो
कुर्याद्यत्नात्सत्कृतं रक्षणीयम् ।
(ब्र० वै० पु०, त्रि० से०, पृ० ११७)

आत्मरक्षात्र कर्त्तव्या महाश्रेयोऽभिवृद्धये॥
अत्रात्मत्यजनोपायं मनसापि न चिन्तयेत् ॥
(का० खं०, त्रि० से०, पृ० ११२)

तीसरा अध्याय

काशी-क्षेत्र के भिन्न-भिन्न विभागों की सीमाएँ तथा परिमाण

काशी की मुक्तिदायिनी शक्ति का विवेचन करते हुए इस बात का उल्लेख किया गया था कि पद्मपुराण में काशी-क्षेत्र के चार विभागों का वर्णन है, जो एक दूसरे के अन्तर्गत हैं और जिनमें मरने से भिन्न-भिन्न प्रकार की मुक्तियाँ मिलती हैं। अब हमें उन विभागों के परिमाण तथा उनकी सीमाओं पर विचार करना है। इनके नाम हैं काशी-क्षेत्र, वाराणसी-क्षेत्र, अविमुक्त-क्षेत्र तथा अन्तर्गृह।

१. **काशी-क्षेत्र** : यद्यपि पिछले एक हजार अथवा पन्द्रह सौ वर्षों से काशी-क्षेत्र तथा वाराणसी-क्षेत्र प्रायः पर्यायवाची माने जाने लगे हैं, परन्तु इसके पूर्व इनको एकार्थवाची नहीं माना जाता था। काशी-क्षेत्र का विस्तार वाराणसी-क्षेत्र के विस्तार से कहीं बड़ा था। इस सम्बन्ध में पुराण-साहित्य से कुछ प्रमाण नीचे उद्धृत किये जाते हैं, जिनसे यह बात स्पष्ट हो जायगी। इन पुराणों का ठीक-ठीक समय निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता, परन्तु इनकी तत्कालीन प्रामाणिकता में किसी प्रकार का सन्देह नहीं है।

पद्मपुराण के पाताल-खण्ड में :

> **मध्यमेश्वरमारभ्य यावद्देहलिविघ्नपम् ।**
> **सूत्रं संस्थाप्य तद्दिक्षु भ्रामयेन्मण्डलाकृतिम् ॥**
> **तत्र या जायते रेखा तन्मध्ये क्षेत्रमुत्तमम् ।**
> **काशीति यद्विदुर्देवास्तत्र मुक्तिः प्रतिष्ठिता ॥**

(त्रि० से०, पृ० १००; वी० मि०, पृ० १७५)

ब्रह्मवैवर्त्तपुराण में :

> **अहो महालिङ्गमयं जनार्दनं पश्यामि काश्यां परमात्मरूपम् ।**
> **आनाहतो योजनपञ्चकात्मकं विस्तारिगव्यूतियुगं तु सार्धम् ॥**

(त्रि० से०, पृ० १०१; वी० मि०, पृ० १७६)

ब्रह्मपुराण में ब्रह्मा रुद्र से कहते हैं :

> **वरणा चाप्यसिश्चैव द्वे नद्यौ सुरवल्लभे ।**
> **अन्तराले तयोः क्षेत्रं भूमावपि विशेषतः ॥**
> **पञ्चक्रोशप्रमाणं तु क्षेत्रं दत्तं मया तव ।**
> **क्षेत्रमध्ये यदा गङ्गा गमिष्यति सरित्पतिम् ॥**
> **तेन सा महती पुण्या पुरी रुद्र भविष्यति ।**

पुण्या चोदङ्मुखी गङ्गा प्राची चैव सरस्वती ॥
उदङ्मुखी योजने द्वे गच्छते जाह्नवी नदी।
(त्रि० से०, पृ० १०१; वी० मि०, पृ० १७६)

इन वचनों में काशी-क्षेत्र के जो विस्तार दिये हुए हैं, उनमें पद्मपुराणवाला क्षेत्र सबसे विस्तृत है। इसके अनुसार मध्यमेश्वर के चारों ओर वृत्ताकार काशी-क्षेत्र है, जिसके अर्धव्यास की लम्बाई मध्यमेश्वर से देहलीविनायक तक की कही गई है, जो लगभग १० मील है। अतएव, काशी-क्षेत्र का व्यास प्रायः १० कोस का निकलता है। इसके अनुसार काशी-क्षेत्र का विस्तार पश्चिम में देहलीविनायक से पूर्व में गंगा पार भोपाली से दक्षिण खैरुद्दीनपुर तक तथा उत्तर में चोलापुर के निकट गोलागाँव से दक्षिण मीरजापुर जिले के हवेली परगने तक समझ पड़ता है, जिसके मध्य में गंगा नदी का प्रवाह है।

ब्रह्मवैवर्त्तपुराण में काशी-क्षेत्र स्वयं ही शिवलिंग-रूप माना गया है और इस पुराण के अनुसार काशी-क्षेत्र का जो परिमाण निकलता है, वह पद्मपुराण के काशी-क्षेत्र का प्रायः अष्टमांश ही रह जाता है। उसके अनुसार काशी-क्षेत्र की लम्बाई पाँच योजन तथा चौड़ाई ढाई गव्यूति है। इस सन्दर्भ में योजन शब्द क्रोश का समानार्थी है, ऐसा सभी निबन्धकारों ने माना है (अत्र योजनं क्रोशः। —त्रि० से०, पृ० १०१; इति ब्रह्मवैवर्त्तवचने योजनं क्रोशः इति प्राञ्चः।'—वी० मि०, पृ० १७६)। महाभारत के अनुसार, क्रोश आठ हजार हाथ, अर्थात् चार हजार गज लम्बा होता है और गव्यूति का मान कहीं एक क्रोश और कहीं दो क्रोश। इस प्रकार, काशी-क्षेत्र की लम्बाई लगभग साढ़े ग्यारह मील निकलती है। चौड़ाई के विषय में थोड़ा भ्रम हो सकता है कि वह पाँच क्रोश है अथवा ढाई क्रोश ही। पश्चिम में क्षेत्र का विस्तार देहलीविनायक तक मानना ही पड़ेगा; क्योंकि देहलीविनायक का स्थान ही क्षेत्र की देहली पर है। अतएव, पूर्व में क्षेत्र का विस्तार मध्यमेश्वर से दो मील से अधिक नहीं हो सकता और इस प्रकार काशी-क्षेत्र की पूर्वीय सीमा कोटवाँ गाँव तक पहुँचती है। वर्त्तमान पंचक्रोशी यात्रा की पूर्वीय सीमा भी प्रायः ऐसी ही है; क्योंकि कपिल-धारा कोटवाँ के बहुत पास ही है। उत्तर दक्षिण में क्षेत्र की चौड़ाई केवल ढाई क्रोश मानने पर क्षेत्र की सीमाएँ उत्तर में रामराजपुर तथा दक्षिण में नगवा पर पड़ती है, जो पुनः वर्त्तमान पंचक्रोशी यात्रा की सीमाओं के निकट ही है। इस प्रकार, ऐसा प्रतीत होता है कि वर्त्तमान पंचक्रोशी यात्रा में जिस क्षेत्र की प्रदक्षिणा होती है, वह ब्रह्मवैवर्त्तपुराण के आधार पर ही निर्धारित हुआ है, अथवा यह कहें कि ब्रह्मवैवर्त्तपुराण में इसी क्षेत्र का वर्णन मिलता है। गव्यूति का एक क्रोशवाला अर्थ लेना ही हमको उचित जान पड़ता है, यद्यपि त्रिस्थलीसेतु ने गव्यूति को दो क्रोश का माना है और वीरमित्रोदय ने लम्बाई और चौड़ाई दोनों ही ढाई-ढाई क्रोश की। इनके स्वीकार करने में कई कठिनाइयाँ हैं। पहली बात तो यह कि पाँच क्रोश लम्बे और पाँच क्रोश चौड़े काशी-क्षेत्र को जनमानस ने कभी स्वीकार किया, इसका कोई प्रमाण नहीं मिलता। पंचक्रोशी परिक्रमा ने तो ढाई क्रोश-वाले क्षेत्र को ही स्वीकार कर रखा है। दूसरे, जिस वाक्य में 'गव्यूतियुगं तु सार्धं' यह पद आया है, उसका लेखक प्रत्यक्ष ही दो भिन्न-भिन्न लम्बाइयों का वर्णन कर रहा था। यदि लम्बाई और चौड़ाई दोनों ही पाँच योजन होतीं, तो वह 'आनाहतो' तथा 'विस्तारि', इन दो शब्दों का प्रयोग ही क्यों करता। लम्बाई और चौड़ाई का प्रश्न तो तभी उठता है, जब वे

भिन्न-भिन्न होती हैं। इतना ही नहीं, यदि वे एक ही होतीं और 'आनाहतो' तथा 'विस्तारि' इन शब्दों का प्रयोग भी करना होता, तो कहीं-न-कहीं 'अपि' शब्द आना आवश्यक होता। **आनाहतो योजनपञ्चकात्मकं विस्तार्यपि गव्यूतियुगं तु सार्धम्** इस प्रकार की कुछ बात कही गई होती।

ब्रह्मवैवर्त्तपुराण में वर्णित काशी के परिमाण में असी तथा वरणा का कहीं नाम नहीं आया है, परन्तु वास्तव में उसकी जो सीमाएँ सिद्ध हुई हैं, उनमें उत्तर की ओर वरणा तथा दक्षिण में असी वर्त्तमान हैं और परिमाण के स्थान पर यदि सीमाओं का निर्देश करना हो, तो इन नदियों के नाम लेने से सहायता मिलती है, अन्यथा यह किस प्रकार बतलाया जाय कि यह ढाई गव्यूति चौड़ा क्षेत्र ठीक-ठीक किस स्थान पर स्थित है। ऊपर के वर्णनों में हमने गाँवों के नाम लेकर सीमा का वर्णन किया है, परन्तु हजारों वर्ष पहले जब चारों ओर वन-ही-वन थे, उस समय सीमा का वर्णन किसी-न-किसी प्राकृतिक उद्देश्य के सहारे ही हो सकता था। इसी कारण पुराणकारों ने उन स्थानों के समीप बहनेवाली दो नदियों के नाम सीमा के सम्बन्ध में दिये। यह केवल संयोग की बात है कि वाराणसी शब्द भी इन दोनों नामों के योग से बनता है। असी नदी कभी प्रख्यात नदियों में नहीं थी, यह बात पुराणकार स्वयं ही उसको शुष्का नदी कहकर स्वीकार करते हैं। यहाँ यह बात ध्यान में रखनी है कि जहाँतक ब्रह्मवैवर्त्तपुराण के काशी-क्षेत्र की बात है, वह वरणा और असी के बीच में केवल स्थूलमान से कहा जा सकता है। यथार्थतः, वह वरणा के उत्तर में भी मानना पड़ेगा और इसका स्पष्ट संकेत पुराणों में भी मिलता है। वहाँ कहा गया है कि सीमा पर स्थित विनायकों से बाहर की ओर तीन सौ धनुष, अर्थात् ६०० गज तक काशी-क्षेत्र मानना चाहिए :

सीमा विनायकेभ्यश्च बहिः काश्याः प्रमाणतः।
तावत्क्षेत्रं विजानीयाद्यावद्धनुशतत्रयम्॥

(त्रि० से०, पृ० १०३; वी० मि०, पृ० १७८)

पंचक्रोशी का प्रधान तीर्थ कपिलधारा और निवासस्थान शिवपुर जो पंचक्रोशी यात्रा के मार्ग पर हैं, दोनों ही वरणा के दूसरी ओर ही पड़ते हैं।

ब्रह्मपुराण में दिया हुआ काशी का परिमाण भी ब्रह्मवैवर्त्तपुराण के अनुसार ही है। भेद इतना ही है कि इसमें उत्तर-दक्षिण की चौड़ाई योजनों और गव्यूतियों में न कहकर वरणा तथा असी नदियों के बीच में कही गई है।

अब एक प्रश्न यह उठता है कि पद्मपुराण में दिया हुआ काशी-क्षेत्र का दस कोश-वाला परिमाण किस कारण अथवा किस प्रकार तिरस्कृत हो गया और उसके स्थान पर ब्रह्मवैवर्त्तपुराण का संकुचित क्षेत्र लोक-स्वीकृत हुआ। यह परिवर्त्तन पुराने समय में ही हुआ था; क्योंकि 'कृत्यकल्पतरु' (सन् १११० ई०) ने पद्मपुराण के वाक्यों को उद्धृत ही नहीं किया। वाचस्पतिमिश्र के तीर्थचिन्तामणि (सन् १४६० ई०) ने भी ऐसा ही किया। त्रिस्थली-सेतु (सन् १५८५ ई०) में इन वाक्यों के विषय में विचार किया गया, और यह स्वीकार करते हुए कि काशी-क्षेत्र दस कोशवाला ही है, उसके अन्तर्गत वाराणसी-क्षेत्र को ही प्राधान्य दिया गया, यद्यपि उसकी जो सीमाएँ दी गई हैं, वे ब्रह्मपुराण तथा ब्रह्मवैवर्त्तपुराण के काशी-क्षेत्र की ही सीमाएँ बनी रहीं। वहाँ कहा गया कि :

अतो दशक्रोशपरिमिते काशीक्षेत्रे गङ्गया मध्ये व्यवच्छिन्नें पूर्वार्द्धं परित्यज्य पश्चिमार्द्धे गङ्गासीदेहलीविनायकवरणारूपैश्चतुर्दिगवधिभिरवच्छिन्नो देशो वाराणसीति । (त्रि० से०, पृ० १०२)

त्रिस्थलीसेतु की इस व्यवस्था में एक बात ऐसी कही गई है, जो ध्यान में रखने की है। यहाँ यह कहा गया है कि काशी-क्षेत्र के गंगा द्वारा काटे जाने पर पूर्व दिशा के आधे भाग को छोड़ देने से पश्चिम के आधे भाग में गंगा, असी, देहलीविनायक तथा वरणा द्वारा चारों ओर से अलग किया हुआ क्षेत्र वाराणसी है। यहाँपर गंगाजी के पूर्व के क्षेत्र के छोड़ देने का कारण तो नहीं दिया गया है; परन्तु उसके छोड़ देने का उल्लेख स्पष्ट है। इसी के साथ-साथ यदि हम उस प्रसिद्ध जनश्रुति को भी अपनी दृष्टि में रखें, जिसके अनुसार गंगा के पूर्व का स्थल 'मग्गह', अर्थात् मगध मानकर दूषित समझा जाता है, तो पद्मपुराण के काशी-क्षेत्र के पूर्वार्द्ध के तिरस्कृत होने का कारण स्पष्ट हो जाता है। सम्भवतः, काशी और मगध-राज्यों की पारस्परिक खींचातानी में किसी समय गंगा के पूर्व का भाग मगधवालों के अधिकार में चला गया होगा और शत्रु का देश हो जाने के कारण काशीवालों ने उसको तिरस्कृत मान लिया। विशेषतः, जब मगध धार्मिक दृष्टि से पहले से ही निन्द्य था। पुराणों में इस 'मगह' क्षेत्र के शप्त होने का भी संकेत मिलता है, जो इसी तथ्य का पौराणिक स्वरूप हो सकता है। परन्तु, एक शंका फिर भी बनी ही रहती है कि क्षेत्र का उत्तरी भाग, और वरणा, संगम के पूर्व जाल्हूपुर परगने का अम्बा तथा कुकुरहा तक का क्षेत्र और नगवा के दक्षिण का क्षेत्र, फिर भी काशी-क्षेत्र के अंग रहने चाहिए, जो इस समय काशी-क्षेत्र में नहीं माने जाते। इनके तिरस्कृत होने का भी कुछ कारण होना चाहिए।

इस सम्बन्ध में स्कन्दपुराण के नागरखण्ड के एक वाक्य का उल्लेख उचित जान पड़ता है, जो ब्रह्मवैवर्त्तपुराण के काशी-रहस्य की सेतुबन्धा टीका में उद्धृत मिलता है :

कृते त्रिशूलवद् ज्ञेयं त्रेतायां चक्रवत्तथा ।
द्वापरे तु रथाकारं शङ्खाकारं कलौ युगे ॥
मुखं शङ्खस्य गङ्गायां पृष्ठं देहलिसन्निधौ ।
वामपार्श्वस्थितं तोयं रामाख्यं वरणाभिधम् ॥

इसके अनुसार सत्ययुग में काशी-क्षेत्र त्रिशूल के समान, त्रेता में चक्र के समान वृत्ताकार, द्वापर में रथ के ऐसा और कलियुग में शंख के स्वरूप का था। यह उद्धरण काशी-क्षेत्र के आकार में होनेवाले तीन परिवर्त्तनों की ओर संकेत करता है। इसके पहले स्वरूप का अस्तित्व भू-गर्भशास्त्र से स्पष्ट रूप से प्रमाणित है। आधुनिक भू-गर्भशास्त्र इस बात को निश्चित रूप से कहता है कि वाराणसी सुव्यक्त एवं स्पष्ट तीन शिलाधारों पर स्थित है। ये शिलाधार आरम्भ में तीन पहाड़ी चोटियों के रूप में रहे होंगे और उनपर ही काशी-क्षेत्र संकुचित रूप में स्थित था। इसी कारण काशी को पृथ्वी पर न मानकर महादेव के त्रिशूल के ऊपर होने की मान्यता मिली, जो कभी लय नहीं होती थी। चाहे जैसी बाढ़ आये, यह क्षेत्र सदैव ही उसके ऊपर ही रहता था : **क्षेत्रमेतत्त्रिशूलाग्रे शूलिनस्तिष्ठति द्विज । अन्तरिक्षेण भूमिष्ठम्** (का० खं०, त्रि० से०, पृ० ८६)। इसके इस स्वरूप से हमको विशेष प्रयोजन नहीं है; क्योंकि यह कदाचित् काशी की भू-प्रतिष्ठा के समय का वर्णन है, परन्तु

त्रेता में काशी का स्वरूप चक्राकार था। पद्मपुराण में इसी परिस्थिति का वर्णन है। तदनन्तर, द्वापर में वह रथ के आकार का हुआ। गंगा के पूर्व का भाग निकाल देने पर जो भाग बच रहता है, वह उसी स्वरूप का वर्णन है। इसके बाद कलियुग में उसका वर्त्तमान शंखाकार स्वरूप हो गया, जो ब्रह्मवैवर्त्तपुराण में प्रदर्शित है। सत्ययुगादि नामों को यदि हम केवल अतीतवाचक मान लें, तो काशी-क्षेत्र की चार अवस्थाएँ तथा स्वरूप हमारे सामने आते हैं। इनमें से पहला स्वरूप सद्यः हमारे विचार-क्षेत्र के बाहर है, दूसरी स्थिति से हम पद्मपुराण द्वारा परिचित होते हैं। तीसरी स्थिति गंगापार के पूर्वीय क्षेत्र के मगध-राज्य में चले जाने से उत्पन्न हुई होगी। इस सम्भावना पर हम विचार कर चुके हैं। परन्तु, इस तीसरी स्थिति से चौथी स्थिति पर हम किस प्रकार पहुँचे, यह बात अब भी विचारणीय है।

जातकों में काशी तथा कोशल-राज्यों के बीच बहुत दिनों तक चलनेवाले वैमनस्य तथा संघर्ष का वर्णन आता है। इसी प्रकार, इतिहास में हैहयों द्वारा भी काशी पर आक्रमण करने के प्रसंग मिलते हैं। इन्हीं आक्रमणों तथा लड़ाइयों के कारण कदाचित् काशी-क्षेत्र की सीमाओं और स्वरूप में परिवर्त्तन होते रहे, जिनके फलस्वरूप पद्मपुराण के दस कोस के विस्तारवाले काशी-क्षेत्र से क्रमशः अन्ततोगत्वा हम ब्रह्मवैवर्त्तपुराण के पाँच क्रोश और ढाई गव्यूतिवाले काशी-क्षेत्र तक पहुँच गये, ऐसा अनुमान सम्भव देख पड़ता है। प्रत्यक्ष रूप से तो काशी-क्षेत्र का सम्बन्ध केवल धार्मिक कृत्यों से होने के कारण इन राजनीतिक संघर्षों से उसके प्रभावित होने की कोई आवश्यकता नहीं प्रतीत होती, परन्तु युद्धों के परोक्ष प्रभाव सर्वव्यापी होते हैं और यही बात काशी के सम्बन्ध में भी चरितार्थ हुई। वरणा-संगम के पूर्व में प्राचीन वाराणसी नगरी के जो ध्वंसावशेष समझे जाते हैं, उनके ध्वस्त होने की भी कुछ यही कथा रही होगी। वरणा तथा गंगा की धाराओं से सुरक्षित नगर का दक्षिणी भाग तो बच गया, परन्तु उसका उत्तरी अंश, जिसकी रक्षा करना कठिन हुआ, परित्यक्त होकर नष्ट हो गया। सारनाथ में बौद्ध सम्प्रदाय की अभिवृद्धि भी काशी-क्षेत्र के उत्तर-पूर्वीय भागों की यात्रा के लिए छोड़ दिये जाने में सहायक हुई होगी, ऐसी कल्पना भी की जा सकती है।

काशी-क्षेत्र के नामकरण के सम्बन्ध में पुराणों में-बहुत सी बातें कही गई हैं। आधुनिक इतिहासकारों ने भी इस सम्बन्ध में बहुत कुछ कहा है। इस सबके विस्तृत विवेचन का तो यह स्थान नहीं है, परन्तु इतना कहना आवश्यक है कि आर्यों के आने के पहले अनार्यों के राज्यकाल में इस प्रदेश का नाम काशी था और उस समय वह धर्मक्षेत्र नहीं था। आगे चलकर आर्यों के अधिकार में आने पर यथासमय इसकी धार्मिक महत्ता बढ़ी और राज्य का नाम क्षेत्र को भी मिल गया। बाद में काशी शब्द की अनेक व्याख्याएँ हुईं, जिसमें एक यह भी है कि मनु की बारहवीं पीढ़ी में राजा काश हुए थे, जिन्होंने काशी नगरी बसाई। परन्तु, ये सभी अनुमानों के आधार पर स्थित हैं। नीचे की कल्पनाएँ भी इसी प्रकार की हैं:

काशतेऽत्र यतो ज्योतिस्तदनाख्येयमीश्वर।
अतो नामा परं चास्तु काशीति प्रथितं विभो॥

(काशीखण्ड, त्रि० से०, पृ० ८८)

त्रेता में काशी का स्वरूप चक्राकार था। पद्मपुराण में इसी परिस्थिति का वर्णन है। तदनन्तर, द्वापर में वह रथ के आकार का हुआ। गंगा के पूर्व का भाग निकाल देने पर जो भाग बच रहता है, वह उसी स्वरूप का वर्णन है। इसके बाद कलियुग में उसका वर्त्तमान शंखाकार स्वरूप हो गया, जो ब्रह्मवैवर्त्तपुराण में प्रदर्शित है। सत्ययुगादि नामों को यदि हम केवल अतीतवाचक मान लें, तो काशी-क्षेत्र की चार अवस्थाएँ तथा स्वरूप हमारे सामने आते हैं। इनमें से पहला स्वरूप सद्यः हमारे विचार-क्षेत्र के बाहर है, दूसरी स्थिति से हम पद्मपुराण द्वारा परिचित होते हैं। तीसरी स्थिति गंगापार के पूर्वीय क्षेत्र के मगध-राज्य में चले जाने से उत्पन्न हुई होगी। इस सम्भावना पर हम विचार कर चुके हैं। परन्तु, इस तीसरी स्थिति से चौथी स्थिति पर हम किस प्रकार पहुँचे, यह बात अब भी विचारणीय है।

जातकों में काशी तथा कोशल-राज्यों के बीच बहुत दिनों तक चलनेवाले वैमनस्य तथा संघर्ष का वर्णन आता है। इसी प्रकार, इतिहास में हैहयों द्वारा भी काशी पर आक्रमण करने के प्रसंग मिलते हैं। इन्हीं आक्रमणों तथा लड़ाइयों के कारण कदाचित् काशी-क्षेत्र की सीमाओं और स्वरूप में परिवर्त्तन होते रहे, जिनके फलस्वरूप पद्मपुराण के दस कोस के विस्तारवाले काशी-क्षेत्र से क्रमशः अन्ततोगत्वा हम ब्रह्मवैवर्त्तपुराण के पाँच क्रोश और ढाई गव्यूतिवाले काशी-क्षेत्र तक पहुँच गये, ऐसा अनुमान सम्भव देख पड़ता है। प्रत्यक्ष रूप से तो काशी-क्षेत्र का सम्बन्ध केवल धार्मिक कृत्यों से होने के कारण इन राजनीतिक संघर्षों से उसके प्रभावित होने की कोई आवश्यकता नहीं प्रतीत होती, परन्तु युद्धों के परोक्ष प्रभाव सर्वव्यापी होते हैं और यही बात काशी के सम्बन्ध में भी चरितार्थ हुई। वरणा-संगम के पूर्व में प्राचीन वाराणसी नगरी के जो ध्वंसावशेष समझे जाते हैं, उनके ध्वस्त होने की भी कुछ यही कथा रही होगी। वरणा तथा गंगा की धाराओं से सुरक्षित नगर का दक्षिणी भाग तो बच गया, परन्तु उसका उत्तरी अंश, जिसकी रक्षा करना कठिन हुआ, परित्यक्त होकर नष्ट हो गया। सारनाथ में बौद्ध सम्प्रदाय की अभिवृद्धि भी काशी-क्षेत्र के उत्तर-पूर्वीय भागों की यात्रा के लिए छोड़ दिये जाने में सहायक हुई होगी, ऐसी कल्पना भी की जा सकती है।

काशी-क्षेत्र के नामकरण के सम्बन्ध में पुराणों में-बहुत सी बातें कही गई हैं। आधुनिक इतिहासकारों ने भी इस सम्बन्ध में बहुत कुछ कहा है। इस सबके विस्तृत विवेचन का तो यह स्थान नहीं है, परन्तु इतना कहना आवश्यक है कि आर्यों के आने के पहले अनार्यों के राज्यकाल में इस प्रदेश का नाम काशी था और उस समय वह धर्मक्षेत्र नहीं था। आगे चलकर आर्यों के अधिकार में आने पर यथासमय इसकी धार्मिक महत्ता बढ़ी और राज्य का नाम क्षेत्र को भी मिल गया। बाद में काशी शब्द की अनेक व्याख्याएँ हुईं, जिसमें एक यह भी है कि मनु की बारहवीं पीढ़ी में राजा काश हुए थे, जिन्होंने काशी नगरी बसाई। परन्तु, ये सभी अनुमानों के आधार पर स्थित हैं। नीचे की कल्पनाएँ भी इसी प्रकार की हैं :

काशतेऽत्र यतो ज्योतिस्तदनाख्येयमीश्वर।
अतो नामा परं चास्तु काशीति प्रथितं विभो॥

(काशीखण्ड, त्रि० से०, पृ० ८८)

'काशतेति काशी', जो स्वयं प्रकाशपूर्ण हो, वह काशी। जहाँ भगवान् का प्रकाश जाज्वल्यमान हो, वह काशी। ऐसे ही बहुत-से उद्धरण पुराणों में मिलते हैं।

२. **वाराणसी-क्षेत्र :** जिस प्रकार वाराणसी नगरी काशी-जनपद की राजधानी थी, ठीक उसी प्रकार काशी-क्षेत्र के अन्तर्गत उससे अधिक पुनीत वाराणसी-क्षेत्र माना गया है। इतना ही नहीं, जिस प्रकार काशी-राज्य की राजधानी को काशीपुरी या काशीनगर कहा जाने लगा, उसी प्रकार जनसाधारण काशी-क्षेत्र तथा वाराणसी-क्षेत्र का समान अर्थ में प्रयोग करने लगे। बहुत दिनों तक इस प्रकार के लौकिक व्यवहार के कारण उनका भेद शिथिल होने लगा और उनकी विभिन्नता का ज्ञान भी क्षीण होने लगा। परन्तु, यथार्थतः वाराणसी-क्षेत्र काशी-क्षेत्र के अन्तर्गत और उससे छोटा है, यह बात पौराणिक साहित्य से स्पष्ट है। इस वाराणसी-क्षेत्र की सीमाओं के सम्बन्ध में कुछ पौराणिक प्रमाण नीचे दिये जाते हैं।

मत्स्यपुराण में :

द्वियोजनमथार्द्धं च तत्क्षेत्रं पूर्वपश्चिमम् ।
अर्द्धयोजनविस्तीर्णं दक्षिणोत्तरतः स्मृतम् ॥
वाराणसी तदीया च यावच्छुष्कनदी तु वै ।
एष क्षेत्रस्य विस्तारः प्रोक्तो देवेन धीमता ॥

(मत्स्यपु०, १८४।४०-४१, मुद्रित संस्करण)

मत्स्यपुराण में ही अन्यत्र :

द्वियोजनं तु तत्क्षेत्रं पूर्वपश्चिमतः स्मृतम् ।
अर्द्धयोजनविस्तीर्णं तत्क्षेत्रं दक्षिणोत्तरम् ॥
वाराणसी तदीया च यावच्छुष्कनदी तु वै ।
भीष्मचण्डीकमारभ्य पर्वतेश्वरमन्तिके ॥

(मत्स्यपु०, १८३।६१-६२, मुद्रित संस्करण)

कूर्मपुराण में :

वरणायास्तथैवास्या मध्ये वाराणसी पुरी। (कूर्मपु०, त्रि० से०, पृ० १०१)

पद्मपुराण में :

वरणा चाप्यसिश्चैव द्वे नद्यौ सुरनिर्मिते।
अन्तराले तयोः क्षेत्रं वध्या न विशते क्वचित् ॥ (पद्मपु०, त्रि०से०, पृ०१०२)

पद्मपुराण में ही :

दक्षिणोत्तरयोर्नद्यौ वरणासिश्च पूर्वतः ।
जाह्नवीं पश्चिमे चापि पाशपाणिर्गणेश्वरः ॥

(पद्मपु०, त्रि० से०, पृ० १००; वी० मि०, पृ० १७५)

अग्निपुराण में :

द्वियोजनं तु पूर्वं स्याद्योजनार्द्धं तदन्यथा।
वरणा च नदी चासी मध्ये वाराणसी तयोः ॥ (अग्निपु०, पृ० १३६)

ऊपर दिये गये उद्धरणों पर विचार करने से यह समझ पड़ता है कि वाराणसी-क्षेत्र की लम्बाई दो या ढाई कोस है, इस विषय में मतभेद नहीं है; परन्तु उस क्षेत्र की चौड़ाई के विषय में कुछ भ्रम का स्थान है। अतएव, यह विषय विचारणीय है।

मत्स्यपुराण के ये दोनों उद्धरण सबसे पहले हमको 'कृत्यकल्पतरु' में मिलते हैं और तदनन्तर 'तीर्थचिन्तामणि', 'त्रिस्थलीसेतु' तथा 'वीरमित्रोदय' में। इन तीनों ग्रन्थों में इधर-उधर कुछ पाठभेद भी इन श्लोकों में देख पड़ते हैं। 'तीर्थचिन्तामणि' में इनके विषय में विशेष चर्चा नहीं है और भिन्न-भिन्न परिमाणों को कल्पभेद के कारण मानकर बात समाप्त कर दी गई है। 'त्रिस्थलीसेतु' तथा 'वीरमित्रोदय में भिन्न-भिन्न प्रमाणानुसार परिमाण का समन्वय करने का प्रयत्न किया गया है और इन दोनों उद्धरणों के पूर्वार्द्ध को काशीक्षेत्र-विषयक मानकर पूर्वार्द्ध और परार्द्ध की असंगति का निवारण किया गया है :

अत्र प्रथमार्द्धे काश्या एव विस्तार उक्तो न तु वाराणस्याः ।

(त्रि० से०, पृ० १०१)

अत्र प्रथमार्द्धे न काशीपरिमाणमुक्तं द्वितीयार्द्धे न वाराणसीपरिमाणम् ।

(वी० मि०, पृ० १७७)

परन्तु, दो क्षेत्रों के परिमाणों का एक साथ वर्णन और उनके नामों की पूर्ण अनुपस्थिति कुछ समझ में नहीं आती। ऐसा अव्यवस्थित परिमाणांकन उचित नहीं जान पड़ता। अतएव, हमारी धारणा यही है कि मत्स्यपुराण के उद्धरणों के सम्पूर्ण वाक्य वाराणसी-क्षेत्र के परिमाण का ही निर्देश करते हैं और इसी आधार पर हम उनपर विचार करेंगे।

कृत्यकल्पतरु में इन श्लोकों का जो पाठ मिलता है, वह वर्त्तमान मत्स्यपुराण तथा वीरमित्रोदय में दिये हुए पाठों से कुछ भिन्न है। त्रिस्थलीसेतु में ही दूसरे उद्धरण के दो पाठ हैं। कृत्यकल्पतरु के प्राचीनतम होने के कारण उसके पाठ नीचे दिये जाते हैं :

द्वियोजनमथार्द्धं च तत्क्षेत्रं पश्चिमे स्मृतम् ।
अर्द्धयोजनविस्तीर्णं दक्षिणेऽन्तरतः स्मृतम् ॥
वरणा च नदी यावद्यावच्छुष्कनदी भवेत् ।
एष क्षेत्रस्य विस्तारः प्रोक्तो देवेन धीमता ॥ (कृ० क० त०, पृ० ३९)
द्वियोजनं तु तत्क्षेत्रं पूर्वपश्चिमतः स्मृतम् ।
अर्द्धयोजनविस्तीर्णं दक्षिणेऽन्तरतः स्थितम् ॥
वरणा च नदी यावद्यावच्छुष्कनदी तथा ।
भीष्मचण्डीकमारभ्य पर्वतेश्वरमन्तिके ॥ (कृ० क० त०, पृ० ३९)

दूसरे उद्धरण के पाठ में दो बातें ध्यान से देखने की हैं। क्षेत्र की लम्बाई के विषय में तो बात स्पष्ट है कि वह दो योजन अथवा ढाई योजन है। यह बात सभी प्रमाणों में स्थूल अथवा सूक्ष्म रूप में मिलती है, परन्तु इस उद्धरण में ही चौड़ाई के विषय में तीन भिन्न-भिन्न परिमाण दिये गये हैं। पहले तो कहा गया कि 'अर्द्धयोजनविस्तीर्णं', फिर कहा गया कि 'वरणा च नदी यावद्यावच्छुष्कनदी तथा', अर्थात् क्षेत्र की चौड़ाई वरणा से असी पर्यन्त है, और अन्त में कहा गया कि 'भीष्मचण्डीकमारभ्य पर्वतेश्वरमन्तिके', अर्थात् वह भीष्मचण्डी से पर्वतेश्वर तक है। अब प्रश्न यह है कि इन तीनों विभिन्न परिमाणों का समन्वय कैसे किया जाय। एक बात तो स्पष्ट है कि पुराणकार ने इन तीनों परिमाणों को किसी कारणवश दिया है। यह भी स्पष्ट है कि उसकी दृष्टि में इन तीनों में कोई विरोधाभास नहीं था। इस समस्या को सुलझाने के लिए हमको श्लोक की दूसरी पंक्ति के उत्तरार्द्ध में संकेत मिलता है। पुराणकार यह नहीं कहता कि दक्षिण से उत्तर का विस्तार

आधा योजन है। वह कहता है कि वाराणसी-क्षेत्र वरणा नदी से असी नदी तक है। परन्तु गंगा की धारा के अर्द्धचन्द्रकार होने के कारण यह सीमा-निर्देश पूरा नहीं होता। उसको पूर्ण करने के लिए वह कहता है कि बहुधा तो इन नदियों से सीमा-निर्देश हो जाता है, परन्तु भीष्मचण्डी से आरम्भ करके दक्षिण में पर्वतेश्वर तक इसका विस्तार केवल आधा योजन है। भीष्मचण्डी भीमचण्डी का नाम नहीं है और न यहाँ लिपि-प्रमाद है; क्योंकि यदि भीमचण्डी कहना होता, तो उसके साथ उत्तर-पूर्व की सीमा का नाम लिया गया होता, न कि पर्वतेश्वर का, जो संकठाघाट पर मकान नं० सी० के० ७।१५० में हैं। यहाँ तो उत्तर-दक्षिण का प्रश्न है, अतएव उत्तर में भीष्मचण्डी जो शैलपुत्री दुर्गा के दक्षिण में थीं और दक्षिण में पर्वतेश्वर, इनका नामोल्लेख किया गया।

इस सम्बन्ध में पद्मपुराण में दिया हुआ वाराणसी-क्षेत्र का परिमाण यदि देखें, तो बात और भी स्पष्ट हो जाती है। वहाँ पुराणकार कहता है :

काश्यतः परमं क्षेत्रं विशेषफलसाधनम् ।
वाराणसीति विख्यातं तन्मानं निगदामि वः ॥
दक्षिणोत्तरयोर्नद्यौ वरणासिश्च पूर्वतः ।
जाह्नवी पश्चिमे चापि पाशपाणिर्गणेश्वरः ॥

इसके अनुसार वाराणसी-क्षेत्र के उत्तर और दक्षिण में वरणा तथा असी नदियाँ, पूर्व में गंगा तथा पश्चिम में पाशपाणि गणेश। पाशपाणि गणेश सदर बाजार में हैं। वहाँ से पूर्व में वरणा-संगम के आगे कोटवाँ गाँव के पास का गंगातट लगभग ढाई क्रोश पड़ता है, जिसके सम्बन्ध में मत्स्यपुराण दो अथवा ढाई योजन का परिमाण बतलाता है। ये दोनों परिमाण भी एक दूसरे से मेल खाते हैं। इसी कारण हमने ऊपर कहा है कि मत्स्य-पुराण का पूरा उद्धरण वाराणसी-क्षेत्र के ही विषय में है।

कूर्मपुराण तथा अग्निपुराण में दिये हुए परिमाण भी मत्स्यपुराण में दिये हुए परिमाण की पुष्टि करते हैं। नारदपुराण में तो मत्स्यपुराणवाला परिमाण ही दिया गया है। इस प्रकार, हम देखते हैं कि वाराणसी-क्षेत्र के परिमाण के विषय में सभी पुराणों का एक ही मत है। उसमें किसी प्रकार का भी कोई भेद नहीं मिलता।

३. **अविमुक्त-क्षेत्र** : स्कन्दपुराण तथा प्राचीन लिंगपुराण के अनुसार अविमुक्त-क्षेत्र का विस्तार प्रायः वाराणसी-क्षेत्र के विस्तार के समान है। वहाँ कहा गया है कि :

कृत्तिवासं समारभ्य क्रोशं क्रोशं चतुर्दिशम् ।
योजनं चैव तत्क्षेत्रं गणै रुद्रैश्च संवृतम् ॥
तस्य मध्ये यदा लिङ्गं भूमिं भित्त्वा समुत्थितम् ।
मध्यमेश्वरनामाख्यं ख्यातं सर्वसुरासुरैः ॥
अस्मादारभ्य लिङ्गात्तु क्रोशं क्रोशं चतुर्ष्वपि ।
योजनं विद्धि तत्क्षेत्रं मृत्युकालेऽमृतप्रदम् ॥
(लिंगपुराण, कृ० क० त०, पृ० ४०; त्रि० से०, पृ० १०२-१०३)

चतुष्क्रोशं चतुर्दिक्षु क्षेत्रमेतत्प्रकीर्त्तितम् ।
योजनं विद्धि चार्वङ्गि मृत्युकालेऽमृतप्रदम् ॥
मुक्तिक्षेत्रप्रमाणं च क्रोशं क्रोशं च सर्वतः ।

आरभ्य लिङ्गादस्माच्च पुण्यदान्मध्यमेश्वरात् ॥

(स्कन्दपुराण, कृ० क० त०, पृ० ४०; त्रि० से०, पृ० १०३)

अर्थात्, कृत्तिवास अथवा मध्यमेश्वर से चारों दिशाओं में एक-एक क्रोश तक अविमुक्त-क्षेत्र है। तीर्थचिन्तामणि में अविमुक्त-क्षेत्र के विषय में कोई स्पष्ट विवेचना नहीं की गई है, परन्तु वहाँ भी वाराणसी-क्षेत्र को ही अविमुक्त-क्षेत्र माना गया है। त्रिस्थलीसेतु में इस विषय पर विचार करते हुए पद्मपुराण में दिये हुए परिमाण का भी उल्लेख किया गया है, जिसके अनुसार विश्वेश्वर-मन्दिर के चारों ओर दो सौ धनुष, अर्थात् चार सौ गज तक अविमुक्त-क्षेत्र का विस्तार है। त्रिस्थलीसेतु ने इस विषय में कोई निर्णय नहीं दिया है और अन्य प्रमाणों के अभाव में निर्णय देना सम्भव भी नहीं है। यद्यपि स्कन्दपुराण में अविमुक्त और वाराणसी एक ही अर्थ में मिलते हैं :

तस्याः अन्तःस्थितं दिव्यं विशेषफलसाधनम्।
अविमुक्तमिति ख्यातं तन्मानं च ब्रवीमि वः॥
विश्वेश्वराच्चतुर्दिक्षु धनुःशतयुगोन्मितम्।
अविमुक्ताभिधं क्षेत्रं मुक्तिस्तत्र न संशयः॥

(पद्मपुराण, त्रि० से०, पृ० १००-१०१)

इस प्रकार, अविमुक्त-क्षेत्र की परिसीमाओं तथा परिमाण के विषय में पुराणों में मतभेद है, जिसका स्पष्ट समाधान अभी तक नहीं हो पाया है।

अविमुक्त-क्षेत्र के नामकरण के कई कारण पुराणों में मिलते हैं, परन्तु मत्स्यपुराण के अनुसार इसका यह नाम इसलिए पड़ा कि भगवान् शंकर ने न तो कभी इसको छोड़ा और न कभी छोड़ेंगे :

विमुक्तं न मया यस्मान्मोक्ष्यसे न कदाचन।
महत्क्षेत्रमिदं तस्मादविमुक्तमिति स्मृतम्॥

(मत्स्यपु०, ती० चि०, पृ० ३४२; कृ० क० त०, पृ० १३)

स्कन्दपुराण के अनुसार भी इस नामकरण का यही कारण है।

न विमुक्तं मया यस्मादविमुक्तमिदं ततः।
क्षेत्रं वाराणसी पुण्यं मुक्तिदं सम्भविष्यति॥

(स्कन्दपु०, कृ० क० त०, पृ० १३३)

यहाँ वाराणसी-क्षेत्र को ही अविमुक्त-क्षेत्र कहा गया है और इस नामकरण का कारण यही बतलाया गया है कि इसको भगवान् ने कभी नहीं छोड़ा।

४. **अन्तर्गृह-क्षेत्र** : कृत्यकल्पतरु तथा तीर्थचिन्तामणि में अन्तर्गृह-क्षेत्र का कोई भी उल्लेख नहीं है। त्रिस्थलीसेतु में पद्मपुराण के वाक्य के साथ-साथ काशीखण्ड का वचन भी उद्धृत हुआ है और कहा गया है कि इन दोनों प्रमाणों में केवल पूर्व दिशा की सीमा के सम्बन्ध में भेद है, जिसका समाधान पद्मपुराण का समर्थन करके हो गया है। वे वाक्य इस प्रकार हैं :

पद्मपुराण में :

गोकर्णेशः पश्चिमे पूर्वतश्च गङ्गामध्यमुत्तरे भारभूतः।
ब्रह्मेशानो दक्षिणे सम्प्रदिष्टस्तत्तु प्रोक्तं भवनं विश्वभर्त्तुः॥ (त्रि० से०, पृ० १०१)

काशीखण्ड में :

पूर्वतो मणिकर्णीशो ब्रह्मेशो दक्षिणे स्थितः ।
पश्चिमे चैव गोकर्णो भारभूतस्तथोत्तरे ।। (त्रि० से०, पृ० १०३)

वीरमित्रोदय ने त्रिस्थलीसेतु के ही मत का प्रतिपादन किया है। इस प्रकार, यह स्थिर होता है कि पूर्व में गंगाजी के मध्य से, पश्चिम में गोकर्णेश्वर तक और उत्तर में भारभूतेश्वर से दक्षिण में ब्रह्मेश्वर तक सीमित क्षेत्र अन्तर्गृह-क्षेत्र है। यात्रा की दृष्टि से गंगातट पर स्थित मणिकर्णिकेश्वर और गंगामध्य में कोई विशेष भेद नहीं पड़ता। यहाँ यह भी ध्यान में रखना है कि स्वर्गद्वारेश्वर तथा मोक्षद्वारेश्वर अन्तर्गृह के द्वारों पर ही स्थित हैं। माहात्म्य की दृष्टि से इस क्षेत्र की बड़ी महत्ता है और इसमें निवास तथा मरण को ही श्रेयस्कर माना गया है।

यह विश्वेश्वर के अन्तर्गृह की सीमाएँ हैं। काशी-केदार-माहात्म्य के अनुसार केदारेश्वर का भी एक अन्तर्गृह है, जिसकी सीमाएँ इस प्रकार हैं: पूर्व में गंगा के अर्द्धभाग तक, दक्षिण में लोलार्क तक, नैऋत्य कोण में शंखोद्धारतीर्थ तक, पश्चिम में वैद्यनाथ तक, वायव्य कोण में लक्ष्मीकुण्ड तक, उत्तर में शूलटंकेश्वर तक तथा ईशान कोण एवं आग्नेय कोण में आधे कोस तक। इस केदारक्षेत्र के अन्तर्गृह में मरनेवाले को भैरवी यातना भी नहीं भोगनी पड़ती, वरन् उसकी तत्काल मुक्ति हो जाती है, चाहे वह कैसा भी पापी क्यों न हो :

सद्यस्तारयेत लोकान् भैरवीयातनां विना ।
माभूदत्र प्रजानामतितरमसहा भैरवीयातना मे
गेहेऽन्तर्भूप्रदेशे विघटितवपुषां तारकस्योपदेशात् ।
(ब्र० वै० पु०, काशीकेदारमाहात्म्य, ३।६१-६३)

प्राचीन निबन्धकारों ने इसका उल्लेख कहीं नहीं किया है और न काशीखण्ड में ही इसका कोई संकेत है, परन्तु ब्रह्मवैवर्त्तपुराण के खिलभाग के काशी-मूलरहस्य में इसका परिमाण कहा गया है :

पूर्वस्यां दिशि गङ्गार्द्धभागं तीर्थसमन्वितम् ।
अर्द्धक्रोशं चाग्निदिशि लोलार्केशान्तदक्षिणम् ।।
सर्वपापप्रशमनं शङ्खोद्धारं तु नैऋतम् ।
पश्चिमे वैद्यनाथान्तं रमातीर्थं तु वायुदिक् ।।
उत्तरे शूलटङ्कान्तमीशान्यां क्रोशमर्द्धकम् ।
(ब्र० वै० पु०, काशीकेदारमाहात्म्य, ३।६१-६३)

कुछ लोग तो इस सम्बन्ध में ओंकारेश्वर के अन्तर्गृह का भी उल्लेख करते हैं, परन्तु तत्सम्बन्धी पौराणिक प्रमाण अभी तक नहीं प्राप्त हो पाये हैं। सम्भव है, कहीं ये प्रमाण कभी लभ्य हो जायें।

पद्मपुराण में काशी के चार क्षेत्रों का ही उल्लेख है, परन्तु इसके अतिरिक्त दो अन्य विभागों के नाम अन्यत्र मिलते हैं, अर्थात् त्रिकण्टक तथा अविमुक्ततर-क्षेत्र।

१. **त्रिकण्टक-क्षेत्र** : 'कृत्यकल्पतरु' में अन्तर्गृह का तो उल्लेख नहीं है, परन्तु त्रिकण्टक

का वर्णन स्पष्ट रूप से है। त्रिकण्टक के सम्बन्ध में बड़ा भ्रम उत्पन्न हो गया है। वाराणसी में किसी भी धार्मिक कृत्य के संकल्प करने के समय **अविमुक्तवाराणसीक्षेत्रे, आनन्दवने, महाश्मशाने, गौरीमुखे, त्रिकण्टकविराजिते** इत्यादि वाक्य प्रायः सर्वस्वीकृत होते हुए भी 'त्रिकण्टकविराजिते' तथा 'गौरीमुखे' इन दो पदों का अर्थ विस्मृतप्राय हो गया है। त्रिकण्टक के तो भिन्न-भिन्न प्रकार के आध्यात्मिक अर्थ लगाये जाने लगे हैं, परन्तु बात बहुत सीधी है। 'कृत्यकल्पतरु' में लिंगपुराण का निम्नांकित प्रमाण उद्धृत है :

अविमुक्तं च स्वर्लीनं तथा मध्यमकं शुभम्।
एतत् त्रिकण्टकं नाम मृत्युकालेऽमृतप्रदम्॥ (कृ० क० त०, पृ० १२३)

इसका अर्थ यह हुआ कि अविमुक्तेश्वर, स्वर्लीनेश्वर तथा मध्यमेश्वर इन तीन शिवायतनों को मिलाने से जो त्रिभुजीय क्षेत्र बनता है, उसको त्रिकण्टक कहते हैं और इस क्षेत्र में मरने से अमरत्व मिलता है। त्रिस्थलीसेतु में 'प्रकीर्णयात्राप्रकरण' में त्रिकण्टक का वर्णन हुआ है, परन्तु क्षेत्र-रूप में इस विषय का कुछ भी उल्लेख नहीं है। वीरमित्रोदय में भी ऐसा ही है।

२. **अविमुक्ततर-क्षेत्र :** तीर्थचिन्तामणि में अविमुक्ततर-क्षेत्र का वर्णन है, जिसकी सीमाएँ इस प्रकार हैं कि पूर्व में प्रीतिकेश्वर, उत्तर में लक्षणेश्वर, वायव्य कोण में मगधेश्वर तथा दक्षिण में कामेश्वर। ये सभी अविमुक्तेश्वर के प्रथम आवरण के देवता हैं। तीर्थचिन्तामणि के अनुसार यहाँ पर मरनेवालों को 'परंमुक्ति' मिलती है। इस सम्बन्ध में वहाँ कोई पौराणिक प्रमाण नहीं दिया गया है (ती० चि०, पृ० ३६०)। विचार करने पर इस सीमांकन में बहुत बड़ी शंका यह है कि यह क्षेत्र प्रीतिकेश्वर के पश्चिम में पड़ने से स्वयं अविमुक्तेश्वर ही उसके अन्तर्गत नहीं आते। अन्य तीन शिवायतन कहाँ थे, यह अब ज्ञात नहीं रह गया। सम्भवतः प्रीतिकेश्वर पश्चिम की सीमा पर थे।

कुछ प्रमुख क्षेत्र :

१. **आनन्दवन :** यह नाम प्रायः वाराणसी का पर्यायवाची हो गया है। इसका स्पष्ट उल्लेख मत्स्यपुराण, ब्रह्मवैवर्त्तपुराण तथा स्कन्दपुराण के काशीखण्ड में आया है :

क. **तीर्थानां पञ्चकं सारं विश्वेशानन्दकानने।**
(मत्स्यपु०, १८५।६५)

ख. **अस्मिन्ममानन्दवने यदेतल्लिङ्गं सुधाधाम सुधामधाम।**
(स्कन्दपु०, त्रि० से०, पृ० १८३)

ग. **आनन्दाख्ये कानने ये वसन्ति क्षेत्रन्यासं संविधायात्र पुत्र।**
(ब्र० वै० पु०, त्रि० से०, पृ० १०५-१०६)

'कृत्यकल्पतरु' में यह पद कहीं नहीं मिलता, परन्तु वाराणसी के लिए उद्यान शब्द का प्रयोग मिलता है। मत्स्यपुराण तथा लिंगपुराण में यह बात स्पष्ट रूप से कही गई है कि भगवान् शंकर पार्वतीजी को लेकर जब काशी आये, तब उनको यहाँ का अपना उद्यान तथा उपवन दिखलाया और इस उपवन का अत्यन्त सुन्दर तथा विस्तृत वर्णन भी इन पुराणों में मिलता है :

क. **उद्यानं दर्शयामास देव्या देवः पिनाकधृक्।**
(मत्स्यपुराण, १८०।२३)

ख. **विविधतरुविशालं मत्तहृष्टान्यपुष्टमुपवनतरुरम्यं दर्शयामास देव्याः॥**
(मत्स्यपुराण, १८०-४४)

ग. स तमुद्यानमासाद्य देवीमाह जगत्पतिः ।

(स्क० पु०, कृ० क० त०, पृ० १३०)

एक बात तो स्पष्ट ही है कि वाराणसी-क्षेत्र में वन तथा उपवनों का प्राधान्य था। वाराणसी नगर तो वाराणसी-क्षेत्र के उत्तर-पूर्व के कोने में ही था। अन्यत्र तो वन-ही-वन था। नगर के चारों ओर उपवन थे, जैसा फाहियान और ह्वुएंगत्सान के समय के वर्णनों में मिलता है। अभी दो-ढाई सौ वर्ष पूर्व तक वर्त्तमान नगर के अनेक भागों में वन थे, जिनको काटकर ही शहर बसा है। मदैनी मुहल्ले का तो नाम ही मद्रवन था। हरिकेश-वन काटकर जंगमबाड़ी मुहल्ला बसा है (**हरिकेशवने रम्ये** । –का० खं०, त्रि० से०, पृ० १९८)। वृद्धकाल तथा हरतीरथ के निकट दारुवन था, जिसको काटकर दारानगर बसाया गया। (**लिङ्गं दारुवने गुह्यं** ।–कृ ०क० त०, पृ० ७७)। मैदागिन के दक्षिण नीचीबाग तक अशोकवन था (**अशोकवनमध्यस्थं तत्र कुण्डं शुभोदकम्** ।–कृ०क०त०, पृ० ८६)। इनके अतिरिक्त, राजघाट से चौकाघाट तक बड़ी सड़क के उत्तर वनों तथा उपवनों की एक शृंखला थी, जिनको काट-काटकर ही सन् ११९४ ई० के बाद के सभी नये मुहल्ले बसे हैं। इतना ही नहीं, आज भी वाराणसी नगरी के तीन ओर उद्यानों तथा बगीचों की एक पंक्ति वर्त्तमान है। अतएव, वाराणसी का दूसरा नाम आनन्दवन उपयुक्त ही है।

२. गौरीमुख : गौरीमुख के विषय में देवीभागवत में कहा गया है कि **वाराणस्यां विशालाक्षी गौरीमुखनिवासिनी** (देवीभा०, ७।३०), अर्थात् वाराणसी में विशालाक्षी देवी 'गौरीमुख' में निवास करती हैं। सनत्कुमारसंहिता में भी कहा है कि **स्नात्वा मुमुक्षुर्मणिकर्णिकायां मृडानि गङ्गाहृदये तवास्ये** । और फिर **स्नात्वा त्वदास्ये मणिकर्णिकायाम्** । परन्तु इस गौरीमुख-क्षेत्र की क्या सीमाएँ तथा विस्तार हैं, यह कहीं भी देखने में नहीं आया। इस सम्बन्ध में अनुसन्धान अब भी अपेक्षित है।

३. महाश्मशान : वाराणसी-क्षेत्र को महाश्मशान कहने का कारण पुराणों में यह दिया गया है कि महाप्रलय के समय सभी महातत्त्व शव के रूप में यहाँ शयन को प्राप्त होते हैं, अतएव इस क्षेत्र को श्मशान कहा जाता है :

श्मशब्देन शवः प्रोक्तः शानं शयनमुच्यते ।
निर्वचन्ति श्मशानार्थं मुने शब्दार्थकोविदाः ॥
महान्त्यपि च भूतानि प्रलये समुपस्थिते ।

(का० खं०, ३०।१०३-१०४)

शेरतेऽत्र शवा भूत्वा श्मशानं च ततो भवेत् ॥

(स्क० पु०, वी०मि०, पृ० १५९)

मत्स्यपुराण में कहा गया है कि :

श्मशानमेतद् भद्रं ते वरं च वरवर्णिनि ।
कालो भूत्वा जगदिदं संहरामि सृजामि च ॥

(मत्स्यपु०, १८३।९८-९९)

लिंगपुराण में तथा मत्स्यपुराण में श्मशान को अविमुक्त-क्षेत्र का पर्यायवाची माना है—

श्मशानमिति विख्यातमविमुक्तं शिवालयम् । (मत्स्य पु०, १८४।८)
पुरीं वाराणसीं तां तु श्मशानं चाविमुक्तकम् ॥

अविमुक्तेश्वरं चैव दृष्ट्वा गणपतिर्भवेत्।

(लि० पु०, ती० चि०, पृ० ३५९)

यह तो हुई पौराणिक वार्त्ता। लौकिक दृष्टि से भी काशी जैसे अनायास मुक्ति देनेवाले क्षेत्र में मरने की इच्छा रखनेवालों की संख्या का अधिक होना स्वाभाविक ही है। यह प्रवृत्ति आस्तिक हिन्दुओं में आज के तर्कप्रधान युग में भी वर्त्तमान है, फिर पुराने समय में जब बुद्धि विश्वास-प्रधान थी, तब तो यह प्रवृत्ति अत्यन्त बलवती रही होगी, तथा काशी में मरने की इच्छा से आनेवालों की संख्या भी बहुत अधिक होती होगी और इस उद्देश्य से वृद्धावस्था में यहाँ आकर रहनेवाले भी बहुत रहे होंगे। काशी में मरने का यहाँतक समर्थन था कि यहाँ नियमित रूप से आत्महत्या करने की भी परम्परा थी। शास्त्रों में उसकी आज्ञा थी और उसका स्पष्ट विधान था, यद्यपि काशीवास के नियमों में शरीर की रक्षा करने का आग्रह था; क्योंकि उससे चिरकाल तक साधना का अवसर मिलता है:

आत्मरक्षात्र कर्त्तव्या महाश्रेयोऽभिवृद्धये।
अत्रात्मत्यजनोपायं मनसापि न चिन्तयेत्॥ (त्रि० से०, पृ० २९८)

ऐसी स्थिति में मरनेवालों की संख्या अधिक होने के कारण श्मशान भी विस्तृत रहा होगा। उसके अत्यन्त विस्तृत होने का प्रमाण भी काशीखण्ड में मिलता है। मणिकर्णिका से वर्त्तमान चौक, राजादरवाजा लेता हुआ बेनियाँतालाव तक, जिसका नाम ही पहले अस्थिक्षेप तडाग और बाद में हड़हा तालाब हुआ, और इससे भी आगे जाकर लक्ष्मीकुण्ड तक वाराणसी का श्मशान था। उत्तर में वरणा-तट पर भी श्मशान था। अभी दो-तीन सौ वर्ष पूर्व तक वर्त्तमान चौक में चिताएँ जला करती थीं, जिनकी अस्थियों के अवशेष गंगा तथा हड़हा तालाब में डाले जाते थे। कीकसेश्वर, हाटकेश्वर, चित्रगुप्तेश्वर, चित्रघण्टादेवी, चित्र-घण्टविनायक (जिनका दूसरा नाम श्मशानविनायक भी है) ये सभी श्मशान से सम्बद्ध देवता हैं:

कूणिताक्षो गणाध्यक्षस्त्रितुण्डावीशदिक् स्थितः।
महाश्मशानं सततं पायाद्दुष्टकुदृष्टितः॥

(का० खं०, ५७।९१)

कूणिताक्षविनायक लक्ष्मीकुण्ड पर हैं।

दक्षिणे चापि तस्यैव कोटीश्वरमिति स्थितम्।
यत्र सा दृश्यते देवि विश्रुता भीष्मचण्डिका॥
वीभत्सविकृते भीमे श्मशाने वसते सदा॥

(लिं० पु०, कृ० क० त०, पृ० ५४)

अर्थात्, शैलेश्वर के दक्षिण कोटीश्वर नाम का शिवायतन है, जहाँपर भीष्मचण्डी देवी का स्थान है, जो बीभत्स, विकृत तथा घोर श्मसान में निवास करती हैं। आज भी उस क्षेत्र में सती के बहुत-से चौरे विद्यमान हैं।

इधर कुछ दिनों से इस विषय में बहुत विवाद रहा है कि काशी का श्मशान कहाँ पर था। कहा जाता है कि श्मशान नगर के दक्षिण में होता है, मध्य में नहीं और इसी आधार पर कुछ लोग कहते हैं कि यथार्थतः वाराणसी का श्मशान हरिश्चन्द्रघाट पर ही था, मणिकर्णिका पर अभी कुछ दिनों पहले सन् १७७५ ई० के आसपास बाबू कश्मीरीमल

की माता के देहान्त के समय विवाद के कारण यह घाट चालू किया गया। लौकिक दृष्टि से जो भी कुछ भ्रम हो, परन्तु शास्त्रीय दृष्टि से हरिश्चन्द्रघाट का इतना ही प्रमाण मिलता है कि प्राचीन काल में यहाँ आदिमणिकर्णिका का स्नान काशीकेदार-माहात्म्य के आधार पर होता था। मणिकर्णिका पर श्मशान होने के प्रमाण स्पष्ट हैं और मणिकर्णिका का परिमाण हरिश्चन्द्र-मण्डप से गंगाकेशव तक ५०० हाथ, अर्थात् २५० गज का होने से श्मशान के विस्तार का भी संकेत मिलता है।

काशीखण्ड में मणिकर्णिका की प्रशंसा करते हुए कहा गया है कि अपनी देह को तृण के समान मानकर राजर्षि हरिश्चन्द्र ने जहाँ अपने को अपनी रानी के साथ वेचा, यह वही मणिकर्णिका है। श्मशानाधिपति चाण्डाल के हाथों हरिश्चन्द्र यहीं पर बिके थे :

तृणीकृत्य निजं देहं यत्र राजर्षिसत्तमः ।
हरिश्चन्द्रः सपत्नीको व्यक्रीणाद् भूरियं हि सा ।। (का० खं० ३३।११०)

अन्यत्र यह प्रसंग है कि एक मुनि के पुत्र उपजंघनि को साँप ने काट लिया और उसको लेकर जब लोग महाश्मशान में आये, तब यह विचार करने के लिए कि सांप के काटे हुए व्यक्ति की अन्त्येष्टि किस प्रकार होनी चाहिए, उन्होंने शव को महाश्मशान के उस भू-भाग में रख दिया, जो स्वर्गद्वार के समीप था। वहाँ पृथ्वी के नीचे अमृतेश्वर नाम का शिवलिंग था। उसके प्रभाव से उपजंघनि पुनः जी उठा। इसके अनुसार स्वर्गद्वार के समीप श्मशान का भू-भाग था। स्वर्गद्वारी मुहल्ला आज भी मणिकर्णिका के निकट ही है।

महाश्मशानभूभागं स्वर्गद्वारसमीपतः। (का० खं०, ६४।५)

काशी में तारक-मन्त्र की दीक्षा का स्थान भी मणिकर्णिका ही माना गया है। कहा है कि वहाँ पर कर्मपाश में बँधे हुए पशुओं को भगवान् वन्धन से छुड़ाते हैं और मणिकर्णिका पहुँचने पर पण्डित तथा अपण्डित दोनों ही मोक्ष-दीक्षा के समय समान हो जाते हैं।

विपाशयामि तत्राहं कर्मभिः पाशितान्पशून् । (का० खं०, ७६।८१)
दीक्षितो वा दिवाकीर्त्तिः पण्डितो वाप्यपण्डितः ।
तुल्यास्ते मोक्षदीक्षायां सम्प्राप्य मणिकर्णिकाम् ।। (का० खं०, ७६।८६)

इसी प्रकार, ब्रह्मनाल में मृत व्यक्ति का शव पड़ने का भी माहात्म्य माना गया है, यहाँतक कि यदि किसी की एक हड्डी भी ब्रह्मनाल में पड़ जाय, तो उसकी मुक्ति हो जाती है। ब्रह्मनाल भी मणिकर्णिका में ही गंगा में मिलता था।

ब्रह्मनाले पतेद्येषामपि कीकसमात्रकम् ।
ब्रह्माण्डमण्डपान्तस्ते न विशन्ति कदाचन ।। (का० खं०, ६१।१५६)

इतना ही नहीं, मणिकर्णिका घाट से मिला हुआ जलशायी घाट है और वाराणसी में जलशायी तक पहुँचने का तात्पर्य मरने के बाद मणिकर्णिका-श्मशान पर अन्त्येष्टि होना ही समझा जाता है। क्योंकि, यह विश्वास है कि जलशायी घाट के सामने गंगा के भीतर जलशायी शिवलिंग है और शव के जलने के वाद उसका जो अर्धदग्ध अंश बचता है (जिसको रुद्रांश कहा जाता है), उसे जलशायी को अर्पित कर देने से उसकी मुक्ति निश्चित हो जाती है। जलशायी लिंग के विषय में काशीखण्ड में कहा गया है कि वह गंगा के जल में स्थित है और यह प्रसिद्ध है कि उसका स्थान जलशायी घाट के सामने है। इसीलिए, उस घाट का नाम ही जलशायी घाट है :

पुण्यं जलप्रियं लिङ्गं जललिङ्गं स्थलादपि ।
आयातं तच्च गङ्गाया जलमध्ये व्यवस्थितम् ।। (का० खं०, ६९।१६१)

शवदाह की प्राचीन रूढि सर्वत्र यही थी कि चिता में अग्नि देकर लोग घर चले जाते थे और तीसरे दिन अस्थि-संचय करते थे। अतएव, तीन दिनों तक चिताएँ बनी रहती थीं। इस कारण भी श्मशान का बड़ा होना आवश्यक था। जहाँ गंगा, यमुना इत्यादि पुण्यनदियाँ नहीं हैं, वहाँ अब भी यही प्रक्रिया चलती है। कुछ कुलों में यह प्रथा रूढि के रूप में भी है। इसलिए, प्राचीन काल में जब नगर केवल राजघाट के आसपास था, मणिकर्णिका-महाश्मशान में स्थानाभाव नहीं था। स्वेच्छानुसार लोग चिता बनाते थे। सती लोगों के चौरे इस बात को स्पष्ट रूप से प्रमाणित करते हैं। ब्रह्मनाल, मणिकर्णिका में तो ये हैं ही, सुखलाल साह के फाटक में, यहाँतक कि शोराकुआँ के सामने भी सती के चौरे मिलते हैं। पहले यह सभी स्थान श्मशान-भूमि के अंग थे। आगे चलकर जैसे-जैसे बस्ती बढ़ती गई, वैसे-वैसे श्मशान का विस्तार भी घटने लगा। चारों ओर के तीर्थ पाट-पाटकर मुहल्ले बसे और अन्त में मणिकर्णिका घाट छोड़कर सभी जगह घर बन गये और मणिकर्णिका का श्मशान जो पहले नगर के दक्षिण में था, इस प्रकार उसके बीच में हो गया। वरणा-तट पर भी सती चौरे की भरमार है, जिससे प्राचीन काल में वहाँ पर श्मशान होने का यह प्रत्यक्ष प्रमाण भी मिलता है।

हरिश्चन्द्र घाट पर श्मशान कब स्थापित हुआ और क्यों, इसका प्रमाण अभी तक देखने में नहीं आया। पुराणों में इस नये श्मशान का उल्लेख कहीं भी नहीं मिलता। इस घाट का नाम भी हरिश्चन्द्रघाट कब हुआ, यह नहीं कहते बनता; क्योंकि प्रिंसेप के नक्शे में (सन् १८२३ ई०) उसका नाम केवल श्मशान घाट ही दिया हुआ है। बैंक्स के नक्शे में भी (सन् १८६७ ई०) इसको 'मसानघाट' ही कहा गया है, जबकि और सभी घाटों के नाम दिये गये हैं। कुछ लोगों का कहना है कि काशीकेदार-माहात्म्य (ब्रह्मवैवर्त्त-पुराण) में उल्लिखित आदिमणिकर्णिकातीर्थ हरिश्चन्द्र घाट पर है और प्राचीन काल में केदार की अन्तर्गृहयात्रा वहीं से प्रारम्भ होती थी। यदि यह ठीक है, तो हरिश्चन्द्र घाट पर का शिवालय वृद्धकेदार होना निश्चित हो जाता है और उस अवस्था में आदिमणिकर्णिका के स्वरूप में हरिश्चन्द्र घाट के श्मशान की महिमा स्वीकार करने में कोई कठिनाई नहीं होगी। परन्तु, महाराज हरिश्चन्द्र से इस घाट का कोई भी सम्बन्ध फिर भी नहीं स्थापित हो सकता, जिस आधार पर इसका नाम हरिश्चन्द्र घाट सार्थक हो सके। यह नामकरण नितान्त काल्पनिक ही है।

चौथा अध्याय

काशी की नदियाँ तथा तीर्थ

बड़े-बड़े तीर्थस्थान तो तीर्थ कहलाते ही हैं, परन्तु उनके अन्तर्गत कुछ विशेष स्थानों को भी स्थलतीर्थ कहा जाता है। इसी प्रकार जलाशय, नद, सरोवर, कुण्ड, दीर्घिका, वापी, तथा कूप जलतीर्थ कहे जाते हैं। जिन स्थानों में शिवलिंग तथा देव-मूर्त्तियाँ होती हैं, उनको भी तीर्थ कहते हैं और नदियों के प्रवाह के अन्तर्गत भिन्न-भिन्न स्थानों को भी तीर्थ की संज्ञा मिलती है:

> शृणु देवि विशालाक्षि तीर्थलिङ्गमुदाहृतम् ।
> जलाशयेऽपि तीर्थाख्या जाता मूर्त्तिपरिग्रहात् ॥
> मूर्त्तयो ब्रह्मविष्ण्वर्कशिवं विघ्नेश्वरादिकाः ।
> लिङ्गं शैवमिति ख्यातं यत्रैतत्तीर्थमेव तत् ॥ (का० खं० ९७।५-६)

इनमें से शिवलिंगों तथा देवपीठों का वर्णन आगे चलकर स्वतन्त्र अध्यायों में किया जायगा। इस अध्याय में केवल जलतीर्थों और नदियों की विवेचना होगी।

काशी की नदियाँ

गंगा : ब्रह्मवैवर्त्तपुराणोक्त काशी-क्षेत्र के उत्तर में वरणा, पूर्व में गंगा तथा दक्षिण में असी ये तीन नदियाँ प्रमुख रूप से कही गई हैं। इनमें से गंगा तीन नदियों (गंगा, यमुना और सरस्वती) के जल लेकर प्रयाग से यहाँ आती है, और यहाँ उत्तरवाहिनी होने के कारण वह स्वयं भी अत्यन्त पुण्यमयी है:

> पुण्या चोदङमुखी गङ्गा ।
> (ब्रह्मपुराण, कृ० क० त०, पृ० ३१)
> गङ्गादि सर्वतः पुण्या ब्रह्महत्यापहारिणी ।
> वाराणस्यां विशेषेण यत्र चोत्तरवाहिनी ॥
> सर्वलोकेषु तीर्थानि यानि ख्यातानि तानि च ।
> सर्वाण्येतान्यशेषेण वाराणस्यां तु जाह्नवीम् ॥
> उत्तराभिमुखी पुण्यामागच्छन्ति दिने दिने ।
> (भविष्यपु०, त्रि० से०, पृ० १४१)

वरणा : वरणा नदी का प्राचीन नाम वराणसी है, जिसका उल्लेख महाभारत में मिलता है:

> सुनसां तमसां दासीं वसामन्यां वराणसीम् ।
> (महा०, भीष्मपर्व, जम्बूखण्डविनिर्माणे, ९।३१)

मत्स्यपुराण में भी प्राचीन काल में कहीं-कहीं वराणसी पाठ मिलता था, जिसका उल्लेख वीरमित्रोदय के तीर्थप्रकाश में पाठभेद के रूप में किया गया है (पृ० १७७)। इसी प्रकार, तीर्थचिन्तामणि में दो जगह यह नाम आता है :

वराणसीजाह्नवीभ्यां सङ्गमे लोकविश्रुते ।
दत्वान्नं च विधानेन न स भूयो विजायते ॥

(ती० चि०, पृ० ३५१)

नदी वराणसी चेयं जाह्नव्या सह सङ्गता ।
सङ्गमे देवनद्याश्च यः स्नात्वा मनुजः शुचिः ॥
अर्च्चयेत् सङ्गमेशानं तस्य जन्मभयं कुतः ।

(ती० चि०, पृ० ३५२)

अथर्ववेद में भी एक वरणावती नदी का नाम आया है, जिसको कीथ तथा मेकडॉनल वरणा का नाम होने का अनुमान करते हैं, परन्तु इसमें बड़ी कठिनाई यह है कि जिस अथर्ववेद में काशी को तिरस्कृत देश माना गया है, उसी में वरणावती नदी के जल में बड़ी-बड़ी शक्तियों की स्थापना असंगत देख पड़ती है। प्राचीन भारतवर्ष के उत्तर-पश्चिमी सीमाप्रदेश में जो वरणावती नदी कही जाती है, सम्भवतः उसी का अथर्ववेद में उल्लेख है, काशी की वरणा का नहीं।

असी : इस नदी को नदी मानने में ही कठिनाई पड़ती है; क्योंकि वर्त्तमान काल में यह केवल एक नाले के रूप में बहती है और प्राचीन पुराण-काल में भी इसकी यही स्थिति थी। इसका प्रमाण यह है कि वहाँ भी इसको शुष्का नदी नाम से बहुधा पुकारा गया है। यहाँतक कि इससे सम्बद्ध शिवलिंग का नाम भी शुष्केश्वर कहा गया है :

वरणा च नदी यावत् यावत् शुष्कनदी तथा।

(मत्स्यपु०, त्रि० से०, पृ० १०१, वी० मि०, पृ० १७७)

शुष्केश्वरं च तद्याभ्यां शुष्कया सरितार्चितम्।

(का० खं०, ९७।२५३)

शुष्कनद्यास्तु नाम्ना वै शुष्केश्वरमिति स्मृतम्।

(लिं० पु०, कृ० क० त०, पृ० ११८)

जाबाल-उपनिषद् में इसका नाम नाशी कहा गया है और उसकी व्याख्या यह की गई है कि सब इन्द्रियों द्वारा किये हुए पापों का नाश करनेवाली होने के कारण उसका नाम नाशी है।

सर्वानिन्द्रियकृतान्पापान्नाशयति तेन नाशीति ।

(जाबालोपनिषद्, खं० २, त्रि० से०, पृ० ८२)

किरणा तथा धूतपापा : इन तीन प्रकट नदियों के अतिरिक्त वाराणसी में दो पृथ्वी के नीचे बहनेवाली नदियाँ भी पुराणों में बताई गई हैं, जिनके नाम हैं किरणा तथा धूतपापा। इन नदियों का प्रवाह गंगा के समानान्तर बीस या पच्चीस हाथ पश्चिम को है। ऐसा अनुमान इस कारण किया जाता है कि इन्हीं की कृपा से वाराणसी के घाट पीछे की ओर धँसते रहे हैं। ये दोनों नदियाँ पंचनद, अर्थात्, पंचगंगा घाट पर आकर गंगा में मिलती हैं ऐसा पुराणों का वाक्य है और पंचनद, किंवा पंचगंगा का इसी कारण यह नाम पड़ा है :

किरणा धूतपापा च पुण्यतोया सरस्वती ।
गङ्गा च यमुना चैव पञ्चनद्योऽत्र कीर्त्तिताः ॥ (का० खं०, ५९।११५)

इस पुराणवार्त्ता का प्रत्यक्ष प्रमाण भी है। असी-संगम से पंचगंगा घाट तक बहुत-से घाटों पर पृथ्वी के नीचे से पानी बहता रहता है, जो बहुत ही शीतल तथा स्वच्छ है। ललिताघाट पर तो इसका विशेष विस्तार देख पड़ता है। पृथ्वी के नीचे की जिस जल-राशि से कुओं में पानी आता है, उसी से इन स्रोतों का भी सम्बन्ध है और उसी को धूतपापा तथा किरणा ये दोनों नाम भिन्न-भिन्न स्थानों अथवा स्तरों पर दिये गये हों, तो कोई आश्चर्य नहीं। ये दोनों पंचगंगा घाट पर गंगा में मिलती हैं। इसका भी गरमी के दिनों में प्रत्यक्ष अनुभव किया जा सकता है। सन्ध्या के समय जब गंगा का पानी गरम हो जाता है, तब वह स्नान करनेवालों के पैरों में कहीं-कहीं पर बड़े ठण्डे जल का प्रवाह स्पष्ट जान पड़ता है। यह किरणा का जल है। धूतपापा के स्रोत का जल गरमियों में महाप्रभु की बैठक के नीचे मन्नीमहाराज के घाट पर मढ़ी में गिरता हुआ प्रत्यक्ष देखा जा सकता है। किरणा का स्रोत भी वालीघाट पर मढ़ी में बने हुए कुण्ड को भरता हुआ प्रत्यक्ष देख पड़ता है।

प्राचीन काल में काशी की तीन वर्षाकालीन नदियाँ :

ऊपर कही हुई सात नदियों के अतिरिक्त पुराणों में तीन अन्य नदियों का भी वर्णन मिलता है, जो केवल वर्षाकाल में बढ़ती थीं और क्षेत्र का वर्षा का जल जिनमें बहता था। इनके नाम हैं ब्रह्मनाल या पितामहस्रोता, मन्दाकिनी तथा मत्स्योदरी :

> **तिस्रो नद्यस्तु तत्रस्था वहन्ति च शुभोदकाः ।**
> **एका पितामहस्रोता मन्दाकिनी तथाऽपरा ॥**
> **मत्स्योदरी तृतीया च एतास्तिस्रस्तु पुण्यदाः ।**
> **मन्दाकिनी तथा पुण्या मध्यमेश्वरसंस्थिता ॥**
> **पितामहस्रोतिका च अविमुक्ते तु पुण्यदा ।**
> **मत्स्योदरी च ओङ्कारे पुण्यदा सर्वदेवतैः ॥**
> **(लिंगपुराण, कृ० क० त०, पृ० १२७; ती० चि०, पृ० ३६४)**

ब्रह्मनाल अथवा पितामहस्रोतिका :

इस नदी का नाम ही ब्रह्मनाल है, अर्थात् इसका नाले का रूप था। यह अविमुक्त-क्षेत्र में बहती थी। स्कन्दपुराण में इसको त्रिस्रोता कहा गया है :

> **एकापि तत्र त्रिस्रोता।**
> **पितामहस्रोतिका च अविमुक्ते तु पुण्यदा ॥ (स्कं० पु०, ती० चि०, पृ० ३६४)**

इससे समझ पड़ता है कि तीन नालों के मिलने से यह बनती थी और वर्त्तमान ब्रह्मनाल मुहल्ले से होती हुई मणिकर्णिका घाट के पास गंगा में गिरती थी। इसके साथ की अन्य नदियाँ ह्रदों या तालाबों से सम्बद्ध थीं, परन्तु इसका किसी ह्रद से स्पष्ट सम्बन्ध नहीं था, यद्यपि बहुत-से तीर्थों और ह्रदों की बाढ़ का जल इसके द्वारा ही बह जाता था। पशुपतीश्वर के पश्चिम अवधूत नाम का एक बहुत बड़ा ह्रद था (**अवधूतं महत्तीर्थं**; कृ० क० त०, पृ० ९३)। अविमुक्त-क्षेत्र में और भी बहुत-से तीर्थ थे। इन सभी की बाढ़ का जल इस स्रोतिका में जाता था और इस प्रकार बनी हुई तीन धाराएँ जब एक में मिल जाती थीं, तब वे ब्रह्मनाल कही जाती थीं, जो ब्रह्मनाल मुहल्ले की घाटी में बहती थीं उस क्षेत्र की गलियों के ढाल आज भी इन तीनों स्रोतों को स्पष्ट रूप से इंगित करते हैं।

ब्रह्मनाल अत्यन्त पुनीत स्रोत माना जाता था और बहुत बड़ा तीर्थ था। पितरों के श्राद्ध का वहाँ बड़ा माहात्म्य था और वहाँ किये हुए कर्म अक्षय माने जाते थे। इसको नाभितीर्थ भी कहते थे :

तत्र श्राद्धविधानेन तर्पयित्वा पितामहान् ।
पितामहेश्वरं लिङ्गं ब्रह्मनालोपरिस्थितम् ॥
पूजयित्वा नरो भक्त्या ब्रह्मलोकमवाप्नुयात् ।
ब्रह्मस्रोतसमीपे तु कृतं कर्म शुभाशुभम् ॥
प्रलयेऽपि न तस्यास्ति प्रलयो मुनिसत्तम ।
नाभितीर्थमिदं प्रोक्तं नाभिभूतं यतः क्षितेः ॥
ब्रह्मनालं परं तीर्थं त्रिषु लोकेषु विश्रुतम् ।
तत्सङ्गमे नरः स्नात्वा कोटि जन्ममलं हरेत् ॥
ब्रह्मनाले पतेद्येषामपि कीकसमात्रकम् ।
ब्रह्माण्डमण्डपान्तस्ते न विशन्ति कदाचन ॥

(का० खं०, ६१।१४९-१५५)

इस सम्बन्ध में एक बात ध्यान में रखनी है कि जिस समय का यह वर्णन है, उस समय वाराणसी नगरी गायघाट के उत्तर तथा पूर्व में ही थी, दक्षिण के इस क्षेत्र में लोग रहते नहीं थे। उसका वन अथवा उपवन का ही स्वरूप था।

मन्दाकिनी : मन्दाकिनी सामान्यतः एक बहुत बड़ी झील या ह्रद के रूप में थी। एक छोटा-सा कुण्ड आज भी उसका नाम जीवित रख रहा है, परन्तु पहले यह बहुत बड़ा था। प्रिंसेप के नक्शे के अनुसार पश्चिम में यह सरोवर बड़े गणेश के द्वार की रेखा में पहुँचता था। हरिश्चन्द्र-कॉलेज का भवन, पूरा नखास का महल्ला, टाउन हाल तथा कोतवाली इसको पाटकर बने हैं। पूर्व में नागरी-प्रचारिणी सभा का भवन भी इसी की सीमा में पड़ता है। इसकी लम्बाई पूर्व-पश्चिम में प्रायः दो फर्लांग और चौड़ाई उत्तर-दक्षिण में ४०० गज थी। यह स्थिति सन् १८२२ ई० में थी, जिसका चित्र यहाँ दिया गया है। उसके सैकड़ों हजारों वर्ष पहले वह और भी बड़ी रही हो, ऐसा सम्भव है। उस समय उसके दक्षिण में दो और ह्रद थे। पहला 'विलोकतीर्थ', जिसको काशीखण्ड में अशोकवन में होने के कारण 'अशोक-तीर्थ' कहा गया है और जो आगे चलकर नाले के रूप में हो जाने पर 'विलोकनाल' वर्त्तमान 'बुलानाला' हो गया और दूसरा इसके समीप में पंचचूड़ा ह्रद था। मध्यमेश्वर, दारानगर तथा कबीरचौरा मुहल्लों की ओर का वर्षा का सभी जल मन्दाकिनी में गिरता था और उसमें से दक्षिण की ओर बहकर बुलानाला से सप्तसागर तथा भुलेटन पोखरा होता हुआ हड़हा अथवा बेनियाँ में पहुँचता था और वहाँ से मिसिरपोखरा तथा गोदौलिया के ह्रदों में बहता हुआ गोदौलिया नाले से दशाश्वमेध के दक्षिण गंगा में गिरता था। उस समय इन स्थानों में बस्ती तो थी ही नहीं, अतएव वर्षा ऋतु में इस जल-प्रवाह का स्वरूप एक विशाल नदी का-सा हो जाता था। इन सभी तीर्थों को पाटकर शहर बसता गया और उनके आकार छोटे होते गये। सप्तसागर, गोदावरी तथा मिसिर-पोखरा में तो कोई कुण्ड भी नहीं रह गये, परन्तु मन्दाकिनी में एक छोटा-सा कुण्ड बच रहा है जो मैदागिन या मैदागिन का पोखरा कहलाता है। प्रिंसेप ने अपने कलक्टरी के काल

में मत्स्योदरी के साथ-साथ मन्दाकिनी का पानी भी गंगाजी में गिराकर उसको सुखा दिया था। वर्त्तमान कुण्ड बाद में बनाया गया।

मन्दाकिनी का तीर्थ वाराणसी के बड़े तीर्थों में गिना जाता था, जिसकी पवित्रता देवलोक में भी मानी जाती थी। मन्दाकिनी के जल में स्नान-तर्पण करने से इक्कीस पीढ़ी के पितर रुद्रलोक को प्राप्त होते थे। इस तीर्थ में किया हुआ सभी पुण्यकर्म अक्षय माना जाता था।

मन्दाकिनीजले स्नात्वा दृष्ट्वा वै मध्यमेश्वरम्।
एकविंशकुलोपेतो रुद्रलोके वसेच्चिरम्॥
एतत्किल सदा प्राहुः पितरः स पितामहाः।
योऽपि चास्मत्कुले जातो मन्दाकिन्या जले प्लुतः॥
भोजयेच्च यतो विप्रान् यतीन् पाशुपतान् बुधः।
स्नानं दानं तपो होमः स्वाध्यायं पितृतर्पणम्॥
पिण्डनिर्वापणं चैव सर्वं भवति चाक्षयम्॥

(लिं० पु०, कृ० क० त०, पृ० ८६-८७)

मत्स्योदरी: यह तीर्थ भी सामान्यतः एक बड़ी झील के रूप में था, जिसका जल वर्षा ऋतु में बढ़कर नदी का स्वरूप धारण कर लेता था। ब्रह्मनाल तथा मन्दाकिनी का जल तो, जैसा हम ऊपर दिखला चुके हैं, गंगा में जाता था, परन्तु मत्स्योदरी का जल उत्तर की ओर वरणा नदी में गिरता था और उस दिशा में बहुत-सी ऐसी नीची भूमि थी, जो वर्षा में जल में डूब जाती थी। अब तो मत्स्योदरी का सरोवर एक बहुत छोटे पोखरे के रूप में ही रह गया है, परन्तु सन् १८२२ ई० में यह बहुत बड़ा था, जैसा प्रिंसेप के नक्शे से स्पष्ट है। उसके पहले हजारों वर्ष पूर्व सम्भवतः वह और भी बड़ा रहा होगा। प्रिंसेप ने अपनी कलक्टरी के समय में इसमें से एक नाली गंगा तक खोदवाकर इसका सभी जल सुखाया था। काशी स्टेशन से सिकरौल स्टेशन तक जानेवाली बड़ी सड़क उसके कुछ ही दिनों बाद बनाई गई। बाद में प्रतीक के रूप में मत्स्योदरी का वर्त्तमान तालाब बनाया गया। वर्षा ऋतु में सामान्यतः मत्स्योदरी की बाढ़ का पानी वरणा में गिरता था, ऐसा ऊपर कहा जा चुका है; परन्तु जब कभी गंगा में असाधारण बाढ़ आती थी, तब गंगा का पानी वरणा के पानी को पीछे ढकेलकर और वर्षा के कारण बहते हुए मत्स्योदरी के पानी को भी ढकेलता हुआ कपालमोचन होता हुआ मत्स्योदरी तक पहुँच जाता था। इस परिस्थिति को मत्स्योदरी-योग कहा जाता था। इस प्रकार, गंगा तथा मत्स्योदरी का संगम ओंकारेश्वर के सन्निकट होता था और पुराणों में इस योग का बड़ा माहात्म्य बतलाया गया है। ऐसी ही स्थिति में गंगा-मत्स्योदरी-संगम पर स्नान करने के प्रभाव से भैरव के हाथ का ब्रह्मकपाल छूटकर गिर गया था, जिस कारण उस तीर्थ का नाम कपालमोचन पड़ना कहा जाता है। इस सम्बन्ध में लिंगपुराण कहता है कि जिस समय मत्स्योदरी में गंगाजी का जल ओंकारेश्वर के निकट आकर मिलता है, वह समय अत्यन्त पुनीत होता है और देवताओं को भी दुर्लभ है। महादेवजी कहते हैं कि "हे देवि, ऐसे ही समय में हमने वहाँ स्नान किया था, जिससे हमारे हाथ में लगा हुआ ब्रह्मकपाल तुरन्त ही गिर पड़ा था। उसी स्थान पर कपालमोचन नाम का बहुत बड़ा सरोवर है।"

मत्स्योदरी च ओङ्कारे पुण्यदा सर्वदेवतैः।

तस्मिन् स्थाने यदा गङ्गा आगमिष्यति भामिनी ।।
तदा पुण्यतमः कालो देवानामपि दुर्लभः ।
वरणासिक्तसलिले जाह्नवीजलमिश्रिते ।।
तत्र नादेश्वरे पुण्ये स्नातः किमनुशोचति ।
तस्मिन्काले च तत्रैव स्नानं देविकृतं मया ।।
तेन हस्ततलाद्देवि कपालं पतितं क्षणात् ।
कपालमोचनं नाम तत्रैव सुमहत्सरः ।।

(लिं० पु०, कृ० क० त०, पृ० १२७)

मत्स्योदर्यां यदा गङ्गा पश्चिमे कपिलेश्वरे ।
समायाति महादेवि स च योगः सुदुर्लभः ।।
तस्मिन् स्नानं महाभोगे अश्वमेधसहस्रदम् ।

(लिं० पु०, कृ० क० त०, पृ० ५६)

तीर्थचिन्तामणि में इसी प्रकार का वर्णन स्कन्दपुराण से किया गया है। काशीखण्ड में इस योग का सर्वसुलभ वर्णन मिलता है, जिसको त्रिस्थलीसेतु ने उद्धृत किया है।

मत्स्योदरी द्विधा जाता बहिरन्तश्चरा पुनः ।
तच्च तीर्थं महत्ख्यातं मिलितं गाङ्गवारिभिः ।।
यदा संहारमार्गेण गङ्गाम्भः प्रविशेदिह ।
तदा मत्स्योदरीतीर्थं लभ्यते पुण्यगौरवात् ।।

(का० खं०, ६९।१३६–१३७)

इस विषय पर विवेचन करते हुए त्रिस्थलीसेतु ने स्पष्ट रूप से कहा है कि मत्स्योदरी-ह्रद में जो जल भरा रहता है, वही उसका अन्तश्चर रूप है और वहाँ से जो जल बाहर को बहता है, वही उसका वहिश्चर रूप है। जिस समय वर्षा में बाढ़ आने के कारण गंगा का जल विपरीत प्रवाह से मत्स्योदरी की परिखा से बहनेवाले जलमार्ग से घुसता है और मत्स्योदरी के जल से मिलता है, वह परिस्थिति अत्यन्त पुनीत होती है।

मत्स्योदरीतीर्थमेवान्तः स्वस्थाने बहिश्च परिखायां गमनाद्विविधम्, तत्र च परिखा-द्वारेण यदा प्रतिकूलमार्गेण वर्षासु वृद्ध्यतिशयेन गङ्गाजलं प्रसरति तदाऽतिप्राशस्त्यम् ।

(त्रि० से०, पृ० १४०)

मत्स्योदरी की वहिश्चर धारा ओंकारेश्वर के नीचे बहकर जाती है और विपरीत प्रवाह से गंगा का जल भी उसी मार्ग से मत्स्योदरी को आने पर वहीं मत्स्योदरी-गंगा-संगम होता है, जो, जैसा ऊपर कहा गया है, अत्यन्त माहात्म्यवाला माना गया है। गंगा की बाढ़ के मत्स्योदरी पहुँचने के मार्ग पर ही कपालमोचनतीर्थ पड़ता है। इस तीर्थ पर घाट बाँधकर एक पक्का तालाब रानी भवानी ने बनवा दिया था, जिसका नाम सन् १८६३ ई० के बैंक्स के नक्शे में 'मछोदरीसंगम' लिखा हुआ है। यही प्राचीन कपालमोचनतीर्थ है। अपने बनारस के इतिहास में डॉ० अलतेकर ने महाराज गोविन्दचन्द्र के कपालमोचनघाट पर गंगा में स्नान करने का उल्लेख करते हुए कहा है कि उस समय (बारहवीं शताब्दी-ईसवी में) कपालमोचनतीर्थ गंगातट पर था; क्योंकि जिस दानपत्र में इस घटना का उल्लेख है। उसमें लिखा है कि वाराणस्यां कपालमोचनघट्टे उत्तरवाहिन्यां गङ्गायां स्नात्वा।

(आलतेकर का 'वनारस का इतिहास', पृ० २८)। उनके कहने का तात्पर्य यह है कि यह तीर्थ गंगातट से हटकर अब अपने नये स्थान पर आ गया है। परन्तु, इस सम्बन्ध में उन्होंने इसपर ध्यान नहीं दिया कि 'कृत्यकल्पतरु' में, जो महाराज गोविन्दचन्द्र के महामन्त्री ने उनके जीवनकाल में ही लिखा था, कपालमोचन के तालाब होने का उल्लेख है :

कपालमोचनं नाम तत्रैव सुमहत्सरः।

(ती० चि०, पृ० ३६४; कृ० क० त०, पृ० १२७)

इस प्रकार, यह स्पष्ट है कि महाराज गोविन्दचन्द्र के समय भी कपालमोचन सरोवर ही था, गंगा पर इस नाम का कोई घाट नहीं था। ऐसा समझ पड़ता है कि गंगाजी जिस समय बढ़कर मत्स्योदरी में मिल गई थी, उसी समय मत्स्योदरीयोग में कपालमोचन तालाब के घाट पर गंगा-मत्स्योदरीसंगम पर सं० ११७८ में महाराज गोविन्दचन्द्र ने स्नान तथा दान किया था। उस दिन श्रावण शुक्ला पूर्णिमा थी। इससे भी इसी वात की पुष्टि होती है।

इस मत्स्योदरीयोग के सम्वन्ध में पुराणों में वहुत-से वाक्य मिलते हैं, जिनसे इसके माहात्म्य का पता चलता है :

प्रणवेशसमीपे तु यदा गङ्गा समेष्यति।
तदा पुण्यतमः कालो देवर्षिपितृवल्लभः॥
तत्र स्नानं जपो दानं हवनं देवतार्चनम्।
मत्स्योदर्यामक्षयं स्यादोङ्कारेश्वरसन्निधौ॥

(का० खं०, त्रि० से०, पृ० १४०)

मत्स्योदरीजले गङ्गा ओङ्कारेश्वरसन्निधौ।
तदा तस्मिञ्जले स्नात्वा ब्रह्महत्यां व्यपोहति॥

(लिं० पु०, त्रि० से०, पृ० १४१)

काशी में गंगातट के तीर्थ :

यों तो, जैसा ऊपर कहा जा चुका है, गंगाजी सर्वत्र ही तीर्थस्वरूपा हैं और वाराणसी में उत्तरवाहिनी होने के कारण उनका माहात्म्य और भी बढ़ गया है, परन्तु इसके अतिरिक्त वाराणसी में गंगा के प्रवाह में वहुत-से तीर्थों का वर्णन पुराणों में है। उत्तर-पूर्व में वरणा-गंगा-संगम से दक्षिण में असी-गंगा-संगम के बीच प्रायः ९८ तीर्थों का वर्णन मिलता है और इनमें से प्रायः सभी से संलग्न देवमूर्त्तियाँ या शिवायतन हैं। इन तीर्थों में वहुतों के वर्त्तमान स्थान निर्धारित नहीं हो पाते; क्योंकि जिन देवमूर्त्तियों के साथ उनका सम्बन्ध है, वे अपने प्राचीन स्थानों से हटकर अन्यत्र आ गई हैं। यह सब होते हुए भी वहुत-से तीर्थों के स्थान जाने हुए हैं और उनके अपने-अपने माहात्म्य हैं। इस पुस्तक के नवें अध्याय में इन तीर्थों के नाम, उनसे सम्बद्ध देवस्थानों का उल्लेख तथा उनका वर्त्तमान स्थान-निर्देश देने का प्रयत्न किया गया है और परिशिष्ट में उनके नाम तथा स्थान मिलेंगे। एक नक्शे में भी उनको दिखलाया गया है। किन्तु, उनमें पाँच तीर्थ मुख्य माने जाते हैं, अर्थात् असीसंगम, दशाश्वमेध, वरणासंगम, पंचनद तथा मणिकर्णिका :

तत्रापि नितरां श्रेष्ठा पञ्चतीर्थी नृपाङ्गज।
यस्यां स्नात्वा नरो भूयो गर्भवासं न संस्मरेत्॥

प्रथमं चासिसंभेदं तीर्थानां प्रवरं परम्।
ततो दशाश्वमेधाख्यं सर्वतीर्थनिषेवितम् ।।
ततः पादोदकं तीर्थमादिकेशवसन्निधौ।
ततः पञ्चनदं पुण्यं स्नानमात्रादघौघहृत् ।।
एतेषामपि तीर्थानां चतुर्णामपि सत्तम।
पञ्चमं मणिकर्ण्याख्यं मनोवयविशुद्धिदम् ।।
(का० खं०, ८४। १०७—११०)

इसी बात को मत्स्यपुराण में दूसरे प्रकार से कहा गया है:

तीर्थानां पञ्चकं सारं विश्वेशानन्दकानने।
दशाश्वमेधो लोलार्कः केशवो बिन्दुमाधवः।
पञ्चमी तु महाश्रेष्ठा प्रोच्यते मणिकर्णिका। (मत्स्यपु०, १८५।६५-६६)

अर्थात्, भगवान् विश्वनाथ के आनन्दकानन में पाँच तीर्थ सारस्वरूप हैं—दशाश्वमेध, लोलार्क (असी-गंगा-संगम की ओर संकेत है), आदिकेशव (पादोदकतीर्थ तथा वरणा-संगम का निर्देश है), विन्दुमाधव (पंचनद को इंगित किया गया है) तथा मणिकर्णिका। बात यह है कि इन पाँचों तीर्थों में स्नान करने के उपरान्त वहाँ पर स्थित देवमूर्त्तियों का दर्शन आवश्यक माना जाता है और ये देवमूर्त्तियाँ उन-उन तीर्थों से इस प्रकार सम्बद्ध हैं:

१. असी-गंगा-संगम: पुराणों में इसको असिसंभेद तीर्थ कहा गया है। वाराणसी की दक्षिण सीमा पर स्थित होने के कारण ही इसको प्रधानता मिली है, ऐसा समझ पड़ता है। काशीखण्ड में कहा है कि संसार के सभी तीर्थ असिसंभेद के षोडशांश के बराबर नहीं होते और यहाँ स्नान करने से सभी तीर्थों के स्नान का फल मिल जाता है:

तीर्थान्तराणि सर्वाणि भूमीवलयगान्यपि।
असिसंभेदतीर्थस्य कलां नार्हन्ति षोडशीम् ।।
सर्वेषामेव तीर्थानां स्नानाद्यल्लभते फलम्।
तत्फलं सम्यगाप्येत नरैर्गङ्गासिसङ्गमे ।।
(का० खं०, त्रि० से०, पृ० १६१)

निबन्धकारों ने भी इस तीर्थ के सम्बन्ध में इतना ही कहा है।

२. दशाश्वमेध: पुराणों का कथन है कि पहले इस तीर्थ का नाम रुद्रसर था और ब्रह्माजी के द्वारा यहाँ पर दस अश्वमेध करने से इसका नाम दशाश्वमेध तीर्थ हुआ। काशीखण्ड में कहा है कि इस तीर्थ पर जो भी कर्म किया जाता है, वह अक्षय होता है:

दशाश्वमेधिकं प्राप्य सर्वतीर्थोत्तमोत्तमम्।
यत्किञ्चित् क्रियते कर्म तदक्षयमिहेरितम् ।।
(का० खं०, वी० मि०, पृ० २०७)

परन्तु, एक बात स्पष्ट है कि इस तीर्थ का माहात्म्य काशीखण्ड के बहुत पहले भी माना जाता था; क्योंकि हजारों वर्ष पूर्व भारशिव सम्राटों ने भी इस तीर्थ पर दस अश्वमेध किये थे और तदुपरान्त यहीं पर अवभृथ-स्नान किया था, जैसा कि प्रवरसेन द्वितीय के सिवानीवाले ताम्रपत्र में लिखा है। इसका प्रतीक-स्वरूप एक पत्थर का घोड़ा दशाश्वमेध

घाट के उत्तर में प्राचीन काल में स्थापित था और इसी कारण इस घाट का नाम घोड़ाघाट है: पराक्रमाधिगतभागीरथ्यमलजलमूर्धाभिषिक्तानां दशाश्वमेधावभृथस्नातानां भारशिवानाम् इत्यादि।[१]

इयाज दशभिः काश्यामश्वमेधैर्महामखैः।
पुरा रुद्रसरो नाम तत्तीर्थं कलशोद्भव॥
दशाश्वमेधिकं पश्चाज्जातं विधिपरिग्रहात्।
स्वर्धुन्यथ ततः प्राप्ता भगीरथसमागमात्॥
अतीव पुण्यवज्जातमतस्तत्तीर्थमुत्तमम्॥

(का० खं०, त्रि० से०, पृ० १५६)

३. गंगा-वरणा-संगम : वरणा नदी के विषय में पहले कहा जा चुका है। वरणा-संगम के विषय में लिंगपुराण कहता है कि इस तीर्थ में अन्नदान करने से पुनर्जन्म नहीं होता:

वराणसीजाह्नवीभ्यां सङ्गमे लोकविश्रुते।
दत्वान्नं च विधानेन न स भूयोऽभिजायते।

(लिं० पु०, ती० चि०, पृ० ३५१)

स्कन्दपुराण में भी कुछ इसी प्रकार की बात है:

नदी वराणसीयेयं जाह्नव्या सह सङ्गता।
सङ्गमे देवनद्याश्च यः स्नात्वा मनुजः शुचिः॥
अर्चयेत् सङ्गमेशानं तस्य जन्मभयं कुतः।

(स्कं० पु०, ती० चि०, पृ० ३१२)

यहीं पर विष्णुपादोदक तीर्थ भी है, जिसमें स्नान करने से सप्तजन्मार्जित पापों का नाश होता है:

तत्र पादोदके तीर्थे ये स्नास्यन्तीह मानवाः।
तेषां विनश्यति क्षिप्रं पापं सप्तभवार्जितम्॥
तत्र श्राद्धं नरः कृत्वा दत्वा चैव तिलोदकम्।
सप्त सप्त तथा सप्त स्ववंश्यांस्तारयिष्यति॥

(का० खं०, त्रि० से०, पृ० १७३)

काश्यां पादोदके तीर्थे यैः कृता नोदकक्रिया।
जन्मैव विफलं तेषां जलबुद्बुदसन्निभम्॥

(काशीखं०, त्रि० से०, पृ० १७३)

सङ्गमे तत्र संस्नातः सङ्गमेशं समर्च्य च।
नरो न जातु जननीगर्भसम्भवमाप्नुयात्॥

(काशीखं०, त्रि० से०, पृ० १७३)

गयायां यादृशी तृप्तिर्लभ्यते प्रपितामहैः।
तीर्थपादोदके काश्यां तादृशी लभ्यते ध्रुवम्॥ (का० खं०, ५८।२१)

४. पंचनद : इस तीर्थ का वर्त्तमान नाम पंचगंगा है और जैसा पहले कहा जा चुका, है गंगा, यमुना, सरस्वती, किरणा तथा धूतपापा ये पाँच नदियाँ यहाँ एकत्र होती हैं। इस तीर्थ का पहला नाम धर्मनद था, फिर उसमें धूतपापा का जल आकर मिला, जिससे वह

१. Corpus Inscriptionorum Indicaram, pt. III. p. 241.

ओर भी पावन हो गया। पुनः किरणा मिली और उसमें गंगा के साथ-साथ यमुना तथा सरस्वती भी आ गईं। इस प्रकार, इसका नाम पंचनद हो गया। बाद में अग्निबिन्दु ऋषि को वर देकर भगवान् विष्णु विन्दुमाधव रूप से इस तीर्थ के निकट प्रादुर्भूत हुए और इस तीर्थ का नाम विन्दुतीर्थ भी पड़ा : बिन्दुतीर्थमिदं नाम तव नाम्ना भविष्यति। (का० खं०)

कृते धर्मनदं नाम त्रेतायां धूतपापकम्।
द्वापरे बिन्दुतीर्थं च कलौ पञ्चनदं स्मृतम् ॥ (का० खं०, ५९।१३६)

इस तीर्थ का बहुत बड़ा माहात्म्य माना जाता है। प्रयागराज में माघ के महीने भर स्नान करने का जो फल है, वह पंचनद में एक दिन स्नान करने से मिलता है :

प्रयागे माघमासे तु सम्यक्स्नातस्य यत्फलम्।
तत्फलं स्याद्दिनैकेन काश्यां पञ्चनदे ध्रुवम् ॥ (का० खं०, ५९।११९)
यावत्संख्यास्तिला दत्ताः पितृभ्यो जलतर्पणे।
पुण्ये पञ्चनदे तीर्थे तृप्तिः स्यात्तावदाब्दिकी ॥ (का० खं०, ५९।१२१)

यहाँ के स्नान से जो फल मिलता है, वह राजसूय तथा अश्वमेध यज्ञों के करने से भी नहीं प्राप्त होता :

राजसूयाश्वमेधौ च भवेतां स्वर्गसाधनम्।
आब्रह्मघटिकाद्वन्द्वं मुक्त्यै पाञ्चनदाप्लुतिः ॥ (का० खं०,५९।१३२)
एतत्पञ्चनदं तीर्थं पञ्चब्रह्मात्मसंज्ञकम्।
यत्र स्नातो न गृह्णीयाच्छरीरं पाञ्चभौतिकम् ॥
(का० खं०, ५९।११६)

इस तीर्थ की एक विशेषता यह भी है कि इसके तीर्थ-देवता विष्णु हैं, न कि महादेव। कार्त्तिक में यहाँ स्नान करने का विशेष माहात्म्य है और यही वाराणसी की परम्परा भी है।

शतं समास्तपं तप्त्वा कृते यत्प्राप्यते फलम्।
तत्कार्त्तिके पञ्चनदे सकृत्स्नानेन लभ्यते ॥ (का० खं०, ५९।१३७)

५. मणिकर्णिका : गुप्तकाल में भी मणिकर्णिका को वाराणसी का सबसे श्रेष्ठ तीर्थ कहा गया था और आज भी वह वाराणसी का मुख्य तीर्थ माना जाता है। इसका विस्तार उत्तर में हरिश्चन्द्र-मण्डप से (जो संकटाघाट के ऊपर है) दक्षिण में गंगाकेशव-पर्यन्त (जो गंगामहल घाट पर था) और पूर्व में स्वर्गद्वार से गंगा के मध्य तक माना जाता है। काशीखण्ड में इसका एक और परिमाण भी दिया हुआ है :

आगङ्गाकेशवाच्चैव आहरिश्चन्द्रमण्डपात्।
आमध्याद्देवसरितः स्वर्द्वारान्मणिकर्णिका ॥ (का० खं०, ६१।७३)
स्थानादमुष्मात्समराजसौधात्प्राच्यां मनागीशसमाश्रितायां।
सव्येऽपसव्ये च कराः क्रमेण शतत्रयी चापि शतद्वयी च ॥
हस्ताः शतं पञ्च सुरापगायामुदीच्यवाच्योर्मणिकर्णिकेयम्।
(का० खं०, ९९।५३-५४)

अर्थात्, मोक्षद्वार से पूर्व ईशानकोण में तीन सौ हाथ (१५० गज : हरिश्चन्द्र-मण्डप तक), और आग्नेय कोण में दो सौ हाथ (१०० गज : गंगाकेशव तक) तथा गंगा की धारा में उत्तर और दक्षिण पाँच सौ हाथ, यह मणिकर्णिका का परिमाण है।

इन दोनों उद्धरणों से स्पष्ट है कि मणिकर्णिका तीर्थ अत्यन्त विस्तृत है और उसका माहात्म्य भी वैसा ही प्रशस्त है। ब्रह्मवैवर्त्तपुराण कहता है:

सर्वतीर्थावगाहाच्च यत्पुण्यं स्यान्नृणामिह।
तत्पुण्यं कोटिगुणितं मणिकर्ण्यम्बुमज्जनात् ॥
(ब्र० वै० पु०, त्रि० से०, पृ० १४३)

काशीखण्ड में कहा है कि सत्यलोक के लोग भी जिसकी निरन्तर कामना करते हैं और जहाँ जीवन तो सफल होता ही है, मरण भी मंगलमय माना जाता है, ऐसी मणिकर्णिका के सामने स्वर्ग भी तृणतुल्य है:

सत्यलोकोऽपि ये लोकास्तेऽर्थयन्ते निरन्तरम्।
यमहो दीर्घनिद्रायै सैषा श्रीमणिकर्णिका ॥ (का० खं०, ३३।११३)
मरणं मङ्गलं यत्र सफलं यत्र जीवितम्।
स्वर्गस्तृणायते यत्र सैषा श्रीमणिकर्णिका ॥
(का० खं०, ३३।१०३; त्रि० से०, पृ० ११४)

इस तीर्थ का पहला नाम चक्रपुष्करिणी था, फिर शंकर का कर्णमणि गिरने से इसका नाम मणिकर्णिका पड़ा:

चक्रपुष्करिणीतीर्थं पुराख्यातमिदं शुभम्।
त्वया चक्रेण खननाच्छङ्खचक्रगदाधर ॥
मम कर्णात्पपातेयं यदा च मणिकर्णिका।
तदा प्रभृति लोकेऽत्र ख्याता तु मणिकर्णिका ॥
(का० खं०, २६।६४-६५)

मणिकर्णिकातीर्थ गंगा के भीतर हो जाने पर जनसाधारण को उसका प्रत्यक्ष दर्शन कठिन होने की स्थिति का निवारण गंगातट पर एक छोटे-से कुण्ड के द्वारा किया गया है, जिसमें मणिकर्णिकातीर्थ का जलस्रोत निरन्तर गिरता रहता है। यहीं पर मणिकर्णिका देवी की मूर्त्ति भी है। काशीखण्ड में कहा है:

द्रवरूपं परित्यज्य ललनारूपधारिणी।
प्रत्यक्षरूपिणी तत्र भयैक्षि मणिकर्णिका ॥ (का० खं०, ६१—८६)

इसी तीर्थ के तट पर वाराणसी का महाश्मशान स्थित था और आज भी है। यहीं पर राजा हरिश्चन्द्र ने सत्य की रक्षा के लिए चाण्डाल के हाथ अपने को बेचा था:

तृणीकृत्य निजं देहं यत्र राजर्षिसत्तमः।
हरिश्चन्द्रः सपत्नीको व्यक्रीणाद् भूरियं हि सा ॥
(का० खं०, ३३।११०)

यत्र त्रिमार्गगां गङ्गां मार्गमाणो मृतान् हरः।
स्वमौलिबालचन्द्रेण मुक्तिमार्गं प्रदर्शयन् ॥
संसारं यत्र दुर्वारं प्रतारयति शङ्करः।
मृता अप्यमृतायन्ते कर्णवाराद्यतो नराः ॥
संसारसारपदवी यत्र स्याददवीयसी।
कर्णेजपान्महेशानात्करुणावरुणालयात् ॥

अनेकभवसम्भूतप्रभूतसुकृतैर्नराः ।
कर्णे जपं भवं यत्र लभन्ते ते भवापहम् ।।
स्वीकृत्य क्षेत्रसंन्यासं यद्बलेन महाधिप ।
तृणं कृतान्तं मन्यन्ते सेयं श्रीमणिकर्णिका ।।

(का० खं०, ३३।१०५––१०६)

अर्थात्, त्रिपथगा गंगा को ढूँढ़ते हुए जो मृत मनुष्य वहाँ पहुँचते हैं, उनको भगवान् शंकर अपने मालस्थ बालचन्द्र के द्वारा मुक्ति का मार्ग दिखलाते हुए उनके कान में तारक मन्त्र का उपदेश करते हैं, जिसके कारण वे भव-बन्धन से मुक्त हो जाते हैं। यह वही मणि-कर्णिका है।

वाराणसी के अन्य तीर्थ :

प्रिंसेप के नक्शे को देखने से स्पष्ट जान पड़ता है कि काशी में वहुसंख्य तीर्थ थे। इस नक्शे में ही इनकी संख्या ६० से ऊपर है। पुराणकारों ने तो यही कहा है कि भारतवर्ष के सभी तीर्थ काशी में वर्त्तमान हैं और इन तीर्थों के नाम भी इस बात के साक्षी हैं। उदाहरण के लिए, गोदावरी––गोदौलिया, मिश्रक––मिसिरपोखरा, रेवा––रेवड़ी-तालाव, संनिहत्या––कुरुक्षेत्र का तालाव इत्यादि। इनमें वहुत-से तीर्थ पाटकर मुहल्ले वसे और वहुत-से अव भी पाट-पाटकर धीरे-धीरे उनपर मकान वनाये जा रहे हैं। विलोकतीर्थ, पंचचूडा-सरोवर, सप्तसागर, मणिप्रदीपकुण्ड, महाकालकुण्ड, बलिकुण्ड, ऐरावतकुण्ड, वासुकि-कुण्ड, तक्षककुण्ड, रेवातीर्थ, मिश्रकतीर्थ, गोदावरीतीर्थ, अगस्त्यकुण्ड इत्यादि के अव नाम-मात्र ही वचे हैं, तीर्थ या कुण्ड का अब पता ही नहीं रहा। अवधूततीर्थ का तो नाम भी भूल गया। मत्स्योदरी, मन्दाकिनी तथा अस्थिक्षेत्र तडाग भी केवल प्रतीक-मात्र कुण्ड के रूप में रह गये हैं। अतएव, इन तीर्थों के विषय में विस्तृत विवेचन से कोई विशेष लाभ नहीं। काशीखण्ड में ८८ ह्रद तथा ६२ कुण्डों का उल्लेख है, जिनमें से इने-गिने कुण्डों का ही अस्तित्व अव वच रहा है। शेष सभी लुप्त हो गये। जो बच रहे हैं, उनमें से भी बहुतों के नाम भूल गये हैं। इनमें से जिन-जिनके नामों का पता लग सका है, उनका स्पष्ट निर्देश तत्सम्वन्धी नक्शे में दिया जा रहा है।

वहुत-से तीर्थ तथा कुण्ड शिवलिंगों तथा देवमन्दिरों से सम्वद्ध हैं। इनकी संख्या बहुत बड़ी है। प्रायः सभी महत्त्वपूर्ण मन्दिरों के निकट कुण्ड अथवा सरोवर का उल्लेख मिलता है। इनमें से वहुत-से तो लुप्त हो गये, परन्तु फिर भी कुछ वच रहे हैं, जिनका वर्णन अपने स्थान पर होगा। यहाँ केवल प्रधान तीर्थों के विषय में कुछ कहा जायगा।

१. **कपिलाह्रद :** इसका वर्तमान नाम कपिलधारा है और यह वाराणसी-क्षेत्र की सीमा के वाहर होते हुए भी यात्रा के मुख्य स्थानों में है :

सीमाबहिर्गतमपि ज्ञेयं तीर्थमिदं शुभम् ।
मध्ये वाराणसिश्रेष्ठं मम सान्निध्यतो नरैः ।। (का० खं०, ६२।८४)

प्राचीनता में सम्भवतः इस तीर्थ का प्रथम स्थान है; क्योंकि महाभारत में वाराणसी के सम्वन्ध में केवल इसी तीर्थ का उल्लेख हुआ है और इसके जल में स्नान करके पास ही वृषभध्वज के दर्शन करने की वात कही गई है :

ततो वाराणसीं गत्वा देवमर्च्य वृषध्वजम् ।
कपिलाह्रदमुपस्पृश्य राजसूयफलं लभेत् ॥

(महाभारत, वनपर्व, अ० ८४; कृ० क० त०, पृ० २४०)

इस तीर्थ में श्राद्ध करने का विशेष माहात्म्य है, यहाँतक कि इस तीर्थ के दस नाम लेने से ही पितरों की तृप्ति हो जाती है। मधुश्रवा, घृतकुल्या, क्षीरनीरधि, वृषभध्वजतीर्थ, पैतामहतीर्थ, गदाधरतीर्थ, पितृतीर्थ, कपिलधार, सुधाखनि तथा शिवगया ये ही वे दस नाम हैं :

एतानि दश नामानि तीर्थस्यास्य पितामहाः ।
भवतां तृप्तिकारीणि विनापि श्राद्धतर्पणैः ॥ (का० खं०, ६२।६५)
सरोरूपेण भगवान्नित्यं विष्णुरिह स्थितः ।
धर्मो यः सर्वशास्त्रेषु वृषोऽयं भगवानजः ॥
सम्पश्यन्प्राणिनां कर्म सदा सन्निहितः प्रभुः ।
अतीवातः परं किञ्चित्पितॄणां तारणं प्रिये ॥
दक्षिणाध्वानमाश्रित्य येप्यधो रौरवाश्रयाः ।
निपातितेऽत्र वै पिण्डे कैर्वा यत्र कारणात् ॥
अनुजानामि वै देवि तेषाञ्च परमां गतिम् ॥

(सनत्कुमारसंहिता, त्रि० से०, पृ० १७२)

सोमवती अमावस्या को इस तीर्थ में श्राद्ध करने का फल गयाश्राद्ध से भी अधिक कहा गया है :

गयातोऽष्टगुणम्पुण्यमस्मिंस्तीर्थे पितामहाः ।
अमायां सोमयुक्तायां श्राद्धैः कपिलधारिके ॥ (का० खं०, ६२।६६)

लिंगपुराण में भी यही बात कही गई है :

नरकस्थास्ततो देवि पितरः सपितामहाः ।
पितृलोकं प्राप्नुवन्ति तस्मिन् श्राद्धे कृते तु वै ॥
गयायां चाष्टगुणितं पुण्यं प्रोक्तं महर्षिभिः ।

(लिं० पु०, कृ० क० त०, पृ० ४५-४६)

कुछ लोग भ्रमवश कपिलधारा को ही भद्रदोह भी मानते हैं, परन्तु यह बात ठीक नहीं है। भद्रदोह भद्रेश्वर के समीप के ह्रद का नाम था, जो भदऊँ मुहल्ले में था। इस विषय का विस्तृत विवेचन 'तीर्थों के स्थानान्तरण' नामक अध्याय में आगे चलकर किया जायगा।

२. **कपालमोचन सरोवर** : इधर सैकड़ों वर्ष पहले इस तीर्थ की प्रतिष्ठा पुनः लाट-भैरव के पास के सरोवर में की गई थी और वहीं कपालमोचन तीर्थ की यात्रा होती है। परन्तु, इसका प्राचीन स्थान ऋणमोचन तीर्थ के दक्षिण होना चाहिए और मत्स्योदरी-गंगा-संगम में स्नान करने पर कपाल के छूटने के कारण वहीं पर कपालमोचन तीर्थ की स्थिति है, जैसा मत्स्योदरीतीर्थ का विवेचन करते हुए पहले कहा जा चुका है :

वरणासिक्तसलिले जाह्नवीजलमिश्रिते ।
तत्र नादेश्वरे पुण्ये स्नातः किमनुशोचति ॥
तस्मिन् काले च तत्रैव स्नानं देवि मया कृतम् ।
तेन हस्ततलाद्देवि कपालं पतितं क्षणात् ॥
कपालमोचनं नाम तत्रैव सुमहत्सरः ॥

लाटभैरव के तालाब से ऋणमोचनतीर्थ दक्षिण पड़ता है। अतएव, यह स्पष्ट है कि वह प्राचीन कपालमोचनतीर्थ नहीं है। बात यह है कि ओंकारेश्वर के चारों ओर मुसलमानों की बस्ती हो जाने पर वहाँ का आना-जाना सैकड़ों वर्ष तक बन्द-सा ही रहा और लाटभैरव के पास श्मशान-स्तम्भ के सम्बन्ध से जो भैरवतीर्थ था, उसीमें कालान्तर में कपालमोचन की प्रतिष्ठा की गई। यह आपातकालीन स्थिति बहुत स्थानों में देखने को मिलती है। ओंकारेश्वर के पश्चिम और ऋणमोचन के दक्षिण जो पक्का तालाब है, जिसको प्रिंसेप के नक्शे में 'रानी भवानी का तालाब' और बैक्स के नक्शे में 'मछोदरी-संगम' कहा गया है, वही यथार्थ कपालमोचनतीर्थ है। रानी भवानी ने इसको पक्का करवाया था, इसलिए वह 'रानी भवानी का तालाब' कहा गया और मत्स्योदरी-गंगा के संगम का वही स्थान होने से 'मछोदरीसंगम' उसका नाम पड़ा। परन्तु, जैसा ऊपर के उद्धरण से स्पष्ट है, उसी संगम पर कपालमोचन सरोवर होना चाहिए:

कपालमोचनं नाम तत्र स्नातोऽश्वमेधभाक्।
ऋणमोचनतीर्थं तु तदुदग्दिशि शोभनम्॥ (का० खं०, ९७।६६)
तस्यैव चोत्तरे पार्श्वे तीर्थं त्रैलोक्यविश्रुतम्।
ऋणमोचनकं नाम्ना विख्यातं भुवि सुन्दरि॥
(लिं० पु०, कृ० क० त०, पृ० ५५)

इस तीर्थ के माहात्म्य का विस्तृत वर्णन मत्स्योदरीयोग के सम्बन्ध में पहले ही हो चुका है। यहाँ केवल एक उद्धरण और दिया जा रहा है:

कपालमोचनं काश्यां ये स्मरिष्यन्ति मानवाः।
तेषां विनङ्क्ष्यति क्षिप्रमिहान्यत्रापि पातकम्॥
आगत्य तीर्थप्रवरे स्नानं कृत्वा विधानतः।
तर्पयित्वा पितृन्देवान्मुच्यते ब्रह्महत्यया॥
(का० खं०, ३१।१३१–१३२)

३. ऋणमोचनतीर्थ : जैसा इसके नाम से ही स्पष्ट है, इसमें स्नान करने से तीनों प्रकार के ऋणों से मुक्ति होती है। इसके तीर्थ के तट पर शंकर के तीन शिवायतन थे, जिनके दर्शन तथा ऋणमोचन में स्नान करने से मनुष्य तीनों प्रकार के ऋणों से मुक्त हो जाता है। अंगारेश्वर का यहाँ पर भी एक प्राचीन स्थान था। एक बुधेश्वर भी यहीं पर थे। और, तीसरे थे विश्वकर्मेश्वर, जो दैवयोग से अपने स्थान के समीप अब भी वर्तमान हैं। इस तीर्थ का वर्तमान नाम 'लड्डूगड़ही' है:

तस्यैव चोत्तरे पार्श्वे तीर्थं त्रैलोक्यविश्रुतम्।
तत्र स्नात्वा वरारोहे ऋणैर्मुक्तो भवेन्नरः॥
ऋणमोचनकं नाम्ना विख्यातं भुवि सुन्दरि।
त्रीणि लिङ्गानि तिष्ठन्ति तत्रैव मम सुन्दरि॥
तानि दृष्ट्वा तु सुश्रोणि नश्यति त्रिविधं ऋणम्।
(लिं० पु०, कृ० क० त०, पृ० ५५)

४. पिशाचमोचनतीर्थ : इसका प्राचीन नाम विमलोदक कुण्ड है, जिसके तट पर कपर्दीश्वर का शिवायतन है। शंकुकर्ण मुनि के उपदेश से एक पिशाच का इस कुण्ड में स्नान

करने से उद्धार हुआ था, ऐसी कूर्मपुराण में कथा है। तभी से इस तीर्थ में स्नान करने से भूत, प्रेत, पिशाचों से निवृत्ति होती है, ऐसा विश्वास है। काशीखण्ड में वाल्मीकि नाम के एक पाशुपत के आदेश से एक पिशाच का उद्धार होने का वर्णन है। तभी से इसका नाम पिशाचमोचनतीर्थ हो गया। यहाँ स्नान, तर्पण, पिण्डदान करने से यदि कोई पूर्वज पिशाच अथवा भूत-प्रेत-योनि में हों, तो उनकी मुक्ति हो जाती है। इन वाल्मीकि का वाल्मीकि ऋषि से कोई सम्बन्ध नहीं है :

अस्मिंस्तीर्थे महापुण्ये ये स्नास्यन्तीह मानवाः।
पिण्डांश्च निर्वपिष्यन्ति सन्ध्यातर्पणपूर्वकम् ॥
दैवात्पैशाच्यमापन्नास्तेषां पितृपितामहाः।
तेऽपि पैशाच्यमुत्सृज्य यास्यन्ति परमां गतिम् ॥

मार्गशीर्ष शुक्ला चतुर्दशी को इस तीर्थ की वार्षिक यात्रा होती है, जो 'लोटामण्टा का मेला' कहलाता है।

५. **लोलार्ककुण्ड** : यह सूर्यनारायण का तीर्थ है और इसमें स्नान करने का बड़ा माहात्म्य है। महाराज गोविन्दचन्द्र ने यहाँ स्नान करके एक गाँव ब्राह्मण को दिया था, ऐसा उनके एक ताम्रपत्र से विदित होता है। प्राचीन काल में लोलार्कतीर्थ का गंगा और असी से संगम हुआ करता था, परन्तु अब तो कुण्ड का ही रूप रह गया है, यद्यपि वर्षाकाल में एक सुरंग के द्वारा गंगाजी का जल इसमें आज भी आता है। काशीखण्ड में कहा गया है कि काशी के सभी तीर्थों में लोलार्क का प्रथम स्थान है; क्योंकि यहाँ के संगम के बाद ही इसका जल लेकर गंगाजी अन्य तीर्थों में पहुँचती हैं। यहाँ स्नान करने के उपरान्त दान, होम, भजन, पूजन, जो कुछ भी कर्म किया जाता है, वह अक्षय होता है :

सर्वेषां काशितीर्थानां लोलार्कः प्रथमं शिरः।
ततोऽङ्गान्यन्यतीर्थानि तज्जलप्लावितानि हि ॥ (का० खं०, ६४।५६)
लोलार्कस्त्वसिसंभेदे दक्षिणस्यां दिशि स्थितः। (का० खं०, ६४।४६)
लोलार्कसङ्गमे स्नात्वा दानं होमं सुरार्चनम् ॥
यत्किञ्चित्क्रियते कर्म तदानन्त्याय कल्पते ॥ (का० खं०, ६४।५३)

मार्गशीर्ष शुक्लपक्ष की षष्ठी या सप्तमी यदि रविवार को पड़े, तो उस दिन यहाँ के स्नान, दर्शन और पूजन का विशेष माहात्म्य है। शिष्टाचार के आधार पर भाद्रपद शुक्ला षष्ठी को यहाँ की वार्षिक यात्रा होती है। काशीखण्ड में रथसप्तमी (माघ शुक्ल-सप्तमी) को लोलार्क-स्नान का भी बड़ा फल कहा गया है।

६. **कोटितीर्थ** : महाराज गोविन्दचन्द्र ने इस तीर्थ में स्नान करके ब्राह्मण को ग्रामदान किया था। शैलेश्वर के दक्षिण और लाटभैरव के वायव्य कोण में इसका स्थान था। वहीं कोटीश्वर का शिवायतन था। भीष्मचण्डी का स्थान भी वहीं था, जो क्षेत्र की उत्तर दिशा में रक्षा करती हैं। यहाँ प्राचीन काल में श्मशान भी रहा है। कोटितीर्थ में स्नान करने से और कोटीश्वर का दर्शन करने से कोटि गोदान का फल मिलना कहा गया है। परन्तु, अब यह तीर्थ लुप्त हो गया है। 'सूखा गड़हा' अब भी वर्त्तमान है, परन्तु न वहाँ जल है और न कोई देवायतन ही :

कोटितीर्थेषु यः स्नात्वा कोटीश्वरमथार्चयेत् ।
गवां कोटिप्रदानेन यत्फलं लभते नरः ॥
तत्फलं सफलं तस्य स्नानेनैकेन सुन्दरि ।
(लिं० पु०, कृ० क० त०, पृ० ५४)

अन्य प्रसिद्ध ह्रद तथा तीर्थ

इनके अतिरिक्त कुछ अन्य प्रसिद्ध तीर्थों के नाम दिये जाते हैं, जिनके अपने-अपने अलग-अलग माहात्म्य हैं।

घण्टाकर्णह्रद (कर्णघण्टा मुहल्ले में), लक्ष्मीकुण्ड (मिसिरपोखरा मुहल्ले के पास), पितृकुण्ड (लल्लापुरा मुहल्ले में), हंसतीर्थ (वर्त्तमान नाम हरतीरथ का तालाव विश्वेश्वरगंज वाजार के उत्तर) तथा गौरीकुण्ड (केदारघाट पर)। इनमें से लक्ष्मीकुण्ड की वार्षिक पूजा-यात्रा भाद्र शुक्ल ८ से आश्विन कृष्ण ८ तक सोलह दिनों की होती है, जिसमें बहुत बड़ा मेला लगता है। इतने अधिक दिनों तक चलनेवाला मेला वाराणसी में दूसरा नहीं होता। यह 'सोरहिया का मेला' कहलाता है।

वापी : जनसाधारण में एक कहावत है कि वाराणसी में आठ कूप तथा नौ वावलियाँ प्रधान थीं, परन्तु पुराण-साहित्य में यहाँ की केवल छह वावलियों का उल्लेख है :

१. ज्येष्ठा वापी—काशीपुरा में। लुप्त।
२. ज्ञानवापी—विश्वनाथजी के वर्त्तमान मन्दिर के उत्तर। प्रसिद्ध।
३. कर्कोटक वापी—जो नागकुआँ के नाम से प्रसिद्ध है।
४. भद्रवापी—भद्रनाग के समीप। भद्रकूप मुहल्ले में कुएँ के रूप में।
५. शंखचूडा वापी—लुप्त।
६. सिद्धवापी—वागीश्वरी के पास वावू के वाजार में। अव लुप्त।

इनके अतिरिक्त दो और वावलियाँ प्रसिद्ध हैं, यद्यपि उनके नाम का स्पष्ट उल्लेख पुराणों में नहीं है। इनमें से एक तो शिवपुर में पाण्डववापी कही जाती है, जो आज भी यात्रा का स्थान है और दूसरी भैरववावली, जो आज से साठ-सत्तर वर्ष पूर्व पाट दी गई। पुराणों में इसका नाम भैरवकूप मिलता है। यह टाउनहाल के समीप गोशाला में थी।

इनके अलग-अलग माहात्म्य पुराणों में मिलते हैं, परन्तु आजकल इनमें से दो ही वापियों की यात्रा होती है और वे ही प्रसिद्ध हैं, अर्थात् ज्ञानवापी तथा कर्कोटक वापी।

१. ज्ञानवापी : पुराणों के अनुसार इसकी उत्पत्ति इस प्रकार हुई कि ईशान ने अविमुक्तेश्वर के पूजन के निमित्त अपने त्रिशूल से पृथ्वी खोदकर जल निकाला और इससे उनको स्नान कराया। इस वावली के जलपान का वड़ा माहात्म्य है। उससे ज्ञान की वृद्धि होती है, जो मुक्ति में सहायक है, इसलिए इसका नाम ही ज्ञानवापी कहा गया है। यह अविमुक्तेश्वर तथा प्राचीन विश्वेश्वर के मन्दिरों के दक्षिण तथा वर्त्तमान विश्वनाथ-मन्दिर के उत्तर में स्थित है :

देवस्य दक्षिणे भागे वापी तिष्ठति शोभना।
तस्यास्तथोदकं पीत्वा पुनर्जन्म न विद्यते ॥
(लिं० पु०, कृ० क० त०, पृ० १०६)

यैस्तु तत्र जलं पीतं कृतार्थास्ते हि मानवाः।
तेषां तु तारकं ज्ञानमुत्पत्स्यति न संशयः॥ (ती० चि०, पृ० ३५६)

इसका नाम शिवतीर्थ भी है, ज्ञानोदतीर्थ भी, तारकतीर्थ भी और मोक्षतीर्थ भी। इसके जल से सन्ध्यावन्दन करने का भी बड़ा फल है। उससे भी ज्ञान उत्पन्न होता है और सन्ध्योपासन समय पर न करने के पाप से मुक्ति मिलती है :

उपास्य सन्ध्यां ज्ञानोदे यत्पापं काललोपजम्।
क्षणेन तदपाकृत्य ज्ञानवान् जायते नरः॥
(स्कं० पु०, वी० मि०, पृ० १९२)

भगवान् सदाशिव की यह द्रव मूर्त्ति मानी जाती है। ऐसा ही स्कन्दपुराण में कहा भी गया है :

योऽष्टमूर्त्तिर्महादेवः पुराणे परिपठ्यते।
तस्यैवाम्बुमयी मूर्त्तिर्ज्ञानदा ज्ञानवापिका॥
(स्कं० पु०, वी० मि०, पृ० १९३)

वापीजलं तु तत्रस्थं देवदेवस्य सन्निधौ।
दर्शनात् स्पर्शनात् स्नानात् कृतार्थो मानवो भुवि॥
दुर्लभं तु कलौ देवैस्तज्जलं ह्यमृतोपमम्।
तारणं सर्वजन्तूनां पानात्पापस्य नाशनम्॥
(शिवपुराण, वी० मि०, पृ० १९३)

वापी तत्रास्ति वैदेहि चिन्मयी देवदक्षिणे।
तदपां सेवया देव भासते ब्रह्मकेवलम्॥
(पद्मपु०, वी० मि०, पृ० १९३)

ज्ञानोदतीर्थसंस्पर्शादश्वमेधफलं लभेत्।
स्पर्शनाचमनाभ्यां च राजसूयाश्वमेधयोः॥ (का० खं०, ३३।३४)

इस स्थान पर इस जल से पितृतर्पण तथा श्राद्ध करने का बड़ा माहात्म्य है :

यत्फलं समवाप्नोति पितॄन्सन्तर्प्य पुष्करे।
तत्फलं कोटिगुणितं ज्ञानतीर्थतिलोदकैः॥
संनिहत्यां कुरुक्षेत्रे राहुग्रस्ते दिवाकरे।
यत्फलं पिण्डदानेन तज्ज्ञानोदे दिने दिने॥ (का० खं० ३३।३७-३८)

इसके जल से शिवलिंग को स्नान कराने से बुद्धि की जड़ता का नाश होता है तथा ज्ञान की वृद्धि होती है :

ज्ञानोदतीर्थपानीयैर्लिङ्गं यः स्नापयेत् सुधीः।
सर्वतीर्थोदकैस्तेन ध्रुवं संस्नापितं भवेत्॥
ज्ञानरूपोऽहमेवात्र द्रवमूर्त्ति विधाय च।
जाडचविध्वंसनं कुर्यां कुर्यां ज्ञानोपदेशनम्॥
(का० खं०, ३३।४९-५०)

सर्वेभ्यस्तीर्थमुख्येभ्यः प्रत्यक्षज्ञानदा मुने।
सर्वज्ञानमयी चैषा सर्वलिङ्गमयी शुभा॥

साक्षाच्छिवमयी मूर्त्तिर्ज्ञानकृज्ज्ञानवापिका ।

(का० खं०, ३५।१२३-१)

२. कर्कोटक वापी : इस तीर्थ का वर्तमान नाम नागकुआँ है और नागपंचमी को यहाँ की यात्रा होती है—मेला भी लगता है। यहाँ महर्षि पतंजलि का निवास था। ऐसा भी कहा जाता है कि महाभाष्य की रचना यहाँ ही हुई थी :

इन्द्रेश्वराद्दक्षिणतो वापी कर्कोटकस्य च ।
तत्र वीरजले स्नात्वा दृष्ट्वा कर्कोटकेश्वरम् ।
नागानां चाधिपत्यं तु जायते नात्र संशयः ।।

(लिं० पु०, कृ० क० त०, पृ० ७१)

काशीखण्ड के अनुसार कर्कोटक वापी में स्नान तथा कर्कोटक नाग के दर्शन से मनुष्य पर विषों का प्रभाव नहीं होता :

तस्यां वाप्यां नरः स्नात्वा कर्कोटेशं समर्च्य च ।
कर्कोटनागमाराध्य नागलोके महीयते ।।
कर्कोटनागो यैर्दृष्टस्तद्वाप्या विहितोदकैः ।।
क्रमते न विषं तेषां देहे स्थावरजङ्गमम् ।।

(का० खं०, ६६।२४-२५)

कूप : पुराणों में वाराणसी के २९ पुनीत कूपों का उल्लेख मिलता है, जिनमें अब केवल आठ या दस का ठीक-ठीक पता चलता है। औरों का कोई ठीक-ठिकाना नहीं जान पड़ता। या तो वे घरों के भीतर पड़ गये हैं अथवा भैरवकूप या भैरवबावली की तरह पाट दिये गये हैं। कुछ ऐसे भी हैं, जो मुसलमानी मुहल्लों में पड़ जाने से अपना धार्मिक व्यक्तित्व खो बैठे हैं। कुछ प्रसिद्ध कूप इस प्रकार हैं :

१. चन्द्रकूप—सिद्धेश्वरी के मन्दिर में (मकान नं० के० ७/१२४ में)।
२. अप्सरस कूप—काशीपुरा में काशीदेवी के दक्षिण सड़क के किनारे। यही गौरीकूप भी है।
३. ककलोदक कूप—वृद्धकाल में प्रसिद्ध ।
४. चित्रकूप—चित्रघण्टा देवी के सामने चौक में चन्दू नाऊ की गली में। (मकान नं०सी० के० २३/३४) अथवा राजादरवाजे में चित्रगुप्तेश्वर-मन्दिर में (मकान नं० सी०के० ५७/२७)।
५. चतुःसमुद्रकूप—नखास महल्ले में सड़क के पूर्व ।
६. धर्मकूप—धर्मेश्वर के पास प्रसिद्ध मीरघाट पर।
७. मंगलोदकूप—मंगलागौरी के पास (मकान नं० के० २३/८९ में)।
८. शुक्रकूप—कालिका गली में शुक्रेश्वर के पास। (मकान नं० डी० ८/३०)।
९. अघोरोदकूप—ओंकारेश्वर के पास ।
१०. कणादकूप—ज्येष्ठस्थान में। लुप्त ।
११. गौरीकूप—पंचचूडा सरोवर के दक्षिण। यही अप्सरस कूप भी है।
१२. ब्रह्मावर्त्तकूप—ढुण्ढिराज के दक्षिण देवदेव के सम्मुख। संन्यासी कॉलेज में। (मकान नं० सी० के० ३७/१२ में)।
१३. आपस्तम्बकूप—जम्बुकेश्वर के समीप ।

१४. नलकूबर कूप या पंचकेश्वर कूप—कामेश्वर के समीप।
१५. पितृकूप—ओंकारेश्वर के समीप। लुप्त।
१६. वालचन्द्र कूप या चण्डेश्वर कूप—वृद्धकाल के पश्चिम। राजा साहब औसानगंज के महल में।
१७. यज्ञोद कूप—ओंकारेश्वर के समीप। लुप्त।
१८. रसोदक कूप—ओंकारेश्वर के समीप। लुप्त।
१९. व्यासकूप—कर्णघण्टा में। (मकान नं० के० ६०/६७)।
२०. शुभोद कूप—विश्वकर्मेश्वर के दक्षिण।
२१. हिरण्यकूप—हिरण्याक्षेश्वर के समीप। राजघाट के किले में।
२२. मार्कण्डेय कूप—मार्कण्डेयेश्वर के पास। लुप्त।
२३. धन्वन्तरि कूप—भृंगीशेश्वर के सम्मुख—वृद्धकाल मन्दिर के द्वार के सामने सड़क पर।
२४. दधिकर्णकूप या दधिकल्प कूप—गभस्तीश्वर के उत्तर में। लुप्त।
२५. विरूपाक्ष कूप—चित्रगुप्तेश्वर के निकट कश्मीरी मल हवेली के निकट। लुप्त।
२६. पादोदक कूप—त्रिलोचन के समीप। 'पिलपिलाकर कुँआ' नाम से प्रसिद्ध।
२७. महादेव कूप—आदि महादेव के समीप। लुप्त।
२८. भैरवकूप—भैरवबावली के रूप में इसका उल्लेख ऊपर हो चुका है।
२९. कृत्तिवास कूप—कृत्तिवासेश्वर के पूर्व। मस्जिद में।

इन सभी कूपों के अपने-अपने अलग-अलग माहात्म्य हैं, परन्तु वर्त्तमान काल में इनकी यात्रा विरले ही लोग करते हैं और सम्भवतः इनका पता-ठिकाना न मिल पाने का भी यही कारण है।

पाँचवाँ अध्याय

वाराणसी के देवस्थान तथा अन्य तीर्थ

वाराणसी में अथवा यों कहें कि ब्रह्मवैवर्त्तपुराण में वर्णन किये हुए काशीक्षेत्र में पुराणों के अनुसार देवस्थानों की बहुत बड़ी संख्या है। विष्णुपीठों, देवीपीठों, विनायक-पीठों, षडानन के स्थानों, सूर्यतीर्थों तथा भैरव के मन्दिरों का उल्लेख वहाँ मिलता है। इनके अतिरिक्त, वेताल, शिवगण तथा नाग लोगों के स्थान हैं, जिनकी संख्या ११ है। फिर, चौंसठ योगिनियाँ हैं। इन सबका विवेचन इस अध्याय का विषय है।

जलतीर्थों का वर्णन चौथे अध्याय में हो चुका है, परन्तु वाराणसी में कुछ स्थलतीर्थ भी हैं और दो गुफाएँ, तथा दो स्तम्भ भी, जिनका वर्णन भी आवश्यक है।

१. विष्णुपीठ : सामान्य रूप से यही कहा जाता है कि काशीक्षेत्र अनादि काल से शिवतीर्थ रहा है, परन्तु बात ऐसी नहीं है। पुराणों के अनुसार पहले यह विष्णुतीर्थ था, बाद में शिवतीर्थ हुआ। नारदपुराण में कहा गया है कि काशीक्षेत्र पहले विष्णु का निवासस्थान था, जहाँ भगवान् पूर्ण स्वरूप से निवास करते थे। वह स्वतः भी विष्णु का रूप था, जहाँ वे साक्षात् प्रकाशित होते थे :

> **आद्यं च वैष्णवं स्थानं पुराणे परिचक्षते।**
> **पुरीषु संस्थितो विष्णुरंशैः काश्यां स्वरूपतः॥**
> **काशीस्वरूपं विष्णोस्तु यत्र साक्षात्प्रकाशते।**
>
> **(नारदपु०, त्रि० से०, पृ० २१६)**

वामनपुराण में भी ऐसा ही वर्णन है कि यह क्षेत्र विष्णु का है, आगे चलकर शिव का हो जायगा। प्रयागस्थित योगशायी से आदिकेशव-पर्यन्त यह विष्णु का पुण्यक्षेत्र है।

> **तमूचुर्मुनयः सूर्यं शृणु क्षेत्रमहाफलम्।**
> **साम्प्रतं वासुदेवस्य भावि तच्छङ्करस्य च॥**
> **योगशायिनमारभ्य यावत्केशवदर्शनात्।**
> **एतत्क्षेत्रं हरेः पुण्यं नाम्ना वाराणसी पुरी॥**
>
> **(हेमाद्रौ वामनपु०, त्रि० से०, पृ० २१६)**

ब्रह्मवैवर्त्तपुराण भी काशीक्षेत्र को **महालिङ्गमयं जनार्दनम्** ही कहता है।

> **अहो महालिङ्गमयं जनार्दनम्।**
> **पश्यामि काश्यां परमात्मरूपम्॥ (ब्र० वै० पु०, त्रि० से०, पृ० १०१)**

इन्हीं आधारों पर त्रिस्थलीसेतुकार ने कहा है कि काशी के विष्णुक्षेत्र होने के कारण यहाँ प्रतिदिन विष्णु भगवान् की प्रार्थना करनी चाहिए :

जय केशव देवेश जय काशीप्रियाच्युत।
काश्यां रक्षस्व देवेश देहि श्रद्धां जनार्दन॥

(ब्र० वै० पु०, त्रि० से०, पृ० २१६)

इतना ही नहीं, विश्वनाथ की पूजा करने के पूर्व मुक्तिमण्डप के विष्णु भगवान् का पूजन आवश्यक था। इस विचारधारा के अनुसार काशी में विष्णुपूजन आदिकाल से होता रहा है और शिवतीर्थ हो जाने पर भी यह परम्परा यहाँ अक्षुण्ण बनी रही।

'कृत्यकल्पतरु' में केवल एक ही विष्णुपीठ का उल्लेख है, जो अब आदिकेशव के नाम से विख्यात है; परन्तु 'काशीखण्ड' इत्यादि पुराणों में यहाँ के अन्य विष्णुपीठों के नाम मिलते हैं, जिनकी संख्या छोटी नहीं है। काशीखण्ड में स्पष्ट शब्दों में कहा गया है कि काशी में नारायण की पाँच सौ, जलशायी की एक सौ, कच्छप रूप की तीस, मत्स्य रूप की बीस, गोपाल की एक सौ आठ, परशुराम की तीस, रामचन्द्र की एक सौ एक तथा बुद्ध की सहस्रों मूर्त्तियाँ हैं। विष्णु भगवान् की केवल एक मूर्त्ति है, जो विश्वेश्वर के मुक्तिमण्डप में है:

नारायणाः शतं पञ्च शतं च जलशायिनः।
त्रिंशत्कमठरूपाणि मत्स्यरूपाणि विंशतिः॥
गोपालाश्च शतं साष्टं बुद्धाः सन्ति सहस्रशः।
त्रिंशत्परशुरामाश्च रामा एकोत्तरं शतम्॥
विष्णुरूपोऽस्म्यहं चैको मुक्तिमण्डपमध्यतः।

(का० खं०, ६१।२०७—२०९)

विष्णु भगवान् के इन सभी स्वरूपों का स्थान-निर्देश तो कहीं नहीं मिलता, परन्तु इनमें से प्रधान पीठों के विषय में कुछ-न-कुछ सूचना मिलती है।

काशीखण्ड में निम्नांकित विष्णुपीठों का वर्णन है, जो अपने-अपने नाम से गंगाजी के तीर्थों के समीप स्थित थे; परन्तु उनमें से बहुतों का अपने तीर्थों से सम्बन्ध-विच्छेद हो चुका है। उनकी वर्त्तमान स्थिति इस प्रकार है:

१.	आदिकेशव	पादोदकतीर्थ के ऊपर	वरणा-संगम के निकट।
२.	ज्ञानकेशव	श्वेतद्वीपतीर्थ के ऊपर	आदिकेशव की बगल में।
३.	तार्क्ष्यकेशव	तार्क्ष्यतीर्थ के ऊपर	आदिकेशव के सामने। लुप्त।
४.	नारदकेशव	नारदतीर्थ के ऊपर	वर्त्तमान प्रह्लादघाट पर। मूर्त्ति लुप्त।
५.	प्रह्लादकेशव	प्रह्लादतीर्थ के ऊपर	प्रह्लादघाट पर।
६.	आदित्यकेशव	अम्बरीष तीर्थ के ऊपर	वरणा-संगम के निकट। लुप्त।
७.	आदिगदाधर	दत्तात्रेयेश्वर के दक्षिण।	लुप्त।
८.	भृगुकेशव	भार्गवतीर्थ के ऊपर	गोलाघाट के ऊपर, नन्दू की सीढ़ियों पर।
९.	वामनकेशव	वामनतीर्थ के ऊपर	(क) आदिकेशव के समीप। (ख) मधुसूदन नाम से प्रसिद्ध, त्रिलोचन के समीप।

१०.	नरनारायण	नरनारायण तीर्थ के ऊपर	महथाघाट पर।
११.	यज्ञवाराह	यज्ञवाराह	(क) स्वर्लीनेश्वर के समीप (ख) मीरघाट पर हनुमान्‌जी के मन्दिर में।
१२.	विदार नरसिंह	विदार नरसिंह	वर्त्तमान समय में प्रह्लादघाट पर।
१३.	गोपीगोविन्द	गोपीगोविन्द	वर्त्तमान लालघाट पर गौरीशंकर के मन्दिर में।
१४.	लक्ष्मीनृसिंह	लक्ष्मीनृसिंह	राजमन्दिर में हनुमान्‌जी के मन्दिर में।
१५.	शेषमाधव	शेषतीर्थ	राजमन्दिर में, मकान नं० के २०/१३७।
१६.	शंखमाधव	शंखमाधवतीर्थ	शीतलाघाट पर मढ़ी में।
१७.	हयग्रीवकेशव	हयग्रीवतीर्थ	वर्त्तमान काल में मदैनी में, आनन्दमयी अस्पताल के पीछे।
१८.	विन्दुमाधव	पंचनद के ऊपर	(क) पंचगंगा घाट के ऊपर प्रसिद्ध; (ख) बुचई टोले में; (ग) भाट की गली में; (घ) ब्रह्माघाट पर मठ में।
१९.	भीष्मकेशव	वृद्धकाल के पश्चिम	वृद्धकाल-मन्दिर में।
२०.	निर्वाणकेशव	लोलार्क के उत्तर	लोलार्क के पास।
२१.	त्रिभुवनकेशव	बन्दी देवी के दक्षिण	बन्दी देवी के मन्दिर में।
२२.	ज्ञानमाधव	ज्ञानवापी के समीप	पाँचों पाण्डव-मन्दिर में, मकान नं० सी० के० २८/१०।
२३.	श्वेतमाधव	विशालाक्षी के समीप	मीरघाट पर हनुमान्‌जी के सामने।
२४.	प्रयागमाधव	दशाश्वमेध के उत्तर	दशाश्वमेध घाट के ऊपर, मकान नं० डी० १७/१११ में।
२५.	गंगाकेशव	अगस्त्यतीर्थ के दक्षिण	वर्त्तमान ललिताघाट पर, मकान नं० डी० १/६७ में।
२६.	वैकुण्ठमाधव	सीमाविनायक के दक्षिण	सेंधियाघाट के ऊपर, मकान नं० सी० के० ७/१६५ में।
२७.	वीरमाधव	वैरोचनेश्वर के पूर्व, वीरेश्वर के पश्चिम	आत्मा वीरेश्वर के मन्दिर की बाहरी दीवार के आले में, जहाँ राहु-केतु का पूजन होता है।
२८.	कालमाधव	कालभैरव के निकट	काठ की हवेली के पीछे, मकान नं० के० ३०/४ में।
२९.	निर्वाण नरसिंह	पुलस्तीश्वर के दक्षिण	लुप्त।
३०.	महाबल नृसिंह	ओंकारेश्वर के पूर्व	कामेश्वर के मन्दिर में, मकान नं० ए० २/९।

३१.	प्रचण्ड नरसिंह	चण्डभैरव के पूर्व	१. अस्सी मुहल्ले में जगन्नाथ-मन्दिर में। २. दुर्गाजी के घेरे में चण्डभैरव के पूर्व। लुप्त।
३२.	गिरिनृसिंह	देहलीविनायक के पूर्व	देहलीविनायक पर पंचक्रोशी के मार्ग पर।
३३.	महाभयहर नृसिंह	पितामहेश्वर के पश्चिम	पितामहेश्वर के पास शीतला गली में।
३४.	अत्युग्र नरसिंह	कलशेश्वर के पश्चिम	गोमठ में।
३५.	ज्वालामाली नृसिंह	ज्वालामुखी के पास	वरणापार कोटवा गाँव में।
३६.	कोलाहल नृसिंह	कंकालभैरव के समीप	गोमठ के समीप, मकान नं० सी० के० ८/१८९ में।
३७.	विटंक नरसिंह	नीलकण्ठेश्वर के समीप	केदारेश्वर के मन्दिर में, मकान नं० बी० ६/१०२।
३८.	अनन्तवामन	अनन्तेश्वर के समीप	अज्ञात। तीर्थचिन्तामणि (पृ० ३५२) में अनन्तकेशव का स्थान वरणासंगम के पश्चिम में कहा गया है।
३९.	दधिवामन	अज्ञात	अज्ञात।
४०.	त्रिविक्रम	त्रिलोचन के उत्तर	त्रिलोचन के घेरे में।
४१.	बलिवामन	बलभद्रेश्वर के पूर्व	लुप्त।
४२.	ताम्रवाराह	भवतीर्थ के दक्षिण	वर्त्तमान नीलकण्ठ के समीप, ब्रह्मनाल मुहल्ले में।
४३.	धरणिवाराह	प्रयागेश्वर के निकट	दशाश्वमेघ पर प्रयागमाधव के पास, मकान नं० डी० १७/१११ में।
४४.	कोकावाराह	किटीश्वर के निकट	सिद्धेश्वरी-मन्दिर में, मकान नं० सी० के० ७/१२४।
४५.	खर्वनृसिंह	१. ब्रह्मचारिणी के मन्दिर में, मकान नं० के० २२/७१।	२. दुर्गाघाट के ऊपर मकान नं० के० २२/५२ में।

इन सभी के दर्शन-पूजन का अलग-अलग फल कहा गया है और अपनी-अपनी तिथियों पर इनके दर्शन-पूजन चलते रहते हैं, यद्यपि इनमें से कुछ का वर्त्तमान काल में पता नहीं लगता और कुछ का नामान्तर भी हो गया है। एकादशी के दिन बहुधा लोग अपनी-अपनी शक्ति तथा सुविधा के अनुसार इन पीठों की यात्रा करते हैं।

इनमें से आदिकेशव तथा बिन्दुमाधव का सर्वोच्च स्थान माना जाता है। आदिकेशव का नामोल्लेख तो 'कृत्यकल्पतरु' में भी मिलता है, परन्तु बिन्दुमाधव का वहाँ नामांकन न होने से कुछ आधुनिक इतिहासकार इनकी प्राचीनता में सन्देह करते हैं। पर, मत्स्यपुराण में इनका नाम स्पष्ट रूप से कहा गया है, जो 'कृत्यकल्पतरु' से बहुत पहले का माना जाता है; अतएव यह शंका निराधार है। इस सम्बन्ध में विस्तृत विवेचन 'शंका-समाधान' नामक अध्याय में आगे चलकर किया जायगा। इन दोनों के अतिरिक्त विश्वनाथ के मुक्ति-मण्डप में स्थित विष्णु की मूर्त्ति की भी सत्रहवीं शताब्दी तक बड़ी महिमा थी। यहाँतक कि

विश्वनाथजी की पूजा करने के पहले उनकी पूजा आवश्यक समझी जाती थी; क्योंकि विना उनकी पूजा हुए विश्वनाथ पूजा ग्रहण ही नहीं करते थे।

आदावनाराध्य भवन्तमत्र यो मां भजिष्यत्यपि भक्तियुक्तः।
समीहितं तस्य न सेत्स्यति ध्रुवं परात्परान्मेऽम्बुज चक्रपाणे॥
(का० खं०, ६८।३१)

निर्वाणमण्डपे स्थित्वा विष्णुं नत्वा पुनः पुनः।
देवस्य दक्षिणे भागे साक्षान्मुक्तिः करे स्थिता॥ **(त्रि० से०, पृ० २०६)**

औरंगजेब द्वारा विश्वनाथ-मन्दिर तोड़े जाने के पश्चात् मुक्तिमण्डप के मस्जिद का अंग हो जाने से उसका अस्तित्व ही मिट गया और यह विष्णुपीठ लुप्तप्राय ही हो गया। तबसे इनकी मानसिक पूजा ही होने लगी। यों तो जनश्रुति यह है कि वर्त्तमान विश्वनाथ-मन्दिर के नैऋत्य कोण के छोटे मन्दिर में जो विष्णु की मूर्त्ति इस समय स्थित है, वह वही मूर्त्ति है, जो पुराने विश्वनाथ-मन्दिर के मुक्तिमण्डप में स्थापित थी और तोड़ने के पूर्व वहाँ से हटा ली गई थी; परन्तु इसमें कितना तथ्य है, कौन जाने।

आदिकेशव के सम्बन्ध में यही बात और पहले हो चुकी थी। सन् ११९४ ई० में ही कुतुबुद्दीन ऐबक ने बनारस के किले के साथ-ही-साथ आदिकेशव का मन्दिर भी ध्वस्त किया था और वहाँ से नगर उजड़ जाने तथा उस स्थान के निरन्तर मुसलमानों के अधिकार में रहने के कारण इस तीर्थ का पुनरुद्धार भी बहुत दिनों तक नहीं हो पाया। परन्तु, पंचतीर्थी यात्रा का आवश्यक अंग होने के कारण इस तीर्थ का लोप नहीं हुआ और 'कलौ स्थानानि पूजयेत्' इस स्मृति-सूत्र के बल पर वहाँ का पूजन चलता रहा। कालान्तर में यथासमय अन्य तीर्थों के साथ-साथ वहाँ पर भी दूसरी मूर्त्ति की स्थापना हुई। लिंगपुराण का कहना है कि काशी-क्षेत्र के कारण क्षेत्रज्ञ केशव ही हैं। उनके दर्शन से चराचर सभी के दर्शन होने का फल होता है:

वेदेश्वरस्योत्तरतः स्वयं तिष्ठति केशवः।
क्षेत्रस्य कारणं चास्य क्षेत्रज्ञ इति चोच्यते॥
तेन दृष्टेन सुश्रोणि सर्वं दृष्टं चराचरम्।
(लिं० पु०, कृ० क० त०, पृ० ४४)

वेदेश्वरादुदीच्यां तु क्षेत्रेशश्चादिकेशवः।
दृष्टं त्रिभुवनं सर्वं तस्य सन्दर्शनात् ध्रुवम्॥ **(का० खं०, ९७।१५)**

आदिकेशव का देवालय कैसा था, इसका वर्णन कहीं भी नहीं मिला। मथुरा के तत्कालीन देव-मन्दिरों का वर्णन तो अल्बेरूनी ने यही किया है कि वे बहुत सुदृढ तथा विशाल थे। सातवीं शताब्दी में काशी के देवालयों का वर्णन ह्वेनत्सांग ने भी कुछ ऐसा ही किया है। इससे सम्भावना यही है कि आदिकेशव का वह मन्दिर भी अद्वितीय रहा होगा। वह राजप्रासाद के अत्यन्त समीप था और गाहड़वालों के कुलदेवता होने का गौरव भी उसका था। अतः, वहाँ उत्कृष्ट मन्दिर रहा होगा, यह निर्विवाद है। बिन्दुमाधव का मन्दिर भी बहुत विशाल था। बिन्दुमाधव के पहले मन्दिर का तो वर्णन नहीं मिलता, परन्तु जिस मन्दिर को तोड़कर औरंगजेब ने उसके स्थान पर अपनी मस्जिद बनवाई, उसका विस्तृत वर्णन फ्रांस देश के पर्यटक टवर्नियर ने अपनी यात्रा-पुस्तक में किया है। यह मन्दिर बहुत

बड़ा था। चौकोर कुर्सी पर बीच में मुख्य मन्दिर था और चारों कोनों पर चार धरहरे थे, जिनमें ऊपर जाने के लिए सीढ़ियाँ तथा दृश्य देखने के लिए खिड़कियाँ और छोटे-छोटे छज्जे थे। मन्दिर के आसपास छोटे-छोटे और मन्दिर भी थे। मुख्य मन्दिर के बीच में दो सीढ़ियों के ऊपर एक वेदी थी, जिसपर भगवान् बिन्दुमाधव की मनुष्यपरिमाण मूर्त्ति थी। इसके आसपास अन्य मूर्त्तियाँ भी थीं। इस वेदी पर सुनहले और रुपहले कमख्वाब इत्यादि बहुमूल्य वस्त्र बिछाये रहते थे। सीढ़ियों पर भी रेशमी कपड़े बिछते थे। मन्दिर के मुख्य द्वार से भगवान् के दर्शन बाहर से ही स्पष्ट रूप से होते थे। मूर्त्ति पीताम्बर तथा उत्तरीय से आच्छादित रहती थी और उसके वक्षःस्थल पर माणिक, मोती तथा पन्ना की स्वर्णसज्जित मालाएँ शोभायमान रहती थीं। वेदी के बाईं ओर गरुड की मूर्त्ति थी। मुख्य मन्दिर के द्वार के समक्ष संगमरमर की एक पुरुषमूर्त्ति थी, जो पालथी मारकर बैठी हुई थी। सम्भवतः, यह अग्निबिन्दु ऋषि की मूर्त्ति रही होगी। यहीं पर प्रदक्षिणा-पथ था। बड़े मन्दिर के मुख्य प्रवेशद्वार से इस मूर्त्ति के तथा भीतर भगवान् के दर्शन स्पष्ट रूप से होते थे। इस प्रकार, भगवान् बिन्दुमाधव के इस मन्दिर का वैभव प्रत्यक्ष ही है। इस मन्दिर से मिली हुई एक पाठशाला तथा राममन्दिर भी थे, जिनका भवन कंगनवाली हवेली के नाम से अब भी वर्त्तमान है, जिसकी एक दीवार मस्जिद के मसाले से बनी है। सन् १६६९ ई० में औरंगजेब की आज्ञा से यह मन्दिर भी तोड़ा गया और उसके स्थान पर एक मस्जिद बनवाई गई, जिसमें दो मीनारें भी बनीं। जनश्रुति के अनुसार, पुराने मन्दिर का शिखर इन मीनारों के इतना ही ऊँचा था। थीं तो ये मीनारें आलमगीरी मस्जिद की, परन्तु बनारस में इनका नाम 'माधोराय का धरहरा' ही सदैव प्रसिद्ध रहा, जिसमें बिन्दुमाधव-मन्दिर के प्राचीन धरहरों की स्मृति जीवित रही। इसके बाद बिन्दुमाधव की स्थापना काठ की हवेली के पीछे भाट की गली में और बुचई टोला में हुई, जहाँ वे अब भी हैं। अपने प्राचीन स्थान के समीप पंचगंगा घाट पर भी इनकी स्थापना हुई। ब्रह्मघाट के मठ में इनकी प्राचीन मूर्त्ति है, यह भी कहा जाता है। बिन्दुमाधव के वर्त्तमान मन्दिर का निर्माण तथा श्रीविग्रह की स्थापना अपने पुराने स्थान से कुछ हटकर हुई और उनके दर्शन-पूजन का माहात्म्य पूर्ववत् चलता रहा। यहाँतक कि इधर सैकड़ों वर्षों से यही पीठ काशी का मुख्य विष्णुपीठ बन गया है।

२. **देवीपीठ :** काशीखण्ड में ६८ देवीपीठों का उल्लेख है, जिनमें सोलह के नाम विशिष्ट कोटि में गिनाये गये हैं। प्राचीन लिंगपुराण में, जो कृत्यकल्पतरु में उद्धृत है, केवल विशेष माहात्म्य-वाले देवस्थानों का उल्लेख है। इनमें २४ देवीपीठों का नामांकन हुआ है, जिनमें काशी-खण्ड में उल्लिखित सोलह देवीपीठों के अतिरिक्त आठ देवीपीठ और भी हैं। इनमें से भीष्मचण्डी, मणिकर्णी देवी, चित्रघण्टा तथा ललिता देवी का वर्णन काशीखण्ड की सामान्य सूची में है और अन्य चार देवीपीठों के नाम काशीखण्ड में नहीं मिलते। इस प्रकार, दोनों पुराणों को आधार मानने पर ७२ देवीपीठों का वर्णन मिलता है। इनके अतिरिक्त नव-दुर्गा, नवचण्डी तथा नवशक्ति के उल्लेख भी मिलते हैं। नवदुर्गा का विस्तार कहीं भी नहीं दिया गया। इससे यह नहीं कहा जा सकता कि ये नौ स्थान कौन-से थे, परन्तु परम्परा के आधार पर इनके स्थान सर्वस्वीकृत हैं। नवचण्डी में दुर्गा, भद्रकालिका, भीष्मचण्डी, शांकरी, महामुण्डा तथा चित्रघण्टा के नाम सभी सूचियों में हैं, परन्तु उत्तरेश्वरी, अंगारेशी

तथा अधःकेशी के नाम उनमें नहीं मिलते। शक्तियों में विश्वा तथा सौभाग्यगौरी के नाम तो अन्यत्र भी पाये जाते हैं, परन्तु शतनेत्रा, सहस्रास्या, अयुतभुजा, अश्वारूढा, गजास्या, त्वरिता, शववाहिनी के नाम और कहीं नहीं मिलते। इस प्रकार, इन सभी सूचियों के समन्वय से देवीपीठों की संख्या ८६ स्थापित होती है। यहाँ एक बात उल्लेखनीय है कि काशीखण्ड तथा लिंगपुराण में शीतला देवी का नाम कहीं भी नहीं आया है।

(क) नवचण्डी : लिंगपुराण में कहा है कि

दक्षिणे रक्षते दुर्गा नैऋते चोत्तरेश्वरी।
अङ्गारेशी पश्चिमे च वायव्ये भद्रकालिका॥
उत्तरे भीष्मचण्डी च महामुण्डा च सा ततः।
ऊर्ध्वकेशी समायुक्ता शाङ्करी सर्वतः स्मृता॥
ऊर्ध्वकेशी च आग्नेय्यां चित्रघण्टा च मध्यतः।

(कृ० क० त०, पृ० १२६-१२७)

यह क्रम प्रायः सर्वस्वीकृत है, परन्तु इसमें महत्त्वपूर्ण पाठभेद मिलते हैं, जिनकी सहायता से इस वर्णन का परिष्कार किया जा सकता है। 'तीर्थचिन्तामणि' में चौथी पंक्ति में 'सर्वतः' के स्थान पर 'पूर्वतः' और पाँचवीं पंक्ति में 'ऊर्ध्वकेशी' के स्थान पर 'अधःकेशी' पाठभेद मिलते हैं। तीसरी पंक्ति में 'महामत्तेशानतस्तथा' और चौथी पंक्ति में 'ऊर्ध्वकेशसमायुक्ता' पद मिलते हैं (ती० चि०, पृ० ३६३)। 'त्रिस्थलीसेतु' में 'महामुण्डा च सा ततः' के स्थान पर 'महागुह्या तथेशतः' यह पाठ है (त्रि० से०, पृ० २०२)। 'वीरमित्रोदय' में अंगारेशी के स्थान पर 'ओंकारेशी', 'भद्रकालिका', के स्थान पर 'भद्रकारिका', 'भीष्मचण्डी' तथा 'महामुण्डा' के स्थान पर 'महामत्ता' और पाँचवीं पंक्ति में 'अधःकेशी' पाठ है (वी० मि०, पृ० २७७)। महामत्ता, ओंकारेशी, भद्रकारिका, भीमचण्डी को स्वीकार करने में यह कठिनाई है कि इनकी अपेक्षा पहले पाठ की देवियों का अन्यत्र भी उल्लेख मिलता है। इस प्रकार, परिष्कृत होने पर निम्नलिखित पाठ समुचित समझ पड़ता है :

दक्षिणे रक्षते दुर्गा नैऋते चोत्तरेश्वरी।
अङ्गारेशी पश्चिमे च वायव्ये भद्रकालिका॥
उत्तरे भीष्मचण्डी च महामुण्डा तथेशतः।
ऊर्ध्वकेशसमायुक्ता शाङ्करी पूर्वतः स्मृता॥
अधःकेशी च आग्नेय्यां चित्रघण्टा च मध्यतः।

अर्थात्, दक्षिण में दुर्गादेवी, नैऋत्य कोण में उत्तरेश्वरी, पश्चिम में अंगारेशी, वायव्य कोण में भद्रकाली, उत्तर में भीष्मचण्डी, ईशान कोण में महामुण्डा, पूर्व में शांकरी, आग्नेय कोण में अधःकेशी तथा मध्य में चित्रघण्टा वाराणसी-क्षेत्र की रक्षा करती हैं। इनमें से दुर्गा, अंगारेशी, भद्रकाली, भीष्मचण्डी, महामुण्डा, शांकरी तथा चित्रघण्टा के स्थान-निर्देश काशीखण्ड तथा लिंगपुराण के आधार पर हो जाते हैं, परन्तु उत्तरेश्वरी तथा अधःकेशी के स्थान कहाँ पर थे, इसका पता नहीं है। उक्त नौ चण्डीपीठों के स्थान-निर्देश इस प्रकार हैं :

१. दुर्गा : दुर्गाकुण्ड पर प्रसिद्ध।
२. उत्तरेश्वरी : अज्ञात।

३. अंगारेशी : वर्त्तमान स्थान नवाबगंज में गोवाबाई के कुण्ड पर पँचकौड़ी माता के नाम से प्रसिद्ध। प्राचीन स्थान कामाक्षा-मन्दिर के समीप।

४. भद्रकाली : मध्यमेश्वर के दक्षिण तथा मन्दाकिनी के उत्तर थी। इस समय मध्यमेश्वर मुहल्ले में मकान नं० के० ५३/१०७ में वर्त्तमान।

५. भीष्मचण्डी : शैलेश्वर के दक्षिण कोटितीर्थ के समीप। लुप्त। सदर बाजार में चण्डीदेवी नाम से पुनः प्रतिष्ठित।

६. महामुण्डा : ऋणमोचन के दक्षिण विश्वकर्मेश्वर के समीप। आश्विन शुक्ला अष्टमी को इनकी यात्रा होती थी। वागीश्वरी में इनका वर्त्तमान स्थान माना जाता है। परन्तु, धूपचण्डी भी इनका काशीखण्डोक्त स्थान हो सकता है।

७. शांकरी : वरणासंगम पर संगमेश्वर के पूर्व काशीखण्ड में इनका नाम शान्तिकरी गौरी कहा गया है। वर्त्तमान मन्दिर ककरहा घाट के समीप वरणा-तट पर है। राजघाट कोट में खर्वविनायक के समीप भी इनकी मूर्त्ति है।

८. अधःकेशी : अज्ञात।

९. चित्रघण्टा : रानी कुआँ के समीप चन्दू नाऊ की गली में प्रसिद्ध। लिंगपुराण के अनुसार इन नवचण्डियों का दर्शन-पूजन काशीवास करनेवालों के लिए आवश्यक है; क्योंकि ये पापकर्मा लोगों के काशीवास में विघ्न करती हैं :

एताश्च चण्डिका देवि योऽत्र द्रक्ष्यति मानवः।
तस्य तुष्टाश्च ताः सर्वाः क्षेत्रं रक्षन्ति तत्पराः॥
विघ्नं कुर्वन्ति सततं पापानां देवि सर्वदा।
तस्माच्चैव सदा पूज्याश्चण्डिकाः सविनायकाः॥
यदीच्छेत् सततं देवि वाराणस्यां शुभां स्थितिम्।

(लिं० पुराण, कृ० क० त०, पृ० १२७)

१०. शिखीचण्डी : इन नौ चण्डीपीठों के अतिरिक्त काशीखण्ड में एक अन्य चण्डी का नाम भी आता है, जिनका स्थान महालक्ष्मी के वायव्य कोण में बतलाया गया है। इनकी वर्त्तमान मूर्त्ति भी महालक्ष्मी के समीप ही है, यद्यपि इनका नाम इस समय शिखीकण्ठी कहा जाने लगा है। कुछ लोग इनको मयूरीयोगिनी कहने लगे हैं, जो ठीक नहीं है :

वायव्यां च शिखीचण्डी क्षेत्ररक्षाकरी परा।
खादन्ती विघ्नसङ्घातं शिखीशब्दं करोति च॥
तस्याः सन्दर्शनात् पुंसां नश्यन्ति व्याधयोऽखिलाः।

(का० खं०, ७०।७०-७१)

(ख) नवशक्ति : जैसा ऊपर कहा जा चुका है, काशीखण्ड में नौ शक्तियों के नाम तो दिये गये हैं, परन्तु उनका स्थान-निर्देश कहीं भी नहीं है। कदाचित् प्राचीन काल में इनके स्थान इतने प्रसिद्ध थे कि उनका पता-ठिकाना बतलाना आवश्यक नहीं समझा गया; परन्तु अब इनमें से केवल तीन के स्थानों का ज्ञान रह गया है। उसमें भी सौभाग्यगौरी का स्थान लुप्तप्राय हो चुका है, यद्यपि आदिविश्वेश्वर में उनकी मूर्त्ति स्थापित है और विश्वा का भी ठीक पता नहीं रह गया, यद्यपि किसी समय इनका बड़ा प्राधान्य माना जाता था,

जैसा कि काशीखण्ड में अगस्त्य मुनि के विलाप से जान पड़ता है। अश्वारूढा की मूर्त्ति इस समय वागीश्वरी मन्दिर में आले पर है। पूर्व से प्रारम्भ करके उत्तर होते हुए क्रम से आग्नेय कोण तक इनकी स्थिति कही गई है। सौभाग्यगौरी को मध्य में बतलाया गया है।

१.	शतनेत्रा	पूर्व दिशा में	स्थान अज्ञात।
२.	सहस्रास्या	ईशान कोण में	स्थान अज्ञात।
३.	अयुतभुजा	उत्तर में	स्थान अज्ञात।
४.	अश्वारूढा	वायव्य कोण में	वागीश्वरी के मन्दिर में, जैतपुरा में।
५.	गजास्या	पश्चिम में	स्थान अज्ञात।
६.	त्वरिता	नैऋत्य कोण में	स्थान अज्ञात।
७.	शववाहिनी	दक्षिण में	स्थान अज्ञात।
८.	विश्वा	आग्नेय कोण में	सिद्धिविनायक के समीप मणिकर्णिका पर।
९.	सौभाग्यगौरी	क्षेत्र के मध्य में	प्राचीन विश्वनाथ के उत्तर, इस समय आदिविश्वेश्वर में।

वर्त्तमान काल में शक्ति-यात्रा लुप्त हो गई है। यही कारण है कि इनका पता-ठिकाना भी जनमानस भूल गया है।

इनके अतिरिक्त दो अन्य शक्तियों का उल्लेख काशीखण्ड में मिलता है।

१०. कौर्मी शक्ति : इसका स्थान महालक्ष्मी के दक्षिण में बतलाया गया है, परन्तु अब वहाँ इस देवीपीठ का पता नहीं चलता।

११. दीप्ता शक्ति : सूर्यकुण्ड मुहल्ले में साम्बादित्य के समीप इनका स्थान है। वर्त्तमान समय में भी इनकी मूर्त्ति वहाँ है और पूजी जाती है :

दीप्ता नाम महाशक्तिः साम्बादित्यसमीपगा।
देदीप्यमानलक्ष्मीका जायन्ते तत्समर्चनात्॥ (का० खं० ७०।६२)

(ग) दुर्गापीठ : पुराने समय में चैत्र-नवरात्र में गौरी-यात्रा तथा आश्विन-नवरात्र में दुर्गा-यात्रा ऐसा क्रम था, परन्तु पिछले चार-पाँच सौ वर्षों से दोनों नवरात्रों में दुर्गा-यात्रा होने लगी है। केवल कुछ लोग गौरी-यात्रा भी करते हैं। इसी सन्दर्भ में त्रिस्थलीसेतु में कहा गया है कि **चैत्रनवरात्रे दुर्गायात्रेति शिष्टसम्प्रदायः**, अर्थात् चैत्र-नवरात्र में दुर्गा-यात्रा शिष्ट लोग करते हैं; क्योंकि वह शिष्टाचार द्वारा स्वीकृत है। काशीखण्ड में आश्विन-नवरात्र में दुर्गाजी की वार्षिक यात्रा का वर्णन हुआ है और उसका वड़ा माहात्म्य है। यों तो, प्रत्येक अष्टमी और चतुर्दशी तथा मंगलवार को दुर्गा-यात्रा का विधान है।

अष्टम्यां च चतुर्दश्यां भौमवारे विशेषतः।
नवरात्रं प्रयत्नेन प्रत्यहं सा समर्चिता॥
नाशयिष्यति विघ्नौघान्सुमतिं च प्रयच्छति।
शारदं नवरात्रं च सकुटुम्बैः शुभार्थिभिः॥
यो न सांवत्सरीं यात्रां दुर्गायाः कुरुते कुधीः।
काश्यां विघ्नसहस्राणि तस्य स्युश्च पदे पदे॥ (का० खं० ७२।८२—८६)

यहाँ लोलार्क से पश्चिम दुर्गाकुण्ड पर स्थित दुर्गापीठ के सम्बन्ध में उल्लेख है। परन्तु, लिंगपुराण में दुर्गा-यात्रा के सम्बन्ध में 'नवदुर्गास्तथा प्रोक्ताः' (कृ० क० त०, पृ० १२१) पद मिलता है, जिससे यह स्पष्ट है कि वाराणसी में दुर्गाजी के नौ प्रधान पीठ थे, जिनकी यात्रा होती थी। यह यात्रा आजकल भी नवरात्रों में होती है। कृत्यकल्पतरु में इन नौ पीठों का स्थान-निर्देश न होने से यह तो दृढतापूर्वक नहीं कहा जा सकता कि ये नौ पीठ कौन-से थे, परन्तु वर्त्तमान परम्परा में वे नौ स्थान निश्चित हैं। दुर्गाकवच में दुर्गा के जो नौ नाम दिये गये हैं, उनके साथ देवी के नौ पीठों का सम्वन्ध स्थापित हो गया है और नवरात्र के नौ दिनों में प्रतिपदा से प्रारम्भ करके नवमी-पर्यन्त क्रम से उनकी आराधना होती है। यह क्रम इस प्रकार है :

१. शैलपुत्री : शैलेश्वरी देवी। मढ़ियाघाट वरणा-तट पर।

२. ब्रह्मचारिणी : दुर्गाघाट की दुर्गा, जो जनसाधारण में छोटी दुर्गाजी के नाम से प्रसिद्ध हैं। मकान नं० के० २२/७१।

३. चन्द्रघण्टा : चित्रघण्टा। चौक के पास चन्दू नाऊ की गली में, मकान नं० सी० के० २३/३४।

४. कूष्माण्डा : दुर्गाकुण्ड की दुर्गा, जो बड़ी दुर्गा भी कहलाती हैं।

५. स्कन्दमाता : वागीश्वरी देवी के मन्दिर में, जैतपुरा मुहल्ले में।

६ कात्यायनी : आत्मावीरेश्वर के मन्दिर में।

७. कालरात्रि : कालिकागली की कालीजी।

८. महागौरी : अन्नपूर्णाजी। प्राचीन समय में अन्नपूर्णा-मन्दिर के पीछे भवानी की पूजा होती थी और वे ही प्राचीन अन्नपूर्णा हैं। अब कोई-कोई जानकार व्यक्ति ही उनकी आराधना करते हैं। इस समय भवानी की मूर्त्ति अन्नपूर्णाजी के पास के राम-मन्दिर में आ गई है। वहीं भवानीश्वर भी हैं। कुछ लोक संकटाजी को महागौरी मानते हैं।

९. सिद्धिदात्री : सिद्धयोगेश्वरी, जिनका वर्त्तमान नाम सिद्धेश्वरी हो गया है। मकान नं० सी० के० ७/१२४ में।

लिंगपुराण में एक और दुर्गापीठ का उल्लेख है, जो भैरवेश्वर के समीप है। यहाँ दुर्गाजी की नृत्यपरायणा मूर्त्ति थी। कालभैरव-मन्दिर के पश्चिम मकान नं० के ३२/७ में शीतलाजी के नाम से इस समय इनकी आराधना होती है। प्राचीन मूर्त्ति कालभैरव-मन्दिर में रखी है :

तत्र दुर्गा स्थिता भद्रे मामपि हि भयङ्करा।
नृत्यमाना तु सा देवी लिङ्गस्यैव समीपतः॥

(लिं० पु०, कृ० क० त०, पृ० ८५)

(घ) गौरीपीठ : प्राचीन लिंगपुराण में पंचगौरी-यात्रा का उल्लेख है, जो प्रत्येक मास के शुक्लपक्ष की तृतीया को होती थी, यद्यपि आज की ही तरह चैत्र तथा आश्विन शुक्ल-तृतीया का अत्यधिक माहात्म्य माना जाता था :

स्नानं कृत्वा तु गन्तव्यं गोप्रेक्षे तु यशस्विनि।
अहनिकालिका देवी अर्चितव्या प्रयत्नतः॥
ज्येष्ठस्थाने ततो गौरी अर्चितव्या प्रयत्नतः।
तस्मात्स्थानात्तु गन्तव्यमविमुक्तस्य चोत्तरे॥
तत्र देवी सदागौरी पूजितव्या च भक्तितः।
अन्यावापि परा प्रोक्ता संवर्त्तललिता शुभा॥
द्रष्टव्या चापि सा देवी सर्वकामफलप्रदा।
(लिं० पुराण, कृ० क० त०, पृ० १२५-१२६)

यह पाठ गायकवाड़-सीरीज में प्रकाशित कृत्यकल्पतरु में है, परन्तु त्रिस्थलीसेतु में यही उद्धरण कुछ दूसरे रूप में दिया हुआ है। उसमें दूसरी पंक्ति में 'अहनिकालिका' के स्थान पर 'मुखनिर्मालिका' पाठ है, जो परम्परास्वीकृत है। काशीखण्ड में भी इस सन्दर्भ में मुखनिर्मालिका का ही नाम मिलता है :

गोप्रेक्षतीर्थे सुस्नाय मुखनिर्मालिकां व्रजेत्। (का० खं० १००।६८)

इस प्रकार, यह सिद्ध हुआ कि पंचगौरी-यात्रा में गोप्रेक्ष-क्षेत्र में मुखनिर्मालिका गौरी, ज्येष्ठ स्थान में ज्येष्ठा गौरी, अविमुक्तेश्वर के उत्तर सदागौरी (सम्भवतः सौभाग्यगौरी से यहाँ तात्पर्य है), और अन्त में संवर्त्तललितागौरी—इनकी यात्रा होती थी। परन्तु, ये केवल चार गौरीपीठ हुए और यात्रा का नाम पंचगौरी-यात्रा था, जिससे स्पष्ट है कि लिपि-प्रमाद से पाँचवीं गौरी का नाम वहाँ छूट गया है। काशीखण्ड में नव-गौरीयात्रा का वर्णन है। इसमें ज्येष्ठागौरी के बाद सौभाग्यगौरी तथा श्रृंगारगौरी के पूजन का आदेश है। इससे ऐसा समझ पड़ता है कि श्रृंगारगौरी का नाम ही लिंगपुराण के उद्धरण में छूट गया है, परन्तु यह केवल कल्पना ही है। निश्चयपूर्वक कुछ भी नहीं कहा जा सकता। एक शंका और भी है, जिसका समाधान कठिन है। वह यह कि लिंगपुराण में तीन ललिताओं का उल्लेख है। एक ललिता और दूसरी भोगललिता और तीसरी संवर्त्तललिता। लिंगपुराण में ललिता मंगलागौरी का नाम है और भोगललिता वर्त्तमान ललिता देवी के लिए कहा गया है, जो अपने स्थान से हटकर उत्तर दिशा में आ गई हैं। संवर्त्त-ललिता का स्थान कहाँ था, इसका पता नहीं है। इस प्रकार, पंचगौरी-यात्रा में जिस ललिता की यात्रा होती थी, वह कहाँ थी, यह स्पष्ट नहीं है।

काशीखण्ड में जिस नवगौरी-यात्रा का वर्णन है, वह आज भी प्रचलित है, यद्यपि इसका प्राधान्य अब नहीं रह गया।

गोप्रेक्षतीर्थे सुस्नाय मुखनिर्मालिकां व्रजेत्।
ज्येष्ठावाप्यां नरः स्नात्वा ज्येष्ठां गौरीं समर्चयेत्॥
सौभाग्यगौरीं सम्पूज्य ज्ञानवाप्यां कृतोदकः।
ततः श्रृङ्गारगौरीं च तत्रैव च कृतोदकः॥
स्नात्वा विशालगङ्गायां विशालाक्षीं ततो व्रजेत्।
सुस्नातो ललितातीर्थे ललितामर्चयेत्ततः॥
स्नात्वा भवानीतीर्थे तु भवानीं परिपूजयेत्।

मङ्गला च ततोऽभ्यर्च्या बिन्दुतीर्थकृतोदकैः ॥
ततो गच्छेन्महालक्ष्मीं स्थिरलक्ष्मीसमृद्धये ।

(का० खं०, १००।६८—७२)

गोप्रेक्षतीर्थ में स्नान करके मुखनिर्मालिका गौरी का, ज्येष्ठावापी में स्नान करके ज्येष्ठागौरी का, ज्ञानवापी में स्नान करके सौभाग्यगौरी तथा शृंगारगौरी का, विशालाक्षी के समीप गंगा में स्नान करके विशालाक्षी का, ललितातीर्थ (ललिताघाट) में स्नान करके ललितागौरी का, भवानीतीर्थ में स्नान करके भवानीगौरी का, बिन्दुतीर्थ (पंचगंगाघाट) में स्नान करके मंगलागौरी का और लक्ष्मीकुण्ड में स्नान करके महालक्ष्मी का दर्शन-पूजन करने का विधान इस यात्रा में है।

१. मुखनिर्मालिका गौरी : अब अपने प्राचीन स्थान पर नहीं हैं। उनकी वर्त्तमान मूर्त्ति गायघाट पर हनुमान्‌जी के मन्दिर में है। त्रिस्थलीसेतु में तथा वीरमित्रोदय में मुखनिर्मालिका तथा मुखप्रेक्षणिका को एक ही माना गया है, जो ठीक नहीं है।

(त्रि० से०, पृ० २२२; वी० मि०, पृ० २८३)

२. ज्येष्ठा गौरी : भूतभैरव मुहल्ले में है, परन्तु ज्येष्ठावापी अब लुप्त हो गई है। ज्येष्ठ शुक्ला अष्टमी को इनकी विशेष यात्रा अब भी होती है। ज्येष्ठमासि सिताष्टम्यां तत्र कार्यो महोत्सवः (का० खं० ६३।१४)।

३. सौभाग्यगौरी : आदिविश्वेश्वर के घेरे में अब इनकी मूर्त्ति है।

४. शृंगारगौरी : विश्वनाथजी के मन्दिर में ईशान कोण में जो देवी की मूर्त्ति है, वही वर्त्तमान काल में शृंगारगौरीपीठ माना जाता है, यद्यपि टूटे हुए ज्ञानवापी मस्जिदवाले विश्वेश्वर-मन्दिर के पश्चिम की ओर शृंगारगौरी का स्थान-पूजन लोग अब भी करते हैं।

५. विशालाक्षी गौरी : मीरघाट पर धर्मेश्वर के समीप प्रसिद्ध। यह भी वाराणसी के प्रसिद्ध देवीपीठों में है, जिसका किसी समय बड़ा माहात्म्य था। यहाँ भगवान् विश्वनाथ विश्राम करते हैं और सांसारिक कष्टों से खिन्न मनुष्यों को विश्रान्ति देते हैं :

विशालाक्ष्या महासौधे मम विश्रामभूमिका ।
तत्र संसृतिखिन्नानां विश्रामं श्राणयाम्यहम् ॥ (का० खं०, ७९।७७)

भाद्र कृष्ण-तृतीया को इनकी वार्षिक यात्रा होती है। देवीभागवत में काशी में केवल इसी देवीपीठ का उल्लेख है।

विशालाक्षी महापीठे दत्तं जप्तं स्तुतं हुतम् ।
मोक्षस्तस्य परीपाको नात्र कार्या विचारणा ॥ (का० खं० ७०।१३-१४)

६. ललितागौरी : ललिताघाट पर प्रसिद्ध। ये पहले विशालाक्षी के दक्षिण में थीं। अब उत्तर में हैं।

७. भवानीगौरी : प्राचीनकाल में इनका बड़ा माहात्म्य था और इनकी यात्रा चैत्र-नवरात्र तथा आश्विन-नवरात्र की अष्टमी को होती थी। काशी का प्रधान देवीपीठ यही माना जाता था। काशीखण्ड में कहा गया है कि काशी-निवासियों के योगक्षेम की व्यवस्था भवानी ही

करती हैं। वे विश्वेश्वर की पट्टरानी हैं। इनको महागौरी भी कहा जाता है, जिस अधिकार से नवदुर्गा में भी इनका स्थान है :

योगक्षेमं सदा कुर्याद् भवानी काशिवासिनाम्। (का० खं०, ६१।१३०)
गृहमध्येऽत्र विश्वेशो भवानी तत्कुटुम्बिनी।
सर्वेभ्यः काशिसंस्थेभ्यो मोक्षभिक्षां प्रयच्छति॥ (का० खं०, ६१।१३२)
भवानीराजसदने ममास्ति हि महानसम्।
यत्तत्रोपहृतम्पुण्यं निर्विशामि मुदैव तत्॥ (का० खं०, ७६।७६)
दुष्प्रापमपि यत्किञ्चित्काशीक्षेत्रनिवासिनाम्।
तत्सुप्राप्यं करोत्येव भवानी पूजिता नृभिः॥ (का० खं०, ६१।१३३)

ब्रह्मवैवर्त्तपुराण के काशीरहस्य के अनुसार भवानी ही अन्नपूर्णा थीं :

आदौ देव्याः मण्डपं सम्प्रविश्य तत्र स्थित्वा पूजयेच्छ्रीभवानीम्।
साङ्गोपाङ्गमागमोक्तैर्विधानैः स्मृत्वा नत्वा प्रार्थयेदन्नदात्रीम्॥
(का० खं०, १६।१०)

भवानी के सम्बन्ध में जो स्तुति काशीरहस्य में है, उससे भी यही भाव निकलता है। वहाँ लिखा है :

मार्तविशालाक्षि भवानि सुन्दरि त्वामन्नपूर्णे शरणं प्रपद्ये।
(का० खं०, २०।१०२)

भवानी के दर्शन-पूजन के बाद आठ परिक्रमा करने का नियम था :

प्रदक्षिणीकृता यैस्तु महापातकनाशिनी।
अष्टवारं सुकृतिभिर्न तेषां भ्रमणं भवेत्॥
(ब्र० वै० पु०, त्रि० से०, पृ० २०४)

श्रीमद्भवानीसदनं समाप्य प्रदक्षिणीकृत्य तथाष्टवारम्।
(का० खं०, २०।१०७)

चैत्र शुक्ला अष्टमी को श्रद्धावान् लोग एक सौ आठ प्रदक्षिणा करते थे। काशीखण्ड भी यही कहता है :

चैत्राष्टम्यां महायात्राम्भवान्याः कारयेत्सुधीः।
अष्टाधिकाः प्रकर्त्तव्याः शतकृत्वः प्रदक्षिणाः॥ (का० खं०, ६१।१२६)

कालान्तर में जनमानस भवानी गौरी के माहात्म्य को भूल गया और जिस प्रकार अविमुक्तेश्वर का स्थान विश्वेश्वर ने ले लिया, उसी प्रकार भवानी के स्थान पर अन्नपूर्णाजी का आधिपत्य हो गया। यह परिवर्त्तन कब हुआ, यह नहीं कहा जा सकता; परन्तु त्रिस्थलीसेतु की रचना (सन् १५८५ ई०) के बाद ही ऐसा हुआ; क्योंकि उस ग्रन्थ में भवानी को ही अन्नपूर्णा माना गया है। सम्भवतः, औरंगजेब द्वारा काशी के मन्दिरों के तोड़ने के बाद जब देवस्थानों का पुनरुद्धार हुआ, तब यह बात हुई। भवानी की मूर्त्ति आज भी वर्त्तमान है और गौरी-यात्रा में उनका दर्शन-पूजन भी होता रहा है, परन्तु प्राधान्य समाप्त हो गया।

काशीखण्ड के अनुसार शुक्रेश्वर के पश्चिम तथा ढुण्ढिराज के दक्षिण भवानी का स्थान था और यात्रा की पुस्तकों में भी कालिका गली में उनका स्थान बताया गया है। पचास वर्ष पूर्व यह मन्दिर बाबूलाल पण्डा के मकान में था। परन्तु, इधर अन्नपूर्णाजी के पास के राम-मन्दिर में आ गया है। वहाँ जगन्नाथजी के पूर्व इनकी मूर्त्ति है। कालीजी के सामने की दालान में फर्श के नीचे भवानीतीर्थ का कुण्ड है, जो बहुत दिनों से दबा पड़ा है। पहले यह मूर्त्ति पूर्वाभिमुखी थी, अब उत्तराभिमुखी हो गई है।

शुक्रेशात्पश्चिमाशायां भवानीं योऽभिवीक्षते।
सर्वे मनोरथास्तस्य सिद्ध्यन्तीह न संशयः॥
काश्यां सर्वैव वस्तव्यं स्नातव्योत्तरवाहिनी।
भवानीशङ्करौ सेव्यौ प्राप्तव्ये मुक्तिमुक्तिके॥

(का० खं०, ६१।१३५-१३६)

भवानी की प्रसन्नता के लिए यह मन्त्र काशीखण्ड में दिया गया है :

मातर्भवानि तवपादरजो भवानि
मातर्भवानि तव दासतरो भवानि।
मातर्भवानि न भवानि यथा भवेऽस्मिं-
स्त्वद्भाऽभवान्यनुदिनं न पुनर्भवानि॥
तिष्ठता गच्छता वापि स्वपता जाग्रतापि वा।
अयं मन्त्रः सदा जप्यः सुखाप्त्यै काशिवासिना॥

(का० खं०, ६१।१३७-१३८)

८. मंगलागौरी : जैसा ऊपर दूसरे प्रसंग में कहा जा चुका है, प्राचीन लिंगपुराण में इनका नाम ललिता बताया गया है। इनके दर्शन-पूजन का भी बड़ा माहात्म्य था और वह आज भी वैसा ही अक्षुण्ण बना है। इनकी प्रदक्षिणा का फल पृथ्वी की प्रदक्षिणा के बराबर माना जाता है। चैत्र शुक्ला तृतीया को व्रत तथा इनके पूजन का विशेष फल है। उसको मनोरथतृतीया-व्रत भी कहा जाता है :

कर्त्तव्या चाब्दिकी यात्रा मधौ तस्यां तिथौ नरैः।
इति मन्त्रं समुच्चार्य प्रातः कृत्वा तु पारणम्।
न दुर्गत्वमाप्नोति न दारिद्र्यं कदाचन॥
न वै सन्तानविच्छित्ति भोगोच्छित्ति न जातुचित्।
स्त्री वैधव्यं न चाप्नोति न ना योषिद्वियोगभाक्॥
पापानि विलयं यान्ति पुण्यराशिश्च लभ्यते।
अपि वन्ध्यां प्रसूयेत कृत्वैतन्मङ्गलाव्रतम्॥

(का० खं०, ४९।८६-८८)

९. महालक्ष्मीगौरी : मिसिरपोखरा मुहल्ले में महालक्ष्मीजी का मन्दिर है। वहीं लक्ष्मीकुण्ड भी है और महालक्ष्मीश्वर शिव भी हैं, जो अब सोरहियानाथ महादेव कहे जाते हैं।

महालक्ष्मी गौरी की वार्षिक यात्रा भाद्रपद शुक्ला ८ से प्रारम्भ होकर आश्विन कृष्ण ८ तक सोलह दिनों की होती है। इन दिनों वहाँ बड़ा मेला लगता है, जो सोलह दिनों का होने का कारण सोरहिया का मेला कहलाता है। इस यात्रा से लक्ष्मीप्राप्ति होती है, ऐसा कहा गया है :

लक्ष्मीक्षेत्रं महापीठं साधकस्यैव सिद्धिदम् ।
साधकस्तत्र मन्त्राश्च नरः सिद्धिमवाप्नुयात् ॥
सन्ति पीठान्यनेकानि काश्यां सिद्धिकराण्यपि ।
महालक्ष्मीपीठसमं नान्यल्लक्ष्मीकरं परम् ॥
महाल्लक्ष्म्यष्टमीं प्राप्य तत्र यात्राकृतां नृणाम् ।
सम्पूजितेह विधिवत् पद्मा सद्मं न मुञ्चति ॥ (का० खं०, ७०।६५-६७)

इन प्रसिद्ध तथा विशिष्ट गौरीपीठों के अतिरिक्त वाराणसी में ६ अन्य गौरीपीठों का भी उल्लेख हुआ है।

१०. विश्वभुजा गौरी : धर्मेश्वर के घेरे में, दिवोदासेश्वर के मन्दिर में इनका स्थान है। चैत्र-नवरात्र की तृतीया को, जिसको मनोरथतृतीया भी कहते हैं, इनके दर्शन-पूजन का बड़ा माहात्म्य कहा गया है। आश्विन-नवरात्र में तो इनका दर्शन-पूजन नित्य ही करने का आदेश है। परन्तु, आजकल इनका दर्शन-पूजन करनेवालों की संख्या कुछ कम ही है :

मनोरथतृतीयायां व्रतं पौलोमि तच्छुभम् ।
पूज्या विश्वभुजा गौरी भुजविंशतिशालिनी ॥
(का० खं०, त्रि० से०, पृ० २२५)

शारदं नवरात्रं च कार्या यात्रा प्रयत्नतः ।
देव्या विश्वभुजाया वै सर्वकामसमृद्धये ॥
(का० खं०, त्रि० से०, पृ० २२१)

११. शान्तिकरी गौरी : कृत्यकल्पतरु के अनुसार इनका नाम शांकरी है। ये नवचण्डी में से एक हैं, जो पूर्व दिशा की रक्षा करती हैं। संगमेश्वर के पूर्व प्रयाग-लिंग के समीप इनका स्थान था और लिंगपुराण के अनुसार ब्रह्मवृक्ष, अर्थात् पाकड़ अथवा पीठभेद से बिल्ववृक्ष में इनका निवास था। तीर्थनिवासियों की सब प्रकार की शान्ति इनकी आराधना से मिलती थी, ऐसा कहा गया है। आजकल ककरहाघाट के समीप इनका मन्दिर है। आदिकेशव के समीप खर्वविनायक के पास भी इनका छोटा मन्दिर है।

तत्र सा शाङ्करीदेवी ब्रह्मवृक्षेऽवतिष्ठते ।
शान्तिं करोति सर्वेषां या च तीर्थनिवासिनः ॥
(लिं० पु०, कृ० क० त०, पृ० ४५)

तत्र शान्तिकरी गौरी पूजिता शान्तिकृद्भवेत् । (का० खं०, ९७।१७)

१२. अम्बिका गौरी : रत्नेश्वर के पूर्व दाक्षायिणीश्वर लिंग के समीप इनका स्थान कहा गया है, जो अब सतीश्वर के नाम से विख्यात है। समीप में

अम्बिकेश्वर, अम्बिका गौरी तथा कार्त्तिकेय की मूर्त्ति थी, जिनकी पूजा-अर्चना के फलस्वरूप मुक्ति प्राप्त होती है। अम्बिकागौरी लुप्त हैं, परन्तु सतीश्वर की पार्वती की पूजा होती है :

अम्बिका नाम गौरी त्वं तत्राहं चाम्बिकेश्वरः।
मूर्त्तः षडाननस्तत्र तव पुत्रः सुमध्यमे॥
एतत्त्रयं नरो दृष्ट्वा न गर्भं प्रविशेत्सुमे।

(का० खं०, ६७।१९-२०)

१३. पार्वती गौरी : इनका स्थान पार्वतीश्वर लिंग के समीप आदि महादेव के घेरे में है। लिंगपुराण में एक पार्वती देवी का स्थान रुद्रकुण्ड के नैऋत्य कोण में महालय शिवायतन में कहा गया है, जो अब लुप्त हो गया है। काशीखण्ड में इनका उल्लेख पार्वतीश्वर के साथ-ही-साथ है, परन्तु इनका स्थान नहीं बतलाया गया है। सम्भवतः, आदिमहादेव की पार्वती गौरी उन्हीं की पुनः स्थापना है।

यत्र नित्यं महेशानो गौर्या सह विमुक्तिदः। (का० खं०, ३३।१२८)

१४. विरूपाक्षी गौरी : देवयानीश्वर के समीप इनका स्थान बतलाया गया है। विश्वेश्वर के दक्षिण निकुम्भ गण और इनके आग्नेय कोण में विरूपाक्ष तथा उनके समीप विरूपाक्षी गौरी इस प्रकार इनका स्थान-निर्देश है। निकुम्भ का स्थान विश्वनाथ-मन्दिर के वायव्य कोण में जो पार्वती का मन्दिर कहा जाता है, उसके गर्त्त में है। उनसे आग्नेय कोण में शनैश्चरेश्वर से पूर्व वह शिवलिंग है, जो इस समय बृहस्पतीश्वर के नाम से पूजा जाता है। यही विरूपाक्ष लिंग है और विश्वनाथ-मन्दिर के नैऋत्य कोण में जो देवी की मूर्त्ति है, वही विरूपाक्षी गौरी हैं।

ततो गौरीं विरूपाक्षीं देवयान्या उदग्दिशि।
पूजयित्वा नरो भक्त्या वाञ्छितां लभते श्रियम्॥ (का० खं०, ७०।३६)

१५. विजयभैरवी गौरी : कर्कोटकवापी (नागकुआँ) के वायव्य कोण में इनका स्थान बतलाया गया है, परन्तु इनका ठीक-ठीक पता-ठिकाना अब नहीं जान पड़ता। भूतभैरव पर व्याघ्रेश्वर के समीप मकान नं० के० ६३/१६ में जो दो देवीपीठ हैं, उनमें से एक इनकी पुनः स्थापना हो सकती है। धूपचण्डी के मन्दिर में भी जो पार्वती की मूर्त्ति है, वह भी इनकी ही हो सकती है।

१६. त्रिलोकसुन्दरी गौरी : पितामहेश्वर-मन्दिर के द्वार पर जो देवीमूर्त्ति इस समय शीतला नाम से पूजी जाती है, वही त्रिलोकसुन्दरी गौरी हैं।

(ङ) मातृपीठ : 'मातरः' शब्द से सामान्यतः अष्टमातृका सप्तमातृका तथा षोडशमातृका की ओर ध्यान जाता है। काशीखण्ड में तथा लिंगपुराण में यह बात नहीं स्पष्ट की गई कि 'मातरः' शब्द से किनका अभिप्राय है, परन्तु षोडशमातृका का स्वरूप इस प्रकार का नहीं है कि

उनका मन्दिर हो। अतएव, 'मातरः' से सप्तमातृका तथा अष्टमातृका का ही संकेत समझ पड़ता है। अष्टमातृका में ब्राह्मी, माहेश्वरी, ऐन्द्री, वाराही, वैष्णवी, कौमारी, चामुण्डा तथा चर्चिका ये आठ देवियाँ हैं। सप्तमातृका में पहली छह तो वे ही हैं, परन्तु चामुण्डा के स्थान पर कौवेरी का नाम आता है और चर्चिका का नाम छूट जाता है। कौवेरी का नाम काशीखण्ड तथा लिंगपुराण में कहीं नहीं मिलता तथा चामुण्डा और चर्चिका के नाम स्पष्ट रूप से मिलते हैं। इससे सम्भावना यही समझ पड़ती है कि 'मातरः' शब्द इन पुराणों में अष्टमातृका के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। परन्तु, इन आठों मातृकाओं के अतिरिक्त तीन अन्य मातृकाओं का उल्लेख भी वहाँ मिलता है, जो इन दोनों में से किसी वर्ग में नहीं आतीं। इनके नाम हैं नारसिंही, कौर्मी तथा विकटा अथवा पंचमुद्रा। इन देवियों के स्वतन्त्र पीठों का नामोल्लेख तथा स्थान-निर्देश भी वहाँ मिलते हैं।

१. लिंगपुराण तथा काशीखण्ड दोनों में एक मातृतीर्थ का उल्लेख है, जो दशाश्वमेध के उत्तर में है और वहीं पर मातृकापीठ भी था, जिसमें सम्भवतः अष्टमातृका प्रतिष्ठित थीं। इस पीठ के विषय में केवल इतना ही विवरण मिलता है कि उसके सम्मुख एक कुण्ड भी था, जिसका नाम मातृकुण्ड अथवा मातृतीर्थ था, जिसमें स्नान करने से मातृकाओं की कृपा से मनोवांछित फल की प्राप्ति होती थी। दशाश्वमेधघाट पर का शीतला-मन्दिर ही यह मातृपीठ है। मातृकुण्ड अब लुप्त हो गया है। 'तीर्थों का स्थानान्तरण' शीर्षक में इस विषय का पूर्ण विवेचन किया जायगा :

तदुत्तरं मातृतीर्थं स्नानं जन्मभयापहृत्।
तत्र स्नानं तु यः कुर्यान्नारी वा पुरुषोऽपि वा ॥
ईप्सितं फलमाप्नोति मातॄणां च प्रसादतः।

(का० खं०, ९७।४५-४६)

दशाश्वमेधाच्चोत्तरतो मातरस्तत्र संस्थिताः।
तासां मुखे तु तत्कुण्डं तिष्ठते वरवर्णिनि ॥
तत्र स्नानं नरः कुर्यान्नारी वा पुरुषोऽपिवा।
ईप्सितं फलमाप्नोति मातॄणां च प्रसादतः॥

(लिंगपुराण, कृ० क० त०, पृ० ११६)

२. अष्टमातृका पीठ : आठों मातृकाओं के वाराणसी में अलग-अलग पीठ भी हैं, जिनका स्पष्ट स्थान-निर्देश पुराणों में मिलता है।

क. ब्राह्मी : ब्रह्मेश्वर के पश्चिम इनका स्थान बतलाया गया है और आज भी वहीं है। बालमुकुन्द के चौहट्टे में मकान नं० डी० ३३/६७ में ब्रह्मेश्वर-मन्दिर में ही इनकी मूर्त्ति है। इनकी आराधना से ब्रह्मविद्या की प्राप्ति होती है।

हंसयानवती ब्राह्मी ब्रह्मेशात्पश्चिमे स्थिता।
गलत्कमण्डलुजलचुलकाताडिताहिता ॥
ब्रह्मविद्याप्रबोधार्थं काश्याम्पूज्या दिने दिने ॥

(का० खं०, ७०।३२-३३)

ख. माहेश्वरी : विश्वेश्वर के दक्षिण ज्ञानवापी के नैऋत्य कोण में जो पीपल का वृक्ष है, वहीं महेश्वर का मन्दिर था। उनके दक्षिण माहेश्वरी का स्थान था।

इस समय विश्वनाथ की कचहरी में ज्ञानवापी से जाने का जो गलियारा है, उसमें उत्तर की दीवार में देवी की मूर्त्ति है :

महेश्वराद्दक्षिणतो देवी माहेश्वरी नरैः।
वृषयानवती पूज्या महावृषसमृद्धिदा ॥ (का० खं०, ७०।३०)

ग. ऐंद्री : इनका मन्दिर इन्द्रेश्वर के दक्षिण तथा मणिकर्णिका घाट पर स्थित तारकेश्वर के पश्चिम था। इस समय इनका पता नहीं लगता :

वज्रहस्ता तथा चैन्द्री गजराजरथस्थिता।
इन्द्रेशाद्दक्षिणे भागेऽर्चिता सम्पत्करी सदा ॥ (का० खं०, ७०।८८)

घ. वाराही : ऋतुवाराह के समीप इनकी मूर्त्ति थी, ऐसा काशीखण्ड में लिखा है। इस समय दाल्भ्येश्वर के समीप उत्तर की ओर मकान नं० डी० १६/८४ में इनका मन्दिर है। इनकी आराधना से विपत्तियों से रक्षा होती है :

अन्यास्तु काश्यां वाराही ऋतुवाराहसन्निधौ।
ताम्प्रणम्य नरो भक्त्या विपदब्धौ न मज्जति ॥
(का० खं०, ७०।२६)

ङ. वैष्णवी : नारायणी नाम से गोपीगोविन्द के पश्चिम इनका स्थान कहा गया है। राजमन्दिर के उत्तर जो शीतलाजी हैं, सम्भवतः वे ही नारायणी हैं (मकान नं० के० २०/१९)। इनकी आराधना से पातकों के नाशपूर्वक महोदय होता है :

शार्ङ्गचापविनिर्मुक्तमहेषुभिरितस्ततः ।
उत्सावयन्तीम्प्रत्यूहान्काश्यां नारायणीं श्रयेत् ॥
प्रतीच्यां गोपीगोविन्दात् भ्राम्यच्चक्रोच्चतर्जनीम् ।
नारायणीं यः प्रणमेत्तस्य काश्यां महोदयः ॥
(का० खं०, ७०।३४)

च. कौमारी : महादेव के पश्चिम स्कन्देश्वर के समीप कौमारी का स्थान काशीखण्ड में बतलाया गया है। परन्तु, आजकल न तो स्कन्देश्वर का पता है और न कौमारी मातृका का :

स्कन्देश्वरसमीपे तु कौमारी बर्हियानगा।
प्रेक्षणीया प्रयत्नेन महाफलसमृद्धये ॥ (का० खं०, ७०।२९)

छ. चामुण्डा : वाराणसी-क्षेत्र के उत्तर-पूर्व भाग में चर्ममुण्डा का स्थान तथा दक्षिण में भदैनी के पास महारुण्डा का स्थान बताये गये हैं और इनके मध्य में चामुण्डा का स्थान है, ऐसा कहा गया है, जिनकी मूर्त्ति केवल मुण्डस्वरूपिणी थी। वर्त्तमान काल में इनकी मूर्त्ति लोलार्क के समीप अर्कविनायक के मन्दिर में है :

तयोरन्तरतस्तिष्ठेच्चामुण्डा मुण्डरूपिणी।
एतास्तिस्त्रः प्रयत्नेन पूज्याः क्षेत्रनिवासिभिः ॥

धनधान्यप्रदाश्चैताः पुत्रपौत्रप्रदा इमाः ।।
उपसर्गानिमूर्ध्नन्ति दद्युर्नैश्रेयसीं श्रियम् ।।

(का० खं०, ७०।८८-९१)

ञ. चर्चिका : मंगलागौरी के उत्तर में चर्चिका का स्थान लिंगपुराण तथा काशीखण्ड में बतलाया गया है। इनकी मूर्त्ति इस समय ब्रह्मचारिणी दुर्गा से मंगलागौरी जाने के मार्ग में मकान नं० के० २३/७२ में है :

ललितायाश्चोत्तरेण चर्चिकाधिष्ठिता शुभा।
मानवानां हितार्थाय वरदा सर्वदेहिनाम् ।।

(लिंगपुराण, कृ० क० त०, पृ० ९६)

तदुत्तरे चर्चिकाया देव्याः सन्दर्शनं शुभम्। (का० खं०, ९७।९०)

झ. विकटा : अथवा पंचमुद्रा मातृका : इन आठों मातृकाओं के अतिरिक्त जिन तीन मातृकाओं का वर्णन काशीखण्ड में किया गया, उनमें विकटा का स्थान सर्वोपरि है। यथार्थ तो यह है कि ऊपर कहे हुए मातृकाओं के नवों स्थानों का दर्शन-पूजन तो कुछ ही लोग कभी-कभी करते हैं, परन्तु विकटा मातृका की संकटा देवी के नाम से आराधना का वर्त्तमान काल में भी बड़ा माहात्म्य है। भक्त लोग सहस्रों की संख्या में नित्य इनकी अर्चना करते हैं और शुक्रवार तथा सोमवार को तो यह संख्या बहुत ही बड़ी हो जाती है। पद्मपुराण में इनका नाम संकटा कहा गया है। जिस स्थान पर इनकी स्थापना है; पंचमुद्रा मातृका के सम्बन्ध से उसका नाम पंचमुद्रा महापीठ बतलाया गया है, जो स्वयं ही सिद्धि देनेवाला माना गया है। संकटा देवी के दर्शन-पूजन से सभी प्रकार के मनोरथ पूरे होते हैं। ऐसा जनसाधारण का विश्वास है। पंचमुद्रा तथा विकटा एक ही देवी के दो नाम हैं :

पञ्चमुद्रा महादेवी तिष्ठते यत्र काम्यदा।
यस्याः संसेवनान्नृणां निर्वाणश्रीरदूरतः ।।
सर्वत्र शुभजन्मिन्यां काश्यां मुक्तिः पदे पदे।
तथापि सविशेषं हि तत्पीठं सर्वसिद्धिकृत् ।।

(का० खं०, ८३।३७-३८)

पञ्चमुद्रे महापीठे वीरेश्वरसमीपतः।
विकटाख्या महादेवी पूजनीया हितेप्सुभिः ।।

(ब्रह्मपुराण, त्रि० से०, पृ० १५६)

तत्रैव विकटा देवी सर्वदुःखौघमोचिनी।
पञ्चमुद्रम्महापीठं तज्ज्ञेयं सर्वसिद्धिदम् ।।
तत्र जप्ता महामन्त्राः क्षिप्रं सिध्यन्ति नान्यथा।

(का० खं०, ९७।४०-४१)

पद्मपुराण के अनुसार संकटा देवी का स्थान आत्मावीरेश्वर के उत्तर तथा चन्द्रेश्वर के पूर्व होना चाहिए और संकटाजी का वर्त्तमान मन्दिर वहीं पर है भी :

आनन्दकानने देवि सङ्कटा नाम विश्रुता।
वीरेश्वरोत्तरे भागे पूर्वे चन्द्रेश्वरस्य च॥ (पद्मपुराण)

पद्मपुराण में उनके ये आठ नाम भी दिये गये हैं: संकटा, विजया, कामदा, दुःखहारिणी, शर्वाणी, कात्यायिनी, भीमनयना तथा सर्वरोगहरा। सोलहवीं शताब्दी में एकनाथजी ने अपनी गीता यहीं लिखी थी। उन्होंने मणिकर्णिका के समीप पंचमुद्रपीठ में लिखी, ऐसा कहा है। एक जनश्रुति यह भी है कि आत्मावीरेश्वर के मन्दिर में जो देवी हैं, वे भी विकटा देवी हैं। इससे स्पष्ट है कि विकटा देवी का आदिम स्थान नष्ट हो जाने पर उनकी नई स्थापना आत्मावीरेश्वर के मन्दिर में हुई। कालान्तर में पुराने पीठ में संकटा नाम से भी नई मूर्त्ति स्थापित हुई, परन्तु कात्यायिनी दुर्गा के नाम से नवरात्र में उनका पूजन आत्मावीरेश्वर में ही चलता रहा, जैसा आज भी चल रहा है।

ञ. नारसिंही: निर्वाणनरसिंह के समीप नारसिंही मातृका का स्थान-निर्देश काशीखण्ड में हुआ है, जो स्वर्गद्वारी के पास होना चाहिए। परन्तु, अब ये लुप्त हैं। निर्वाणनरसिंह भी लुप्त हैं।

निर्वाणनरसिंहस्य समीपे मोक्षकाङ्क्षिभिः।
नारसिंही समर्च्यात्र समुद्यच्चक्ररम्यदोः॥ (का० खं०, ७०।३१)

(च) अन्य देवीपीठ: गौरी, चण्डी, दुर्गा, शक्ति तथा मातृकाओं के ऊपर कहे हुए स्थानों के अतिरिक्त २८ देवीपीठ वाराणसी में और हैं, जिनका उल्लेख पुराणों में मिलता है। इनमें अमृतेश्वरी (अमृतेश्वर के समीप), कुब्जा (कुब्जाम्बरेश्वर के पास), विधिदेवी (विधीश्वर के समीप) तथा द्वारेश्वरी (द्वारेश्वर के समीप, वर्त्तमान काल में दुर्गाजी के मन्दिर में) पार्वती के पीठ हैं। शिवदूती, चित्रग्रीवा (केदारेश्वर के समीप), हरसिद्धि (सिद्धिविनायक के निकट), सिद्धलक्ष्मी (जो सिद्धिविनायक के पिछवाड़े हैं), हयकण्ठी (लक्ष्मीकुण्ड पर), तालजंघेश्वरी, यमदंष्ट्रा, चर्ममुण्डा, महारुण्डा, स्वप्नेश्वरी (लोलार्क के उत्तर), आशापुरीदेवी (मैदागिन के तालाब के उत्तर इनका मन्दिर है), देवयानी, द्रौपदी (नकुलीश्वर के समीप नटराज की मूर्त्ति में इनका पूजन होता है; वहीं पर द्रुपदादित्य भी हैं), भीषणा भैरवी (भूतभैरव के समीप लुप्त), शुष्कोदरी देवी (मध्यमेश्वर के उत्तर), तथा कुण्डेश्वरी देवी, इन देवीपीठों के क्या ध्यान तथा स्वरूप हैं, इसका स्पष्ट वर्णन कहीं नहीं मिलता और इनमें से बहुतों के स्थान भी सम्भवतः लुप्त हो गये हैं। गंगातीर पर केदारेश्वर के समीप एक महालक्ष्मी का मन्दिर है, जो पहले राजघाट के किले के समीप था। दिवाली पर इनके पूजन का विशेष माहात्म्य माना जाता है। भाद्रपद कृष्ण-अष्टमी को इनकी यात्रा प्राचीन काल में होती थी, परन्तु अब उसका लोप हो गया है:

नभस्य बहुलाष्टम्यां कृत्वा जागरणं निशि।
समर्च्य च महलक्ष्मीं व्रती व्रतफलं लभेत्॥ (का० खं०, ५८।४३)

भागीरथी देवी: ललिताघाट पर भागीरथी, अर्थात् गंगाजी की एक मूर्त्ति है, वहीं पर भागीरथीतीर्थ भी कहा गया है।

मणिकर्णी: मणिकर्णिका-कुण्ड में मणिकर्णिका देवी की मूर्त्ति है, जो मणिकर्णिकातीर्थ का ही देवी-स्वरूप है:

द्रवरूपं परित्यज्य ललनारूपधारिणी।
प्रत्यक्षरूपिणी तत्र भयैक्षिमणिकर्णिका॥ (का० खं०, ६१।८६)

इनकी आराधना का बहुत बड़ा माहात्म्य है। उससे मुक्ति की प्राप्ति होती है, ऐसा काशीखण्ड में लिखा है। इसको मुक्तिलक्ष्मीपीठ भी कहा जाता है।

वाराणसी देवी: काशीखण्ड तथा लिंगपुराण के अनुसार महादेव (आदिमहादेव) के पश्चिम इनका स्थान है और वर्त्तमान काल में त्रिलोचन महादेव के घेरे में इनका मन्दिर है। प्रत्येक द्वादशी के दिन इनकी वन्दना से काशीवास सिद्ध होता है:

तत्पश्चाद्विग्रहवती पूज्या वाराणसी नरैः।
सा पूजिता प्रयत्नेन सुखबस्तिप्रदा सदा॥ (का० खं०, ९७।८-९)
तत्र वाराणसी देवी स्थिता विग्रहरूपिणी।
मानवानां हितार्थाय स्थिता देवस्य दक्षिणे॥
वाराणसीं तु यो दृष्ट्वा भक्त्या चैव नमस्यति।
तस्य तुष्टा च सा देवी वसतिं च प्रयच्छति॥
(लिं० पु०, कृ० क० त०, पृ० ४१-४२)

ब्रह्मवैवर्त्तपुराण के काशीरहस्य में काशीदेवी का वर्णन है, जिनका स्थान गंगाकेशव के समीप कहा गया है और आजकल भी ललिताघाट पर इनकी मूर्त्ति विद्यमान है। काशी-रहस्य की 'सेतुबन्धा' टीका में कहा गया है कि ये दोनों मूर्त्तियाँ पृथक्-पृथक् देवता की हैं: वाराणसी देवी वाराणसी की अधिष्ठात्री तथा काशीदेवी काशी-क्षेत्र की अधिष्ठात्री। परन्तु, सम्भावना यह भी है कि ये दोनों एक ही देवता की मूर्त्तियाँ हों, जो तोड़-फोड़ के कारण दो स्थानों में प्रतिष्ठित हुईं। जब आदिमहादेव-स्थित वाराणसी देवी का मन्दिर टूट गया, तब ललिताघाट पर उनकी पुनः प्रतिष्ठा हुई और जब कालान्तर में आदिमहादेव का मन्दिर पुनः बना, तब वहाँ भी समीप में उनकी मूर्त्ति पुनः स्थापित हुई:

कदाचिल्लिङ्गरूपेण शिवेन परमात्मना।
शक्तिः पृथक् कृता शान्ता काशीति प्रथितिं गता॥
अधिष्ठात्री देवता त्वमितिक्षेत्रस्वरूपिणी।
भव त्वं सर्वभक्तानां महामोक्षप्रदायिनी॥
आरभ्य तद्दिनाद्देवी गङ्गाकेशवसन्निधौ।
अविमुक्तेश्वरन्ध्यायन्पश्चिमाभिमुखी स्थिता॥
पूजिता सा प्रयत्नेन काशीवासफलप्रदा॥
(ब्रह्मवैवर्त्तपुराण, का० र०, १७।१४–१७)

निगडभंजनी देवी: इनका बन्दीदेवी नाम अधिक प्रसिद्ध है। दशाश्वमेध घाट पर इनका स्थान है और बन्दियों के बन्धन से छुड़ाने में इनकी बड़ी ख्याति है। मंगलवार को इनकी पूजा का विशेष माहात्म्य है। मकान नं० डी० १७/१०० में इनकी मूर्त्ति है:

असौ बन्दी महादेवी नित्यं त्रैलोक्यवन्दिता।
निगडस्थानपि जनान्पाशान्मोचयति स्मृता॥ (का० खं०, ३३।१७७-१७८)
भौमवारे सदा पूज्या देवी निगडभञ्जनी।

कृत्वैकभुक्तं भक्त्यात्र बन्दीमोक्षणकाम्यया।
संसारबन्धविच्छित्तिमपि यच्छति सार्चिता॥ (का० खं०, ७०।४८-४९)

छागवक्रेश्वरी : वरणा नदी के पार कपिलधारा के समीप वृषभध्वज के दक्षिण इनका स्थान है। इनकी विशेषता यह है कि वरणापार होते हुए भी ये वाराणसी में मानी जाती हैं। इनकी कृपा से मनुष्य का काशीवास सुलभ होता है। आश्विन शुक्ला अष्टमी को इनकी यात्रा होती है। कपिलधारा तालाब के ऊपर इनकी मनुष्याकार भग्न मूर्त्ति है:

छागवक्त्रेश्वरी देवी दक्षिणे वृषभध्वजात्।
अहर्निशम्भक्षयति विघ्नौघतरुपल्लवान्॥
तस्या देव्याः प्रसादेन काशीवासः प्रलभ्यते।
अतश्छागेश्वरीं देवीं महाष्टम्यां प्रपूजयेत्॥ (का० खं०, ७०।७४-७५)

अघोरेशी : कृत्यकल्पतरु में उद्धृत लिंगपुराण में इनका नाम मिलता है और कामेश्वर के समीप इनकी स्थिति कही गई है। वहीं पर इस समय इनकी मूर्त्ति मकान नं० ए० २/२१ के सामने छोटी-सी मढ़ी में पेड़ के नीचे है; परन्तु इनका नाम अब लोग भूल गये हैं।

(छ) योगिनीपीठ : वाराणसी में चौंसठ योगिनियों का वास माना जाता है, जिनमें साठ का स्थान चौसट्ठी घाट पर राणामहल में है। अन्य चार में से 'वाराही' मीरघाट पर मकान नं० डी० १६/८४ में, 'मयूरी' लक्ष्मीकुण्ड पर, 'शुकिका' डौंड़ियावीर में तथा 'कामाक्षा' कमच्छा मुहल्ले में हैं, परन्तु इसका शास्त्रीय प्रमाण नहीं है। शास्त्रानुसार सभी को राणामहल में होना चाहिए। आश्विन नवरात्र में इनकी आराधना विशेष फलदायिनी मानी गई है। कृष्णपक्ष की चतुर्दशी को व्रत करके जागरण, पूजन तथा हवन का भी विधान है; परन्तु चैत्र कृष्ण-प्रतिपदा को इनकी यात्रा अब भी होती है, जिसमें बड़ी भीड़ होती है, यद्यपि उस दिन दर्शन इनका न करके चौसट्ठी घाट के ऊपर वर्त्तमान चौसट्ठी देवी का ही होता है, जिसका कोई शास्त्रीय प्रमाण नहीं है। राणामहल में भी अब केवल पाँच या छह मूर्त्तियाँ रह गई हैं, शेष लुप्त हो चुकी हैं।

आरम्भाश्वयुजः शुक्लां तिथिप्रतिपदं शुभात्।
पूजयेन्नवमीं यावन्नरश्चिन्तितमानसः॥
कृष्णपक्षस्य भूतायामुपवासी नरोत्तमः।
तत्र जागरणं कृत्वा महतीं सिद्धिमाप्नुयात्॥
चैत्रकृष्णप्रतिपदि तत्र यात्रा प्रयत्नतः।
क्षेत्रविघ्नप्रशान्त्यर्थं कर्त्तव्या पुण्यकृज्जनैः॥
(का० खं०, ४५।४८-५२)

अग्रेकृत्वा स्थिताः सर्वास्ताः काश्यां मणिकर्णिकाम्। (का० खं०, ४५।५४)

त्रिस्थलीसेतु तथा वीरमित्रोदय दोनों निबन्ध-ग्रन्थों में कृष्णपक्ष की चतुर्दशियों को दुर्गाजी के समीप योगिनियों का पूजन करने का उल्लेख है, परन्तु न तो यह यात्रा अब प्रचलित है और न वहाँ योगिनियों का कोई स्थान ही रह गया है : तथा कृष्णपक्षचतुर्दशीषु दुर्गासमीपस्थयोगिनीनां काशीखण्डोक्तविधिना पूजादि कार्यम्। (त्रि० से०, पृ० २४९ : वी० मि०, पृ० ३०१)।

३. **विनायकपीठ** : काशीखण्ड में ७१ विनायकपीठों का उल्लेख है तथा कृत्यकल्पतरु में उद्धृत प्राचीन लिंगपुराण में ९ गणपतिपीठों का, जिनमें पाँच को विघ्नकर्त्ता कहा है : **विनायकान् प्रवक्ष्यामि अस्य क्षेत्रस्य विघ्नदान्** (कृ० क० त०, पृ० १२६)। परन्तु, क्षेत्र की रक्षा करने का अर्थ ही है पापकर्मा लोगों के काशीवास में विघ्न करके उनको क्षेत्र से भगाने का उपक्रम, अतएव इसमें कोई विशेषता नहीं समझ पड़ती :

> **ढुंण्ढि तु प्रथमं दृष्ट्वा तथा कोणविनायकम्।**
> **देव्या विनायकं चैव गोप्रेक्षे हस्तिनं स्मृतम्॥**
> **विनायकं तथैवान्यं सिन्दूरं नाम विश्रुतम्।**
> **चतुर्थ्यां देवि द्रष्टव्या एवं पञ्चविनायकाः॥**
>
> **(लिं० पु०, कृ० क० त०, पृ० १२६)**

इनमें से ढुण्ढिराज तो प्रख्यात ही हैं। गोप्रेक्षेश्वर के उत्तर अनसूयेश्वर के आगे गणेश्वर का उल्लेख है। काशीखण्ड में इनको 'सिद्धविनायक' कहा गया है, परन्तु इनका स्थान इस समय कहाँ पर है, यह दृढतापूर्वक नहीं कहा जा सकता; कारण गोप्रेक्षेश्वर स्वयं ही अपने स्थान से हटकर लालघाट पर आये हैं, सम्भवतः यही राजपुत्रविनायक हैं। कोणविनायक के स्थान पर 'किलविनायक' अथवा 'कीलविनायक' का पाठभेद भी मिलता है। परन्तु, इनका स्थान-निर्देश न होने से इनका पता-ठिकाना नहीं लग पाता। यही बात 'देव्याः विनायक' तथा 'सिन्दूर या सिन्दूर्य्यविनायक' (ती० चि०, ३६५) के सम्बन्ध में भी है।

इन पाँच विनायकों के अतिरिक्त चार अन्य विनायकपीठों का उल्लेख 'कृत्यकल्पतरु' में मिलता है :

१. अमरक ह्रद (काशीखण्ड में अनारक ह्रद) वर्त्तमान अमरैया तालाब के दक्षिण विनायक-कुण्ड के तट पर विनायकपीठ, जिनको काशीखण्ड में विघ्नहर्त्ता गणेश कहा गया है। ये इस समय लुप्त हैं।
२. कृत्तिवासेश्वर के समीप 'स्वयम्भूत विनायक', जो इस समय वृद्धकाल के शिवलिंग के दक्षिण में हैं। इनका नाम काशीखण्ड में नहीं है।
३. कलशेश्वर के निकट चित्रगुप्तेश्वर के वायव्य कोण में। इनका नाम भी काशीखण्ड में नहीं है और न इनका वर्त्तमान ठिकाना ही जान पड़ता है।
४. अविमुक्तेश्वर के दक्षिण निकुम्भ के पास वर्त्तमान विश्वनाथ-मन्दिर के वायव्य कोण में पार्वती देवी के मन्दिर में। पुरानी मूर्त्ति के खण्डित हो जाने पर अभी दो-चार वर्ष पूर्व एक सुन्दर संगमरमर की गणेशजी की मूर्त्ति स्थापित हुई है। काशीखण्ड में इनका नाम विघ्ननायक गणेश तथा यही स्थान बतलाया गया है।

इस प्रकार, काशीखण्ड तथा लिंगपुराण में सब मिलकर ७६ विनायकपीठों का नामांकन हुआ है। इनमें से ९ के विषय में ऊपर कहा जा चुका है। काशीखण्ड के अनुसार काशीक्षेत्र की रक्षा के लिए आठों दिशाओं में विनायकों के सात आवरण हैं। इस प्रकार, ५६ अन्य विनायकों का विस्तृत स्थान-निर्देश वहाँ मिलता है और आज भी इन ५६ विनायकों की यात्रा होती है। अतएव, उन सबके वर्त्तमान स्थान भी स्पष्ट रूप से जाने हुए हैं। परन्तु, इनमें कहीं-कहीं भ्रम भी होने लगा है। कुछ भ्रम भक्त लोगों के द्वारा नाम बदलने से

होने लगे हैं; कुछ मन्दिरों की तोड़-फोड़ के कारण उत्पन्न हुए हैं। 'वक्रतुण्डविनायक' का नाम 'सरस्वतीविनायक' ही अधिक प्रसिद्ध है। 'चित्रघण्टविनायक' के दो मन्दिर हैं। 'स्थूलजंघविनायक' के स्थान के सम्बन्ध में भी गड़बड़ी हो गई है। कुछ लोग स्थूलजंघ का भी पूजन चित्रघण्टविनायक के एक मन्दिर में करते हैं। चित्रघण्टविनायक का जो मन्दिर जगन्नाथदास बलभद्रदास की दूकान के सामने है, वह भी ठीक है, और रानी-कुँआ पर जो मन्दिर है, उसमें चित्रघण्टविनायक तथा स्थूलजंघविनायक दोनों की स्थापना किसी समय हुई थी। यद्यपि स्थान वहाँ पर स्थूलजंघविनायक का हो था। स्थूलजंघ की प्राचीन प्रतिमा राजादरवाजे के पास आषाढीश्वर में है। इन स्थान-परिवर्त्तनों का विवेचन 'तीर्थों के स्थानान्तरण' नामक अध्याय में विस्तारपूर्वक किया जायगा। एक बात और है, प्राचीन काशीखण्ड में मित्रविनायक का नाम नहीं था, जैसा त्रिस्थलीसेतु तथा वीरमित्रोदय से स्पष्ट है। तदनुसार ५६ विनायक थे। आधुनिक संस्करणों में छठे आवरण में 'मित्र-विनायक' के सम्मिलित कर दिये जाने से वहाँ ९ विनायक हो जाते हैं। इन सभी विनायकों के वर्त्तमान स्थान 'काशी तथा वाराणसी की यात्राएँ' नामक सातवें अध्याय में दिये जायेंगे।

इनके अतिरिक्त ११ और विनायकपीठ हैं, जिनका विवरण इस प्रकार है:

१. ढुण्ढिराज विनायक : इनका प्रख्यात नाम ढुण्ढिराज है और विनायकों में इनका सर्वोपरि महत्त्व है:

> प्रथमं ढुण्ढिराजोऽसि मम दक्षिणतो मनाक्।
> आढुण्ढ्यसर्वभक्तभ्यः सर्वार्थान्सम्प्रयच्छति॥ (का० खं०, ५७।४३)

माघ शुक्ला चतुर्दशी को इनकी वार्षिक यात्रा होती है, यद्यपि भक्त लोग प्रत्येक चतुर्थी को विशेष दर्शन-पूजन करते हैं। यह सिद्धपीठ है, जहाँ गणपति-मन्त्रों की सिद्धि अल्पप्रयास से हो जाती है। काशी के प्रधान पीठों में इनकी गणना सर्वप्रथम होती है।

२. हरिश्चन्द्रविनायक : संकठाघाट पर हरिश्चन्द्र-मण्डप से सटे हुए मकान नं० सी० के० ७/१६५ में।
३. कर्पर्दिविनायक : पिशाचमोचन पर।
४. बिन्दुविनायक : बिन्दुमाधव-मन्दिर में।
५. भगीरथविनायक : मणिकर्णिका के दक्षिण करुणेश्वर के समीप लाहौरी टोले की गली में।
६. सेनाविनायक : हरिश्चन्द्र-मण्डप के सामने छोटे मन्दिर में।
७. सीमाविनायक : सेनाविनायक के ही मन्दिर में ये मणिकर्णिका की उत्तरी सीमा पर हैं।
८. चिन्तामणिविनायक : वहीं सामने वशिष्ठ वामदेव-मन्दिर के द्वार पर।
९. महाराजविनायक : प्रसिद्ध बड़े गणेश।
१०. मित्रविनायक : आत्मावीरेश्वर में।
११. मण्डविनायक : महालक्ष्मी-कुण्ड के उत्तर मकान नं० डी० ५२/३८ में।

इन सबके अतिरिक्त साक्षीविनायक हैं, जिनका स्पष्ट नामांकन काशीखण्ड में नहीं है; परन्तु यात्रा में उनका दर्शन-पूजन अनिवार्य माना जाता है।

४. षडाननपीठ : कार्त्तिकेय के तीन पीठों का उल्लेख काशीखण्ड में है। पहला मणिकर्णिका घाट पर तारकेश्वर के पूर्व, दूसरा रत्नेश्वर के पूर्व सतीश्वर के मन्दिर में, जहाँ अम्बिकागौरी का भी स्थान है तथा तीसरा स्कन्देश्वर में। कार्त्तिकी पूर्णिमा को इनकी यात्रा बड़ी पुण्यावह है। स्कन्दतीर्थ मणिकर्णिका के दक्षिण में कहा गया है। स्कन्देश्वर आदिमहादेव के पश्चिम में थे।

तत्राभ्यासे (तारकतीर्थस्य) स्कन्दतीर्थं तत्र प्लुत्य नरोत्तम।
दृष्ट्वा षडाननं चैव जह्यात्षाट्कौशिकीं तनुम्॥
तारकेश्वरपूर्वेण दृष्ट्वा देवं षडाननम्।
वसेत्षडानने लोके कौमारं वपुरुद्वहन्॥
(का० खं०, ६१।११९-१२०)

अस्य (रत्नेश्वरस्य) लिङ्गस्य पूर्वेण त्वया जन्मान्तरे प्रिये।
दाक्षायणीश्वरं लिङ्गं मद्भक्त्यात्र प्रतिष्ठितम्॥
अम्बिका नाम गौरी त्वं तत्राहं चाम्बिकेश्वरः।
मूर्त्तः षडाननस्तत्र तव पुत्रः सुमध्यमे॥
(का० खं० ६७।२१८–२२०)

दैवयोग से ये तीनों मूर्त्तियाँ लुप्त हो गईं। सतीश्वर के षडानन की प्राचीन भग्न मूर्त्ति कालभैरव-मन्दिर में दालान में रखी है और तारकेश्वर के समीप की मूर्त्ति जीर्ण होकर अस्त हो गई। स्कन्देश्वर का पता नहीं, परन्तु समीप से ही प्राप्त स्कन्द की गुप्तकालीन मूर्त्ति भारत कला-भवन में है।

५. भैरवपीठ : ब्रह्मा तथा क्रतु ('क्रतुर्नारायणांशजः') के विवाद के समय ज्योतिर्लिंगात्मक शिव का प्रादुर्भाव हुआ और अपने पाँचवें मुख से ब्रह्मा के अहंकारवश उनका अपमान करने पर उनको दण्ड देने के लिए उसी समय शिव की आज्ञा से भैरव की उत्पत्ति हुई और उनको वरदान देकर ब्रह्मा को दण्ड देने का आदेश हुआ। भैरव को सदाशिव ने कालभैरव कहकर सम्बोधित करते हुए कहा कि "आपसे काल भी डरेगा, अतएव आपका नाम कालराज तथा कालभैरव होगा। दुष्टों का दमन करने के कारण लोग 'आमर्दक' कहेंगे और भक्तों के पापों का भक्षण करने से आपको 'पापभक्षण' भी कहा जायगा। काशी में यमराज का अधिकार नहीं होगा, वरन् काशी में जो पाप करनेवाले होंगे, उनका शासन आपके वश में होगा।" इसके बाद भैरव ने ब्रह्मा का पाँचवाँ शिर, जिसके द्वारा अपमान की बातें कही गई थीं, अपने बायें हाथ के नखों से नोच लिया; परन्तु वह शिर उनके हाथ में चिपक गया और ब्रह्महत्या भी लगी, जिसके निवारण के लिए सदाशिव के आदेश से कापाल-व्रत धारण करके वे भिक्षाटन करते हुए तीर्थों में विचरने लगे। सभी लोकों में और तीर्थों में घूमते हुए भैरव वैकुण्ठलोक में गये और विष्णु भगवान् ने उनको वाराणसी जाने का परामर्श दिया। वहाँ पहुँचने पर वाराणसी में प्रवेश करने के पूर्व ही ब्रह्महत्या पाताल को चली गई और मत्स्योदरी तथा गंगा के संगम में स्नान करने से भैरव के हाथ से छूटकर ब्रह्मा का कपाल वहीं गिर पड़ा। तभी से उस स्थान का नाम कपालमोचन हुआ और उसी के समीप भैरव बैठ गये और वाराणसी में वही भैरव का

मुख्य स्थान हुआ, जहाँ कालभैरव, पापभक्षण तथा आमर्दकेश्वर के स्वरूप में उनकी आराधना होने लगी :

ब्रह्मोवाच—मामेव शरणं याहि पुत्र रक्षां करोमि ते।
अथेश्वरः पद्मयोनेः श्रुत्वा गर्ववतीं गिराम् ॥
सकोपतः समुत्पाद्य पुरुषं भैरवाकृतिम्।
प्राह पङ्कजजन्मासौ शास्यस्ते कालभैरव ॥
कालवद्राजसे साक्षात् कालराजस्ततो भवान्।
त्वत्तमेष्यति कालोऽपि ततस्त्वं कालभैरवः ॥
आमर्दयिष्यति भवांस्तुष्टो दुष्टात्मनो यतः।
आमर्दक इति ख्यातिं ततः सर्वत्र यास्यति ॥
यतः पापानि भक्तानां भक्षयिष्यति तत्क्षणात्।
पापभक्षण इत्येव तव नाम भविष्यति ॥
या मे मुक्तिपुरी काशी सर्वाभ्योपि गरीयसी।
आधिपत्यं च तस्यास्ते कालराज सदैव हि ॥

(का० खं०, ३१।४०–४७)

तत्र ये पापकर्त्तारस्तेषां शास्ता त्वमेव हि।
एतान्वरान्प्रगृह्याथ तत्क्षणात् कालभैरवः ॥
वामाङ्गुलिनखाग्रेण चकर्त्त च शिरो विधेः।
सदैव देववाक्येन बिभ्रत्कापालिकं व्रतम्।
कपालपाणिर्विश्वात्मा चचार भुवनत्रयम् ॥ (का० खं०, ३१।५९-६०)
क्षेत्रे प्रविष्टमात्रेऽथ भैरवे भीषणाकृतौ।
हाहेत्युक्त्वा ब्रह्महत्या पातालतलमाविशत् ॥
कपालं ब्रह्मणो रुद्रः सर्वेषामेव पश्यताम्।
हस्तात्पतितमालोक्य ननर्त्त परया मुदा ॥

(का० खं०, ३१।१२१-१२२)

कपालमोचनं तीर्थं पुरस्कृत्वा तु भैरवः।
तत्रैव तस्थौ भक्तानां भक्षयन्नघसन्ततिम् ॥
पापभक्षणमासाद्य कृत्वा पापशतान्यपि।
कुतो बिभेति पापेभ्यः कालभैरवसेवकः ॥
आमर्दयति पापानि दुष्टानां च मनोरथान्।
आमर्दक इति ख्यातस्ततोऽसौ कालभैरवः ॥

(का० खं०, ३१।१३८–१४०)

ऊपर का विवरण विस्तारपूर्वक देने का यह कारण है कि आधुनिक विद्वानों का यह कथन है कि कृत्यकल्पतरु में कालभैरव का नाम न होने से यह सिद्ध होता है कि कालभैरव की आराधना आधुनिक है, प्राचीन नहीं। कृत्यकल्पतरु में भी कपालमोचनतीर्थ पर कपाल गिरने का संकेत है और कपालेश्वर नाम से वहाँ पर शिवलिंग होने का भी उल्लेख है (कृ० क० त०, पृ० ५५)। इसी प्रकार, भैरवेश्वर नामक शिवलिंग तथा भैरवकूप का भी

वर्णन है। भैरवेश्वर का यह माहात्म्य भी बताया गया है कि उनके दर्शन से फिर संसार में उत्पत्ति नहीं होती (कृ० क० त०, पृ० ८५)। इतने से यह तो स्पष्ट ही है कि भैरव की आराधना कृत्यकल्पतरु के समय भी काशी में होती थी। मत्स्यपुराण में भी भगवान् सदाशिव ने कहा है कि त्रिकाल हमारे निकट वाराणसी में रहने के कारण ही अन्यत्र स्थित शिवपीठ इतने महान् हैं। इन पीठों के नाम गिनाते हुए महाभैरव का नाम भी कहा गया है। इससे भी स्पष्ट है कि मत्स्यपुराण-काल के पूर्व से ही भैरव की आराधना वाराणसी में होती थी और महाभैरव का एक पीठ भी यहाँ था, जो संहारभैरव नाम से प्रख्यात है।

हरिश्चन्द्रं परं गुह्यं गुह्यमाम्रातकेश्वरम्।
जलेश्वरं परं गुह्यं गुह्यं श्रीपर्वतं तथा॥
महालयं तथा गुह्यं कृमिचण्डेश्वरं शुभम्।
गुह्यातिगुह्यं केदारं महाभैरवमेव च॥
अष्टावेतानि स्थानानि सान्निध्याद्धि मम प्रिये।
अविमुक्ते वरारोहे त्रिसन्ध्यं नात्र संशयः॥
(मत्स्यपु०, १८१।२८–३०)

इस विषय की विस्तृत विवेचना 'शंका-समाधान' नामक अध्याय में मिलेगी।

जैसा ऊपर के उद्धरणों से स्पष्ट है, कालभैरव का प्राचीन स्थान कपालमोचनतीर्थ के तट पर था और वहीं पर पापभक्षण तथा आमर्दकेश्वर नामवाले शिवलिंग भी थे। सन् ११९४ ई० में मुसलमानों द्वारा देवस्थानों के नष्ट होने और कपालमोचन-क्षेत्र में उनके बस जाने से वहाँ की यात्रा असम्भव हो गई और अन्य बहुसंख्य तीर्थों की तरह कालभैरव की जब पुनः स्थापना हुई, तब वह प्राचीन भैरवेश्वर-मन्दिर के समीप हुई, जहाँ इस समय कालभैरव का मन्दिर वर्त्तमान है। इसी स्थान पर भैरवेश्वर तथा भैरवकूप का सान्निध्य था। नगर भी राजघाट के किले से उजड़कर वर्त्तमान पक्के मोहालों में बस रहा था, जिससे कालभैरव की जनसाधारण से निकटता भी हो गई। पापभक्षण तथा आमर्दकेश्वर की स्थापना भी वहीं पास में हुई, जहाँ पर वे अब हैं।

कालभैरव काशी के कोतवाल कहे जाते हैं; क्योंकि काशी के पापकर्मा लोगों का शासन उनके अधिकार में दिया गया है और काशी में मरनेवालों को यम-यातना के स्थान पर भैरवी यातना भोगनी पड़ती है, जिसका स्थान श्मशानस्तम्भ या कुलस्तम्भ-क्षेत्र माना गया है। यह इस समय लाटभैरव नाम से प्रसिद्ध है। कालभैरव की आराधना के विना काशी-वास तथा विश्वनाथ की आराधना भी सफल नहीं होती; क्योंकि ऐसी स्थिति में साधक को निरन्तर विघ्नों का सामना करना पड़ता है। मंगलवार-युक्त अष्टमी तथा चतुर्दशी को तथा प्रत्येक मंगलवार को कालभैरव के दर्शनों का विशेष माहात्म्य है और मार्गशीर्ष कृष्ण-अष्टमी को उनकी वार्षिक यात्रा होती है:

विश्वेश्वरेऽपि ये भक्ता नो भक्ताः कालभैरवे।
काश्यान्ते विघ्नसङ्घातं लभन्ते तु पदे पदे॥
कालभैरव भक्तानां सदा काशीनिवासिनाम्।

विघ्नं यः कुरुते मूढः स दुर्गतिमवाप्नुयात्॥
अष्टौ प्रदक्षिणीकृत्य प्रत्यहं पापभक्षणम्।
नरो न पापैर्लिप्येत मनोवाक्कायसम्भवैः॥
तस्मिन्नामर्दके पीठे जप्त्वा स्वाभीष्टदेवताम्।
षण्मासं सिद्धिमाप्नोति साधको भैरवाज्ञया॥
(का० खं०, ३१।१४८–१५२)

अयं हि स कुलस्तम्भो यत्र श्रीकालभैरवः।
क्षेत्रपापकृतः शास्ति दर्शयंस्तीव्रयातनाम्॥
काश्यां कृतानां पापानां दारुणेयन्तु यातना।
(का० खं०, ३३।११४–११५)

इनके अतिरिक्त वाराणसी-क्षेत्र की आठों दिशाओं में तन्त्रविहित आठ भैरवपीठों की स्थापना हुई, जिनके नाम हैं: रुरुभैरव, चण्डभैरव, असितांगभैरव, कपालीभैरव, क्रोधनभैरव, उन्मत्तभैरव, संहारभैरव तथा भीषणभैरव:

रुरुश्चण्डोसिताङ्गश्च कपाली क्रोधनस्तथा।
उन्मत्तभैरवस्तद्वत् क्रमात् संहारभीषणौ॥ (का० खं०, ७२।९३)

इनमें से असितांगभैरव, कपालीभैरव तथा संहारभैरव के स्थान काशीखण्ड में दूसरे प्रसंगों में अन्यत्र बतलाये गये हैं। भीषणाभैरवी के सन्दर्भ में भीषणभैरव के स्थान का भी अनुमान हो सकता है; परन्तु अन्य चार भैरवों के स्थान का संकेत काशीखण्ड में नहीं मिलता। वर्त्तमान समय में उनकी पूजा-अर्चना जहाँ होती है, उसी को शिष्टाचार के आश्रय से स्वीकार करना पड़ता है।

१. रुरुभैरव : हनुमान् घाट पर तथा गोमठ की दीवार में बाहर की ओर।

२. चण्डभैरव : दुर्गाकुण्ड पर दुर्गाजी के मन्दिर में।

३. असितांगभैरव : इनका प्राचीन स्थान अन्तकेश्वर के उत्तर था, परन्तु उस स्थान पर मुसलमानों द्वारा मस्जिद वन जाने पर वृद्धकाल के मन्दिर में इनकी स्थापना हुई। वहीं इस समय भी पूजा होती है।

तदुत्तरे (अन्तकेश्वरस्य) महामूर्त्तिरसिताङ्गोऽस्ति भैरवः।
तस्य दर्शनतः पुंसां न भवेद्यमदर्शनम्॥
(का० खं०, ६९।७१)

४. कपालीभैरव : इनका प्राचीन स्थान वासुकिकुण्ड के वायव्य कोण में था। वासुकिकुण्ड कर्कोटकवापी (वर्त्तमान नागकुआँ) के समीप में था, ऐसा त्रिस्थलीसेतु में कहा गया है (**कर्कोटकवापी समीपस्थवासुकिकुण्डम्**–त्रि० से०, पृ० २३२)। इस स्थान को भैरवक्षेत्र कहते थे और यहाँ साधकों को शीघ्र ही सिद्धि मिलती थी।

तत्कुण्डादुत्तरे (तक्षककुण्डात्) भागे क्षेत्रक्षेमकरः सदा।
भक्तानां साध्वसध्वंसी कपाली नाम भैरवः॥
भैरवस्य महाक्षेत्रं तद्धं साधकसिद्धिदम्।
तत्र संसाधिता विद्या षण्मासात्सिद्धिमाप्नुयुः॥
तत्र चण्डी महामुण्डा भक्तविघ्नोपशान्तिदा।

(का० खं०, ६६–१३।१५)

मुसलमानों के उत्पात से वह स्थान लुप्त हो गया। तब से लाटभैरव में ही कपालीभैरव को प्रतिष्ठित कर उनका पूजन होता है। यह स्थान भैरवी यातना का स्थान पुराणों में माना गया है और भैरव का सान्निध्य वहाँ पर शासक के रूप में सदा ही रहा है। लाटभैरव के तालाब को भी तभी से कपालमोचन मान लिया गया है।

५. क्रोधनभैरव : क्रोधनभैरव का स्थान कामाक्षादेवी के मन्दिर में है।

६. उन्मत्तभैरव : पंचक्रोशी मार्ग पर भीमचण्डी के समीप इनका स्थान है।

७. संहारभैरव : इनका प्राचीन स्थान खर्वविनायक के पूर्व था। खर्वविनायक का स्थान आदिकेशव के समीप था और आज भी वहीं माना जाता है। अतएव, यह समझ पड़ता है कि वहीं पर संहारभैरव की मूर्त्ति भी थी। यह पीठ शंकर के उन अड़सठ पीठों में से है, जो समस्त भारत से काशी में आकर स्थापित हुए। भैरवक्षेत्र से ही यह देव यहाँ आये और सम्भवतः मत्स्यपुराण के इस सम्बन्ध में दिये हुए पूर्वपृष्ठ के उद्धरण में महाभैरव-पद इन्हीं के लिए प्रयोग किया गया है।

भैरवाद्भैरवी मूर्त्तिरत्रायाता मनोहरा।
संहारभैरवो नाम द्रष्टव्यः सः प्रयत्नतः॥
पूजनात्सर्वसिद्ध्यै स प्राच्यां खर्वविनायकात्।
संहारभैरवः काश्यां संहरेदघसन्ततिम्॥

(का० खं०, ६१।६५-६६)

वर्त्तमान काल में पाटन दरवाज़े के समीप मकान नं० ए० १/८३ में इनकी मूर्त्ति है, जहाँ इनकी अर्चना होती है।

८. भीषणभैरव : स्पष्ट रूप में इनका स्थान-निर्देश कहीं नहीं मिलता, परन्तु भीषणाभैरवी का स्थान ज्येष्ठेश्वर के उत्तर में बतलाया गया है। इसके आधार पर भीषणभैरव का स्थान भी वहीं पर माना जा सकता है और भूतभैरव नाम से मकान नं० के० ६३/२८ में उनका पूजन वहीं पर होता भी है। फिर भी, काशीखण्ड में अविमुक्त क्षेत्र की रक्षा करनेवाले गणों में भीषण का नाम आया है और उनका स्थान क्षेत्र के

आग्नेय कोण में बतलाया गया है। इस आधार पर उनका स्थान कहीं केदार के समीप होना चाहिए।

ऐशं कोणं छागवक्त्रो भीषणो वह्निदिग्दलम्। (का० खं०, ७४।५२)

यहाँ ध्यान देने की बात यह है कि सोलहवीं तथा सत्रहवीं शताब्दी तक ये सभी स्थान इतने प्रसिद्ध थे कि किसी भी निबन्धकार ने इनके स्थानों का निर्देश नहीं किया। जैसा हम ऊपर कह चुके हैं, नवशक्ति तथा नवदुर्गा का भी इसी कारण कोई पता-ठिकाना किसी ने नहीं बतलाया। नवदुर्गा तथा नवभैरव (कालभैरव को मिलाकर) की यात्रा तो परम्परानुसार हो रही है, किन्तु नवशक्तियों के स्थान ही भूल गये। काशीवास के लिए भैरव-पूजन बड़ा आवश्यक माना गया है। इनके अतिरिक्त कंकालभैरव का नाम भी काशी-खण्ड में मिलता है, परन्तु वहाँ उनका स्थान-निर्देश नहीं है। ज्योतिरूपेश्वर से दक्षिण कोलहलनृसिंह हैं और उनके थोड़ा नीचे मकान नं० सी० के० ८।१८० में दीवार में कंकालभैरव की मूर्त्ति है, जिसपर अब पीतल की चद्दर चढ़ा दी गई है।

भैरवा रुरुमुख्याश्च महाभयनिवारकाः।
सम्पूज्याः सर्वदा काश्यां सर्वसम्पत्तिहेतवे ॥ (का० खं०, ७२।१०३)

इन पुराण-प्रमाणित भैरवपीठों के अतिरिक्त वाराणसी में कुछ अन्य भैरवमन्दिर भी हैं: यथा आनन्दभैरव (मंगलागौरी तथा रामघाट के बीच में), आशुभैरव, जिनका नाम मोहन-भैरव भी है (लाजपतराय रोड पर आसभैरव मुहल्ले में), केदारेश्वर के समीप आनन्द-भैरव तथा अवसानभैरव (त्रिपुरा भैरवी के दक्षिण फाटक पर)।

६. **वेताल, नाग तथा रुद्रगणों के स्थान:** काशीखण्ड में एक वेताल, तीन नाग तथा ७ गणों का स्थान-निर्देशपूर्वक उल्लेख है। इनके अतिरिक्त गणाध्यक्ष दण्डपाणि और ३९ गणों द्वारा स्थापित शिवलिंग हैं।

(क) वेताल : अग्निजिह्व वेताल का स्थान शुष्कोदरी देवी के नैऋत्य कोण में बतलाया गया है। शुष्कोदरी देवी कृत्तिवासेश्वर के उत्तर में असितांगभैरव के समीप में थीं। इस समय भी वेतालेश्वर महादेव अपने निर्दिष्ट स्थान पर मकान नं० के० ५३/३२ में है, यद्यपि वेताल की मूर्त्ति अब नहीं रह गई। पुराने समय में वहीं पर एक वेतालकुण्ड भी था, परन्तु वह भी अब नहीं रह गया। वेतालकुण्ड में स्नान करने से सभी रोग मिटते तथा उसके जल के स्पर्श से विस्फोटक इत्यादि अच्छे हो जाते थे, ऐसा काशीखण्ड में कहा गया है:

अग्निजिह्वोऽस्ति वेतालस्तस्या (शुष्कोदर्याः) देव्यास्तु नैऋते।
ददाति वाञ्छितां सिद्धिं सोऽर्चितो भौमवासरे ॥
वेतालकुण्डस्तत्रास्ति सर्वव्याधिविघातकृत्।
तत्कुण्डोदकसंस्पर्शाद् व्रणविस्फोटरुग्व्रजेत् ॥
(का० खं०, ६९।७३-७४)

(ख) नाग : नागों में कर्कोटकनाग, भद्रनाग तथा मणिप्रदीपनाग का उल्लेख है।

१. कर्कोटकनाग का स्थान कर्कोटकवापी के पास है, जिसका वर्त्तमान नाम नागकुआँ है। इनके दर्शन से विष से रक्षा होती है। नागपंचमी के दिन नागकुआँ पर

आज भी बड़ी धूमधाम से यात्रा होती है। समीप ही वासुकिकुण्ड तथा वासुकीश्वर भी थे, परन्तु वासुकिनाग के मन्दिर या मूर्त्ति होने का वर्णन नहीं मिलता। प्रिंसेप के नक्शे में वृद्धकाल के पूर्व वासुकिमन्दिर नाम का महल दिखलाया गया है, परन्तु अब वहाँ कोई मन्दिर नहीं रहा।

२. भद्रनाग का मन्दिर भद्रकूप मुहल्ले में है। इनके विषय में केवल इतनी ही सूचना है कि भद्रवापी में स्नान करके समीप की भद्रकाली के दर्शन-पूजन से सभी प्रकार का कल्याण होता है।

३. मणिप्रदीपनाग का मन्दिर वृद्धकाल के ईशान कोण में था। वहीं मणिप्रदीपकुण्ड भी था, जो सन् १८२२ ई० तक वर्त्तमान था, परन्तु अब लुप्त है। कुछ लोग दुद्धीगड़ही को मणिकुण्ड कहते हैं, परन्तु यह ठीक नहीं है। दुद्धीगड़ही महाकालकुण्ड है। मणिकुण्ड जिस मुहल्ले में था, उसका नाम ही नागनाथ था।

मणिप्रदीपनागोऽस्ति तस्मादुद्रदुदग्दिशि।
मणिकुण्डं तदग्रे तु विषव्याधिहरं परम्॥ (का० खं०, ६६।८२)

(ग) **रुद्रगण** : रुद्रगणों में ४० रुद्रगणों के नाम उनके द्वारा स्थापित शिवलिंगों के सम्बन्ध में मिलते हैं और उनके द्वारा स्थापित शिवलिंगों के समीप उनकी आध्यात्मिक उपस्थिति निश्चित मानी जाती है। इन शिवलिंगों का वर्णन अपने स्थान पर किया जायगा।

इनके अतिरिक्त आठ ऐसे गण हैं, जिनकी मूर्त्ति का स्पष्ट उल्लेख मिलता है। इनमें से सात तो गण हैं और आठवें उनके अध्यक्ष दण्डपाणि। गणों के नाम तथा स्थान-निर्देश इस प्रकार हैं:

१. घण्टाकर्ण गण : कर्णघण्टा तालाब के समीप। अविमुक्त क्षेत्र की उत्तर दिशा की रक्षा करते हैं। अब मूर्त्ति लुप्त है।

२. वीरभद्रगण तथा उनकी देवी भद्रकाली : अविमुक्तेश्वर के पश्चिम। लुप्त।

३. हुण्डन-मुण्डनगण : शैलेश्वर के समीप वहीं इन दोनों द्वारा स्थापित शिवलिंग भी हैं।

४. क्षेमकगण : इनके दर्शन का बड़ा माहात्म्य है। विशेषतः उन लोगों के लिए, जो किसी कारणवश वाराणसी के बाहर जाते हैं, परन्तु शीघ्र ही पुनः वाराणसी लौट आना चाहते हैं। इनकी मूर्त्ति क्षेमेश्वर घाट पर क्षेमेश्वर-मन्दिर में है। मकान नं० बी० १४/१२।

देशान्तरगतो यस्तु तस्यागमनकाम्यया।
क्षेमकः पूजनीयोऽत्र क्षेमेणाशु स आव्रजेत्॥ (का० खं०, ५५।१९)

५. छागवक्रगण : वरणासंगम के पास कपिलधारा के निकट छागवक्रेश्वरी देवी में इनका स्थान है और ये अविमुक्त क्षेत्र के ईशान कोण की रक्षा करते हैं। मूर्त्ति अब लुप्त है।

६. पंचशीर्षगण : इनके दो भुजा, चार पैर तथा पाँच शिर हैं। वेतालकुण्ड के समीप इनका स्थान था। अब लुप्त है।

७. चतुःशृंग रुद्र : इनका वृष के समान शरीर है और इनके तीन चरण, दो शिर, सात हाथ तथा चार शृंग हैं। इनको वृषरुद्र भी कहा गया है। मणिप्रदीपनाग के दक्षिण में इनका स्थान है। अब भी वहीं पर इनकी मूर्त्ति है। मकान नं० के० ४६/१४७, हरतीरथ तालाब के पश्चिम।

८. दण्डपाणि : हरिकेश यक्ष की उग्र तपस्या से प्रसन्न होकर विश्वनाथ ने उसको अपना गणाध्यक्ष बनाया और ज्ञानवापी के पश्चिम निवास करने की आज्ञा दी। पुण्यात्माओं को काशी बुलाने तथा पापियों को काशी से भगाने का अधिकार देकर उनकी सहायता के लिए सम्भ्रम तथा उद्भ्रम नामक दो सहायक दिये। इनकी सहायता से पापियों को डराकर, उनके मन में भ्रम इत्यादि उत्पन्न करके उनकी श्रद्धा को मिटाकर वाराणसी से भगा देने का इनका काम है और दण्डपाणि तथा दण्डनायक इनके नाम हैं। ये ही काशी के क्षेत्रपाल हैं।

सम्भ्रान्तिमुत्पाद्य परामसाधून् क्षेत्रात्क्षणं दूरयतस्त्वमुष्मत्।
(का० खं०, ५।३७)

पूजन के विषय में इनका बड़ा सम्मान है। मुक्तिमण्डप में इनकी मूर्त्ति थी और वहाँ के पाँच देवताओं के पूजन के बाद ही भगवान् विश्वनाथ का पूजन होता था।

क्षेत्रस्य यक्षास्य मम प्रियस्य भो भवाधुना दण्डधरो वरान्मम।
स्थिरस्त्वमद्यादिवुरात्मदण्डकः सुपालकः पुण्यकृतां च मत्प्रियः॥ १५१॥
त्वं दण्डपाणिर्भव नामतोऽधुना सर्वान्गिणाञ्छाधि ममाज्ञयोत्कटान्।
गणाविमौ त्वामनुयायिनौ सदा नाम्ना यथार्थौ नृषु सम्भ्रमोद्भ्रमौ॥ १५२॥
त्वमन्नदः काशिनिवासिनां सदा त्वं प्राणदो ज्ञानद एक एव हि।
त्वं मोक्षदो मन्मुखसूपदेशतस्त्वं निश्चलां सद्वसतिं विधास्यसि॥ १५५॥
त्वं विघ्नपूगैः परिपीड्य पापिनः सम्भ्रान्तिमुत्पाद्य विनेष्यसे बहिः।
आनीय भक्तान् क्षणतोऽपि दूरतो मुक्तिं परां दापयितासि पिङ्गल॥ १५६॥
त्वं दक्षिणस्यां दिशि दण्डपाणे सदैव मे नेत्रसमक्षमत्र॥ १६२॥
(का० खं० ३२।१५१–१६२)

सभाजनं पूर्वत एव ते चरेत्ततः समर्चां मम भक्त आचरेत्।
(का० खं०, ३२।१५७)

मत्स्यपुराण में यही बातें कही गई हैं:

जरामरणसन्त्यक्तः सर्वरोगविवर्जितः।
भविष्यसि गणाध्यक्षो वरदः सर्वपूजितः॥
अज्ञेयश्चापि सर्वेषां योगैश्वर्यसमन्वितः।

अन्नदश्चापि लोकेभ्यः क्षेत्रपालो भविष्यसि ॥
महाबलो महासत्त्वो ब्रह्मण्यो मम च प्रियः ।
त्र्यक्षश्च दण्डपाणिश्च महायोगी तथैव च ॥
उद्भ्रमः सम्भ्रमश्चैव गणौ ते परिचारकौ ।
तवाज्ञां च करिष्येते लोकस्योद्भ्रमसम्भ्रमौ । (मत्स्यपु० १८०।९६-९९)
देवब्राह्मणविद्विष्टा देवभक्तिविनिन्दकाः ।
ब्रह्मघ्नाश्च कृतघ्नाश्च तथा वैकृतिकाश्च ये ॥
लोकद्विष्टा गुरुद्विष्टास्तीर्थायतनदूषकाः ।
सर्वपापरताश्चैव ये चान्ये कुत्सिता भुवि ॥
तेषां नास्तीह वासोऽत्र स्थितोऽसौ दण्डनायकः ।
(शि० पु०, त्रि० से०, पृ० १९३)

वर्त्तमान समय में इनकी मूर्त्ति ज्ञानवापी के उत्तर फाटक के निकट स्थापित है। वहीं पर इनके पारिचारक सम्भ्रम तथा उद्भ्रम की भी मूर्त्तियाँ हैं। इनकी प्राचीन नवीं शताब्दी की मूर्त्ति अपने स्थान से हटाकर तेरहवीं शताब्दी में कालभैरव-मन्दिर के पीछे पुनः स्थापित की गई थी, जहाँ वे क्षेत्रपाल के नाम से पूजी जाती है (मकान नं० के० ३२/२६)। विश्वनाथजी के घेरे में वैकुण्ठेश्वर के पश्चिम के मन्दिर में इनकी शिवलिंग-रूप में उपस्थिति है। सम्भवतः, यह दण्डपाणीश्वर हैं। यह प्राचीन शिवलिंग है, जो इस मन्दिर के घेरे में आ गया है।

अक्षयवट के घेरे में द्रौपदी तथा द्रुपदादित्य, उसके पिछवाड़े उत्तर की ओर पीपल के वृक्ष के नीचे महेश्वर तथा विश्वनाथ-मन्दिर में विष्णु तथा दण्डपाणि, इस प्रकार मुक्ति-मण्डप के पाँचों देवता इस स्थान पर एकत्र हैं, जिनकी पूजा विश्वनाथ के पूजन के पहले होनी चाहिए।

७. **ब्रह्माजी के स्थान :** काशीखण्ड में ब्रह्माजी की मूर्त्ति के कहीं पर स्थापित होने का उल्लेख नहीं है, परन्तु प्राचीन लिंगपुराण में कुछ आभास मिलता है कि विधीश्वर के मन्दिर में कदाचित् ब्रह्माजी की मूर्त्ति भी थी। वहाँ लिखा है कि मुण्डेश के दक्षिण 'विधि' का स्थान है: **तस्यैव दक्षिणे देवि विधिस्तिष्ठति पार्वति** (लिं० पु०, कृ० क० त०, पृ० ११६)। ब्रह्मेश्वर के समीप ब्राह्मी देवी के होने का तो स्पष्ट उल्लेख काशीखण्ड में है, परन्तु वहाँ भी ब्रह्माजी की मूर्त्ति का कोई भी संकेत नहीं मिलता; परन्तु जब ब्रह्मेश्वर ब्रह्माघाट पर पुनः प्रतिष्ठित हुए, तब ब्रह्माजी की मूर्त्ति भी वहाँ स्थापित हुई, जिसके कारण ही इस घाट का नाम ब्रह्माघाट पड़ा। इससे यह सम्भव है कि ब्रह्मेश्वर में प्राचीन काल में भी उनकी मूर्त्ति रही हो। ब्रह्माघाट पर यह मूर्त्ति अब भी वर्त्तमान है।

मत्स्यपुराण में सन्ध्येश्वर में ब्रह्माजी की उपस्थिति का वर्णन है, परन्तु यह स्पष्ट नहीं है कि वहाँ ब्रह्माजी की मूर्त्ति भी थी। वाराणसी-क्षेत्र पर ब्रह्मा के अधिकार का वर्णन वहाँ बड़े प्रभावशाली शब्दों में हुआ है :

ब्रह्मणः परमं स्थानं ब्रह्मणाध्यासितं च यत् ।
ब्रह्मणा सेवितं नित्यं ब्रह्मणा चैव रक्षितम् ॥

ब्रह्मा तु तत्र भगवांस्त्रिसन्ध्यं चेश्वरे स्थितः।
पुण्यात् पुण्यतमं क्षेत्रं पुण्यकृद्भिर्निषेवितम्॥

(मत्स्यपु०, १८४।१७-१९)

इनके अतिरिक्त ओंकारक्षेत्र में उकार का जो प्रतीक था, वहाँ भी ब्रह्मा का अधिकार है, ऐसा काशीखण्ड में कहा गया है; परन्तु वह स्थान अब लुप्त है।

उकारमथ तस्याग्रे रजोरूपं यजुर्जनिम्।
विधातारं समस्तस्य स्वाकारमिव बिम्बितम्॥ (का०, खं० ७३।८३)

प्राचीन लिंगपुराण में यह बात और भी स्पष्ट रूप से कही गई है:

अकारे च स्थितो विष्णुः पञ्चायतनसंस्थितः।
उकारो ब्रह्मणो रूपं तस्य दक्षिणतः प्रिये॥

(लिं० पु०, कृ० क० त०, पृ० ५७)

८. **आदित्यपीठ** : कृत्यकल्पतरु में केवल एक आदित्यपीठ लोलार्क का उल्लेख है, परन्तु काशीखण्ड में चौदह आदित्यपीठों का विस्तृत वर्णन है, जिनके अलग-अलग माहात्म्य हैं:

इति काशीप्रभावज्ञो जगच्चक्षुस्तमोनुदः।
कृत्वा द्वादशधात्मानं काशिपुर्यां व्यवस्थितः॥
लोलार्क उत्तरार्कश्च साम्बादित्यस्तथैव च।
चतुर्थो द्रुपदादित्यो मयूखादित्य एव च॥
खखोल्कश्चारुणादित्यो वृद्धकेशवसंज्ञकौ।
दशमो विमलादित्यो गङ्गादित्यस्तथैव च॥
द्वादशश्च यमादित्यः काशिपुर्यां घटोद्भव।
तमोऽधिकेभ्यो दुष्टेभ्यः क्षेत्रं रक्षन्त्यमी सदा॥ (का० खं०, ६४।४४–४७)

इन बारह आदित्यपीठों के अतिरिक्त ज्येष्ठस्थान में सुमन्तु मुनि द्वारा स्थापित सुमन्त्वादित्य और राजमन्दिर में कर्णादित्य की मूर्त्तियाँ हैं। सुमन्त्वादित्य हनुमान् फाटक पर सुमन्त्वीश्वर के मन्दिर में हैं।

सुमन्तुमुनिना श्रेष्ठस्तत्रादित्यः प्रतिष्ठितः। (का० खं०, ६५।६)

१. **लोलार्क** : वाराणसी के सभी आदित्यपीठों में मूर्द्धन्य स्थान लोलार्क को दिया गया है। इतना ही नहीं, यहाँ के सभी तीर्थों में इनका प्रमुख स्थान माना गया है; क्योंकि असिसंगम पर होने से लोलार्ककुण्ड का जल गंगाजी में मिल जाने के बाद ही वह जल अन्य तीर्थों में पहुँचता है। पुराने समय में लोलार्ककुण्ड तथा गंगा का संगम होता था। अब तो वह कुण्ड ऊँचे कगार पर है और उसका जल प्रत्यक्ष रूप से गंगाजी में नहीं जाता, यद्यपि एक सुरंग के द्वारा उसका सम्पर्क गंगाजी से वर्षा ऋतु में अब भी होता है:

सर्वेषां काशितीर्थानां लोलार्कः प्रथमं शिरः।
ततोऽङ्गान्यन्यतीर्थानि तज्जलप्लावितानि हि॥ (का० खं०, ४६।५९)
लोलार्कसङ्गमे स्नात्वा दानं होमः सुरार्चनम्।
यत्किञ्चित् क्रियते कर्म तदानन्त्याय कल्पते॥५३॥

सूर्योपरागे लोलार्के स्नानदानादिकाः क्रियाः।
कुरुक्षेत्राद्दशगुणा भवन्तीह न संशयः ॥५४॥
लोलार्के रथसप्तम्यां स्नात्वा गङ्गासिसङ्गमे।
सप्तजन्मकृतैः पापैर्मुक्तो भवति तत्क्षणात् ॥५५॥
मार्गशीर्षस्य सप्तम्यां षष्ठ्यां वा रविवासरे।
विधाय वार्षिकीं यात्रां नरः पापैः प्रमुच्यते ॥५०॥
(का० खं०, अ० ४६)

इस तीर्थ में स्नान करने का माहात्म्य पहले लोलार्ककुण्ड के सम्बन्ध में दिया जा चुका है, परन्तु लोलार्ककुण्ड में स्नान तथा लोलार्क का दर्शन एक दूसरे के पूरक होने के कारण उसका उल्लेख यहाँ भी अनिवार्य है। मार्गशीर्ष शुक्ल-षष्ठी अथवा सप्तमी को यदि रविवार हो, तो उस दिन लोलार्क के दर्शन का विशेष माहात्म्य है। भाद्रपद शुक्ला षष्ठी को यहाँ की वार्षिक यात्रा शिष्टाचार के आधार पर होती है। सभी सांसारिक कष्टों से मुक्ति पाने के लिए लोग लोलार्क की उपासना करते हैं और उनसे सभी प्रकार की समृद्धि माँगते हैं। चर्मरोगों से निवृत्ति के लिए लोलार्ककुण्ड के जल से स्नान तथा लोलार्क की आराधना का विधान है। वैसे तो सभी प्रकार के रोगों के लिए आदित्य की अर्चना फलवती होती है: 'आरोग्यं भास्करादिच्छेत्। रविवार को सूर्यपीठों का दर्शन महाफल देनेवाला कहा गया है:

प्रत्यर्कवारं लोलार्कं यः पश्यति शुचिव्रतः।
न तस्य दुःखं लोकेऽस्मिन्कदाचित्सम्भविष्यति ॥ (का० खं०, ४६।५६)

२. उत्तरार्क : वाराणसी नगर की उत्तरी सीमा के निकट एक तीर्थ है, जिसका वर्त्तमान नाम बकरियाकुण्ड है। इसके पुराने नाम उत्तरार्ककुण्ड तथा बर्करीकुण्ड है, यहीं पर उत्तरार्क का मन्दिर था, जो मुसलमानों के आधिपत्य के प्रारम्भ में ही नष्ट हो गया और पुनः उसका निर्माण नहीं हो पाया। इस प्रकार, उत्तरार्क की मूर्त्ति लुप्त है। केवल स्थान की अर्चना होती है : **कलौ स्थानानि पूजयेत्**। पौष मास के रविवारों को यहाँ की यात्रा का विधान काशीखण्ड में कहा गया है, परन्तु यह क्रम अब समाप्त हो गया है। अब ज्येष्ठ के रविवारों को यहाँ पर गाजी मियाँ का मेला लगता है।

अथोत्तरस्यामाशायां कुण्डमर्काख्यमुत्तमम्।
तत्र नाम्नोत्तरार्केण रश्मिमाली व्यवस्थितः ॥
तापयन् दुःखसङ्घातं साधूनाप्याययन् रविः।
उत्तरार्को महातेजाः काशीं रक्षति सर्वदा ॥ (का० खं०, ४७।१-२)
उत्तरार्कस्य देवस्य पुष्ये मासि रवेर्दिने।
कार्या संवत्सरी यात्रा न तैः काशीफलेप्सुभिः ॥ (का० खं०, ४७।५७)

३. साम्बादित्य : इनकी स्थापना श्रीकृष्ण के पुत्र साम्ब द्वारा हुई है और इन्हीं की आराधना से साम्ब की कुष्ठरोग से मुक्ति हुई थी, ऐसा काशीखण्ड में कहा गया है। इनके ही समीप साम्बादित्य कुण्ड है, जो आजकल सूर्यकुण्ड के नाम से प्रसिद्ध है। चर्मरोग-नाश के लिए इनकी आराधना का विशेष महत्त्व है:

साम्बकुण्डे नरः स्नात्वा रविवारेऽरुणोदये।
साम्बादित्यं च सम्पूज्य व्याधिभिर्नाभिभूयते॥
न स्त्री वैधव्यमाप्नोति साम्बादित्यस्य सेवनात्।
वन्ध्या पुत्रम्प्रसूयेत शुद्धरूपसमन्वितम्॥
शुक्लायां द्विजसप्तम्यां माघे मासि रवेर्दिने।
महापर्वसमाख्यातं रविपर्वसमं शुभम्॥
महारोगात्प्रमुच्येत तत्र स्नात्वारुणोदये।
साम्बादित्यं प्रपूज्यापि धर्ममक्षय्यमाप्नुयात्॥

(का० खं०, ४८।४८–५१)

चैत्रमास के रविवारों को इनकी वार्षिक यात्रा होती है और यदि माघ शुक्ला सप्तमी रविवार को पड़े, तो वह उनके दर्शन के लिए बड़ी पुनीत मानी गई है।

मधौ मासि रवेर्वारे यात्रा सांवत्सरी भवेत्। (का० खं०, ४८।५३)

४. द्रुपदादित्य : इनकी स्थापना द्रौपदी ने की थी और इनकी आराधना से उनको अक्षयस्थाली मिली थी, जिसके द्वारा वनवास में पाण्डवों की क्षुधाकष्ट से रक्षा हुई थी। इनकी आराधना करनेवाले को क्षुधा का कष्ट नहीं होता और इनके समीप स्थित द्रौपदी की मूर्त्ति का दर्शन करने से प्रियजनों का वियोग नहीं होता। मुक्ति-मण्डप की तीन मूर्त्तियों के साथ इन दोनों मूर्त्तियों का पूजन करने के बाद ही विश्वेश्वर का पूजन करने का विधान है :

विश्वेशाद्दक्षिणे भागे यो मां त्वत्पुरतः स्थितम्।
आराधयिष्यति नरः क्षुद्बाधा तस्य नश्यति॥ (का० खं०, ४९।१५)
भवतीं मत्समीपस्थां युधिष्ठिरपतिव्रताम्।
विश्वेशाद्दक्षिणे भागे दण्डपाणेः समीपतः॥
येऽर्चयिष्यन्ति भावेन पुरुषो वा स्त्रियोऽपि वा।
तेषां कदाचिन्नो भावि भयं प्रियवियोगजम्॥

(का० खं०, ४९।२०-२१)

आजकल विश्वनाथ-मन्दिर के पश्चिम मकान नं० सी० के० ३५/२० में अक्षयवट के घेरे में द्रुपदादित्य की मूर्त्ति है। उसी के समीप नटराज की एक प्राचीन मूर्त्ति है, जो द्रौपदी के नाम से पूजी जाती है।

५. मयूखादित्य : सूर्यनारायण ने पंचनद के समीप गभस्तीश्वर शिव तथा मङ्गलागौरी की स्थापना करके उनके समक्ष तप किया और वरदान पाया। उसी स्थान पर मयूखादित्य की आराधना होती है। गभस्तीश्वर-मन्दिर में इनकी मूर्त्ति है और इनकी अर्चना से रोग और दरिद्रता से रक्षा होती है :

त्वदर्चनान्नृणां कश्चिन्न व्याधिः प्रभविष्यति।
भविष्यति न दारिद्र्यं रविवारे त्वदीक्षणात्॥ (५०।९४)

६. खखोल्कादित्य : इनका दूसरा नाम विनतादित्य भी है; क्योंकि गरुड की माता विनता द्वारा इनकी स्थापना हुई है। इनके दर्शन से सभी पापों तथा रोगों का नाश होता है। त्रिलोचन के समीप कामेश्वर महादेव के पूर्व के द्वार पर इनकी वर्त्तमान मूर्त्ति है :

इत्थंखखोल्क आदित्यः काशीविघ्नतमो हरः।
तस्य दर्शनमात्रेण सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥
काश्यां पैशङ्गिले तीर्थे खखोल्कस्य विलोकनात्।
निश्चिन्तित्थमाप्नोति नीरोगो जायते क्षणात् ॥
(का० खं०, ५०।१४६-१५०)

७. अरुणादित्य : सूर्य के सारथी अरुण द्वारा इनकी स्थापना तथा आराधना हुई थी, जिसके प्रभाव से अरुण को सूर्यनारायण के सारथी होने का गौरव मिला। आदिमहादेव के उत्तर में इनका स्थान कहा गया है और आजकल त्रिलोचन महादेव के मन्दिर में पीछे की ओर इनकी मूर्त्ति है। इनकी अर्चना से दुःख, दारिद्र्य, व्याधि, शोक, क्लेश आदि सभी से छुटकारा मिलता है।

८. वृद्धादित्य : वृद्धहारीत नामक ऋषि द्वारा इनकी स्थापना तथा आराधना प्राचीन काल में हुई थी। विशालाक्षी गौरी के दक्षिण इनका स्थान है। इनकी अर्चना से वार्धक्य का कष्ट नहीं होता, अर्थात् वृद्धावस्था में होनेवाले रोगों तथा कष्टों से रक्षा होती है तथा यथासमय मुक्ति मिलती है। इन्हीं की कृपा से वृद्धहारीत को पुनः यौवन मिला था। मीरघाट पर मकान नं० डी ३/१५ में हनुमान्‌जी के मन्दिर के समीप इनकी मूर्त्ति आजकल है।

वृद्धेनाराधितो यस्माद्धारीतेन तपस्विना।
आदित्यो वार्धकहरो वृद्धादित्यस्ततः स्मृतः ॥
वृद्धादित्यं समाराध्य वाराणस्यां घटोद्भव।
जरावुर्गतिरोगघ्नम्बहवः सिद्धिमागताः ॥ (का० खं०, ५१।४१-४२)

९. केशवादित्य : भगवान् केशव को शिवाराधन करते देखकर सूर्यनारायण ने उनसे पूछा कि आप जगदात्मा विश्वम्भर होकर भी किसकी अर्चना करते हैं। इसपर भगवान् ने उनको सदाशिव की महत्ता का उपदेश दिया और तभी से सूर्यनारायण शिव-भक्त हुए। जिस स्थान पर सूर्यनारायण को यह ज्ञानोपदेश केशव भगवान् से मिला, वहीं पर केशवादित्य की स्थापना हुई। इनकी आराधना से ज्ञान की प्राप्ति होती है। आदि-केशव के मन्दिर मे वरणा-संगम पर इनकी मूर्त्ति है। माघ शुक्ला सप्तमी (रथसप्तमी) को यदि रविवार पड़े, तो इनके दर्शन-पूजन का विशेष माहात्म्य है :

तत्रोपतिष्ठतेऽद्यापि उत्तरेणादिकेशवात् ॥
अतः स केशवादित्यः काश्याम्भक्ततमोनुदः।
समर्चितः सदादेयान्मनसोवाञ्छितं फलम् ॥
केशवादित्यमाराध्य वाराणस्यां नरोत्तमः।
परमं ज्ञानमाप्नोति येन निर्वाणभाग्भवेत् ॥
(का० खं०, ५१।७३-७४)

अगस्ते रथसप्तम्यां रविवारो यदाप्यते।
तदा पादोदके तीर्थे आदिकेशवसन्निधौ ॥
स्नात्वोषसि नरो मौनी केशवादित्यपूजनात्।
सप्तजन्मार्जितात्पापान्मुक्तो भवति तत्क्षणात् ॥ (का० खं०, ५१।७६-७७)

१०. विमलादित्य : हरिकेश-वन में विमलादित्य का स्थान है। इनकी अर्चना से कुष्ठरोग का नाश होता है :

हरिकेशवने रम्ये वाराणस्यां व्यवस्थितम्। (का० खं० ५१।८३)
तस्य दर्शनमात्रेण कुष्ठरोगः प्रणश्यति। (का०खं० ५१।८९)

जंगमबाड़ी मुहल्ले में खारीकुआँ के तथा हरिकेशेश्वर के समीप मकान नं० डी० ३५/२७३ में इनकी मूर्त्ति है।

११. गंगादित्य : विश्वेश्वर के दक्षिण इनका स्थान कहा गया है। काशी में गंगाजी के आने के समय ये प्रकट हुए थे और गंगातट पर आज भी विराजमान हैं। प्राचीन काल में इनका स्थान गंगाकेशव तथा गंगाजी की मूर्त्ति-सहित अगस्त्यकुण्ड के दक्षिण में था; परन्तु अब ललिताघाट पर ये तीनों ही मूर्त्तियाँ स्थापित हैं। इसका विशेष विवरण 'तीर्थों के स्थानान्तरण' नामक अध्याय में मिलेगा।

तस्य दर्शनमात्रेण नरः शुद्धिमियादिह ॥
गङ्गादित्यं समाराध्य वाराणस्यां नरोत्तम ॥
न जातु दुर्गतिं क्वापि लभते न च रोगभाक्।
(का० खं०, ५१।१०१, १०४)

१२. यमादित्य : इनकी स्थापना यमराज द्वारा हुई है। यमेश्वर के पश्चिम तथा वीरेश्वर के पूर्व इनका स्थान है और इनके दर्शन-पूजन से मनुष्य को यमलोक नहीं जाना पड़ता :

यमेशात्पश्चिमे भागे वीरेशात्पूर्वतो मुने।
यमादित्यं नरो दृष्ट्वा यमलोकं न पश्यति ॥ (का० खं०, ५१।१०६)

संकठाघाट के पास यमेश्वर घाट पर वशिष्ठेश्वर के समीप घाट की सीढ़ी पर मकान नं० सी० के० ७/१६४ में इनकी मूर्त्ति है।

१३. सुमन्त्वादित्य : इनकी स्थिति ज्येष्ठस्थान में कही गई है। हनुमानफाटक के समीप हनुमान्‌जी के मन्दिर में सुमन्त्वीश्वर तथा सुमन्त्वादित्य की मूर्त्ति हैं। इनके दर्शन-पूजन से कुष्ठरोग का नाश होता है। इनकी स्थापना सुमन्तु मुनि ने किया था :

सुमन्तुमुनिना श्रेष्ठस्तत्रादित्यः प्रतिष्ठितः।
तस्य सन्दर्शनादेव कुष्ठव्याधिः प्रशाम्यति ॥ (का० खं०, ६५।६)

१४. कर्णादित्य : कर्णादित्यतीर्थ शीतलाघाट तथा राजमन्दिर के नीचे है और राजमन्दिर मुहल्ले में मकान नं० के० २०/१४७ में कर्णादित्य की मूर्त्ति है :

तद्दक्षिणे महापुण्यं कर्णादित्याख्यमुत्तमम्। (का० खं० ८४।४५)

९. स्थलतीर्थ : जलतीर्थों तथा देवतीर्थों के अतिरिक्त काशी में कुछ स्थलतीर्थ भी हैं, ऐसा इस अध्याय के प्रारम्भ में कहा जा चुका है। इन स्थलतीर्थों के दो भेद हैं। एक तो वे स्थल, जो स्वतःसिद्ध हैं और इस कारण वहाँ पर इष्टसिद्धि तथा तपःसिद्धि शीघ्र होती है और दूसरे वे, जो तपस्वियों की तपोभूमि होने के कारण तीर्थ-रूप हो गये हैं।

स्वतःसिद्ध तीर्थों में लिंगपुराण में चार स्थानों का नामांकन किया गया है।

१. पंचमुद्रपीठ : पन्द्रहवीं शताब्दी से यह पीठ वहाँ माना जाता है, जहाँ संकठाजी तथा आत्मावीरेश्वर वर्त्तमान हैं। यह मातृकापीठ है और इस तीर्थ में किये हुए सभी कर्मों का फल शीघ्र ही मिलता है। तपस्या से शीघ्र सिद्धि होती है।

सर्वत्र शुभजन्मिन्यां काश्यां मुक्तिः पदे पदे ॥
तथापि सविशेषं हि तत्पीठं सर्वसिद्धिकृत्। (का० खं०, ८३।३८)
पञ्चमुद्रम्महापीठं तज्ज्ञेयं सर्वसिद्धिदम्।
तत्र जप्ता महामन्त्राः क्षिप्रं सिद्ध्यन्ति नान्यथा ॥ (का० खं०, ९७।४०-४१)
मातॄणां तु प्रभावेण नरो भवति सिद्धिभाक्।
(लिं० पु०, कृ० क० त०, पृ० ५१)

इसका प्राचीन स्थान स्वर्लीनेश्वर के उत्तर में था : स्वर्लीनस्योत्तरे पार्श्वे मातरः।

२. रुद्रावास : ओंकारेश्वर के दक्षिण का क्षेत्र रुद्रावास कहलाता था। वहीं पर रुद्रावासकुण्ड भी था, जो वर्त्तमान काल में 'सुग्गीगड़ही' कहा जाता है। यह स्थान पाशुपत लोगों की तपस्थली थी और बहुत-से बड़े-बड़े लोगों को यहाँ पर सिद्धि मिली थी। इस क्षेत्र में बहुत-से सिद्ध शिवायतन थे, जिनके समीप तपस्या करने से यह सिद्धि मिलती थी। वामदेव, सांख्यवेत्ता कपिल, उद्दालक, पाराशर्य, वाष्कलि, भाववृत्त, आरुणि, योगसिद्ध, सार्वाण, अघोर, जाबाल, गार्ग्य इत्यादि मुनियों को यहीं पर सिद्धि प्राप्त हुई थी (लिं० पु०, कृ० क० त०, पृ० ५७–६२)। परन्तु, अब ये सभी स्थान लुप्त हो गये हैं, केवल ओंकारेश्वर ही बच रहे हैं।

३. ज्येष्ठस्थान : हनुमानफाटक से ईश्वरगंगी तक और ज्येष्ठेश्वर के उत्तर बहुत दूर तक सम्भवतः कर्कोटकवापी (नागकुआँ) के समीप तक यह सिद्धपीठ फैला हुआ था और यहाँ सैकड़ों शिवलिंग थे, जिनके अपने-अपने माहात्म्य थे। इन शिवलिंगों में बहुतों का तो अब पता भी नहीं चलता। बहुत-से अपने स्थान से दक्षिण भूतभैरव तथा काशीपुरा में पुनः स्थापित और पुनः लुप्त हुए। यह स्थलतीर्थ भी परम पवित्र माना जाता था और बहुत-से तपस्वियों ने शिवलिंग स्थापित करके यहाँ तप किया था। कैलास से आने पर महादेवजी सबसे पहले यहाँ पधारे, इसीलिए इसका नाम ज्येष्ठस्थान पड़ा और जैगीषव्य ऋषि की तपस्या ही उनके तुरन्त यहाँ आने का कारण हुई। यहाँ के देवायतनों का विस्तृत विवेचन 'तीर्थों का स्थानान्तरण' नामक अध्याय में किया जायगा।

अतएव ततः प्राप्तः प्रथमं प्रमथाधिपः।
ज्येष्ठस्थानं ततः काश्यां तदाभूदपि पुण्यदम् ॥
(का० खं०, ६३।८-१०)

४. सिद्धकूट : यह स्थलतीर्थ व्याघ्रेश्वर के पश्चिम तथा सिद्धेश्वर के समीप था। औसानगंज के बगीचे का जो ऊँचा पठार है, जो वागीश्वरी तक चला गया है, वही सिद्धकूट है। यहाँ भी तपस्वी लोग तपस्या करते थे और जैसा उनके नाम से ही प्रकट है, इस स्थान पर मन्त्रसिद्धि शीघ्र प्राप्त होती थी। सिद्धेश्वर का वर्त्तमान मन्दिर जैतपुरा मुहल्ले में, मकान नं० जे० ६/८४ में, वागीश्वरी देवी के दक्षिण समीप में ही है। वहीं पर सिद्धिवापी भी थी, जो अब लुप्त है।

तस्य (जयन्तेश्वरस्य) दक्षिणदिग्भागे सिद्धिकूटः प्रकीर्त्तितः।
सिद्धाः पाशुपतास्तत्र मम लिङ्गार्चने रताः॥
तेषां वै तत्र कूटोऽयं सिद्धकूटः स सिद्ध्यति।
तत्र ध्यानरताः केचिज्जपं कुर्वन्ति चापरे॥
स्वाध्यायमन्ये कुर्वन्ति तपः कुर्वन्ति चापरे।
आकाशशयनं केचित्केचिद्भावं समाश्रिताः॥
अधोमुखास्तथैवान्ये धूमपेयास्तथापरे।
प्रदक्षिणान्ये कुर्वन्ति काष्ठमौनं तथापरे॥
कुर्वन्ति पुष्पाहरणं गड्डूकानां तथापरे।
तैः सर्वैः स्थापितं लिङ्गमर्चापूजनतत्परैः॥
सिद्धेश्वरं तु विख्यातं सर्वपापहरं शुभम्।
देवस्य पश्चिमे भागे वापी तिष्ठति सुन्दरि॥

(लिं० पु०, कृ० क० त०, पृ० ८८)

५. त्रिविष्टप अथवा विरजा-क्षेत्र : त्रिलोचन महादेव के चारों ओर के क्षेत्र का त्रिविष्टप नाम है और इसको विरजा-क्षेत्र भी कहते हैं; क्योंकि उसी क्षेत्र से भगवान् त्रिलोचन आये थे। इसीके समीप पिलिपिला तीर्थ है, जो गंगाजी के काशी में आने के पहले तारक तीर्थों में गिना जाता था। अब वह गंगाजी में मिल गया है—त्रिलोचन घाट पर वह तीर्थ माना जाता है।

आगत्य विरजस्तीर्थाद्देवदेवस्त्रिलोचनः।
लिङ्गेत्वनादिसंसिद्धे ह्यवतस्थे त्रिविष्टपे॥
पुण्ये पिलिप्पिलातीर्थे सर्वेषां तारकप्रदे।

(का० खं०, ७०।१६६-१६७)

विरजाख्यं हि तत्पीठं तत्र लिङ्गं त्रिविष्टपम्।
तत्पीठदर्शनादेव विरजा जायते नरः॥ (का० खं० ७५।४)

६. धर्मपीठ : यमराज ने इस पीठ पर तपस्या करके ही धर्मराज का अधिकार पाया था। यहाँ भी किये गये अनुष्ठानों की सिद्धि शीघ्र तथा अक्षय्य होती है। यहीं पर धर्मकूप है, जिसका तट पितृकार्य के लिए अत्यन्त पुनीत माना गया है।

धर्माधिकरणं यत्र धर्मराजोऽप्यवाप्तवान्। (का० खं०, ७८।१२)

यदत्र दास्यन्ति हि धर्मपीठे नरा द्युनद्यां कृतमज्जनाश्च ।
तदक्षयं भावि युगान्तरेऽपि कृतप्रणामास्तव धर्मलिङ्गे ॥
(का० खं०, ७८।५४)

धर्मकूपे नरः स्नात्वा परितर्प्य पितामहान् ।
गयां गत्वा किमधिकं कर्त्तापितृमुदावहम् ॥ (का० खं०, ८१।३२)

७. पितृपीठ : यह कपिलधारा के समीप का क्षेत्र है, जहाँ श्राद्ध करने से पितरों को अक्षय तृप्ति प्राप्त होती है। इसको कपिलतीर्थ भी कहते हैं। इसका विस्तृत वर्णन कपिलह्रद शीर्षक के अन्तर्गत पहले किया जा चुका है। यहाँ के श्राद्ध की यह विशेषता है कि किसी प्रकार का जीव हो, जिसकी और्ध्वदेहिक क्रिया हुई हो या न हुई हो, किसी प्रकार मृत्यु हुई हो, फिर भी उसका उद्धार हो जाता है। (का० खं०, ६२।५३–८३) कपिल भगवान् ने यहाँ उग्र तपस्या की थी। उनकी मूर्त्ति भी यहाँ है।

वाराणसी की अन्य तपस्थलियाँ :

प्राचीन काल में तपस्वी लोग जिन स्थानों में रहते, उनके सम्बन्ध में काशीखण्ड में एक जगह यह विवरण मिलता है कि किस स्थान में कितने तपस्वी रहते थे। इन तीर्थों में कुछ तो प्रसिद्ध हैं, किन्तु कुछ ऐसे भी हैं, जिनके विषय में बहुत कम सामग्री मिलती है।

१.	दण्डखात के समीप	५०००	तीर्थ लुप्त। पियाला शहीद का पोखरा।
२.	मन्दाकिनीतट पर	१०,०००	वर्त्तमान मैदागिन का पोखरा।
३.	हंसतीर्थ के निकट	१०,३००	वर्त्तमान हरतीरथ का पोखरा।
४.	दुर्वासातीर्थ पर	११००	कामेश्वर महादेव के समीप कामकुण्ड। लुप्त।
५.	मत्स्योदरीतीर्थ के चारों ओर	६०००	मत्स्योदरी प्रसिद्ध।
६.	कपालमोचनतीर्थ पर	७००	ओंकारेश्वर के समीप पक्का तालाब, जो रानी भवानी ने पक्का करवाया। अब सूखा पड़ा है।
७.	ऋणमोचनतीर्थ पर	१२००	वर्त्तमान लड्डू पोखरा।
८.	वैतरणी दीर्घिका पर	४०००	शास्त्रीय वैतरणी अब लुप्त है। लौकिक वैतरणी अन्यत्र है।
९.	पृथूदककुण्ड पर	१३००	खजुरी मुहल्ले में।
१०.	मेनकाकुण्ड पर	२००	लुप्त।
११.	उर्वशीकुण्ड पर	१२००	औसानगंज में बाबू के बाजार के पास था, अब पाट दिया गया है।
१२.	ऐरावतकुण्ड के समीप	३००	वृद्धकाल के समीप था। अब लुप्त।
१३.	गन्धर्वसरोवर के निकट	९००	वृषेश्वर के उत्तर। नागकुआँ के पश्चिम। वर्त्तमान नाम मीरन सागर।

१४	वृशेषतीर्थ पर	३९०	लुप्त।
१५.	यक्षिणीकुण्ड पर	१३००	अज्ञात।
१६.	लक्ष्मीकुण्ड पर	१६००	प्रसिद्ध।
१७.	पिशाचमोचन पर	७०००	प्रसिद्ध।
१८.	पितृकुण्ड पर	१००	पितरकुण्ड प्रसिद्ध।
१९.	ध्रुवकुण्ड के समीप	६००	ध्रुवेश्वर के समीप। अब लुप्त।
२०.	मानसरोवर पर	५००	मानसरोवर प्रसिद्ध। अब लुप्त।
२१.	वासुकिकुण्ड पर	१०,०००	नागकुआं के पास। लुप्तप्राय।
२२.	जानकीकुण्ड पर	८००	लक्सा मुहल्ले में सीताकुण्ड। अब पट गया।
२३.	गौतमकुण्ड पर	९००	गौदोलिया का पोखरा। अब पट गया है।
२४.	दुर्गाकुण्ड पर	११००	दुर्गाकुण्ड प्रसिद्ध।
२५.	वरणा-संगम से असी-संगम तक गंगातीर पर,	१८५५५	
	योग	८५,९४५	

इन संख्याओं को अतिशयपूर्ण मानने पर भी एक बात तो इनसे स्पष्ट हो ही जाती है कि इन तीर्थों की अपेक्षाकृत महत्ता क्या थी। सबसे बड़ी संख्या गंगातीर के तपस्वियों की है, परन्तु यह तो अनिवार्य था; क्योंकि प्रायः ढाई कोस में ये लोग फैले थे। इसके बाद मन्दाकिनी, हंसतीर्थ तथा वासुकिकुण्ड का स्थान आता है और तदुपरान्त पिशाचमोचन, मत्स्योदरी, वैतरणी तथा दण्डखात का। अन्य तीर्थों में लक्ष्मीकुण्ड, यक्षिणीकुण्ड, पृथूदककुण्ड, ऋणमोचनतीर्थ, उर्वशीकुण्ड दुर्गाकुण्ड और दुर्वासाकुण्ड क्रमशः आते हैं और इसके बाद सभी अन्य। इन तपस्वियों में बहुधा लोग पाशुपत व्रत के साधक थे, ऐसा संकेत यदा-कदा मिलता है और इनकी तपश्चर्या का स्वरूप सिद्धकूट शीर्षक के अन्तर्गत दिये हुए उद्धरण से स्पष्ट हो जाता है।

१०. **गुफाएँ:** वाराणसी में दो गुफाओं का वर्णन है, एक तो ओंकारेश्वर के समीप, जिसका नाम श्रीमुखी गुहा, किंवा कपिलेश्वर गुफा, अथवा अघोरेश्वर गुफा था, और दूसरी जैगीषव्य गुहा। इन दोनों में तपस्या करने का बड़ा माहात्म्य कहा गया है।

१. **श्रीमुखी गुहा:** यह ओंकारेश्वर के पास थी और इसके द्वार पर अघोरेश्वर नामक शिव-लिंग था, जिसकी आराधना से अघोर मुनि को रुद्रत्व प्राप्त हुआ था। वहाँ तीन रात्रि तक ध्यान तप करने से मुक्ति मिलती थी और केवल दर्शन करने से ही मनुष्य पुण्यात्मा हो जाता था। अब यह गुफा लुप्त है।

तत्र गत्वा त्रिरात्रं तु क्षपयेदेकमानसः।
नरो वा यदि वा नारी संसारं न विशेत्पुनः॥
(लिं० पु०, कृ० क० त०, पृ० ६१)

तां गुहां वीक्षते वै यो न स पापेन लिप्यते। (लिं० पु०, कृ० क० त०, पृ० ५७)

काशीखण्ड के अनुसार वहाँ पाँच रात्रि तक वास करने से नागकन्याएँ प्रकट होती हैं, जो शुभाशुभ बतलाती हैं:

तिष्ठेयुः पञ्चरात्रं ये गुहायां तत्र सुव्रताः।
ते नागकन्याः पश्यन्ति ब्रूयुस्ताश्च शुभाशुभम् ।। (का०खं० ७४।१०२)

२. जैगीषव्यगुहा : यह ज्येष्ठस्थान में है और आज भी मकान नं० जे० ६६/३ में जागेश्वर महादेव के दक्षिण के मठ में वर्त्तमान है। वहाँ जैगीषव्येश्वर महादेव भी हैं और जैगीषव्य ऋषि की दो मूर्त्तियाँ भी वहाँ है, यद्यपि इस मूर्त्ति का काशीखण्ड में उल्लेख नहीं है। इसी गुफा के भीतर ये ऋषि तपस्या करते थे और उसके द्वार पर उनको भगवान् का साक्षात्कार हुआ था और भगवान् ने उनको योगशास्त्र का ज्ञान वरदान-रूप में दिया था, तभी से यह योगज्ञान प्राप्त करने का सिद्धपीठ मानी जाती है। तीन रात्रि वहाँ पर उपवासपूर्वक साधना करने से ज्ञान की प्राप्ति होती है, ऐसा कहा गया है:

योगशास्त्रं मया दत्तं तव निर्वाणसाधकम् ।
सर्वेषां योगिनां मध्ये योगाचार्यस्तु वै भवान् ।।७१।।
रहस्यं योगविद्याया यथावत्त्वं तपोधन।
संवेत्स्यसे प्रसादान्मे येन निर्वाणमाप्स्यसि ।।७२।।
जैगीषव्यगुहां प्राप्य योगाभ्यसनतत्परः।
षण्मासेन लभेत्सिद्धिं वाञ्छितां मदनुग्रहात् ।।८१।।
(का० खं० ६४।७१-८१)

त्रिरात्रोपोषितस्तत्र ज्ञानं लभ्येत निर्मलम् ।। (का०खं० ६७।१७१)
त्रिरात्रं तत्र कृत्वा वै यो नरः पूजयिष्यति।
गुह्यं प्रविश्यते चैव ज्ञानयुक्तो भवेन्नरः ।। (लिं०पु०,कृ०क०त०,पृ०९२)

११. स्तम्भ : वाराणसी में दो स्तम्भों का वर्णन काशीखण्ड में तथा एक का लिंगपुराण में मिलता है। शैलेश्वर के दक्षिण कोटितीर्थ तथा कोटीश्वर और उनके आग्नेय कोण में महाश्मशान-स्तम्भ। यह भैरवी यातना का स्थान है, जहाँ काशी में किये हुए पापों का दण्ड रुद्रपिशाच होकर भोगना पड़ता है। यहीं पर अपने पापों का फल भोगकर भैरव की कृपा से जीव मुक्ति का अधिकारी होता है और भगवान् से तारक-मन्त्र का उपदेश पाकर मुक्त हो जाता है। वर्त्तमान काल में यह स्थान लाटभैरव के नाम से प्रसिद्ध है और जो लाट यहाँ पूजी जाती है, वही लाटभैरव कहलाती है। फ्रांसीसी पर्यटक तवर्नियर के वर्णन के अनुसार इस लाट की ऊँचाई ३२ से ३४ फीट तक की है और कहा जाता है कि यह प्रायः इतनी ही पृथ्वी के भीतर है। इसकी मोटाई इतनी थी कि तीन आदमी हाथ मिलाकर इसे मुश्किल से घेर सकते थे। यह बहुत कड़े चुनार के पत्थर की बनी थी और तवर्नियर अपनी छुरी से भी इसको खुरच नहीं सका था। इसका ऊपरी भाग चौकोर और नुकीला था और उसके ऊपर एक गोला था। गोले के नीचे एक कण्ठा था। इसके चारों ओर जानवरों की उभारदार नक्काशियाँ बनी थीं। यह लाट महारुद्र के बहुत बड़े मन्दिर के बीच में थी। जब मुसलमानों ने उस मन्दिर को तोड़कर उसके स्थान पर एक मस्जिद बनवाई, तब यह लाट उस मस्जिद की चौक में पड़ गई। परन्तु, उस समय यह लाट तोड़ी नहीं गई और सन् १८०५ ई० तक सुरक्षित रही। उस वर्ष बनारस में एक बहुत बड़ा साम्प्रदायिक दंगा हुआ, जिसमें मुसलमानों ने इस लाट को तोड़ डाला। केवल उसका नीचे का भाग बच गया, जो ताँबे के पत्तर से ढक दिया गया और उसकी आज भी पूजा होती है।

इसका नाम कुलस्तम्भ होने के आधार पर इसके बौद्ध होने का भी अनुमान किया गया है और कुछ विद्वानों का मत है कि यह अशोक की लाट थी। यह हो सकता है, परन्तु संभवतः यहाँ पर दो स्तम्भ थे, जिनमें एक अशोक का बनवाया हुआ होगा, जिसका हिन्दू-धर्म से प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं था और दूसरा महाश्मशान-स्तम्भ, जिसे मुसलमानों ने अपने राज्य के आदिम काल में नष्ट कर दिया। जो कुछ भी हो, महाश्मशान-स्तम्भ भैरव के दण्डक्षेत्र का केन्द्र था और उसके समीप ही भैरवतीर्थ था, जो अब भी वहाँ वर्तमान है। परन्तु, महारुद्र का शिवायतन लुप्त ही हो गया। श्मशानस्तम्भ का प्रतीक दण्डपाणि भैरव के नाम से दण्डपाणि गली में स्थापित हुआ, जहाँ उसकी अर्चना अब भी होती है, और प्राचीन श्मशान-स्तम्भ का शीर्षक कालभैरव के समीप चक्रपाणिभैरव के नाम से पूजा जाता है। इसका बड़ा भव्य स्वरूप है, जैसा कि इसका चित्र देखने से स्पष्ट होगा:

अयं हि स कुलस्तम्भो यत्र श्रीकालभैरवः।
क्षेत्रपापकृतः शास्ति दर्शयंस्तीव्रयातनाम्॥
(का० खं०, ३३।११४)

महाश्मशानस्तम्भोऽस्ति कोटीशाद्बहिर्दिक्स्थितः।
तस्मिन् स्तम्भे महारुद्रस्तिष्ठते चोमया सह॥ (का० खं०, ९७।९४)
कोटीश्वरस्य देवस्य आग्नेय्यां दिशि संस्थितः।
श्मशानस्तम्भसंज्ञेति विख्यातः सुप्रतिष्ठितः॥
मानवास्तत्र पात्यन्ते इह यैर्दुष्कृतं कृतम्।
यत्र स्तम्भे सदा देवि अहं तिष्ठामि भामिनि॥
तत्र गत्वा तु यः पूजां मम देवि करिष्यति।
सर्वपापविनिर्मुक्तो गच्छेच्च परमां गतिम्॥
(लिं०पु०, कृ०क० त०, पृ० ५४)

कुलस्तम्भ की वार्षिक यात्रा भाद्रपद-पूर्णिमा को होती है। पाठभेद से नवमी तथा पूर्णिमा को सदैव ही पूजन का विधान है:

नभस्य पञ्चदश्यां च कुलस्तम्भं समर्चयेत्।
दुःखं रुद्रपिशाचत्वं न भवेत्तस्य पूजनात्॥ (का० खं० १००।९९)

छठा अध्याय

वाराणसी के शिवायतन

काशी में शिवालयों की संख्या बहुत बड़ी है और शिवलिंगों की संख्या का निर्धारण करना असम्भव है। घर-घर में, गलियों में, चारों ओर शिवलिंग स्थापित हैं। उनको किस प्रकार गिना जाय? इसी कारण, कहावत है कि काशी के शंकर असंख्य हैं। परन्तु, इनका वर्गीकरण सम्भव है।

१. कुछ तो स्वयम्भू लिंग हैं, अर्थात् स्वतः पृथ्वी को फोड़कर प्रकट हुए हैं; २. कुछ देवताओं के द्वारा स्थापित हुए हैं; ३. कुछ की स्थापना ऋषियों, महर्षियों ने की है और ४. शेषशिवलिंग शिवभक्तों के द्वारा प्रतिष्ठित हुए हैं। ५. इनके अतिरिक्त कुछ शिवलिंग ऐसे हैं, जो अन्य शैव तीर्थों के शिवलिंगों के प्रतीक-रूप में काशी में वर्त्तमान हैं। पुराणों का मत है कि भारत के सभी तीर्थ काशी में निवास करते हैं और इस प्रकार उन तीर्थों के शिवायतन भी काशी में उपस्थित हैं।

स्वयम्भू शिवलिंगों का सर्वाधिक माहात्म्य है। इसके बाद देवस्थापित शिवलिंगों का चमत्कार है, तदुपरान्त ऋषियों द्वारा प्रतिष्ठित शिवलिंग वन्दनीय माने जाते हैं। जिन बड़े भक्तों ने अपने-अपने नाम के शिवलिंग की आराधना से वरदान, किंवा सिद्धि पाई है, उनका माहात्म्य ऋषियों के शिवलिंगों के बाद आता है। अन्य तीर्थों के प्रतिनिधि शिवलिंग अपने पूर्व माहात्म्य के साथ ही काशी में आये हैं और आराधना की परम्परा में उनका वही स्थान बना हुआ है। इनके अतिरिक्त बहुत-से शिवलिंग साधारण मनुष्यों ने स्थापित किये हैं, जो असंख्य हैं। पुराणों में पहले तीन प्रकार के शिवलिंगों का विवरण मिलता है और उनके पूजन का माहात्म्य भी बताया गया है। पाँचवें प्रकार के शिवलिंगों का भी उल्लेख है और उनके महत्त्व का परिचय भी प्राप्त होता है। परन्तु, चौथे वर्ग में केवल सिद्धपीठों का उल्लेख पुराणों में है, औरों का नहीं। यही कारण है कि पद्मेश्वर तथा कर्णमेरु के, जो अपने समय के अत्यन्त सुन्दर तथा विशाल शिवालय थे, पुराणों में नाम नहीं हैं। पद्मेश्वर के मन्दिर का तो शिलालेख मिलने से जान पड़ा कि वह विश्वेश्वर-मन्दिर के द्वार पर था, परन्तु कर्णमेरु के स्थान का तो पता भी नहीं है।

पुराणों में जिन शिवायतनों का उल्लेख है, उनकी संख्या का कुछ अनुमान किया जा सकता है, यद्यपि पुराणभेद से उनकी संख्या में भी भेद पड़ जाता है।

काशीखण्ड में वाराणसी-क्षेत्र के ५११ शिवालयों का उल्लेख है, जिनमें ११ स्वयम्भूलिंग, ४६ देवताओं द्वारा स्थापित, ४७ ऋषियों द्वारा प्रतिष्ठित, ७ ग्रहों द्वारा पूजित, ४० गणों द्वारा अर्चित तथा २९५ अन्य शिवलिंग हैं। इनके अतिरिक्त ६५ शिवायतन भारतवर्ष

के अन्य शैव क्षेत्रों से विश्वेश्वर के समीप रहने के लिए काशी आये, जिनमें ओंकारेश्वर का स्वयम्भू-रूप से उद्भव हुआ और इस प्रकार स्वयम्भू लिंगों की संख्या १२ हो गई।

प्राचीन लिंगपुराण में केवल सिद्धतीर्थों का उल्लेख हुआ है, जिसमें ३३७ शिवलिंग बतलाये गये हैं और कहा गया है कि इनके अतिरिक्त और भी सैकड़ों शिवायतन वाराणसी में हैं, जिनका नामांकन विस्तार-भय से नहीं किया गया है :

एतानि सिद्धलिङ्गानि कूपाः पुण्यह्रदास्तथा।
वाप्यो नद्योऽथ कुण्डानि मया ते परिकीर्त्तिताः॥
अन्यानि सन्ति लिङ्गानि शतशोऽथ सहस्रशः।
न मया तानि चोक्तानि बहुत्वान्नामधेयतः॥
एतानि सिद्धलिङ्गानि......मया ते परिकीर्त्तिताः।

(लिंगपुराण, क्रु० क० त०, पृ०१२०)

काशीखण्ड में उल्लिखित ५११ शिवलिंगों के अतिरिक्त लिंगपुराण में २२ तथा काशी-रहस्य में १ और शिवायतनों का उल्लेख मिलता है। इस प्रकार, उनकी संख्या ५३४ हो जाती है। दुर्भाग्य से इनमें से बहुत-से शिवायतनों का पता-ठिकाना अब नहीं मिलता, जिसके कई कारण हैं। मुख्य तो यह कि मुसलमानी राज्यकाल में जो देवमन्दिर उन मुहल्लों में पड़ गये, जिनमें मुसलमान रहते थे, वे नष्ट हो गये। उनमें से जो प्रसिद्ध थे, उनकी तो अन्यत्र स्थापना हुई; परन्तु बहुत-से इस पुनरुद्धार में छूट गये। पुराना नगर गायघाट के उत्तर में ही था। नगर का प्रवेशद्वार पाटन दरवाजे (पत्तनद्वार) के नाम से अब भी वर्त्तमान है, जिसके ऊपर गणेशजी की जो मूर्त्ति है, वह बहुत प्राचीन काल की है। जब राजघाट के कोट का सर्वनाश हुआ, तब वहाँ के रहनेवाले दक्षिण की ओर नये मुहल्ले बसाकर रहे, जिसमें गढ़वासी टोला सबसे पहले बसा, जैसा उसके नाम से ही स्पष्ट है, यद्यपि मदनपुरा और गोविन्दपुरा इसके पूर्व बस चुके थे। मदनपुरा के बसाने-वाले का नाम नहीं मालूम, परन्तु गोविन्दपुरा तो दलेल खाँ नामक एक मुसलमान ने ही बसाया था, ऐसा बनारस-गजेटियर का कहना है, और जैसा वर्त्तमान परिस्थिति से अनुमान होता है, इन दोनों मुहल्लों में उस समय भी मुसलमान ही प्रायः रहते थे।

नये मुहल्लों के बसने में बहुत-से शिवायतन घरों के भीतर पड़ गये। यहाँ यह स्मरण रखना है कि सभी मन्दिर टूट चुके थे। उनके रिक्त स्थान ही पड़े थे, जहाँ घर बने। बहुतों का पुनरुद्धार हुआ ही नहीं। इसके बाद जब मन्दिरों का सर्वनाश बारम्बार होने लगा, तब उनकी रक्षा की दृष्टि से भी देवताओं की पुनःस्थापना घरों के भीतर होने लगी; क्योंकि मन्दिर तो प्रमुख होने के कारण तोड़े जा सकते थे, परन्तु घरों को कोई कहाँ तक तोड़ता और इस प्रकार बहुत-सी देवमूर्त्तियों की रक्षा हो सकी, जैसा घरों में वर्त्तमान बहुत-से शिवलिंगों की प्राचीनता से सिद्ध होता है।

मुसलमानों के राज्यकाल में धार्मिक अत्याचारों की प्रतिक्रिया के रूप में हिन्दुओं की धार्मिक भावना में एक प्रकार की उग्रता थी, जिसके कारण देवार्चन जीवन का एक प्रधान अंग माना जाता था। वाराणसी में तो यह भावना अत्यन्त प्रबल थी, जैसी अपेक्षाकृत आज भी है। परन्तु, अट्ठारहवीं शताब्दी से इन अत्याचारों का प्रायः अन्त हो गया और

ईस्ट इण्डिया कम्पनी तथा ब्रिटिश-शासनकाल में धार्मिक शान्ति हो गई। इसका फल यह हुआ कि धीरे-धीरे धार्मिक भावना की उग्रता कम होने लगी और पूजा-अर्चना में शिथिलता आ चली। अँगरेजी-शिक्षा से उत्पन्न तार्किक प्रवृत्ति तथा धार्मिक अविश्वास का प्रभाव भी कालान्तर में पड़ा और आर्यसमाज द्वारा मूर्तिपूजा-विरोध से भी कुछ लोग प्रभावित हुए। इन सभी कारणों से तीर्थों और देवालयों के नाम भूलने लगे। यह प्रक्रिया आज भी पूर्णरूपेण चल रही है। प्रसिद्ध देवायतनों को छोड़कर अन्य देवालयों के विषय में वर्त्तमान युवक-मण्डली का ज्ञान निरन्तर कम होता जा रहा है। उनको इस विषय में अनुराग ही नहीं है। इन्हीं सब बातों का परिणाम यह हुआ कि ५३३ शिवायतनों में से इस समय लगभग तीन सौ का ही पता-ठिकाना ज्ञात हो सका है और वह भी बीस वर्षों के अथक परिश्रम के बाद। इनका स्थान-निर्देश यथास्थान आगे चलकर किया जायगा। सद्यः यह विचार करना है कि इनमें से विशेष माहात्म्यवाले प्रधान शिवायतन कौन-से हैं।

काशीखण्ड में प्रधान शिवलिंगों की जो सूची सत्तानब्बेवें अध्याय में दी हुई है, उसमें २८७ नाम हैं। प्राचीन लिंगपुराण में सिद्ध स्थानों की संख्या ३३७ है। इन दोनों को पढ़ने से यह स्पष्ट हो जाता है कि काशीखण्ड के सत्तानब्बेवें अध्याय की सूची प्राचीन लिंगपुराण का ही संक्षिप्त रूप है; क्योंकि देवायतनों के नाम तथा उनके स्थान-निर्देश एक ही-से हैं, यद्यपि प्राचीन लिंगपुराण की सूची के कुछ नाम काशीखण्ड की सूची में छोड़ दिये गये हैं और साथ-ही-साथ कुछ नाम जोड़े भी गये हैं।

भिन्न-भिन्न पुराणों में भिन्न-भिन्न शिवायतनों को महत्त्व दिया गया है। इसी प्रकार समय-समय पर भी इनके माहात्म्य तथा महत्त्व में परिवर्त्तन हुआ है। धार्मिक महत्त्व के साथ-ही-साथ लौकिक कारणों का भी इस विषय में प्रभाव पड़ने के प्रमाण प्राप्त होते हैं।

महाभारत : महाभारत में काशी के केवल दो ही तीर्थों का उल्लेख है—कपिलाह्रद तथा उसके समीपवर्त्ती वृषभध्वज के शिवायतन का। इससे स्पष्ट है कि ईसा-पूर्व सातवीं-आठवीं शताब्दी में काशी का सबसे प्रसिद्ध शिवालय वही था। सम्भवतः, उस समय वरणा के मुहाने के उस पार तक नगर का विस्तार था, जिसके खण्डहर सराय मुहाना परगने में मीलों तक वर्त्तमान हैं। वृषभध्वज तथा कपिलाह्रद (वर्त्तमान कपिलधारा) वहीं पर हैं। कालान्तर में इस शिवलिंग का वह प्राधान्य नहीं रह गया और अब पंचक्रोशी यात्रा के अतिरिक्त बहुत कम लोग वहाँ दर्शन करने जाते हैं।

प्राचीन लिंगपुराण : प्राचीन लिंगपुराण के अनुसार वाराणसी का सर्वश्रेष्ठ शिवायतन अविमुक्तेश्वर का था। अविमुक्तक्षेत्र का स्वामित्व उसी को प्राप्त था। इसके अतिरिक्त त्रिकण्टक, चतुरायतन, पंचायतन, षडंग, अष्टायतन तथा चतुर्दशायतन थे, जिनके महत्त्वपूर्ण योगों का उल्लेख वहाँ मिलता है। इस आधार पर इन शिवायतनों की प्रधानता स्थिर की जा सकती है। यदि मनुष्य को समयाभाव से केवल एक ही शिवलिंग के दर्शन-पूजन का समय हो, तो अविमुक्तेश्वर की वन्दना करने का विधान था; क्योंकि वे ही अविमुक्तक्षेत्र अथवा वाराणसी के स्वामी माने जाते थे। यदि इससे अधिक समय हो, तो त्रिकण्टक की उपासना तथा दर्शन-पूजन करे। इसी प्रकार चतुरायतन, पंचायतन, षडंग, अष्टायतन तथा चतुर्दशा-

यतन तक की स्पष्ट व्यवस्था प्राचीन लिंगपुराण में मिलती है। यह व्यवस्था मुसलमानों के वाराणसी पर आधिपत्य जमाने के पूर्व की होने के कारण असन्दिग्ध है।

त्रिकण्टक में : अविमुक्तेश्वर, स्वर्लीनेश्वर तथा मध्यमेश्वर का उल्लेख है :

> **अविमुक्तं च स्वर्लीनं तथा मध्यमकं पदम्।**
> **एतत्त्रिकण्टकं देवि मृत्युकालेऽमृतप्रदम्॥**
>
> **(लिं० पु०, कृ० क० त०, पृ० १२३)**

चतुरायतन में : स्वर्लीन तथा मध्यमेश्वर के साथ-साथ शैलेश्वर तथा संगमेश्वर के नाम आते हैं:

> **शैलेशं सङ्गमेशं च स्वर्लीनं मध्यमेश्वरम्।**
> **दृष्ट्वा न जायते मर्त्यः संसारे दुःखसागरे॥**
>
> **(लिं० पु०, त्रि० से०, पृ० २६१)**

पंचायतन में : ओंकारेश्वर तथा उनके समीप के चार अन्य शिवलिंगों का उल्लेख है, परन्तु इनमें से केवल ओंकारेश्वर ही अब बच रहे हैं। अन्य सभी लुप्त हो गये।

षडंग में : अविमुक्तेश्वर, स्वर्लीनेश्वर, ओंकारेश्वर, चण्डेश्वर, मध्यमेश्वर तथा कृत्तिवासेश्वर के नाम हैं :

> **अविमुक्तं च स्वर्लीनमोङ्कारं चण्डमीश्वरम्।**
> **मध्यमं कृत्तिवासं च षडङ्गमीश्वरं स्मृतम्॥**
>
> **(लिं० पु०, कृ० क० त०, पृ० १२४)**

अष्टायतन में : अग्नीश्वर (अग्नीध्रेश्वर, वर्त्तमान नाम यागेश्वर), उर्वशीश्वर, लांगलीश्वर, आषाढीश्वर, भारभूतेश्वर, त्रिपुरान्तकेश्वर, नकुलीश्वर तथा त्र्यम्बकेश्वर हैं :

> **अग्नीशानं च कर्त्तव्यं स्नानं वै दीर्घिकाजले।**
> **दृष्ट्वा देवं ततो गच्छेदुर्वशीश्वरमुत्तमम्॥**
> **तं दृष्ट्वा मनुजो देवि लाङ्गलीशं ततो व्रजेत्।**
> **तं दृष्ट्वा तु ततो देवि आषाढीशं ततोऽर्चयेत्॥**
> **दृष्ट्वा चाषाढिनं देवं भारभूतं ततो व्रजेत्।**
> **तं दृष्ट्वा तु ततो देवं गच्छेद्वै त्रिपुरान्तकम्॥**
> **तं दृष्ट्वापि ततो देवि नकुलीशं ततो व्रजेत्।**
> **दक्षिणे नकुलीशस्य त्र्यम्बकं च ततो व्रजेत्॥**
>
> **(लिं० पु०, कृ० क० त०, पृ० १२२)**

चतुर्दशायतन में : शैलेश्वर, संगमेश्वर, स्वर्लीनेश्वर, मध्यमेश्वर, हिरण्यगर्भेश्वर, ईशानेश्वर, गोप्रेक्षेश्वर, वृषभध्वज, उपशान्तिशिव, ज्येष्ठेश्वर, निवासेश्वर, शुक्रेश्वर, व्याघ्रेश्वर तथा जम्बुकेश्वर हैं:

शैलेशं सङ्गमेशं च स्वर्लीनं मध्यमेश्वरम्।
हिरण्यगर्भमीशानं गोप्रेक्षं वृषभध्वजम्॥
उपशान्तशिवं चैव ज्येष्ठस्थाननिवासिनम्।
शुक्रेश्वरं च विख्यातं व्याघ्रेशं जम्बुकेश्वरम्॥
दृष्ट्वा न जायते मर्त्यः संसारे दुःखसागरे।
(स्कन्दपुराण, कृ० क० त०, पृ० १३५)

इस प्रकार, प्राचीन लिंगपुराण के आधार पर वाराणसी के शिवायतनों का प्राधान्य इस भाँति स्थापित होता है:
१ अविमुक्तेश्वर, २ स्वर्लीनेश्वर, २ मध्यमेश्वर, ४ शैलेश्वर, ४ संगमेश्वर, ६ ओंकारेश्वर, ६ चण्डेश्वर, ६ कृत्तिवासेश्वर, ९ अग्नीश्वर (अग्नीध्रेश्वर, वर्त्तमान नाम यागेश्वर), ९ उर्वशीश्वर, ९ लांगलीश्वर, ९ आषाढीश्वर, ९ भारभूतेश्वर, ९ त्रिपुरान्तकेश्वर (त्रिपुराभैरवी के मन्दिर में), ९ नकुलीश्वर, ९ त्र्यम्बकेश्वर, १७ हिरण्यगर्भ, १७ ईशानेश्वर, १७ गोप्रेक्षेश्वर, १७ वृषभध्वज, १७ उपशान्त शिव, १७ ज्येष्ठेश्वर, १७ निवासेश्वर, १७ शुक्रेश्वर, १७ व्याघ्रेश्वर तथा १७ जम्बुकेश्वर।

काशीखण्ड: काशीखण्ड में, जिसका वर्त्तमान स्वरूप कदाचित् मुसलमानों के आधिपत्य के प्रारम्भिक काल में स्थिर हुआ है, अविमुक्तेश्वर का स्थान विश्वेश्वर ने ले लिया है, अतएव वहाँ एकायतन-अर्चना में विश्वेश्वर का पूजन बतलाया गया है।

पंचायतन में: कृत्तिवासेश्वर, मध्यमेश्वर, ओंकारेश्वर, कपर्दीश्वर तथा विश्वेश्वर के नाम हैं:

कृत्तिवासो मध्यमेश ओङ्कारश्च कपर्दिकः।
विश्वेश्वर इति ज्ञेयं पञ्चायतनमुत्तमम्॥ (त्रि० से०, पृ० २६१)

अष्टायतन में: दक्षेश्वर, पार्वतीश्वर, पशुपतीश्वर, गंगेश्वर, नर्मदेश्वर, गभस्तीश्वर, सतीश्वर तथा तारकेश्वर हैं:

अष्टायतनयात्रान्या कर्त्तव्या विघ्नशान्तये।
दक्षेशः पार्वतीशश्च तथा पशुपतीश्वरः॥
गङ्गेशो नर्मदेशश्च गभस्तीशः सतीश्वरः।
अष्टमस्तारकेशश्च प्रत्यष्टमि विशेषतः॥ (का० खं० १००।४९-५०)

एकादशायतन में: लिंगपुराण के अष्टायतन में पहले सात शिवायतन और उनके अतिरिक्त मनःप्रकामेश्वर, प्रीतिकेश्वर, मदालसेश्वर तथा तिलपर्णेश्वर हैं।
(का० खं०, १००।६२–६५)

चतुर्दशायतन: तीन प्रकार के कहे गये हैं। पहले मे ओंकारेश्वर, त्रिलोचन, आदि-महादेव, कृत्तिवासेश्वर, रत्नेश्वर, चन्द्रेश्वर, केदारेश्वर, धर्मेश्वर, वीरेश्वर, (आत्मावीरेश्वर), कामेश्वर, विश्वकर्मेश्वर, मणिकर्णीश्वर, अविमुक्तेश्वर तथा विश्वेश्वर हैं। दूसरे में स्कन्दपुराण के कृत्यकल्पतरु में उद्धृत चौदह शिवलिंग हैं, जिनका ऊपर वर्णन हो चुका है। तीसरे चतुर्दशा-

यतनों में अमृतेश्वर, तारकेश्वर, ज्ञानेश्वर, करुणेश्वर, मोक्षद्वारेश्वर, स्वर्गद्वारेश्वर, ब्रह्मेश्वर, लांगलीश्वर, वृद्धकालेश्वर, वृषेश्वर, चण्डीश्वर, नन्दिकेश्वर, महेश्वर तथा ज्योतिरूपेश्वर हैं। यहाँ यह ध्यान रखना है कि प्रथम चतुर्दशायतनों की यात्रा पर अष्टायतन की यात्रा से अधिक वल दिया गया है और दूसरे चतुर्दशायतन अष्टायतन के बाद कहे गये हैं। तीसरे चतुर्दशायतनों का वर्णन ७३वें अध्याय में है किन्तु यात्राध्याय में उनके नाम नहीं हैं।

इन सभी यात्राओं का समन्वय करने से जो सूची वनती है, उसमें ४७ शिवलिंगों के नामों का समावेश है, जिनमें से २४ इस प्रकार हैं:

१ विश्वेश्वर, २ कृत्तिवासेश्वर, २ मध्यमेश्वर, २ ओंकारेश्वर, २ कपर्दीश्वर, ६ आदिमहादेव, ६ रत्नेश्वर, ६ चन्द्रेश्वर, ६ केदारेश्वर, ६ धर्मेश्वर, ६ आत्मा-वीरेश्वर, ६ कामेश्वर, ६ विश्वकर्मेश्वर, ६ मणिकर्णीश्वर, ६ अविमुक्तेश्वर, १७ दक्षेश्वर, १७ पार्वतीश्वर, १७ पशुपतीश्वर, १७ गंगेश्वर, १७ नर्मदेश्वर, १७ गभस्तीश्वर, १७ सतीश्वर तथा १७ तारकेश्वर।

लिंगपुराण तथा काशीखण्ड की इन तालिकाओं के पर्यालोचन से यह निष्कर्ष निकलता है कि वारहवीं शताब्दी में मुसलमानों के आधिपत्य के पूर्व अविमुक्तेश्वर का और तेरहवीं शताब्दी तथा उसके बाद विश्वेश्वर का मूर्धन्य स्थान था। इनके बाद कृत्तिवासेश्वर, मध्यमेश्वर तथा ओंकारेश्वर आते थे। कूर्मपुराण में भी इन्हीं चारों को मुख्य माना है और इन्हीं के साथ-साथ काशीखण्ड के समान ही कपर्दीश्वर का भी नामांकन हुआ है। ब्रह्मवैवर्त्तपुराण के काशीरहस्य में अविमुक्तेश्वर, विश्वेश्वर, मणिकर्णीश्वर, मोक्षद्वारेश्वर, वीरेश्वर, केदारेश्वर, कृत्तिवासेश्वर, वृद्धकालेश्वर, चन्द्रेश्वर, ब्रह्मेश्वर, त्रिलोचनेश्वर ओंकारेश्वर, कपर्दीश्वर, धर्मेश्वर तथा अग्नीश्वर को प्रधानता दी गई है।

(का० खं०, १३।६२–७५)

अग्निपुराण में आठ शिवायतनों की प्रधानता बतलाई गई है, अर्थात् हरिश्चन्द्रेश्वर, आम्नातकेश्वर, जप्येश्वर, श्रीपर्वत, रुद्रमहालय, भृगुश्चण्डेश्वर, केदारेश्वर तथा अविमुक्तेश्वर। परन्तु, मत्स्यपुराण के देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि अविमुक्तेश्वर को छोड़कर इनमें से बचे हुए सात शिवायतन अन्य शैवक्षेत्रों से आये हुए शिवलिंग हैं, जो वहाँ से अपनी-अपनी महिमा तथा माहात्म्य लेकर आये थे। ये काशी के अपने शिवायतन नहीं हैं। 'काशी का इतिहास' ने इनको काशी के प्रधान शिवायतन मानने में मत्स्यपुराण के अर्थ का अनर्थ किया है। वहाँ तो स्पष्ट लिखा है कि अन्य शिवक्षेत्रों में वर्त्तमान इन शिव-लिंगों का माहात्म्य इसीलिए है कि उनके प्रतीक काशी में अविमुक्तेश्वर के समीप स्थित हैं। इतना ही नहीं, वहाँ पर इनके अतिरिक्त अन्य शिवक्षेत्रों के भी नाम दिये गये हैं, जिनको 'काशी का इतिहास' ने छोड़ दिया है।

पद्मपुराण के स्वर्गखण्ड में वृषभध्वज, ओंकारेश्वर, कृत्तिवासेश्वर, मध्यमेश्वर, विश्वेश्वर तथा कपर्दीश्वर को प्राधान्य दिया गया है:

कृत्तिवासेश्वरं लिङ्गं मध्यमेश्वरमुत्तमम् ।
विश्वेश्वरं तथोङ्कारं कपर्दीश्वरमुत्तमम् ।।
एतानि गुह्यलिङ्गानि वाराणस्यां द्विजोत्तमाः । (कूर्मपु०, ३२।१२-१३)

हरिश्चन्द्रं परं गुह्यं गुह्यमाम्नातकेश्वरम् ।
जप्येश्वरं परं गुह्यं गुह्यं श्रीपर्वतं तथा ।।
महालयं परं गुह्यं भृगुश्चण्डेश्वरं तथा ।
केदारं परमं गुह्यमष्टौ सन्त्यविमुक्तके ।।
गुह्यानां परमं गुह्यमविमुक्तं परं मम । (अ० पु०, ११२।३-५)

वस्त्रप्रदं रुद्रकोटिं सिद्धेश्वरमहालयम् ।
गोकर्णं रुद्रकर्णं च सुवर्णाक्षं तथैव च ।।
अमरं च महाकालं तथा कायावरोहणम् ।
एतानि हि पवित्राणि सान्निध्यात्सन्ध्ययोर्द्वयोः ।।
कालिञ्जरवनं चैव शङ्कुकर्णं स्थलेश्वरम् ।
एतानि च पवित्राणि सान्निध्याद्धि मम प्रिये ।।
अविमुक्ते वरारोहे त्रिसन्ध्यं नात्र संशयः ।
हरिश्चन्द्रं परं गुह्यं गुह्यमाम्नातकेश्वरम् ।।
जलेश्वरं परं गुह्यं गुह्यं श्रीपर्वतं तथा ।
महालयं तथा गुह्यं कृमिचण्डेश्वरं शुभम् ।।
गुह्यातिगुह्यं केदारं महाभैरवमेव च ।
अष्टावेतानि स्थानानि सन्निध्याद्धि मम प्रिये ।।
अविमुक्ते वरारोहे त्रिसन्ध्यं नात्र संशयः ।
(म० पु०, १८१।२५-३०)

इन शास्त्रीय प्रमाणों के अतिरिक्त लौकिक प्रमाणों से भी कुछ तथ्य निकलते हैं। राजघाट के निकट की खुदाई में बहुत-से शिवायतनों की मृण्मुद्राएँ मिली हैं, जिनके आधार पर भी कुछ शिवलिंगों को प्रधानता दी जा सकती है। श्रीसारस्वत, योगेश्वर, भृंगीश्वर, प्रीतिकेश्वरस्वामिन्, भोगकेश्वर, प्राज्ञेश्वर, हस्तीश्वर, गंगेश्वर अथवा गर्गेश्वर तथा गभस्तीश्वर की मुद्राएँ मिली हैं, जो पाँचवीं से सातवीं शताब्दी ईसवी तक की हैं। इनके अतिरिक्त अविमुक्तेश्वर तथा देवदेवस्वामिन् की भी मुद्राएँ मिली हैं, जो पाँचवीं शताब्दी से नवीं शताब्दी ईसवी तक की हैं। आम्नातकेश्वर की मुद्रा वैशाली में मिली है। इतना ही नहीं, ग्यारहवीं शताब्दी के अन्त से बारहवीं शताब्दी के अन्त तक काशिराज कान्यकुब्जाधिपति गाहड़वाल राजाओं ने वाराणसी के भिन्न-भिन्न देवालयों में दर्शन-पूजन करने के पश्चात् ब्राह्मणों को अनेक बार ग्रामदान किया था। इन दानपत्रों में से कुछ दानपत्र मिल गये हैं। उनके देखने से जिन शिवायतनों की प्रधानता समझ पड़ती है, वे हैं वेदेश्वर, त्रिलोचनेश्वर, अघोरेश्वर, कृत्तिवासेश्वर, इन्द्रेश्वर, ओंकारेश्वर, स्वप्नेश्वर, कोटीश्वर तथा विश्वेश्वर। अविमुक्तेश्वर का मूर्धन्य स्थान तो उस समय सर्वस्वीकृत था ही। इनमें से कोटीश्वर का माहात्म्य कोटितीर्थ में स्नान करने से सम्बद्ध था और स्वप्नेश्वर की आराधना स्वप्न

के द्वारा भविष्य जानने की इच्छा से बहुधा की जाती है। इनके अतिरिक्त, अन्य शिवायतनों का भी दर्शन-पूजन सम्भवतः इन गाहड़वाल राजाओं ने किया होगा, परन्तु उनके सम्बन्ध के दानपत्रों के न मिलने से उनके सम्बन्ध में हम अभी अनभिज्ञ हैं। जो कुछ भी हो, ऊपर कहे हुए शिवलिंगों में से अघोरेश्वर का तो लोप ही हो गया है और वेदेश्वर की आराधना भी कम हो गई है, कोटीश्वर तो लुप्त ही हो गये, यद्यपि उनकी पुनःस्थापनाएँ वर्त्तमान हैं; परन्तु अन्य सभी स्थानों का माहात्म्य आज भी वैसा ही बना है। कृत्तिवासेश्वर के स्थान की पूजा तो आलमगीरी मस्जिद के भीतर भी शिवरात्रि के दिन होती है: **कलौ स्थानानि पूजयेत्** । कोटितीर्थ तो अब सूख ही गया है। कोटीश्वर के पुनः स्थापित लिंगों की आराधना भी नगण्य-सी है। इन्द्रेश्वर का माहात्म्य भी नहीं के बराबर रह गया है। त्रिलोचनेश्वर तथा ओंकारेश्वर की पूजा-अर्चना निरन्तर चलती रहती है और विश्वेश्वर तो काशी के प्रधान देवता ही माने जाते हैं।

इस पर्यालोचन के समय हमको एक बात और भी ध्यान में रखनी है कि सकाम उपासना में जिस कामना से आराधना होती है, उसके अनुसार ही देवस्थानों का चयन किया जाता है और इस प्रकार उनका आनुपातिक महत्त्व तथा प्राधान्य बदलता रहता है। इसके अतिरिक्त पारमार्थिक तथा लौकिक महत्ता भी सदैव एक साथ नहीं रहतीं। नगर के निकटवर्त्ती देवालयों का लौकिक महत्त्व सदैव दूरवर्त्ती स्थानों की अपेक्षा अधिक होता है। जैसा पहले कहा जा चुका है, बारहवीं शताब्दी ईसवी तक वाराणसी का नगर राजघाट के समीप ही था। गायघाट के निकट ही पत्तनद्वार था जो अब भी पाटन दरवाजे के नाम से प्रख्यात है। आगे चलकर गंगा के किनारे-किनारे बस्ती बसती गई और नगर का वह भाग, जो पक्कामहाल कहलाता है, बसा। इस प्रकार, बहुत-से शिवायतन तथा देवालय जो पहले जंगल में थे, नगर के बीच में आ गये और उनकी उपासना सुगम तथा सुलभ हो गई। वाराणसी में जो मेले होते हैं, वे पुरानी वार्षिक यात्राओं के प्रतीक हैं, परन्तु नगर के भीतर होने के कारण यात्रा का स्वरूप मेले का हो गया है। इसके अतिरिक्त इस प्रक्रिया में शिवालयों के स्थानान्तरण का भी प्रभाव पड़ा है।

मुसलमानों के राज्यकाल में पाँच बार ऐसा अवसर आया कि वाराणसी के सभी दर्शनीय एवं प्रख्यात देवालय नष्ट कर दिये गये और उनके पुनर्निर्माण के समय प्रत्येक बार ऐसी परिस्थिति आई कि बहुत-से देवालयों को अन्यत्र बनाना पड़ा। वाराणसी नगर के उत्तरी भाग में स्थित तीर्थों का यही स्वरूप अब दीख पड़ता है। ओंकारेश्वर के समीप पचासों शिवायतन थे, जो अब नहीं रह गये। इनमें से कुछ का निर्माण तथा प्रतिष्ठा नगर के दूसरे भागों में हुई, परन्तु बहुत-से लुप्त ही हो गये। इतना ही नहीं, जब अट्ठारहवीं शताब्दी ईसवी से महाराज बलवन्त सिंह तथा अँगरेजों का आधिपत्य हुआ, तब बहुत-से पुराने खण्डहरों में, जिनपर मस्जिदें नहीं बनी थीं, पुनः मन्दिर बने और पुराने देवताओं की स्थापना हुई। इस प्रकार, एक ही देवता के दो या तीन स्थान हो गये। तीर्थों के माहात्म्य पर इसका भी प्रभाव पड़ा। इस पृष्ठभूमि को ध्यान में रखते हुए ही हमको शिवायतनों की प्रधानता पर विचार करना है।

अविमुक्तेश्वर तथा विश्वेश्वर

१. अविमुक्तेश्वर : जैसा हम ऊपर कह चुके हैं, वाराणसी पर मुसलमानों के आधिपत्य के पूर्व वाराणसी-क्षेत्र के स्वामी अविमुक्तेश्वर थे। उनका सर्वाधिक माहात्म्य था। पृथ्वी के सभी तीर्थ तथा पुण्यायतन उनके दर्शनों को प्रत्येक पर्व पर उपस्थित होते हैं। उस समय उन सभी का माहात्म्य अविमुक्तेश्वर में लीन हो जाता है। अविमुक्तेश्वर के दर्शन करने-वाले का पुनर्जन्म नहीं होता। यह आदिलिंग माना गया है, जिसको देखकर ही बाद में अन्य शिवलिंगों का स्वरूप-निर्धारण हुआ। अविमुक्तेश्वर के दर्शन से जन्म-जन्मान्तर के पापों का तत्क्षण नाश हो जाता है। भगवान् विश्वनाथ भी नित्य उनका पूजन करते हैं। इनके दर्शन से तो पुनर्जन्म से मुक्ति मिलती ही है, इनके स्मरण करने का भी वही फल है। यहाँ तक कि दूर देश में भी यदि कोई मनुष्य अविमुक्तेश्वर का ध्यान तथा जप नियमित रूप से त्रिकाल करता रहे, तो वहाँ मरने पर भी काशी में मृत होने का फल, अर्थात् मुक्ति मिलती है। यदि मनुष्य इनका दर्शन करके कार्यवश दूसरे नगर को जाय, तो कार्यसिद्धि के पश्चात् पुनः काशी में शीघ्र लौटकर आ जाता है। ब्रह्मवैवर्त्तपुराण ने तो यहाँ-तक कहा है कि अविमुक्तेश्वर की आराधना से ही ब्रह्मानारायणादि देवताओं को शक्ति तथा अधिकार मिले हैं :

अविमुक्तं सदालिङ्गं योऽत्र द्रक्ष्यति मानवः।
न तस्य पुनरावृत्तिः कल्पकोटिशतैरपि॥

(लिं० पु०, कृ० क० त०, पृ० १०९)

सन्निहत्या कुरुक्षेत्रं सार्द्धं तीर्थशतैस्तथा।
नैमिषं पुष्करं चैव प्रयागं सपृथूदकम्॥
सन्ध्यासप्त ऋचं चैव सर्वा नद्यः सरांसि च।
समुद्राः सप्त चैवात्र देवतीर्थानि कृत्स्नशः॥
भागीरथीं समेष्यन्ति सर्वपर्वसु काशिगाम्।
अविमुक्तेश्वरं मां च काशिस्थमचलात्मजे॥
पृथिव्यां यानि तीर्थानि पुण्यान्यायतनानि च।
प्रविशन्ति सदाभ्येत्य पुण्येऽस्मिन्सर्वपर्वसु॥
केदारे चैव यल्लिङ्गं यच्च लिङ्गं महालये।
मध्यमेश्वरसंज्ञं च तथा पशुपतीश्वरम्॥
शङ्कुकर्णेश्वरं चैव गोकर्णौ च तथा शुभौ।
कृमिचण्डेश्वरं चैव भद्रेश्वरमथैव च॥
स्थानेश्वरमथैकाम्रं कालेश्वरमजेश्वरम्।
भैरवेश्वरमीशानं तथा कायावरोहणे॥
यानि चान्यानि पुण्यानि स्थानानि मम भूतले।
तानि सर्वाण्यनेकानि काशीपुर्यां विशन्ति माम्॥
स्नातस्य चैव गङ्गायां दृष्टेऽत्र च मया शुभे।
सर्वयज्ञफलैस्तुल्यमिष्टैः शतसहस्रशः॥

सद्य एवमवाप्नोति किं ततः परमुत्तमम्।
(स्कं० पु०, कृ० क० त०, पृ० 37)

अविमुक्तेश्वरं लिङ्गं मम दृष्ट्वेह मानवः।
सद्यः पापविनिर्मुक्तः पशुपाशैर्विमुच्यते ।।
अविमुक्तेश्वरं लिङ्गं दृष्ट्वा क्षेत्रेऽविमुक्तके।
विमुक्त एव भवति सर्वस्मात्कर्मबन्धनात् ।।
अर्चन्ति विश्वे विश्वेशं विश्वेशोऽर्चति विश्वकृत्।
अविमुक्तेश्वरं लिङ्गं भुक्तिमुक्तिप्रदायकम् ।।
(लिं० पु०, त्रि० से०, पृ० 166 ; का० खण्ड०, 39।76-77)

आदिलिङ्गमिदं प्रोक्तमविमुक्तेश्वरम्महत्।
ततो लिङ्गान्तराण्यत्र जातानि क्षितिमण्डले ।।
(लिं० पु०, त्रि० से०, पृ० 166 ; का० खं०, 39।80)

त्रिसन्ध्यमविमुक्तेशं यो जपेन्नियतः शुचिः।
दूरदेशविपन्नोऽपि काशीमृतिफलं लभेत् ।।
अविमुक्तं महालिङ्गं दृष्ट्वा ग्रामान्तरं व्रजेत्।
लब्ध्वाशु कार्यसंसिद्धिं क्षेमेण प्रविशेद्गृहम् ।।
(का० खण्ड, 39।96-97)

अविमुक्तेश्वरं पूज्यं ब्रह्मनारायणादिभिः।
फलं प्राप्तं तदेवाद्यं सर्वसामर्थ्यलक्षणम् ।।
(ब्रह्मवैवर्त्तपुराण, त्रि० से०, पृ० 116)

ऊपर दिये हुए उद्धरणों से अविमुक्तेश्वर का मूर्धन्य स्थान स्पष्ट है, परन्तु इन पौराणिक प्रमाणों की परिपुष्टि पुरातत्त्व के आधार पर भी हो जाती है। तीस-चालीस वर्ष पूर्व राजघाट की खुदाई में बहुत-सी मृण्मुद्राएँ मिली थीं, जिनमें ये बहुत-सी वाराणसी के शिवालयों से सम्बद्ध हैं। इन शिवलिंगों के नाम ऊपर दिये जा चुके हैं और उनसे सम्बन्ध रखनेवाली मृण्मुद्राओं का वर्णन यथास्थान किया जायगा। यहाँ अविमुक्तेश्वर की मुद्राओं का वर्णन ही अपेक्षित है।

अविमुक्तेश्वर की चार प्रकार की मुद्राएँ मिली हैं:

1. जिनपर त्रिशूल, वृषभ तथा परशु की आकृतियाँ हैं और गुप्तकालीन अक्षरों में 'अविमुक्तेश्वर भ (ट्टारक)' लिखा है।
2. जिनपर वृषभ तथा गंगा के लक्षण हैं और गुप्तकालीन अक्षरों में 'अविमुक्तेश्वर' लिखा हुआ है।
3. जिनपर आठवीं शताब्दी के अक्षरों में 'श्रीअविमुक्तेश्वर' अंकित है।
4. जिन नाममुद्राओं पर आठवीं-नवीं शताब्दी के अक्षरों में 'अविमुक्तेश्वर भट्टारक' लेख है।

इन मुद्राओं के आधार पर कुछ निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं। एक तो यह कि पाँचवीं

शताब्दी ईसवी से नवीं शताब्दी ईसवी तक अविमुक्तेश्वर का शिवायतन महत्त्वपूर्ण था और वहाँ के मठाधीश अथवा अध्यक्ष की इतनी प्रतिष्ठा थी कि उनकी मुद्राएँ चलती थीं। दूसरी यह कि उस संस्थान का प्रबन्ध नियमित रूप से होता था। अविमुक्तेश्वर के समीपस्थ प्रीतिकेश्वर की भी दो प्रकार की मुद्राएँ मिली हैं। इनमें एक के आधार पर यह भी समझ पड़ता है कि इस शिवायतन का प्रबन्ध भी अविमुक्तेश्वर-संस्थान के हाथों में ही था।

अविमुक्तेश्वर के सम्बन्ध में लिखते हुए 'काशी का इतिहास' में लिखा गया है कि देवदेव और विश्वेश्वरदेव अविमुक्तेश्वर के ही नाम थे, परन्तु इस बात को स्वीकार करना सम्भव नहीं है। उनकी इस उक्ति का आधार मत्स्यपुराण है, जहाँ देवदेव पद तो बहुत बार आया है और विश्वेश्वर एक जगह (१८२।१७)। 'देवदेव' तो भगवान् शंकर के लिए सभी पुराणों में सर्वत्र मिलता है। इससे किसी विशेष शिवलिंग का बोध नहीं होता। मत्स्यपुराण में ही १८०वें अध्याय में वाराणसी का उद्यान दिखलाते हुए शिव-पार्वती की जो वार्त्ता हुई है, उसमें निरन्तर 'देवदेव उवाच' ऐसा प्रयोग हुआ है। इसी प्रकार, १८३वें अध्याय में भी। १३३वें अध्याय के प्रथम श्लोक में भी देवदेव पद भगवान् शंकर के लिए प्रयुक्त हुआ है (**ब्रह्माद्यैः स्तूयमानस्तु देवदेवो महेश्वरः**)। अन्य पुराणों में भी यही प्रक्रिया है। इससे स्पष्ट है कि पुराणों में देवदेव शब्द भगवान् शंकर के लिए प्रयुक्त हुआ है, उनके किसी लिंग-विशेष के लिए नहीं। अब रही विश्वेश्वर देव की बात, सो जिस श्लोक में यह पद आने का उल्लेख 'काशी का इतिहास' में हुआ, वह इस प्रकार है:

प्राप्य विश्वेश्वरं देवं न स भूयोऽभिजायते।
अनन्यमानसो भूत्वा योऽविमुक्तं न मुञ्चति ॥

परन्तु, इसके अतिरिक्त एक अन्य श्लोक में भी 'विश्वेश' पद आया है:

तीर्थानां पञ्चकं सारं विश्वेशोनन्दकानने।
दशाश्वमेधं लोलार्कः केशवो बिन्दुमाधवः॥
पञ्चमी तु महाश्रेष्ठा प्रोच्यते मणिकर्णिका। (म० पु०, १८५।६५-६६)

जब वाराणसी में विश्वेश्वर नाम का एक शिवलिंग वर्त्तमान है, ऐसी स्थिति में इन श्लोकों के आधार पर यही कहा जा सकता है कि या तो देवदेव के समान ही 'विश्वेश्वर' शब्द केवल शिववाची है, अन्यथा यह कि विश्वेश्वर नामक शिवलिंग के लिए ही इसका प्रयोग हुआ है। अविमुक्तेश्वर का नाम ही विश्वेश्वर था, यह तो इन सन्दर्भों से किसी प्रकार सिद्ध नहीं होता। 'काशी का इतिहास' ने कहा है कि 'देवदेवस्वामिन्' नाम की एक मृण्मुद्रा गुप्तकालीन लेख-सहित मिली है, परन्तु इससे तो यह सिद्ध नहीं होता कि अविमुक्तेश्वर का ही नाम देवदेव था। इसके अतिरिक्त 'काशी का इतिहास' ने स्वयं ही अविमुक्तेश्वर (पृ० १७३) तथा देवदेव (पृ० १८३) के मन्दिरों को अलग-अलग बतलाया है। इस सम्बन्ध में यह ज्ञातव्य है कि देवदेव नाम का एक शिवलिंग भी वाराणसी में था, जो नैमिषारण्य-स्थित देवदेव नामक शिवलिंग के प्रतीक-रूप में वाराणसी में वर्त्तमान था:

नैमिषाद्देवदेवोऽत्र ब्रह्मावर्त्तेन संयुतः।
तत्रांशमात्रं संस्थाप्य काश्यामाविरभूद्विभो ॥

ढुण्ढिराजोत्तरे भागे सिद्धिदं साधकस्य वै।
लिङ्गं वै देवदेवाख्यं तदग्रे कूपमुत्तमम् ॥
ब्रह्मावर्त्त इति ख्यातः पुनरावृत्तिहृन्नृणाम् ।
तत्कूपाद्भिः कृतस्नानो देवदेवं समर्च्य च ॥
तत्पुण्यं नैमिषारण्यात्कोटिकोटिगुणं स्मृतम् ।

(का० खं०, ६६।१०-१३)

इस समय यह शिवलिंग ढुण्ढिराज के उत्तर 'अपारनाथ मठ' में (घर नं० सी० के० ३७/१२ में) है। देवदेवस्वामिन् की मुद्रा इसी संस्थान की रही होगी।

अविमुक्तेश्वर के सम्बन्ध में 'काशी का इतिहास' ने एक अन्य कल्पना भी की है, जिसका प्रतिवाद आवश्यक है। कृत्यकल्पतरु के तीर्थविवेचनकाण्ड के देवालयों का विवेचन करते हुए 'काशी का इतिहास' के पृ० १७३ पर लिखा है कि "अविमुक्तेश्वर का स्वयम्भू-लिंग नगरी के पूर्वोत्तर भाग में स्थित था। उससे लगा हुआ महादेवकूप था, जिसके स्पर्श-मात्र से लोगों को वागीश्वरी गति मिलती थी। वहीं कूप के पश्चिम में वाराणसी देवी की मूर्त्ति थी, जिनके प्रसाद से लोगों को घर मिलते थे।" कृत्यकल्पतरु में यह वर्णन 'महादेव' नामक शिवायतन का है, न कि अविमुक्तेश्वर का। महादेव आज 'आदिमहादेव' के नाम से त्रिलोचन के उत्तर में वर्त्तमान हैं, यद्यपि यह उनकी पुनःस्थापना का स्थान है। वाराणसी देवी की मूर्त्ति भी त्रिलोचन के मन्दिर में है। इतना ही नहीं, अविमुक्तेश्वर का नाम तथा उनका स्थान कृत्यकल्पतरु के तीर्थविवेचनकाण्ड में ही आगे चलकर स्पष्ट रूप से दिया है। उनका वर्णन 'काशी का इतिहास' ने देवदेव नाम देकर पृ० १८३ पर किया है। परन्तु, उनका देवदेव से तात्पर्य अविमुक्तेश्वर का ही है; क्योंकि उसी की दो पंक्तियों के नीचे प्रीतिकेश्वर के वर्णन में लिखा गया है—'अविमुक्तेश्वर के आगे पश्चान्मुख लिंग।' इन सन्दर्भों के उद्धरण नीचे दिये जा रहे हैं, जिससे हमारे पाठक स्वयं ही निष्कर्ष निकाल लें :

१. पूर्वोत्तरे दिग्विभागे तस्मिन् क्षेत्रे तु सुन्दरि।
उत्पन्नं मम लिङ्गं तु भित्वा भूमिं यशस्विनि॥
तेषामनुग्रहार्थाय लोकानां भक्तिभावतः।
वाराणस्यां महादेवि तत्र स्थाने स्थितो ह्यहम् ॥
तं दृष्ट्वा मनुजो देवि पशुपाशैर्विमुच्यते।
कूपस्तत्रैव संलग्नो महादेवस्य चैव हि॥
तत्रोपस्पर्शनाद्देवि लभेद्वागीश्वरीं गतिम् ।
तत्र वाराणसी देवी स्थिता विग्रहरूपिणी॥
मानवानां हितार्थाय स्थिता कूपस्य पश्चिमे।
वाराणसीं तु यो दृष्ट्वा भक्त्या चैव नमस्यति॥
तस्य तुष्टा च सा देवी वसतिं च प्रयच्छति।
महादेवस्य पूर्वेण गोप्रेक्षमिति विश्रुतम् ॥

(कृ० क० त०, पृ०, ४१-४२)

इस शिवलिंग का नाम 'महादेव' था, यह अन्तिम पंक्ति से निश्चित हो जाता है. यद्यपि छठी

पंक्ति में 'महादेवस्य संलग्नो कूपस्तत्रैव चैव हि' से भी यही बात सिद्ध होती है। यदि 'महा-देवस्य कूपः' कहें, तो भी बात वही निकलती है। आगे चलकर फिर कहा गया है:

पश्चिमे तु दिशाभागे महादेवस्य भामिनि।
स्कन्दने स्थापितं लिङ्गं मम भक्त्या सुरेश्वरि॥ (कृ० क० त०, पृ० ४६)

इस प्रकार, जिस शिवलिंग का नाम 'काशी का इतिहास' ने अविमुक्तेश्वर स्थापित किया है, उसका नाम केवल 'महादेव' था, जिनकी पूजा-अर्चना इसी नाम से सोलहवीं शताब्दी तक होती थी और आज भी होती है। त्रिस्थलीसेतु में लिखा है: **त्रिलोचनसमीपस्थः महादेवे पवित्रारोपणं महाफलम्** (त्रि० से०, पृ० २५१)।

२. अन्यदायतनं वक्ष्ये वाराणस्यां सुरेश्वरि।
यत्रैव देवदेवस्य रुचिरं स्थानमीप्सितम्॥
नीयमानं पुरा देवि तल्लिङ्गं शशिमौलिनः।
राक्षसैरन्तरिक्षस्थैर्व्रजमानं सुसत्वरम्॥
तावत् कुक्कुटशब्दस्तु तस्मिन् देशे समुत्थितः।
शब्दं श्रुत्वा तु तं देवि राक्षसास्त्रस्तचेतसः॥
लिङ्गमुत्सृज्य भीतास्ते प्रभातसमये गताः।
गतैस्तु राक्षसैर्देवि लिङ्गं तत्रैव संस्थितम्॥
स्थाने तु रुचिरे शुभ्रे देवदेवः स्वयं प्रभुः।
अविमुक्तस्तत्र मध्ये अविमुक्त ततः स्मृतम्॥
अविमुक्तं सदालिङ्गं योऽत्र द्रक्ष्यति मानवः।
न तस्य पुनरावृत्तिः कल्पकोटिशतैरपि॥
(कृ० क० त०, पृ० १०८–१०९)

यहाँ पर 'देवदेव' शब्द भगवान् शंकरवाची है। शिवलिंग का नाम तो 'अविमुक्त' स्पष्ट लिखा है। इसके बाद ज्ञानवापी तथा निकटवर्त्ती शिवलिंगों का विवरण देने के बाद कहा गया है कि:

अविमुक्तस्य चाग्रे तु लिङ्गं पश्चान्मुखं स्थितम्।
प्रीतिकेश्वरनामानं प्रीतिं यच्छति शाश्वतीम्॥
अविमुक्तोत्तरेणैव लिङ्गं पश्चान्मुखं स्थितम्।
(कृ० क० त०, पृ०११२)

इस प्रकार, स्वयं 'काशी का इतिहास' अविमुक्तेश्वर के दो स्थान बतलाता है, यद्यपि उसमें एक जगह नाम देवदेव ग्रहण किया गया है, परन्तु वर्णन अविमुक्तेश्वर का ही है, जैसा ऊपर दिखलाया जा चुका है और वह स्वयं भी पहले कह चुका है कि देवदेव अवि-मुक्तेश्वर का ही नाम है। अब प्रश्न उठता है कि अविमुक्तेश्वर का शिवायतन कहाँ था। इस सम्बन्ध में काशी के इतिहासकार को जो भी भ्रम हो [क्योंकि, उन्होंने इस विषय में तीन बातें कही हैं: १. वह गंगातट पर अथवा उसके पास था (पृ० ९६); २. वह वाराणसी-क्षेत्र के उत्तर-पूर्व में था, जहाँपर पुराण महादेवलिंग का स्थान बतलाते हैं, (पृ० १७२) तथा ३. देवदेव नाम से वह ज्ञानवापी के उत्तर में था], परन्तु बात इतनी

स्पष्ट है कि इस भ्रम का कारण समझ में ही नहीं आता। कृत्यकल्पतरु में यह लिखा है कि अविमुक्तेश्वर के दक्षिण वापी है, जिसका जल पीने से मनुष्य के हृदय में तीन लिंग उत्पन्न होते हैं और उसका पुनर्जन्म नहीं होता। यहाँ इस वापी का नाम नहीं दिया हुआ है, परन्तु उसके चारों ओर स्थित जिन शिवलिंगों का वर्णन है, उनसे स्पष्ट है कि यह वापी ज्ञानवापी ही है। उसके पश्चिम में दण्डपाणि, पूर्व में तारकेश्वर, उत्तर में नन्दीश्वर तथा दक्षिण में महाकालेश्वर उसके जल की रक्षा करते हैं। इन देवताओं के स्थान ज्ञानवापी के चारों ओर आज भी पूजे जाते हैं। इतना ही नहीं, काशीखण्ड में भी इस वापी का यही स्थान और उसके चारों ओर यही देवता कहे गये हैं। उसका जल पीनेवालों के हृदय में तीन लिंगों की उत्पत्ति का वर्णन भी वहाँ मिलता है :

देवस्य दक्षिणे भागे वापी तिष्ठति शोभना।
तस्यास्तथोदकं पीत्वा पुनर्जन्म न विद्यते ॥
पीतमात्रेण तेनैव उदकेन यशस्विनि।
त्रीणि लिङ्गानि वर्धन्ते हृदये पुरुषस्य तु ॥
दण्डपाणिस्तु तत्रस्थो रक्षते तज्जलं सदा।
पश्चिमं तीरमासाद्य देवदेवस्य शासनात् ॥
पूर्वेण तारको देवो जलं रक्षति सर्वदा।
नन्दीशश्चोत्तरेणैव महाकालस्तु दक्षिणे ॥
रक्षते तज्जलं नित्यं मद्भक्तानां तु मोहनम्।

(लिं० पु०, कृ० क० त०, पृ० १०९-११०)

अविमुक्तस्य चाग्रे तु लिङ्गं पश्चान्मुखं स्थितम्।
प्रीतिकेश्वरनामानं प्रीतिं यच्छति शाश्वतीम् ॥

(लिं० पु०, कृ० क० त०, पृ० १११)

देवस्य दक्षिणे भागे तत्र वापी शुभोदका।
तदम्बु प्राशनं नॄणामपुनर्भवहेतवे ॥
तज्जलात्पश्चिमे भागे दण्डपाणिः सदावति।
तत्प्राच्यवाच्युत्तरस्यां तारः कालः शिलादजः ॥
लिङ्गं त्रयं हृदब्जे यच्छ्रद्धया पीतमर्पयेत्।
यैस्तत्र तज्जलं पीतं कृतार्थास्ते नरोत्तमाः ॥

(का० खं०, ९७।२२०-२२२)

यहाँ तारः से तारकेश्वर, कालः से महाकालेश्वर तथा शिलादजः से, जो नन्दी का नाम है, नन्दीश्वर का तात्पर्य है।

इस प्रकार, अविमुक्तेश्वर के शिवायतन का वही स्थान सिद्ध होता है, जहाँ औरंगजेब की ज्ञानवापीवाली मस्जिद है। यहाँ यह शंका उठ सकती है कि उक्त मस्जिद तो विश्वेश्वर का मन्दिर तोड़कर बनी थी, फिर वह स्थान अविमुक्तेश्वर का कैसे हो सकता है। इस शंका का निवारण विश्वेश्वर के शिवायतन के वर्णन में नीचे दिया जाता है। आजकल अविमुक्तेश्वर के दो शिवलिंग हैं, एक तो विश्वनाथजी के वर्तमान मन्दिर में आग्नेय

कोण के छोटे मन्दिर में और दूसरा ज्ञानवापी की मस्जिद की सीढ़ियों के सामने धर्मशाले में खिड़की के भीतर का बड़ा शिवलिंग। इसके अतिरिक्त अविमुक्तेश्वर के प्राचीन स्थान की स्मृति तथा साक्ष्य के रूप में ज्ञानवापी के उत्तर फाटक से घुसते ही सामने पृथ्वी पर फूल चढ़ाने की हिन्दुओं को न्यायालय से आज्ञा मिली हुई है।

विश्वेश्वर : अविमुक्तेश्वर का दूसरा नाम विश्वेश्वर नहीं था, यह बात ऊपर सिद्ध की जा चुकी है। अब यह देखना है कि कृत्यकल्पतरु के तीर्थविवेचनकाण्ड में विश्वेश्वर का नाम तथा स्थान किस प्रकार बतलाया गया है। वहाँ कहा गया है कि एक अन्य आयतन विश्वेश्वर का भी परम गुह्य है, जिसकी सभी देवता वन्दना करते हैं और जिसके दर्शन से पाशुपतव्रत का फल प्राप्त होता है :

अन्यच्च देवदेवस्य स्थानं गुह्यं यशस्विनि।
लिङ्गं विश्वेश्वरं नाम सर्वदेवैस्तु वन्दितम्॥
तेन दृष्टेन लभ्येत व्रतात्पाशुपतात्फलम्।
(लि० पु०, कृ० क० त०; पृ० ९३)

विश्वेश्वर नामक शिवलिंग का स्थान-निर्देश अलग होने से अविमुक्तेश्वर से विश्वेश्वर का पार्थक्य इतना स्पष्ट हो जाता है कि शंका का कोई स्थान ही नहीं रह जाता। साथ ही, यह भी समझ पड़ता है कि लिंगपुराण के अनुसार विश्वेश्वर के शिवलिंग का कोई बड़ा माहात्म्य नहीं था। उसके समक्ष फल देनेवाले बहुत-से और शिवलिंग भी वाराणसी में थे। यही निष्कर्ष डॉ० आयंगर ने तथा डॉ० मोतीचन्द्र ने भी निकाला है। परन्तु, इतनी सामान्य कोटि के शिवलिंग द्वारा अविमुक्तेश्वर का प्रमुख स्थान ले लेना कुछ समझ में नहीं आता। महाराज गोविन्दचन्द्र द्वारा विश्वेश्वर का दर्शन तथा ग्राम-दान यह सिद्ध करता है कि उस समय विश्वेश्वर का शिवायतन वाराणसी के प्रमुख शिवायतनों में अवश्य था, चाहे शास्त्रीय दृष्टि से उसका स्थान जो भी रहा हो। इसके अतिरिक्त सबसे पहली मस्जिद जो मुसलमान बादशाहों ने वाराणसी में हिन्दुओं के मन्दिर के स्थान पर बनवाई, वह रजिया सुलताना ने विश्वेश्वर के मन्दिर के स्थान पर ही बनवाई। इससे भी यह सिद्ध होता है कि उस समय लौकिक दृष्टि से वही वाराणसी का प्रधान मन्दिर था। कर्णाटक के हयशल राजा नृसिंह तृतीय ने सन् १२७९ ई० में एक दानपत्र लिखा था, जिसमें उन्होंने एक गाँव की आय (६४५ निष्क) कर्णाटक, तिलंगाणा, तुलू, तिरहुत, गौड इत्यादि के निवासियों को काशीयात्रा के समय तुरुष्क-दण्ड देने तथा श्रीविश्वेश्वर की सेवा के लिए दिया था।[१] इससे स्पष्ट है कि काशी के प्रधान शिवलिंग के रूप में उस समय विश्वेश्वर ही दूर-दूर के प्रदेशों में प्रसिद्ध थे। जैसा हम आगे चलकर देखेंगे, गुजरात में भी विश्वेश्वर की ही ख्याति थी, जिसके आधार पर सेठ वस्तुपाल ने एक लाख रुपया उनकी सेवा के लिए भेजा था। ऐसा जान पड़ता है कि उन दिनों धार्मिक प्राधान्य अविमुक्तेश्वर का होते हुए भी सांसारिक दृष्टि से विश्वेश्वर की भी उतनी ही महिमा थी और सम्भावना यही है कि 'कुट्टनीमतम्' नामक ग्रन्थ में जिस शिवायतन का वर्णन है, वह विश्वेश्वर का ही था। इस ग्रन्थ की रचना कश्मीर के राजा जयापीड के मन्त्री दामोदरगुप्त ने सन् ७७९ से ८१३ ई० के बीच किया था। इसमें उज्जयिनी का राजकुमार समरभट

१. Epigraphia Carnatica, Vol. XV, No. 298, pp. 71—73.

वाराणसी आने पर भगवान् शंकर के जिस मन्दिर में गया, उसके चारों ओर जो भीड़-भाड़ थी, उसमें वेश्याओं, विटों, चेटिकाओं आदि का प्राधान्य था। भगवान् का दर्शन करने के उपरान्त मन्दिर के बाहर आने पर वह राजकुमार भी उसी समाज में बैठ गया और उसके सामने नर्त्तक, वेणुवादक, गायक तथा वेश्याएँ बैठ गईं और नगर के प्रमुख सेठ, वणिक् इत्यादि पान, सुवास आदि लेकर आये।

इस वर्णन को विश्वेश्वर के शिवायतन से सम्बद्ध करने का यह कारण है कि वाराणसी के किसी भी शिवमन्दिर में वेश्याओं की मण्डली नहीं जाती, परन्तु आदिविश्वेश्वर के मन्दिर में आज भी वर्ष में एक दिन नगर की सभी वेश्याएँ रात-भर नाचती-गाती हैं। आदिविश्वेश्वर का मन्दिर विश्वेश्वर के आदिम स्थान का स्मारक होकर पुराने मन्दिर के स्थान से थोड़ा हटकर बना हुआ है और इन नगर-नायिकाओं के वहाँ जाकर गाने की परम्परा उस पुरानी परिस्थिति की ओर संकेत करती है, जिसका वर्णन 'कुट्टनीमतम्' में किया गया है।

विश्वेश्वर के शिवलिंग के सम्बन्ध में एक विशेषता यह भी कही गई है कि उसमें स्पर्शास्पर्श-दोष नहीं होता था। जिस प्रकार का जनसमाज उस मन्दिर के चारों ओर था, उस परिस्थिति में स्पर्शास्पर्श-दोष का निर्वाह सम्भव नहीं था। वहाँ तो हर प्रकार के लोग थे, जो मन्दिर में दर्शन-पूजन भी करते थे और बाहर आकर सांसारिक विषय-वासना में लिप्त हो जाते थे। सभी जाति के लोग उस समाज में थे और इस कारण वहाँ सभी जाति के लोग विश्वेश्वर के लिंग का दर्शन-पूजन तथा स्पर्श करते थे। इस कठिनाई का निराकरण सनत्कुमारसंहिता में मिलता है :

ब्राह्मे मुहूर्ते मणिकर्णिकायां स्नात्वा समाराधयति स्वमेव ।
अस्पृश्यसंस्पर्शविशोधनाय कलौ नराणां कृपया हिताय ॥
(त्रि० से०, पृ० १८३)

विश्वेश्वर का मन्दिर कहाँ था, इस प्रश्न का उत्तर लिंगपुराण तथा काशीखण्ड के ९७वें अध्याय में मिलता है। वहाँ लिखा है कि विश्वेश्वर के ईशान कोण में अवधूत महातीर्थ था, जिसके पूर्व में पशुपतीश्वर का शिवायतन था। इस प्रकार, पशुपतीश्वर के पश्चिम में अवधूततीर्थ और उसके नैऋत्य कोण में विश्वेश्वर का मन्दिर, यह स्थिति थी। अवधूततीर्थ, पशुपतीश्वर से लाजपतराय रोड तक फैला था, जहाँ खत्री मेडिकल हॉल के पास का उतार प्रारम्भ होता है। लक्खीचौतरे की गली उसके उत्तर में थी। इसी तीर्थ को पाटकर पशुपतीश्वर का मुहल्ला और कचौड़ीगली मुहल्ले का पूर्वीय भाग बसा है। इस अवधूततीर्थ के ठीक नैऋत्य कोण में वह ऊँचा टीला है, जिसपर पहले विश्वेश्वर का मन्दिर था और अब रजिया की मस्जिद वर्त्तमान है। इस प्रकार, विश्वेश्वर के शिवायतन के आदिम स्थान के सम्बन्ध में कोई भ्रम नहीं रह जाता है। डॉ० अलतेकर ने अपने इतिहास में इस विषय में शंका उठाई है, परन्तु उन्होंने कृत्यकल्पतरु नहीं देखा था, इसलिए वे अविमुक्तेश्वर तथा विश्वेश्वर की अदला-बदली से अनभिज्ञ थे, और न उन्होंने इस बात पर ध्यान दिया कि यह मन्दिर अट्ठारहवीं शताब्दी में बना है। अतएव, वे ज्ञानवापी को आदिविश्वेश्वर के मन्दिर के दक्षिण में ढूँढ़ते थे, जो पहले अवि-

मुक्तेश्वर के दक्षिण में थी और जब विश्वेश्वर अविमुक्तेश्वर के स्थान पर विराजमान हुए, तब उनके दक्षिण में हुई। उनकी दूसरी आपत्ति यह है कि लाजपतराय रोड पुरानी सड़क है, जो आदिविश्वेश्वर तथा ज्ञानवापी के बीच में थी। यह बात भी नितान्त भ्रम-पूर्ण है। लाजपतराय रोड तो पिछले सौ वर्षों के भीतर ही बनी है। प्रिंसेप के नक्शे (सन् १८२३ ई०) में उसका कहीं पता नहीं है और न बैंक्स के नक्शे (सन् १८६८ ई०) में ही वह है।

बात सीधी-सी यह है कि वाराणसी के सभी मन्दिर सन् ११९४ ई० में कुतुबुद्दीन ऐबक ने तुड़वा दिये और उसके बाद प्रायः पचास वर्षों तक वे सभी टूटे पड़े रहे। इसके बाद विश्वेश्वर-मन्दिर के स्थान पर रजिया सुलताना (राज्यकाल सन् १२३६–१२४० ई०) ने मस्जिद बनवा दी। इसका फल यह हुआ कि जब आगे चलकर वाराणसी में पुनः मन्दिर बने, तब विश्वेश्वर के मन्दिर को अन्यत्र बनवाना पड़ा और वह इस प्रकार अवि-मुक्तेश्वर के प्रांगण में बना। इस सबके प्रायः पाँच सौ वर्षों के बाद जब औरंगजेब का जोश समाप्त हो चुका था, जयपुरनरेश मिर्जा राजा जयसिंह ने विश्वेश्वर के आदिम स्थान की स्मृति जीवित रखने के उद्देश्य से रजिया की मस्जिद के सन्निकट यह शिवालय बनवाया, जिसका नाम इसी कारण आदिविश्वेश्वर रखा गया। इस बीच विश्वेश्वर का मन्दिर अपने नये स्थान में भी चार बार पुनः टूट चुका था। आदिविश्वेश्वर का मन्दिर विश्वेश्वर का मन्दिर नहीं है, वह विश्वेश्वर के आदिम स्थान का स्मारक-मात्र है।

कृत्यकल्पतरु में विश्वेश्वर का जैसा वर्णन है, वैसा ही वर्णन एक जगह काशीखण्ड में भी मिलता है, यद्यपि इस ग्रन्थ में अन्यत्र विश्वेश्वर को काशी का आधिपत्य मिल चुका है। ९७वें अध्याय के १७९वें श्लोक में विश्वेश्वर के कृत्यकल्पतरुवाले स्वरूप का वर्णन इस प्रकार किया गया है कि :

यत्समाप्याप्यते पुण्यं निष्ठापाशुपतव्रतम्।
तदाप्यतेऽत्र विश्वेश सकृद्दीक्षणतः क्षणात्॥ (का० ख०, ९७।१७९)

जो कृत्यकल्पतरु के वर्णन का शब्दान्तर-मात्र है। इसके पश्चात् विश्वेश्वर के मन्दिर का वही स्थान काशीखण्ड में भी बतलाया गया है कि उसके ईशान कोण में अवधूततीर्थ था :

तदीशानेऽवधूतेशो योगज्ञानप्रवर्त्तकः।
तीर्थं चैवावधूतेशं सर्वकल्मषनाशकृत्॥ (का० खं०, ९७।१८०)

यही बात कृत्यकल्पतरु में इस प्रकार कही गई है कि :

पूर्वोत्तरदिशाभागे तस्य देवस्य सुन्दरि।
अवधूतम्महत्तीर्थं सर्वपापनुदुत्तमम्॥ (लिं० पु०, कृ० क० त०, पृ० ९३)

काशीखण्ड में ही इस प्रकार के विरोधास्पद वर्णन का कारण यह है कि उस ग्रन्थ के ९७वें अध्याय में मुसलमानों के आधिपत्य के पूर्व का वर्णन है और काशीखण्ड के शेष अध्यायों में चौदहवीं शताब्दी के मध्य की परिस्थिति का वर्णन है, जब विश्वेश्वर काशीपति हो चुके थे।[1]

काशीखण्ड में एक जगह और विश्वेश्वर नामक शिवलिंग का उल्लेख है, परन्तु कृत्य-

१. काशीखण्ड के ९७वें अध्याय के विषय में जो मत ऊपर दिया गया है; उसका तर्क-सहित प्रमाण 'तीर्थों के स्थानान्तरण' नामक अध्याय में मिलेगा। —ले०

कल्पतरु में उद्धृत लिंगपुराण के पाठ से उसका मिलान करने पर इसका कारण लिपि-प्रमाद ही समझ पड़ता है, जिसमें चित्रेश्वर का नाम विश्वेश्वर हो गया है:

तदन्धोः पूर्वतो लिङ्गं पुण्यं विश्वेश्वराह्वयम्।
विश्वेश्वरस्य पुर्वेण वृद्धकालेश्वरो हरः॥ (का० खं०, ९७।१२४)
तस्य पूर्वेण कूपस्तु तिष्ठते सुमहान् प्रिये।
तस्मिन् कूपे जलं स्पृश्य पूतो भवति मानवः॥
चण्डेश्वरस्य पूर्वेण स्थितं चित्रेश्वरं शुभम्।
तेन दृष्टेन देवेशि चित्रस्य समतां भजेत्॥
चित्रेश्वरसमीपे तु स्थितं कालेश्वरं महत्।

(लिं० पु०, कृ० क० त०, पृ० ७२)

लिंगपुराण के तथा काशीखण्ड के ९७वें अध्याय के आधार पर विश्वेश्वर के माहात्म्य का वर्णन कर चुकने के बाद अब हमको काशीखण्ड के विश्वेश्वर के माहात्म्य की ओर दृष्टिपात करना है; क्योंकि तेरहवीं शताब्दी के बाद से उनका वही माहात्म्य माना जाता रहा है और आज भी माना जाता है।

काशीखण्ड में कहा गया है कि विश्वेश्वर-लिंग स्वयम्भू-लिंग था:

अस्मिन्ममानन्दवने यदेतल्लिङ्गं सुधाधाम सुधामधाम।
आसप्तपातालतलात्स्वयम्भूसमुत्थितं भक्तकृपावशेन॥

(का० खं०, ९९।४४)

स्वयम्भुवोऽस्य लिङ्गस्य मम विश्वेशितुः सुराः।
राजसूयसहस्रस्य फलं स्यात्स्पर्शमात्रतः॥ (का० खं०, ९९।२६)

इसके दर्शन-पूजन से मुक्ति-प्राप्ति का फल होता है, तत्त्वज्ञान भी मिलता है। वस्तुतः, सभी कुछ प्राप्त होता है:

तस्य दर्शनमात्रेण तत्त्वज्ञानविधायकम्।
पापं क्षयमवाप्नोति सर्वथा नात्र संशयः॥ (प०पु०, त्रि० से०, पृ० १८३)

स्नात्वा मुमुक्षुर्मणिकर्णिकायां मृडानि गङ्गाह्वये त्वदास्ये।
विश्वेश्वरं पश्यति योऽपि कोऽपि शिवत्वमायाति पुनर्न जन्म॥

(सन० सं०, त्रि० से०, पृ० १८४)

सर्वलिङ्गार्चनात्पुण्यं यावज्जन्म यदर्च्यते।
सकृद्विश्वेशमभ्यर्च्य श्रद्धया तदवाप्यते॥
यज्जन्मनां सहस्रेण निर्मलं पुण्यमर्चितम्।
तत्पुण्यपरिवर्त्तेन भवेद्विश्वेशदर्शनम्॥
गवां कोटिप्रदानेन सम्यग्दत्तेन यत्फलम्।
तत्फलं सम्यगाप्येत विश्वेश्वरविलोकनात्॥ (का०खं०, त्रि०से०, पृ०१८५)

अहं सर्वेषु लिङ्गेषु तिष्ठाम्येव न संशयः।
परं त्वियं परामूर्त्तिर्मम लिङ्गस्वरूपिणी॥ (का० खं०, ९९।२०)

यस्तु विश्वेश्वरं दृष्ट्वा ह्यन्यत्रापि विपद्यते ।
तस्य जन्मान्तरे मोक्षो भवत्येव न संशयः ।। (का० खं०, ९९।४२)
काशीविश्वेश्वरं लिङ्गं ज्योतिर्लिङ्गं तदुच्यते ।
तद्दृष्ट्वा परमं ज्योतिराप्नोति मनुजोत्तमः ।।
(ना० पु०, त्रि० से०, पृ० १८७)
लिङ्गं महानन्दकरं विश्वेशाख्यं सनातनम् ।
नमस्कृत्य विमुच्येत पुरुषः प्राकृतैर्गुणैः ।।
(ब्र० वै० पु०, त्रि० से०, पृ० १८३)
काश्यां श्रीदेवदेवस्य विश्वनाथस्य पूजनम् ।
सर्वपापहरं पुंसामनन्ताभ्युदयावहम् ।।
संसारदावनिर्दग्ध जीवभूरुहजीवनम् ।
दुःखार्णवौघपतितप्राणिनिर्वाणकारणम् ।।
(शिवपु०, त्रि० से०, पृ० १८८)

उपर्युल्लिखित माहात्म्य को देखने से स्पष्ट है कि पहले जो माहात्म्य अविमुक्तेश्वर का था, वह प्रायः सभी कुछ काशीखण्ड, ब्रह्मवैवर्तपुराण, नारदपुराण, पद्मपुराणादि में विश्वेश्वर का बतलाया गया है। एक बात और है, यद्यपि काशीखण्ड, पद्मपुराण तथा ब्रह्मवैवर्त्तपुराण में अविमुक्तेश्वर तथा विश्वेश्वर को एक नहीं माना गया है, तथापि काशीखण्ड में जिस वाराणसी का वर्णन है, उसके सौ वर्ष बाद ही जनमानस इन दोनों को एक ही मानने लग गया था। अतएव, दोनों का माहात्म्य भी एकरूप हो जाने में कोई आश्चर्य नहीं होना चाहिए ।

अविमुक्तेश्वर का स्थान विश्वेश्वर ने किस प्रकार लिया

यह कहा जा चुका है कि मुसलमानों के आधिपत्य के पूर्व वाराणसी का प्रधान शिवायतन अविमुक्तेश्वर का था। यह भी हम कह चुके हैं कि शास्त्रीय दृष्टि से मध्यम कोटि का शिवायतन होते हुए भी तत्कालीन जनजीवन में लौकिक उल्लास तथा सांसारिक सुख-सामग्री से सुसज्जित होने के कारण विश्वेश्वर के मन्दिर को सर्वोच्च स्थान प्राप्त था और वहाँ सदैव ही मेला लगा रहता था। धर्मप्राण लोग तो अविमुक्तेश्वर की आराधना करते थे, परन्तु सांसारिक वृत्तिवाले लोगों का विश्वेश्वर-मन्दिर की ओर विशेष झुकाव था; क्योंकि वहाँ भगवान् के दर्शन के अतिरिक्त मनबहलाव की अन्य सामग्री भी रहती थी। इसी कारण विश्वेश्वर का वैभव भी कदाचित् अधिक था और देश-विदेश में विश्वेश्वर अथवा विश्वनाथ की ही ख्याति अधिक थी, जिसका प्रमाण कश्मीर में लिखी हुई 'कुट्टनी-मतम्' से मिलता है और फिर गुजरात के सेठ वस्तुपाल द्वारा विश्वेश्वर की पूजा के लिए एक लाख रुपये भेजने से भी इसकी परिपुष्टि होती है। कर्णाटक के राजा द्वारा एक ग्राम की आय के दान का उल्लेख भी ऊपर किया ही जा चुका है। यह परिस्थिति सैकड़ों वर्षों से चल रही थी। सन् ११९४ ई० में टूटे हुए मन्दिरों का जब फिर से निर्माण हुआ, तब विश्वेश्वर-मन्दिर के स्थान पर मस्जिद बन जाने के कारण उनका नया मन्दिर अविमुक्तेश्वर के प्रांगण में बना। धार्मिक प्राधान्य अभी अविमुक्तेश्वर का ही रहा, परन्तु सांसारिक महत्त्व के कारण सम्भवतः विश्वेश्वर का मन्दिर अधिक प्रशस्त और बड़ा बना, यद्यपि स्थानसंकोच तथा धर्मप्राण लोगों के डर से इस मन्दिर में पुरानी मनोरंजन-व्यवस्था नहीं हुई। मुसलमान

शासकों का भी डर था ही कि यदि मन्दिर में पुरानी परम्परा से रागरंग तथा महोत्सव हों, तो पुनः कोई संकट न आ जाय। इस प्रकार, आसपास बने हुए ये दोनों मन्दिर प्रायः सत्तर वर्षों तक साथ-साथ दर्शनार्थियों को सन्तोष देते रहे। इसके बाद वाराणसी के मन्दिर फिर तोड़े गये और ये दोनों मन्दिर भी एक साथ ही धराशायी हुए। यह स्थिति भी कुछ वर्षों तक बनी रही और जब पुनः मन्दिरों के बनने का समय आया, तब लोकप्रसिद्ध विश्वेश्वर का मन्दिर तो पूर्ववत् विशाल बना, परन्तु अविमुक्तेश्वर का मन्दिर उत्तर की ओर हटकर छोटा हो गया। इस प्रकार, अविमुक्तेश्वर के प्राचीन मन्दिर के स्थान पर विश्वेश्वर का नवीन मन्दिर बन गया और विश्वेश्वर का ही धार्मिक प्राधान्य भी स्थापित हो गया, यद्यपि अविमुक्तेश्वर का सम्मान कम नहीं हुआ। वे विश्वनाथजी के गुरु कहे जाने लगे, जिनकी गद्दी पर विश्वनाथजी आसीन हो चुके थे। पुराणकारों ने कहा :

> अविमुक्ते महाक्षेत्रे विश्वेशसमधिष्ठिते।
> यैर्न दृष्टं विमूढास्तेऽविमुक्तलिङ्गमुत्तमम्॥ (का० खं०, ३९।९३)
> अर्चन्ति विश्वे विश्वेशं विश्वेशोऽर्चति विश्वकृत्।
> अविमुक्तेश्वरं लिङ्गं भुक्तिमुक्तिप्रदायकम्॥ (का० खं०, ३९।७७)

और, धर्मप्राण लोगों ने भी इस परिस्थिति को स्वीकार कर लिया। काशीखण्ड में इसी पुनर्निर्मित वाराणसी का वर्णन है, जो चौदहवीं शताब्दी के मध्यकाल में स्थापित हुई। फिरोज तुगलक के राज्यकाल (सन् १३५१–१३८८ ई०) में बनारस में मन्दिरों के साज-सामान से बहुत-सी मस्जिदें बनीं, परन्तु पुराने टूटे हुए मन्दिरों की सामग्री के अतिरिक्त मन्दिर, फिर टूटे या नहीं, यह नहीं कहा जा सकता। इसके बाद जौनपुर के शरकी बादशाहों ने ईसवी-सन् १४३६ से १४५८ के बीच फिर वाराणसी के मन्दिर तोड़े और उनके साज-सामान से जौनपुर की प्रधान मस्जिदें बनाई गईं, जिनमें से वहाँ के लालदरवाजे की मस्जिद में एक लेख लिखा हुआ पत्थर अब भी दीख पड़ता है। इस बारम्बार की तोड़फोड़ तथा धार्मिक त्रास के परिणामस्वरूप वाराणसी का जनमानस अविमुक्तेश्वर के स्वतन्त्र अस्तित्व को भूल गया और यह विश्वास किया जाने लगा कि अविमुक्तेश्वर का ही नाम विश्वेश्वर है। उस समय के बड़े-बड़े विद्वानों में भी यही धारणा बन गई और सन् १४६० ई० में मिथिला के धुरन्धर विद्वान् वाचस्पतिमिश्र ने अपने 'तीर्थचिन्तामणि' नामक ग्रन्थ में लिखा कि अविमुक्तेश्वर ही विश्वनाथ नाम से प्रसिद्ध हैं :

> अविमुक्तश्मशानोभयसंज्ञके क्षेत्रे शिवस्थापितं अविमुक्तेश्वरं लिङ्गं विश्वनाथनाम्ना लोकप्रसिद्धम्। (तीर्थचिन्तामणि, पृ० ३६०)

इस प्रकार, प्रायः १५० वर्षों तक यही विश्वास चलता रहा। यद्यपि इसी बीच सन् १४९४ ई० में सिकन्दर लोदी ने एक बार फिर बनारस के सभी मन्दिरों को ध्वस्त किया, जिससे ये दोनों निकटवर्त्ती मन्दिर भी धराशायी हुए और अविमुक्तेश्वर का पृथक् प्रतीक भी लुप्त हो गया। सन् १५८० ई० के आसपास लिखी गई 'त्रिस्थलीसेतु' नामक पुस्तक में भट्टनारायण ने भी (जिनके आग्रह से राजा टोडरमल ने सन् १५८५ ई० के आसपास विश्वनाथ-मन्दिर का निर्माण करवाया) यही कहा कि अविमुक्तेश्वर ही विश्वेश्वर हैं :

> अविमुक्तो विश्वेश्वरः। (त्रि० से०, पृ० २९६)

यद्यपि उसी पुस्तक में अन्यत्र उन्होंने अविमुक्तेश्वर का माहात्म्य विश्वेश्वर से पृथक् भी दिया है। परन्तु, सन् १६२० ई० में महाराज वीरसिंह के आश्रय से लिखे गये वीर-मित्रोदय नामक ग्रन्थ के तीर्थप्रकाशखण्ड में मित्रमिश्र ने इस मत का खण्डन किया और अपने मत की पुष्टि में दो प्रमाण दिये (वी० मि०, पृ० १८७)। एक तो यह कि पद्मपुराण, काशीखण्ड तथा ब्रह्मवैवर्त्तपुराण सभी में इन दोनों शिवलिंगों के माहात्म्य तथा यात्रा का पृथक्-पृथक् वर्णन है और दूसरा यही कि काशीखण्ड में विश्वेश्वर द्वारा अविमुक्तेश्वर के पूजन का उल्लेख मिलता है (**अर्चन्ति विश्वे विश्वेशं इत्यादि** —का० खण्ड, ३९।७७)। तभी से इन दोनों शिवलिंगों का पार्थक्य फिर से स्वीकृत हुआ और उनकी पूजा-अर्चना अलग-अलग होने लगी। कालान्तर में औरंगजेब की आज्ञा से काशी के प्रमुख मन्दिर पुनः तोड़े गये। इस सम्बन्ध में औरंगजेब ने सन् १६६९ की १८वीं अप्रैल को अपने सूबेदार के नाम फरमान जारी किया कि वे अपनी इच्छा से काफिरों के तमाम मन्दिर और पाठ-शालाएँ गिरा दें और २ सितम्बर, १६६९ ई० में बादशाह को अपने सूबेदार से सूचना मिली कि उनके आज्ञानुसार उनके अमलों ने विश्वनाथ का मन्दिर गिरा दिया। इसके बाद उस मन्दिर के स्थान पर ज्ञानवापीवाली मस्जिद बनी, जिसमें मन्दिर के पश्चिमी भाग का कुछ अंश हिन्दुओं को नीचा दिखाने के लिए पूर्ववत् बना रहने दिया गया, जैसा आज भी देखा जा सकता है। उस समय समीपस्थ अविमुक्तेश्वर का मन्दिर भी गिराया गया। कुछ ही वर्षों बाद विश्वेश्वर की स्थापना उनके वर्त्तमान स्थान पर हुई और अविमुक्तेश्वर की उनके गिरे हुए मन्दिर से कुछ ही दूर पर, जहाँ धर्मशाले की खिड़की से उनके दर्शन अब भी होते हैं। आगे चलकर जब सन् १७८० ई० में इन्दौर की महारानी अहल्याबाई ने विश्वेश्वर का मन्दिर बनवाया, तब उसके आग्नेय कोण के एक छोटे मन्दिर में अविमुक्तेश्वर की स्थापना भी करवाई। इस प्रकार, वर्त्तमान काल में अविमुक्तेश्वर नाम के दो शिवलिंग हैं, जिनकी पूजा-अर्चा होती है।

विश्वेश्वर-मन्दिर का स्वरूप

अविमुक्तेश्वर के पहले मन्दिर का क्या स्वरूप था, इस विषय में कोई सामग्री प्राप्त नहीं है; परन्तु विश्वेश्वर के आदिम मन्दिर का कुछ आभास रजिया की मस्जिद देखने से मिल सकता है, यद्यपि वहाँ बहुत-से रूपान्तर हो चुके हैं और पुराने टीले के चारों ओर घनी बस्ती हो गई है। चौदहवीं शताब्दी के विश्वनाथ-मन्दिर का वर्णन काशीखण्ड में बड़े विस्तार के साथ मिलता है और कई बार टूटने के बाद भी उसका वह स्वरूप टोडरमल के बनवाये हुए मन्दिर में बना रहा। इस आधार पर यह अनुमान होता है कि सम्भवतः अविमुक्तेश्वर के पहले मन्दिर की भी वही रूपरेखा रही होगी। ज्ञानवापी के आसपास यदि खुदाई की जाय, तो इस बात की पुष्टि हो सकती है; परन्तु उससे न तो कोई लाभ ही होगा और न उसकी कोई सम्भावना ही है।

काशीखण्ड के अनुसार विश्वनाथ के मन्दिर का नाम मोक्षलक्ष्मीविलास था। उसमें पाँच मण्डप थे, जिनमें से मुख्य मण्डप ही गर्भगृह था, जहाँ विश्वेश्वर का शिवलिंग विराजमान था। उसके चारों दिशाओं में चार मण्डप थे—दक्षिण की ओर मुक्तिमण्डप, पश्चिम में श्रृंगार-

मण्डप, उत्तर में ऐश्वर्यमण्डप तथा पूर्व में ज्ञानमण्डप। शृंगारमण्डप का नाम रंगमण्डप भी था। मन्दिर का मुख्य द्वार पश्चिम दिशा में था।

गर्भगृह में प्रणाम करने का शास्त्रीय निषेध होने के कारण प्रणाम मुक्तिमण्डप में ही किया जाता था और विश्वेश्वर को पन्द्रह बार प्रणाम करने का विधान था। मुक्तिमण्डप में बैठकर स्तुति, प्रार्थना, प्रणाम इत्यादि करने का बड़ा फल माना जाता था। मुक्ति-मण्डप में विष्णु भगवान् की मूर्त्ति थी, जिसको मुक्तिमण्डप का स्वामित्व प्राप्त था: **मुक्तिमण्डपिकायास्तु स्वामी विष्णुर्न चापरः (ब्र० वै० पु०, का० र०, पृ० १२९)।**

निःश्रेयस्याश्रियो धाम तद्याम्यां मण्डपोऽस्ति मे।
तत्राहं सततं तिष्ठे तत्सदो मण्डपं मम॥
निमेषार्धप्रमाणं च कालं तिष्ठति निश्चलः।
तत्र यस्तेन वै योगः समभ्यस्तः समाःशतम्॥
तत्रर्चं सञ्जपन्नेकां लभेत्सर्वश्रुतेः फलम्।
प्राणायामं तु यः कुर्यादप्येकं मुक्तिमण्डपे।
तेनाष्टाङ्गः समभ्यस्तो योगोऽन्यत्रायुतं समाः॥
वायुभक्षणतोऽन्यत्र यत्पुण्यं शरदां शतम्।
तत्पुण्यं घटिकार्धेन मौनं दक्षिणमण्डपे॥
मितं कृष्णालकेनापि यो दद्यान्मुक्तिमण्डपे।
स्वर्णं सौवर्णयानेन स तु सञ्चरते दिवि॥
तत्र दत्वा महादानं तत्र कृत्वा महद्व्रतम्।
तत्राधीत्याखिलं वेदं च्यवते न नरो दिवः॥

(का० खं०, ७९।५४-६६)

शृंगारमण्डप में शृंगारगौरी प्रतिष्ठित थीं। वहाँ भगवान् विश्वनाथ के निमित्त जो कुछ भी अर्पण किया जाता था, उसके प्रभाव से लक्ष्मी-प्राप्ति होती थी। मन्दिर के मुख्य-द्वार पर द्वारविनायक थे और वायव्य कोण के छोटे मन्दिर में कालभैरव का पूजन होता था:

तत्प्रासादपुरोभागे मम शृङ्गारमण्डपः।
श्रीपीठं तद्धि विज्ञेयं निःश्रीकश्रीसमर्पणम्॥
मदर्थं तत्र यो दद्याद्दुकूलानि शुचीन्यहो।
माल्यानि सुविचित्राणि यक्षकर्दमवन्ति च॥
नानानेपथ्यवस्तूनि पूजोपकरणान्यपि।
सश्रियालङ्कृतस्तिष्ठेद्यत्र कुत्रापि सत्तमः॥ (का० खं०, ७९।७०-७२)

ऐश्वर्यमण्डप में अर्चन, पूजन, ध्यान, प्रार्थना इत्यादि करने से ऐश्वर्य मिलता था:

मोक्षलक्ष्मीविलासाख्यप्रासादस्योत्तरे मम।
ऐश्वर्यमण्डपं रम्यं तत्रैश्वर्यं ददाम्यहम्॥ (का० खं०, ७९।७३)

ज्ञान-मण्डप में बैठकर जो भगवान् का ध्यान-स्तवन करता था, उसको ज्ञान की प्राप्ति होती थी:

मत्प्रासादैन्द्र दिग्भागे ज्ञानमण्डपमस्ति यत्।
ज्ञानं दिशामि सततं तत्र मां ध्यायतां सताम् ॥ (का०खं०, ७९।७४)

विश्वेश्वर-मन्दिर के कलश अथवा पताका के दर्शन का भी बड़ा फल माना जाता है :

मोक्षलक्ष्मीविलासाख्यप्रासादस्य विलोकनात्।
शरीराद्दूरतो याति ब्रह्महत्यापि नान्यथा ॥
मोक्षलक्ष्मीविलासस्य कलशो यैर्निरीक्षितः।
निधानकलशास्तांस्तु न मुञ्चन्ति पदे पदे ॥
दूरतोऽपि पताकापि मम प्रासादमूर्धगा।
नेत्रातिथीकृता यैस्तु नित्यन्तेऽतिथयो मम ॥ (का०खं०, ७९।४७-४९)

विश्वनाथ-मन्दिर का यह स्वरूप स्थापत्य के प्रमाण से भी ठीक निकलता है। सिकन्दर लोदी द्वारा ध्वंस होने के बाद जब उसका पुनर्निर्माण राजा टोडरमल ने करवाया, उस समय भी उसका यही स्वरूप था और उस पुनर्निर्माण में भी वही रूपरेखा बनी रही, यद्यपि मन्दिर की कुरसी प्रायः सात फीट ऊँची कर दी गई। वर्त्तमान मस्जिद के पूर्व की ओर जो चबूतरा या मैदान है, उसके नीचे पत्थर के खम्भों पर टिकी हुई छत अब भी बनी है। यह भाग उस पुराने मन्दिर का पूर्वीय मण्डप, अर्थात् ज्ञानमण्डप है। डॉ० अलतेकर तथा 'काशी का इतिहास' के लेखक ने इसको पुराना रंगमण्डप कहा है, जो ठीक नहीं है। काशीखण्ड में रंगमण्डप शृंगारमण्डप को ही बतलाया गया है। वहाँ कहा गया है कि मुक्ति-मण्डप से उठकर भगवान् सदाशिव पार्वती, ब्रह्मा, विष्णु तथा अन्य देवताओं के साथ रंगमण्डप को गये। इसके बाद अगस्त्य मुनि से पूछा कि मुक्तिमण्डप से जाने पर देवदेव ने क्या किया? इसके उत्तर में स्कन्द ने कहा कि मुक्तिमण्डप से ब्रह्मा और विष्णु के साथ शृंगार-मण्डप में पहुँचने पर भगवान् ने क्या किया, यह हम बतलाते हैं। इससे स्पष्ट है कि शृंगारमण्डप का ही नाम रंगमण्डप भी था :

उत्थाय देवदेवेशः सह देव्या सुमङ्गलः।
ब्रह्मणा हरिणा सार्द्धं ततोऽगाद्रङ्गमण्डपम् ॥ (का० खं०, ९८।९४-९५)

अगस्त्य उवाच :

सेनानीः कथय त्वम्मे ततो निर्वाणमण्डपात्।
निर्गत्य देवो देवेन्द्रैः सहितः किं चकार ह ॥

स्कन्द उवाच :

मुक्तिमण्डपतः शम्भुर्ब्रह्मविष्णुपुरोगमः।
भृङ्गारमण्डपं प्राप्य यच्चकार वदामि तत् ॥ (का०खं०, ९९।२-३)

सम्भवतः, पन्द्रहवीं शताब्दी का विश्वनाथ-मन्दिर राजा टोडरमल के मन्दिर से कुछ बड़ा था और उसका धरातल ज्ञानवापी-मण्डप के समान स्तर पर था। उसका जो अंश बच रहा है, वह दो भागों में है। एक बाहरी भाग, जो १८ फीट चौड़ा है और दूसरा १५ फीट चौड़ा भीतरी भाग, जो मिट्टी से पाट दिया गया है, वह सम्भवतः ज्ञानमण्डप का भाग था और जो १८ फीट का भाग बच रहा है, वह प्रदक्षिणापथ था। जो कुछ भी हो, टोडरमल के बनवाये हुए मन्दिर के विषय में प्रिंसेप ने
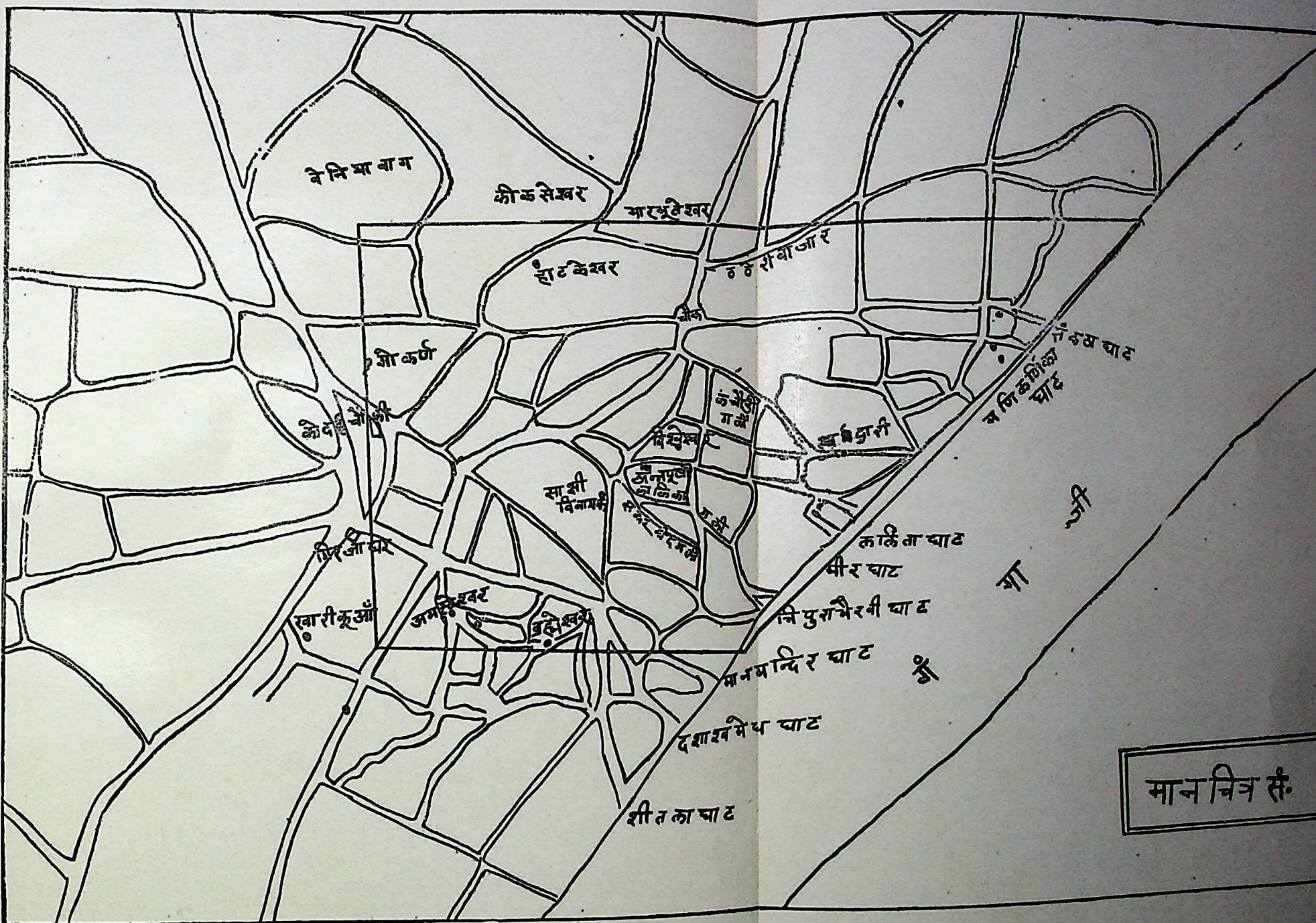
विश्वेश्वर का अंतर्गृह क्षेत्र
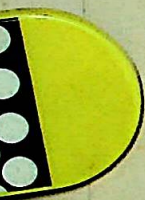
बड़े परिश्रम से कुछ निष्कर्ष निकाले, जिनको उन्होंने अपनी पुस्तक 'View of Benares' में प्रकाशित किया था। इसके अनुसार, "विश्वनाथ-मन्दिर १२४ फीट भुजा के वर्गाकार क्षेत्र पर बना था। इसमें पाँच मण्डप थे, जिनमें बीच का मण्डप गर्भगृह था। वह ३२ फीट लम्बा-चौड़ा था। इसके चारों ओर १६ फीट लम्बे और १० फीट चौड़े बरोठे थे, जिनके मिल जाने से गर्भगृह का क्षेत्रफल प्रायः दूना हो जाता था। इन बरोठों के बाहर चारों दिशाओं में चार छोटे मण्डप थे, जिनका मध्य भाग १६ फीट लम्बा-चौड़ा था; परन्तु अपने चारों ओर के बरोठों के मिल जाने से उनका क्षेत्रफल भी प्रायः दूना हो जाता था। इस प्रकार, कोने-से-कोना मिलाते हुए पाँचों मण्डप थे।" इन पाँचों मण्डपों के अतिरिक्त मन्दिर के बाहर एक अन्य मण्डप की कल्पना का कोई पौराणिक आधार नहीं है। इन पाँच मण्डपों की कोणाकार परिस्थिति के कारण उनके चारों ओर चार कोने बच रहते थे, जिनमें चार छोटे मन्दिर बने हुए थे, जो भीतर-भीतर १२ फीट लम्बे-चौड़े थे। मन्दिर की दीवारों की ऊँचाई ३० फीट के लगभग थी। इस आधार पर डॉ० अलतेकर का अनुमान है कि मुख्य शिखर १२८ फीट ऊँचा रहा होगा तथा मण्डपों के शिखर ६४ फीट, तथा कोने के मन्दिरों के शिखर ४८ फीट ऊँचे रहे होंगे। इस प्रकार नौ शिखरोंवाला यह मन्दिर अत्यन्त सुन्दर तथा नेत्रग्राही था, इसमें सन्देह नहीं। इस समय मन्दिर का गर्भगृह, मुक्तिमण्डप तथा ऐश्वर्यमण्डप मस्जिद के मुख्य भवनों के रूप में वर्त्तमान हैं। अन्य अंश तोड़कर या तो गिरा दिये गये या उनका रूपान्तर हो गया। इस वर्णन के आधार पर मन्दिर का काल्पनिक स्वरूप चित्र-संख्या २४ में दिया गया है, जिससे पाठकों को ऊपर के वर्णन को हृदयंगम करने में सुविधा होगी।

इस अकबरकालीन विश्वनाथ-मन्दिर के सम्बन्ध में दो जनश्रुतियाँ हैं, जिनका उल्लेख हम यहाँ कर देना चाहते हैं। पहली किंवदन्ती के अनुसार जब हिन्दू-धर्म संकट में था, उस समय मुकुन्द ब्रह्मचारी नामक एक ब्राह्मण ने सार्वभौम राजा होने के उद्देश्य से प्रयाग में तुषाग्नि में अपनी आहुति दी थी। उस सम्बन्ध का एक श्लोक प्रसिद्ध है। इसके अनुसार मुकुन्द ब्रह्मचारी ने अपनी आहुति सं० १५९८ (सन् १५४१ ई०) में दी और अकबर का जन्म सन् १५४२ ई० में हुआ :

> वसुरन्ध्रबाणचन्द्रे तीर्थराजप्रयागे।
> ....पक्षे द्वादशीपूर्वयामे॥
> नखशिखद्युतिहोमे सर्वभूम्याधिपत्यै।
> सकलदुरितहारी ब्रह्मचारी मुकुन्दः॥

इस प्रकार, मुकुन्द ब्रह्मचारी द्वारा अपनी प्राणाहुति देने के बाद उनका जन्म अकबर के रूप में हुआ। अपने बाल्यकाल में अकबर को इस श्लोक का अन्तिम चरण अपने पूर्वजन्म के संस्कार से स्मरण में बना रहा और वह इसको यदा-कदा पढ़ता था। मुकुन्द ब्रह्मचारी के शिष्य भी अपने गुरु के नवजन्म का पता लगाते-लगाते अन्त में अकबर के पास पहुँचे। उस समय वह राजसिंहासन पर बैठ चुका था। शिष्यों ने उससे सब पुरानी बातें कहीं और काशी के प्रधान देवालयों के पुनर्निर्माण की व्यवस्था करने की प्रार्थना की। इसी के परिणामस्वरूप राजा टोडरमल ने विश्वनाथ-मन्दिर तथा महाराज मानसिंह ने बिन्दुमाधव-मन्दिर का

निर्माण करवाया। कीन ने अपनी पुस्तक में लिखा है कि 'मित्फाहुल तवारीख' में इस बात का स्पष्ट उल्लेख है कि मुकुन्द ब्रह्मचारी के विषय का एक ताम्रपत्र उस ग्रन्थ के थोड़े समय पूर्व तक वर्त्तमान था।[१]

दूसरी जनश्रुति यह है कि जब राजा टोडरमल के द्वारा विश्वनाथ-मन्दिर बन चुका और उसमें शिवलिंग की स्थापना तथा प्रतिष्ठा हो चुकी, उस समय तत्सम्बन्धी पूजन के अन्तिम चरण में दैववशात् भट्टनारायण, जिनके आग्रह से मन्दिर बना था और जो स्थापनोत्सव के मुख्य आचार्य थे, कहीं इधर-उधर चले गये और उनकी अनुपस्थिति में उनके सहायक आचार्यवृन्द ने सामान्य परिपाटी के अनुसार 'शतं जीवेम शरदः' का शान्तिपाठ आरम्भ कर दिया। इस मन्त्र की ध्वनि जब भट्टनारायण के कानों में दूर से पड़ी, तो वे अपना सिर पीटते हुए दौड़कर आये और कहा कि यह क्या अनर्थ हो गया? इस मन्दिर के लिए केवल सौ वर्षों के ही आयुष्य की कामना हुई। सम्भवतः, यह फिर सौ वर्षों में टूटेगा। सन् १६६९ ई० में औरंगजेव द्वारा मन्दिर तोड़े जाने पर उनकी यह आशंका सत्य हुई।

इसके बाद प्रायः तुरन्त ही औरंगजेव ने विश्वनाथ-मन्दिर के स्थान पर मस्जिद बनाने की आज्ञा जारी की और उस मस्जिद में विश्वनाथ-मन्दिर के गर्भगृह को ही मस्जिद का मुख्य कक्ष बनाने की योजना हुई। परिणामतः, पश्चिम के दोनों छोटे मन्दिर तथा श्रृंगारमण्डप तोड़ दिये गये और गर्भगृह का मुख्य द्वार जो पश्चिम की ओर था, चुन दिया गया। ऐश्वर्यमण्डप तथा मुक्तिमण्डप के पश्चिमी द्वार बन्द कर दिये गये और मन्दिर का वह भाग मस्जिद की पश्चिमी दीवार बन गया, जिसको हिन्दुओं को आतंकित करने तथा चिढ़ाने के उद्देश्य से बाहर की ओर उसी टूटी-फूटी स्थिति में छोड़ दिया गया, यहाँतक कि मन्दिर के तोड़ने के समय का मलवा भी वहीं पास में पड़ा रहने दिया गया। मन्दिर की ये दीवारें आज भी वैसी ही हैं और इनको देखकर हिन्दू-समाज का मन आज भी दुःखी होता है। मस्जिद के पूर्व की दालान ज्ञानमण्डप तथा उसके उत्तर-दक्षिण के छोटे मन्दिरों को तोड़कर बनाई गई और उसके सामने का मैदान पन्द्रहवीं शताब्दी के मन्दिर के ज्ञानमण्डप तथा प्रदक्षिणा-पथ को पाटकर वना। इस पटे हुए भाग का दक्षिण का आधा अंश भी हिन्दुओं के अधिकार में है।

इस मस्जिद के सम्बन्ध का एक महत्त्वपूर्ण संस्मरण फारसी के साहित्यिक क्षेत्र में भी बच रहा है। औरंगजेब के दरबार में एक वृद्ध ब्राह्मण शायर थे, जिनका उपनाम 'बरहमन' और नाम चन्द्रभानु था। जब मस्जिद बन चुकी, तब किसी अवसर पर औरंगजेब ने उनसे ताना मारकर कहा कि 'मियाँ शायर, तुम्हारे विश्वनाथ के मन्दिर की जगह अब मस्जिदे-आलमगीरी बन गई। क्या कहते हो?' बूढ़े ब्राह्मण ने तत्काल बेधड़क उत्तर दिया—'जहाँपनाह शेर हाजिर है, हुक्म हो तो अर्ज करूँ:'

'बेबीं करामतेबुतखान-ए-मरा ऐ शेख ।
कि चूं खराबशवद खान-ए-खुदा गरदद ।। (कुल्लियाते बरहमन)

---

१. A Handbook to Allahabad, Kanpur, Lucknow and Benares, by H.G. Keene, p.14.

अर्थात्, ऐ शेख, हमारे मन्दिर का यह कौतुक देख कि बरबाद होने पर ही तेरे खुदा की वहाँतक पहुँच हो पाई। औरंगजेब बहुत नाराज हुआ, मगर चुप ही रह गया। यह शायर अपनी जवानी में भी अपने धार्मिक गौरव का निर्वाह शाहजहाँ बादशाह के दरबार में कर चुका था, जब उसने स्वात्माभिमान-भरे शब्दों में कहा था:

मरा दिलेस्त बकुफ्रआश्ना कि सदबारश।
बकाबा बुर्दम व बाजश बरहमन आबुर्दम॥

अर्थात्, मेरा हृदय हिन्दू-धर्म से इतना ओतप्रोत है कि यदि सौ बार भी काबा जाऊँ, तो भी वहाँ से ब्राह्मण रहकर ही लौटूँगा। उस समय भी शाहजहाँ के क्रोधावेश में वह प्राण-दण्ड पाकर भी दरबारियों की हाजिरजवाबी से बच पाया था; और अब तो वह वृद्ध था, उसको प्राण जाने का कोई भय ही नहीं रह गया था, तो फिर क्यों चुप रहता। यही मनोवृत्ति थी, जिसने उन कठिन दिनों में हिन्दू-धर्म तथा संस्कृति की रक्षा की थी।

जिस प्रकार सौराष्ट्र में सोमनाथ का मन्दिर बार-बार ध्वस्त होने पर भी फिर-फिर उठ खड़ा होता था, ठीक वैसे ही औरंगजेब की आज्ञा से तोड़े जाने के दस वर्षों के भीतर ही विश्वनाथ की पुनः स्थापना हो गई, परन्तु जैसा पहले रजिया की मस्जिद के कारण हुआ था, वैसे ही एक बार फिर उनको अपने पुराने स्थान को छोड़कर नये स्थान पर जाना पड़ा। यह स्थान भी अविमुक्तेश्वर के पुराने प्रांगण का ही दक्षिणी भाग था, जहाँ टूटे हुए मन्दिरों के ध्वंसावशेष पड़े थे। कुछ छोटे-मोटे शिवलिंग भी यत्र-तत्र उन मलबों में दब जाने से बच रहे थे। यहीं पर एक कोने में विश्वेश्वर की स्थापना हुई। इस बात का प्रमाण इस बात से मिलता है कि सन् १६७२ ई० में रीवाँ-नरेश महाराज भावसिंह काशी आये थे और उसके चार वर्षों के बाद सन् १६७६ ई० में उदयपुर के महाराणा जगतसिंह तथा बीकानेर-नरेश के पुत्र सुजावनसिंह वाराणसी-यात्रा पर आये थे और उन्होंने विश्वेश्वर के नये शिवायतन के सन्निकट शिवलिंगों की स्थापना की थी, जो आज भी विश्वनाथ-मन्दिर के गर्भगृह के द्वार के दोनों ओर वर्त्तमान हैं। उनकी इस यात्रा का उल्लेख उनके तीर्थपुरोहितों की बहियों में मिलता है। इस प्रकार, प्रायः सौ वर्षों तक विश्वनाथ का शिवलिंग अत्यन्त संकुचित रूप में ही पूजा जाता रहा। सन् १७८० ई० में इन्दौर की महारानी अहल्याबाई ने वर्त्तमान मन्दिर का निर्माण करवाया। उनके तत्सम्बन्धी लेख में मन्दिर बनवाने की ही बात कही गई है, विश्वेश्वर की स्थापना करने का उल्लेख नहीं है। इससे भी ऊपर के मत की पुष्टि होती है। वहाँ लिखा है कि मन्दिर का निर्माण भाद्रपद कृ० ८, संवत् १८३४ (शके १६९९) को पूरा हुआ।

यत्कारितं द्विजसुरात्तसपर्ययानया श्रीभारतप्रमुखसंश्रवणार्द्रचित्तया।
विश्वेश्वरस्य रमणीयतरं सुमन्दिरं श्री पञ्चमण्डपयुतं सवृत्तं च वेश्म॥

इस मन्दिर में भी पाँच मण्डप बनाने का प्रयत्न किया गया है; परन्तु विश्वनाथ के एक कोने में होने के कारण पूर्व दिशा में मण्डप नहीं बन पाया। यह भी इस बात का प्रमाण है कि विश्वनाथ की स्थापना मन्दिर-निर्माण के समय नहीं हुई। कालान्तर में महाराज रणजीत सिंह ने विश्वनाथ-मन्दिर के शिखरों पर सोने का पत्तर चढ़वाया, जो आज भी वर्त्तमान है। सन् १७८५ ई० में ईस्ट इण्डिया कम्पनी के आधिपत्य में भारत के प्रथम गवर्नर

जेनरल वारेन हेस्टिंग्ज की आज्ञा से बनारस के तत्कालीन अधिकारी नवाब अली इब्राहीम खाँ ने विश्वनाथ-मन्दिर के सिंहद्वार के सामने नौबतखाना बनवाया, जिसपर यह लेख है:

यह नौबतखाना विश्वेश्वर का नवाब अजीजुल्मुल्क अली इब्राहीमखाँ ने संवत् १८४२ में नवाब इमादुद्दौला गवर्नर जेनरल अमीरुल्मुल्क वारेन हेस्टिंग्ज जलादतजंग के फ़र्मान से बनवाया।

विश्वेश्वर-पूजनक्रम

गंगास्नान के बाद सबसे पहले भवानी का पूजन और तदुपरान्त ढुण्ढिराज गणपति की अर्चना कर, ज्ञानवापी की प्रदक्षिणा करके वहाँ पुनः स्नान करे और दण्डपाणि को प्रणाम करके मुक्तिमण्डप में स्थित पाँचों देवताओं (आदित्य, द्रौपदी, विष्णु, दण्डपाणि तथा महेश्वर) का पूजन करे। इतना करने के बाद विश्वेश्वर का पूजन करने के लिए गर्भगृह में प्रवेश करे। ऐसा विधान ब्रह्मवैवर्त्तपुराण में दिया हुआ है:

आदौ देव्याः मण्डपं सम्प्रविश्य तत्र स्थित्वा पूजयेद्वै भवानीम् ॥
श्रीमद्भवानीसदनं समाप्य प्रदक्षिणीकृत्य तथाष्टवारम् ॥
ततो ढुण्ढि गत्वा मधुरतरनैवेद्यविभवै—
रुपास्य स्तुत्वा तं विविधभयविघ्नादिशमनम् ॥
गच्छेत्ततो विश्वपतिं महामतिः प्रदक्षिणीकृत्य सुतारतीर्थे ॥
स्नात्वा ततो दण्डपतिम्प्रणम्य सम्पूज्य निर्वाणगतं तु पञ्चकम् ॥

(ब्र० वै० पु०, का० र०, १६।६–१२)

काशीखण्ड में इसका दूसरा क्रम है। तदनुसार, मणिकर्णिका में स्नान करने के बाद और सन्ध्या-तर्पण से वहीं निवृत्त होकर मुक्तिमण्डप के पाँचों देवताओं (द्रौपदी, द्रुपदादित्य, विष्णु, दण्डपाणि तथा महेश्वर) को प्रणाम करते हुए ढुण्ढिराज के पूजन को जाय। तदुपरान्त, ज्ञानवापी के जल में स्नान करके नन्दिकेश्वर, तारकेश्वर, महाकालेश्वर और पुनः दण्डपाणि का पूजन करे। यह पंचतीर्थी यात्रा नित्य करनी चाहिए। तदुपरान्त, विश्वेश्वर का पूजन करे:

सचैलमादौ संस्नाय चक्रपुष्करिणीजले ।
सन्तर्प्य देवान् सपितॄन् ब्राह्मणाश्च तथार्थिनः ॥
आदित्यं द्रौपदीं विष्णुं दण्डपाणिं महेश्वरम् ।
नमस्कृत्य ततो गच्छेद्द्रष्टुं ढुण्ढिविनायकम् ॥
ज्ञानवापीमुपस्पृश्य नन्दिकेशं ततोऽर्चयेत् ।
तारकेशं ततोऽभ्यर्च्य महाकालेश्वरं ततः ॥
ततः पुनर्दण्डपाणिमित्येषा पञ्चयतीर्थिका ।
दैनन्दिना विधातव्या महाफलमभीप्सुभिः ॥
ततो वैश्वेश्वरी यात्रा कार्या सवार्थसिद्धिदा ।

(का० खं०, त्रि० से०, पृ० २१४)

पद्मपुराण के पातालखण्ड में एक अन्य क्रम दिया हुआ है। उसके अनुसार प्रातःकाल गंगास्नान तथा मध्याह्न में मणिकर्णिका-स्नान करके विश्वेश्वर, भवानी, ढुण्ढिराज, दण्डपाणि तथा भैरव का क्रमेण पूजन करना चाहिए।

गङ्गायामाप्लुतिः प्रातर्मध्याह्ने मणिकर्णिकाम् ।
निषेवेत सदा पश्चाल्लिङ्गं वैश्वेश्वरम् व्रजेत् ॥
भवानीं ढुण्ढिराजं च दण्डपाणिं च भैरवम् ।
पूजयेन्नित्यशः काश्यां सूक्ष्मपापभिभूतये ॥

(प० पु०, त्रि० से०, पृ० २१५)

सनत्कुमारसंहिता में दूसरा ही क्रम बतलाया है। मणिकर्णिका तथा ज्ञानवापी में स्नान, ढुण्ढिराज का पूजन और दण्डपाणि तथा सम्भ्रम-उद्भ्रम की अर्चना करके विश्वेश्वर की आराधना करने का वहाँ विधान है :

स्नात्वा त्वदास्ये मणिकर्णिकायां वाप्यामथाराध्य च विघ्नराजम् ।
श्रीदण्डपाणिं सगणं च साक्षाद्विश्वेश्वरं जन्म जरावदग्निम् ॥

(स० सं०, त्रि० से०, पृ० २१५)

इन क्रमों में किसी भी क्रम से यात्रा करते हुए विश्वेश्वर के मन्दिर में पहुँचकर यथाशक्ति विस्तार से भगवान् का पूजन करके मुक्तिमण्डप में जाकर ध्यान, प्राणायाम, स्तुति इत्यादि करने के बाद वहीं पाँच, दस अथवा पन्द्रह बार प्रणाम करे, अन्यथा देवमन्दिर की तीन प्रदक्षिणा करे। गर्भगृह में अथवा मन्दिर के गर्भ में प्रदक्षिणा करने का निषेध है :

नानाविधैश्चोपहारैर्यथाविभवसंस्कृतैः ।
पूजयित्वा महादेवं काशीनाथं जगद्गुरुम् ॥
प्रदक्षिणत्रयं कुर्यात् प्रणमेद्दशपञ्चधा ।

(ब्र० वै० पु०, का० र०, १६।१५)

सामान्यतः शिवलिंग की पूरी प्रदक्षिणा नहीं की जाती : शिवस्यार्धप्रदक्षिणम् । किन्तु, विश्वेश्वर-मन्दिर में अर्धप्रदक्षिणा का नियम नहीं लगता। वहाँ मन्दिर की सम्पूर्ण प्रदक्षिणा करनी चाहिए, परन्तु सोमसूत्र का लंघन न हो, इसका ध्यान अवश्य रखना होता है :

शिवं प्रदक्षिणीकुर्वन्सोमसूत्रं न लङ्घयेत् ॥ (त्रि० से०, पृ० २०९)

सोमसूत्र से यह तात्पर्य है कि शिवलिंग से गर्भगृह की दीवारों तक स्थान की जितनी लम्बाई है, उतनी ही लम्बाई उत्तर दिशा में दीवार के बाहर भी छोड़कर प्रदक्षिणा करनी चाहिए ।

सर्वदिक्षु महाभाग विभोः कुर्यात्प्रदक्षिणम् ।
सोमसूत्रादिनियमो नास्ति विश्वेश्वरालये ॥

(आदित्यपुराण, त्रि० से०, पृ० २११)

संन्यासी लोग वामावर्त्त, अर्थात् दाहिनी ओर से बाईं ओर प्रदक्षिणा करें; अन्य लोग दक्षिणावर्त्त, अर्थात् बाईं से दाहिनी ओर चलें, ऐसा भी नियम कहा गया है :

अपसव्यं यतीनां स्यात् सव्यं तु ब्रह्मचारिणाम् ।
सव्यापसव्यं गृहिणां शम्भोर्नित्यप्रदक्षिणम् ॥ (त्रि० से०, पृ० २०९)

विश्वनाथ का निर्माल्य धारण करने के विषय में दो मत हैं और उनके दो प्रकार के

माहात्म्य है। विश्वनाथ का स्नानोदक शिर पर धारण करने पर जालन्धरबन्ध का फल मिलता है :

जलस्य धारणं मूर्ध्नि विश्वेशस्नानजन्मनः।
एष जालन्धरो बन्धः समस्तसुरवल्लभः॥
(का० खं०, त्रि० से०, पृ० २१३)

तथा, तीन आचमन करने से सभी पातक नष्ट हो जाते हैं :

स्नापयित्वा विधानेन यो लिङ्गं स्नपनोदकम्।
त्रिःपिबेत् त्रिविधं पापं तस्येहाशु विनश्यति॥
(का० खं०, त्रि० से०, पृ० २१३)

वाराणसी में निवास करनेवालों को प्रतिदिन विश्वेश्वर-दर्शन करने की अनिवार्यता पर पुराणों में बड़ा बल दिया गया है। ब्रह्मवैवर्त्तपुराण में विश्वेश्वर की एक विशेष स्तुति भी दी गई है, जिसका भक्तलोग अब भी पाठ करते हैं :

जय विश्वेश्वर विश्वाधार विश्वरूप विष्णुप्रिय वामदेव महादेव देवाधिदेव दिव्यरूप दीनानाथैकशरण शरणागतवज्रपञ्जर साधिताखिलकार्यकार्यातीत कारणकारण कामादितृणदाहन दानवान्तकर दारिताखिलदारिद्र्य जितेन्द्रियप्रिय जितेन्द्रियैकगम्य काशीस्थस्थावरजङ्गमनिर्वाणदायक त्रिदशनायक काशिकाप्रिय नमस्ते नमस्ते। (ब्र, वै० पु०, का० र०, १६।१६०)

ओंकारेश्वर : ओंकारेश्वर का स्वयम्भूलिंग अमरकण्टक से आकर वाराणसी में प्रादुर्भूत हुआ। पंचायतन-स्वरूप होने के कारण इस शिवलिंग को 'पंच ओंकार'[1] भी कहा जाता है। कपिलेश्वर, नादेश्वर भी इसी शिवलिंग के नाम हैं। इनके दर्शन-पूजन का बड़ा माहात्म्य है :

अकाराख्यमिदं लिङ्गमुकाराख्यमिदं परम्।
मकाराह्वयमेतश्च नादाख्यं विन्दुसंज्ञकम्॥
पञ्चायतनमीशानमित्थमेतदुदीरितम्।
मोक्षाय सर्वजन्तूनामस्मिन्नानन्दकानने॥
(का० खं०, ७३।१५३-१५४)

यदेतत् कापिलं ज्योतिरेतल्लिङ्गं विलोक्यते।
अतस्तु कपिलेशाख्यमेतल्लिङ्गं सुदुर्लभम्॥ (का० खं०, ७३।१५७)
एकमोङ्कारमालोक्य समस्ते क्षोणिमण्डले।
लिङ्गजातानि सर्वाणि दृष्टानि स्युर्न संशयः॥ (का० खं०, ७३।१७१)

अर्थात्, केवल ओंकारेश्वर का दर्शन कर लेने से सभी शिवलिंगों के दर्शन का फल प्राप्त हो जाता है। इसकी एक विशेषता यह भी है कि इसकी अर्चना से ब्रह्मा तथा विष्णु की भी कृपा स्वतः प्राप्त हो जाती हैं; क्योंकि अकार तथा उकार के रूप में वे भी इसका अंग हैं। वामदेव, कपिल, सार्वणिक, श्रीकण्ठ, पिंगल, अंशुमान् तथा अघोर नामक पाशुपतों

---

१. महाराज गोविन्दचन्द्र के एक दानपत्र में इस नाम का उल्लेख मिलता है (**Epigraphia Indica, Vol. VIII, p. 149**)।—ले०

को इसी लिंग की आराधना से सिद्धि प्राप्त हुई थी और उनका लय भी इसी शिवलिंग में हुआ था। अकार तथा मकार के प्रतीक शिवलिंग अब भी बच रहे हैं, परन्तु उकार का लोप हो गया है। नाद के स्थान पर नादेश्वर, अर्थात् ओंकारेश्वर हैं, परन्तु बिन्दु का प्रतीक भी अब लुप्त है। ओंकारेश्वर शिवलिंग पूर्वाभिमुख कहा गया है, अतएव पश्चिमाभिमुख होकर इनका पूजन करना चाहिए :

एवं चान्यप्रकारेण ब्रह्मविष्णुमहेश्वराः ।
क्रमान्मात्रा समुद्दिष्टा नन्दीशस्य (नादेशस्य) तु सुन्दरि ॥
अकारे च स्थितो विष्णुः पञ्चायतनसंस्थितः ।
उकारो ब्रह्मणो रूपं तस्य दक्षिणतः प्रिये ॥
नन्दीशेश्वर (नादेशेश्वर) नामाहमुत्तरेण व्यवस्थितः ।
तं च देवि तदोकारं मम रूपं सुरेश्वरि ॥
नन्दीशं (नादेशं) परमं ब्रह्म नन्दीशं (नादेशं) परमा गतिः ।
नन्दीशं (नादेशं) परमं स्थानं दुःखसंसारमोचनम् ॥
पूर्वामुखं तु तं देवं सिद्धसङ्घः प्रपूजितम् ।
ओङ्कारेश्वरनामानं देवानामपि दुर्लभम् ॥
वामदेवस्तु सार्वणिरघोरः कपिलस्तथा ।
तत्र सिद्धिं परां प्राप्ता योगे पाशुपते स्थिताः ॥
(लिं० पु०, कृ० क० त०, पृ० ५७–५८)

कपिलश्चैव सार्वणिः श्रीकण्ठः पिङ्गलोंऽशुमान् ।
एते पाशुपताः सिद्धास्तांल्लिङ्गाराधनेन हि ॥
(का० खं०, पृ०, ७४–५६)

प्रणवाख्यं परं ब्रह्म यत्र नित्यं प्रकाशते ।
सपञ्चायतनोपेत ओङ्कारेशोऽयमद्भुतः ॥
(लिं० पु०, त्रि० से०, पृ० १६८)

यत्तत्पाशुपतं ज्ञानं पञ्चार्थमिति कथ्यते ।
तदेव विमलं लिङ्गमोङ्कारं समवस्थितम् ॥
शान्त्यतीता पराशान्तिर्विद्या चैव यथाक्रमम् ।
प्रतिष्ठा च निवृत्तिश्च पञ्चार्थं लिङ्गमैश्वरम् ॥
पञ्चानामपि देवानां ब्रह्मादीनां यदाश्रयम् ।
ओङ्कारबोधितं लिङ्गं पञ्चायतनमुच्यते ॥
संस्मरेदैश्वरं लिङ्गं पञ्चायतनमव्ययम् ।
देहान्ते तत्परं ज्योतिरानन्दं विशते पुनः ॥ (कू० पु०, ३२।६–९)

वैशाख शुक्ला चतुर्दशी को इनकी वार्षिक यात्रा होती है। उस दिन के व्रत तथा ओंकारेश्वर-जन से ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति होती है, जिससे अन्त में मुक्ति मिलती है :

राधशुक्लचतुर्दश्यामद्यापि क्षेत्रवासिनः ।
तत्र यात्रां प्रकुर्वन्ति महोत्सवपुरःसराः ॥

तत्र जागरणं कृत्वा चतुर्दश्यामुपोषिताः ।
प्राप्नुवन्ति परं ज्ञानं यत्र कुत्रापि वै मृताः ॥
(का० खं०, ७४।६८-६९)

ओंकारेश्वर के समीप प्राचीन काल में बहुत-से प्रख्यात तथा सिद्ध पीठ थे, परन्तु इस क्षेत्र के मुसलमानों के मुहल्ले में पड़ जाने से प्रायः सभी लुप्त हो गये। केवल ओंकारेश्वर तथा अकार एवं मकार के मन्दिर ही बच गये हैं। इसीके समीप प्राचीन कपालमोचन तीर्थ है, जिसको रानी भवानी ने पक्का बनवाया था। अब उसमें जल नहीं है, सरोवर सूखा पड़ा है। कुछ दिनों में लुप्त हो जायगा, ऐसी सम्भावना है। समीप में ही श्रीमुखी गुहा थी, जिसके द्वार पर अघोरेश्वर का प्राचीन शिवलिंग था। लिंगपुराण के वर्णन से समझ पड़ता है कि प्राचीन काल में यहाँ पाशुपत तपस्वियों के बहुत-से आश्रम थे। काशीखण्ड के चौंसठवें अध्याय से भी इसकी परिपुष्टि होती है। ओंकारेश्वर के कपिलेश्वर नाम से प्राचीन मन्दिर भग्न होने पर कपिलेश्वर की पुनः स्थापना गोविन्दनायक मुहल्ले में हुई, जो अब भी इसी नाम से मकान नं० के० २९/११ में वर्त्तमान है। ओंकारेश्वर का टीला सन् १८२२ ई० तक बहुत विस्तृत था, परन्तु धीरे-धीरे कटता जा रहा है। एक प्राचीन कुआँ भी बच गया है, जो सम्भवतः अघोरोद कूप है।

कृत्तिवासेश्वर : इनका मुख्य स्थान एकाम्बरक्षेत्र में है, परन्तु वहाँ के प्रतीक-रूप होते हुए भी काशी के प्रधान शिवलिंगों में कृत्तिवासेश्वर का ऊँचा स्थान है। यह बात पहले कही जा चुकी है और उनकी महिमा कई बार मन्दिर टूटने पर भी सत्रहवीं शताब्दी ईसवी तक बनी थी। उनका मन्दिर भी सुन्दर तथा वैभवशाली था। इसी कारण औरंगजेब ने उसके स्थान पर मस्जिद बनवाई। वाराणसी में केवल तीन देवस्थानों पर उसने मस्जिदें बनवाईं—विश्वेश्वर, कृत्तिवासेश्वर तथा बिन्दुमाधव; क्योंकि ये तीन स्थान उस समय बहुत प्रसिद्ध तथा लोकप्रिय थे। विश्वेश्वर तथा बिन्दुमाधव के वैभव का वर्णन पहले हो चुका है। कृत्तिवासेश्वर के माहात्म्य का दिग्दर्शन भी आवश्यक है।

कालभैरव के उत्तर तथा वृद्धकाल के दक्षिण कुछ पूर्व की ओर झुकते हुए कृत्तिवासेश्वर का मन्दिर था। उसको तोड़कर उसके स्थान पर औरंगजेब ने सन् १६५९ ईसवी में आलमगीरी मस्जिद बनवाई। मन्दिर के पूर्व में संलग्न हंसतीर्थ था, जो अब भी हरतीरथ के पोखरे के नाम से प्रसिद्ध है। इस मन्दिर के माहात्म्य का इसी बात से अनुमान हो सकता है कि आज भी महाशिवरात्रि के दिन सहस्रों स्त्री-पुरुष इस मस्जिद के प्रांगण में स्थित एक फौवारे के पत्थर का पूजन करते हैं। मन्दिर टूटने के बाद प्रायः दो सौ वर्षों तक कृत्तिवासेश्वर की पुनः स्थापना नहीं हुई और वाराणसी के लोग वर्ष में एक दिन इसी फौवारे की पूजा करके अपने को कृतकृत्य मानते रहे। बाद में राजा पटनीमल ने पुराने मन्दिर के दक्षिण एक छोटे से मन्दिर का निर्माण तथा उसमें कृत्तिवासेश्वर की पुनः स्थापना करवाई, परन्तु इतने दिनों के विक्षेप के कारण जनमानस की प्रवृत्ति उधर पर्याप्त रूप में नहीं हुई और लोग मस्जिद के फौवारे की ओर ही अब भी अधिक संख्या में आकृष्ट होते हैं।

पुराणों में इस शिवायतन का बड़ा माहात्म्य बतलाया गया है। ब्रह्मवैवर्त्तपुराण में कहा है

कि कृत्तिवासेश्वर काशीवास को सुफल करनेवाले तथा दर्शन-मात्र से मुक्ति देनेवाले हैं। कूर्मपुराण में बतलाया गया है कि सहस्रों जन्मजन्मान्तर में अन्यत्र मोक्ष मिले या न मिले, परन्तु कृत्तिवासेश्वर की कृपा से एक ही जन्म में निश्चय ही मिलता है। लिंगपुराण के अनुसार उनको प्रणाम करनेवाले रुद्रशरीर में प्रवेश करके पुनर्जन्म से छुटकारा पा जाते हैं और इसी शरीर में उनको मुक्ति मिलती हैं। वहीं पर यह भी कहा गया है कि यदि शाश्वत अमरत्व तथा तारक ब्रह्म की अभिलाषा हो, तो कृत्तिवासेश्वर का बारम्बार दर्शन-पूजन करता रहे। वहाँ प्रत्येक मास के कृष्णपक्ष की चतुर्दशी को उनके पूजन के विशेष फलों का विस्तृत वर्णन है। प्राचीन काल में वहाँ शिवभक्तों तथा ऋषियों की निवासस्थली थी। सहस्रों भक्त यहाँ रहकर उनकी अर्चना तथा तपस्या करते थे:

कृत्तिवासं महालिङ्गं वाससौख्यकरं परम्।
यस्य दर्शनमात्रेण न मोक्षादि सुदुर्लभम्॥

(ब्र० वै० पु०, त्रि० से०, पृ० १७५)

जन्मान्तरं सहस्रेण मोक्षोऽन्यत्राप्यते न वा।
एकेन जन्मना मोक्षः कृत्तिवासेऽत्र लभ्यते॥ (कू० पु०, ३२।२२)
कृत्तिवासेश्वरं देवं ये नमन्ति शुभार्थिनः।
ते रुद्रस्य शरीरे तु प्रविष्टाः अपुनर्भवाः॥
अनेनैव शरीरेण प्राप्ता निर्वाणमुत्तमम्॥

(लिं० पु०, त्रि० से०, पृ० १७५)

कृत्तिवासेश्वरो देवो द्रष्टव्यश्च पुनः पुनः।
यदीच्छेत्तारकं ब्रह्म शाश्वतं चामृतप्रदम्॥
गायन्ति सिद्धाः किल गीतकानि
धन्या विमुक्ते तु नरा वसन्ति।
स्वर्गापवर्गस्य पदस्य लिङ्गं
ये कृत्तिवासं शरणं प्रपन्नाः॥
ये ते पाशुपतास्तत्र मध्यमेश्वरसंस्थिताः।
तषामनुग्रहार्थं च कृत्तिवासाः स्थितः पुरा॥
अन्ये च बहवः सिद्धा ऋषयस्तत्र संस्थिताः।
उपासन्ति च मां नित्यं मद्भावगतमानसाः॥
परस्परं तु यज्ज्ञानं मोक्षमार्गप्रदायकम्।
प्राप्यते द्विजशार्दूल कृत्तिवासे न संशयः॥
रुद्राणां तु शिरो ज्ञेयं कृत्तिवासेश्वरं परम्।
तेन तैः प्रेरिता यान्ति दुष्प्रापमकृतात्मभिः॥
यश्च पाशुपतं प्रोक्तं पदं सम्यङ्‌ निषेवितम्।
पूजनात्तदवाप्नोति षण्मासाभ्यन्तरेण तु॥
ममैव प्रीतिरतुला तस्मिन्नायतने सदा।
अन्ये च बहवस्तत्र सिद्धलिङ्गाश्च सुव्रते॥
सर्वेषामेव स्थानानां तत्स्थानं तु ममाधिकम्।

न सा गतिः प्राप्यते यज्ञदानै-
स्तीर्थाभिषेकैर्न तपोभिरुग्रैः।
अन्यैश्च धर्मैर्विविधैः शुभैर्वा
या कृत्तिवासे तु जितेन्द्रियश्च ॥

(लिं० पु०, कृ० क० त०, पृ० ७७–८४)

कृत्तिवासेश्वर का शिवलिंग पश्चिमाभिमुख था और इसलिए नवीन मन्दिर में भी वही स्वरूप माना जाता है। भगवान् सदाशिव ने कहा था कि घोर कलियुग आ जाने पर पापियों की संख्या बहुत बढ़ेगी और कृत्तिवासेश्वर के दर्शनों से पापनिवृत्त होकर वे मुक्त हो जायेंगे, जिससे कर्मों का फल भोगने की परम्परा शिथिल हो जाने का डर है। अतएव, इस स्थान को गुप्त ही रखा गया और इसका प्रकाश अभी तक नहीं किया गया। यह बात मुसलमानों के भारत में आने से पहले कही गई थी और बाद में वही बात प्रत्यक्ष रूप में भी हुई। कृत्तिवासेश्वर के स्थान पर मस्जिद बन जाने से वह शिवलिंग लुप्त ही हो गया और भक्त-समाज उसके प्रसाद से वंचित हो गया।

दशकोटिसहस्राणि आगच्छन्ति दिने दिने।
धर्मक्रियाविनिर्मुक्ताः सत्यशौचविवर्जिताः ॥
देवद्विजगुरून्नित्यं निन्दन्तो भक्तिवर्जिताः।
मायामोहसमायुक्ता दम्भमोहसमन्विताः ॥
शूद्रान्ननिरता विप्रा विह्वला रतिलालसाः।
कृत्तिवासेश्वरं प्राप्य ते सर्वे विगतज्वराः ॥
संसारभयनिर्मुक्ताः सर्वपापविवर्जिताः।
सुखेन मोक्षमायान्ति यथा सुकृतिनस्तथा ॥
ज्ञात्वा कलियुगं घोरमप्रकाश्यं कृतं मया।

(लिं० पु०, कृ० क० त०, पृ० ७८।६२)

मध्यमेश्वर : इस शिवलिंग का माहात्म्य एक तो स्वयम्भू होने से तथा दूसरे काशी-क्षेत्र का केन्द्रबिन्दु होने के कारण ही विशेष था और जैसे-जैसे काशी-क्षेत्र सिकुड़ने लगा, वैसे-ही-वैसे उस केन्द्र की आवश्यकता भी कम होने लगी; क्योंकि केन्द्र का महत्त्व तभी तक होता है, जबतक उसके चारों ओर वृत्त की परिधि भी हो। जैसा इस पुस्तक के प्रारम्भिक अध्याय में कहा जा चुका है, पाँच क्रोश के अर्धव्यास का जो वृत्त था, वही काशी-क्षेत्र था। फिर, धीरे-धीरे उसका आकार तथा परिमाण घटने लगे और रथाकार होने के बाद अन्ततोगत्वा वह शंखाकार हो गया, जैसा इस समय है। शंखाकार क्षेत्र में केन्द्र का काम ही नहीं होता, अतएव उसका माहात्म्य भी कम हो जाता है। परन्तु, यह वाराणसी-क्षेत्र का केन्द्र फिर भी बना रहा; क्योंकि इसके चारों ओर एक-एक क्रोश तक उसकी सीमा बतलाई गई है। अतएव, इसका माहात्म्य फिर भी बना रहा, किन्तु इस शिवलिंग से अत्यन्त सन्निकट एक परम सिद्धपीठ (कृत्तिवासेश्वर) के होने से इसकी महत्ता दबती ही रही। यहाँ-तक कि एक पुराणकार ने अविमुक्त क्षेत्र का परिमाण भी कृत्तिवासेश्वर के चारों ओर एक क्रोश कह डाला :

कृत्तिवाससमारभ्य क्रोशं क्रोशं चतुर्दिशम्।
योजनं तत्र तत्क्षेत्रं गणै रुद्रैश्च संवृतम्॥
(लिं० पु०, कृ० क० त०, पृ० ४०)

प्राचीन काल में मध्यमेश्वर का मन्दिर कहाँ पर था, इसका ठीक पता अब नहीं लगता, किन्तु इतना निश्चित है कि वर्त्तमान मन्दिर अपने पुराने स्थान से कुछ दक्षिण हटकर बना है। इनकी अर्चना करनेवालों की संख्या इस समय अत्यन्त ही सीमित है।

धन्यास्तु खलु ते विप्रा मन्दाकिन्यां कृतोदकाः।
अर्चयन्ति महादेवं मध्यमेश्वरमीश्वरम्॥
स्नानं दानं तपः श्राद्धं पिण्डनिर्वपणं त्विह।
एकैकशः कृतं विप्राः पुनात्यासप्तमं कुलम्॥
(कूर्मपु० ३४।२८-२९)

इनके दक्षिण के तीन प्रधान शिवलिंग भी इनके वर्त्तमान मन्दिर के दक्षिण दूसरे मन्दिर में प्रतिस्थापित हुए, जिनके नाम हैं—विश्वेदेवेश्वर, वीरभद्रेश्वर तथा आपस्तम्बेश्वर।

कपर्दीश्वर : शिवगण कपर्दी द्वारा स्थापित इस शिवलिंग तथा इसके समीप के विमलोदक कुण्ड का बड़ा माहात्म्य कहा गया है। इसके समीप प्राचीन काल में वाल्मीकि नाम के एक पाशुपत रहते थे, जिनकी प्रेरणा तथा अनुकम्पा से एक पिशाच ने इस कुण्ड में स्नान करके मुक्ति पाई। तभी से कुण्ड का नाम पिशाचमोचन कुण्ड हुआ। कुण्ड के उत्तर आज भी एक टीला वाल्मीकि का टीला कहलाता है, जहाँ पर वाल्मीकीश्वर नाम का शिवलिंग भी है। छागकाण्डतीर्थ से आये हुए कपर्दीश्वर का भी यही स्थान काशीखण्ड में बतलाया गया है। इससे समझ पड़ता है कि इस नाम के दो शिवलिंग यहाँ पर थे अथवा नाम-साम्य से भ्रम हो गया है। यह भी सम्भावना है कि पितृकुण्ड के समीप के छागलेश्वर ही यह दूसरे कपर्दीश्वर हों।

कपर्दीश्वर के दर्शन-पूजन से काशीवासियों के काम-क्रोधादि दोषों का नाश होता है। उनके स्मरण-मात्र से पाप नष्ट हो जाते हैं और उनके समीप योगाभ्यास तथा तपस्या करने से छह मास में ही योगसिद्धि प्राप्त होती है। ऐसा कूर्मपुराण में कहा गया है:

कपर्दी नाम गणपः शम्भोरत्यन्तवल्लभः।
पित्रीशादुत्तरे भागे लिङ्गं संस्थाप्य शाम्भवम्॥
कुण्डं चखान तस्याग्रे विमलोदकसंज्ञकम्।
यस्य तोयस्य संस्पर्शाद्विमलो जायते नरः॥ (का० खं०, ५४।२-३)
इदं देवस्य तल्लिङ्गं कपर्दीश्वरमुत्तमम्।
स्मृत्यैवाशेषपापौघं क्षिप्रमस्य विमुञ्चति॥
कामक्रोधादयो दोषा वाराणसीनिवासिनाम्।
विघ्नाः सर्वे विनश्यन्ति कपर्दीश्वरपूजनात्॥
तस्मात्सदैव द्रष्टव्यं कपर्दीश्वरमुत्तमम्।
पूजितव्यं प्रयत्नेन स्तोतव्यं वैदिकैः स्तवैः॥

ध्यायतामत्र नियतं योगिनां शान्तचेतसाम् ।
जायते योगसिद्धिश्च षण्मासेन न संशयः ।।
ब्रह्महत्यादिपापानि विनश्यन्त्यस्य पूजनात् ।
पिशाचमोचने कुण्डे स्नातस्यात्र समीपतः ।। (कू०पु०, ३३।१०–१४)
कपर्दीशं समभ्यर्च्य न नरो निरयं व्रजेत् ।
न पिशाचत्वमाप्नोति कृत्वात्राप्यघमुत्कटम् ।।
(का० खं०, वी० मि०, पृ० २५५)

मार्गशीर्ष शुक्ला चतुर्दशी को इनकी वार्षिक यात्रा होती है, जो आजकल 'लोटाभण्टा का मेला' नाम से प्रसिद्ध है :

मार्गशुक्लचतुर्दश्यां कपर्दीश्वरसन्निधौ ।
स्नात्वान्यत्रापि मरणान्न पैशाच्यमवाप्नुयुः ।। (का० खं०, ५४–८०)

वीरेश्वर : इनका वर्त्तमान नाम आत्मावीरेश्वर है और इनका बड़ा माहात्म्य है। आजकल सन्तानोत्पत्ति के निमित्त इनकी आराधना प्रत्यक्ष फलदायिनी मानी जाती है। मातृकाओं द्वारा सुरक्षित तथा प्रसादित राजकुमार द्वारा इनकी स्थापना होने के कारण इनका वीरेश्वर नाम पड़ा था। शास्त्रानुसार, इनके दर्शन-पूजन से धर्म, मोक्ष, काम तथा सुख की प्राप्ति होती है। यह शिवलिंग वर्त्तमान पाँचमुद्र महापीठ में स्थित है, जो स्वयं सभी सिद्धियों का देनेवाला है। इस स्थान पर जो भी पुण्यकर्म किये जाते हैं, उनका बहुगुणित फल मिलता है। बहुत-से तपस्वियों को यहाँ पर सिद्धि प्राप्त हुई है :

सिद्धैः संसेवितं लिङ्गं सर्वसिद्धिकरं परम् ।
दर्शनात्स्पर्शनाद्यस्य मनोनिर्वृत्तिभाग्भवेत् ।।
तिलान्तरापिनोकाश्यां भूमिर्लिङ्गं विना क्वचित् ।
परं वीरेशसदृशं न लिङ्गं त्वाशु सिद्धिदम् ।।
धर्मदं मोक्षदं सम्यक् कामदं सुखदं तथा ।
यथा वीरेश्वरं लिङ्गं काश्यां नान्यत्तथा ध्रुवम् ।।
यस्तु वीरेश्वरं लिङ्गं नक्तमभ्यर्चयिष्यति ।
तेन त्रिकोटिसंख्यानि लिङ्गानीहार्चितानि वै ।।
व्रतोत्सर्गादि वीरेशे यत्कृतं व्रतिभिर्नृभिः ।
तत् कोटिगुणसंख्याकं भवत्येव न संशयः ।।
(का० खं०, वी० मि०, पृ० २६८)

मुसलमानों के राज्यकाल में मन्दिरों के बारम्बार टूटने के फलस्वरूप लिंगों के अभाव में पूजनविधि का निर्णय करते हुए 'त्रिस्थलीसेतु' तथा 'वीरमित्रोदय' दोनों ग्रन्थों में विश्वेश्वर के स्वयम्भू लिंग के अतिरिक्त अन्य लिंगों का वर्णन करते समय वीरेश्वर का ही नाम लिया गया है। इससे भी इस शिवलिंग की श्रेष्ठता का संकेत मिलता है। काशीखण्ड में इस शिवलिंग को भी स्वयम्भू बतलाया गया है :

वीरेश्वरादिपूजायामप्ययमेव क्रमः । (वी० मि०, पृ० २१९)

इधर उन्नीसवीं शताब्दी में पं० देवीसहाय वाजपेयी को, जो शिव के अनन्य भक्त हुए हैं, अन्धे हो जाने के बाद आत्मावीरेश्वर की ही शरण में पुनः दृष्टि मिली थी, यह बात तत्कालीन शिष्टसमाज को स्वानुभूति के रूप में ज्ञात थी।

वृद्धकालेश्वर : लिंगपुराण में इनका नाम कालेश्वर दिया गया है, परन्तु काशीखण्ड में कालेश्वर तथा वृद्धकालेश्वर ये दो नाम आये हैं। इसका कारण 'तीर्थों के स्थानान्तरण' नामक अध्याय में विस्तारपूर्वक किया जायगा। यहाँ संकेत रूप में इतना कहना पर्याप्त है कि जब दारानगर-स्थित कालेश्वर का प्रथम मन्दिर टूटा, तब उनकी स्थापना पुनः दण्डपाणि गली में हुई (मकान नं० के० ३१/४९)। कालान्तर में कालेश्वर का पहला मन्दिर फिर बना, तब इन दोनों का स्पष्ट उल्लेख करने के लिए उनका नाम वृद्धकालेश्वर कहा गया।

यह भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण शिवलिंग है और इसके वर्त्तमान घेरे में प्रायः २५ निकटवर्त्ती शिवलिंगों की पुनः स्थापना हुई है, जिनका वर्णन अन्यत्र मिलेगा। जिस क्षेत्र में यह देवमन्दिर है, वह काशी में उज्जयिनी का प्रतीक माना गया है। उसको दारुवन की संज्ञा भी लिंगपुराण में दी गई है। इस कारण इसके समीप के महाकाल तथा नागेश्वर के शिवलिंग भी यहाँ पर हैं। इन दोनों की पुनः स्थापना कालेश्वर तथा कालभैरव के समीप भी तेरहवीं शताब्दी में हुई थी और वे शिवलिंग भी अभी वर्त्तमान हैं; परन्तु उनका माहात्म्य अब नहीं रह गया और जनमानस उनके नाम भी भूलने लगा है।

वृद्धकालेश्वर के दर्शन-पूजन का वर्णन करते हुए काशीखण्ड में कहा गया है कि इनकी आराधना से सभी मनोरथ पूरे होते हैं और किसी प्रकार का रोग, दुःख, दरिद्रता आदि नहीं होते। इनके समीप ही कालोदक कूप है, जिसके जलपान से सभी प्रकार के रोगों का नाश होता है तथा मुक्ति मिलती है:

वृद्धकालेश्वरं लिङ्गं महाकालनिवारणम्।
कलिकालमहाज्वालाज्वालं जीवनजीवनम्॥

(ब्र० वै० पु०, त्रि० से०, पृ० १७७)

दर्शनात्स्पर्शनात्तस्य पूजनाच्छ्रवणात्ततः।
वृद्धकालेशलिङ्गस्य सर्वं प्राप्नोति वाञ्छितम्॥
कूपः कालोदको नाम जराव्याधिविघातकृत्।
तदीयजलपानेन न मातुःस्तन्यपानवान्॥
कृतकूपोदकस्नानः कृतैतल्लिङ्गपूजनः।
वर्षेण सिद्धिमाप्नोति मनोभिलषितां नरः॥

(का० खं०, २४।७३-७४)

कालेश्वर के नाम से लिंगपुराण में इनका माहात्म्य और भी अधिक कहा गया है और यह भी बतलाया गया है कि इस शिवलिंग की आराधना से पिंगाक्ष नामक मुनि ने मृत्यु से मुक्ति पाई और जबतक इस स्थान पर रहे, उनकी मृत्यु नहीं हो सकी। इस स्थान पर किये हुए सभी कर्मों का फल अत्यधिक मिलता है तथा अक्षय होता है:

चित्रेश्वरसमीपं तु स्थितं कालेश्वरं महत्।
तेन दृष्टेन देवेशि कालं वञ्चति मानवः॥
तस्मिन् स्थाने पुराभद्रे पिङ्गाक्षो नाम वै मुनिः।
तेन चैव पुरा भद्रे लिङ्गेऽस्मिन् स प्रसादितः॥
ततो लिङ्गप्रभावेण कालं वञ्चितवान्मुनिः।
ततः प्रभृति येऽन्येऽपि तस्मिन्नायतने स्थिताः॥
तेषां नाऽक्रमते कालः वर्षलक्षायुतैरपि।
तस्य देवस्य चाग्रे तु कूपस्तिष्ठति वैश्रुतः॥
यैस्तु तत्रोदकं पीतं नरैः स्त्रीभिश्च कर्मभिः।
न तेषां परिवर्त्तो वै कल्पकोटिशतैरपि॥
यत्पीत्वा भवबन्धोत्थभयं मुञ्चति मानवाः।
बहुनात्र किमुक्तेन कालेशे देवि यत्कृतम्।
तत्सर्वमक्षयं देवि पुनर्जन्मनि जन्मनि॥

(लिं० पु०, कृ० क० त०, पृ० ७२–७५)

वर्त्तमान काल में वृद्धकालेश्वर के माहात्म्य की ख्याति बहुत कम हो गई है और उसी के समीप स्थित अपमृत्युहरेश्वर नामक शिवलिंग मृत्युंजय नाम से अत्यन्त लोकप्रिय तथा प्रसिद्ध हो गया है :

कालेश्वरसमीपे तु दक्षिणे वरवर्णिनि।
मृत्युना स्थापितं लिङ्गं सर्वरोगविनाशनम्॥

(लिं० पु०, कृ० क० त०, पृ० ७५)

कालेशाद्दक्षिणे भागे मृत्य्वीशस्त्वपमत्युहृत्। (का० खं०, ९७।१२९)

जैसा नाम से ही विदित है अपमृत्यु का निवारण तथा रोगों से निवृत्ति इस शिवलिंग की अर्चना का फल है और इसी कामना से बहुत बड़ी संख्या में भक्त लोग इनके दर्शन-पूजन को आज भी नियमित रूप से जाते हैं।

ज्येष्ठेश्वर : प्राचीन काल में इनका माहात्म्य था और इनसे सम्बद्ध ज्येष्ठस्थान स्वयं बड़ा पुनीत स्थान माना जाता था। परन्तु, अब वह बात नहीं रह गई। सप्तसागर मुहल्ले में मकान नं० के० ६२/१४४ में इनका बड़ा सुन्दर छोटा-सा मन्दिर है। ज्येष्ठ शुक्ला चतुर्दशी को इनकी यात्रा होती है :

तेन लिङ्गेन दृष्टेन पूजितेन स्तुतेन च।
कृत्यकृत्यो भवेद्दवि संसारे न पुनर्विशेत्॥

(लिं० पु०, कृ० क० त०, पृ० ८९)

ज्येष्ठेश्वरं समालोक्य न भूयो जायते भुवि॥ (का० खं०, ६३।१२)
ज्येष्ठेश्वरोऽर्च्यः प्रथमः काश्यां श्रेयोऽर्थिभिः स्थितैः।

(का० खं०, ६३।२०)

इनके मन्दिर के समीप मकान नं० के० ६३/२४ में ज्येष्ठागौरी का स्थान है, जिनकी यात्रा ज्येष्ठ शुक्ला अष्टमी को होती है।

जैगीषव्येश्वर : योगसिद्धि तथा ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति के लिए यह स्थान उल्लेखनीय है। प्रसिद्ध योगिराज महर्षि जैगीषव्य ने यहीं पर आराधना करके वरदान पाया था, ऐसा पुराणवाक्य है। यहीं पर वह गुफा है, जिसमें जैगीषव्य ऋषि ने तपस्या की थी। गुफा तो अब भी है, परन्तु उसमें भीतर जाना अब नहीं हो पाता। उसके मुख पर एक कोठरी बना दी गई है, जिसकी दीवार में दो ऋषियों की मूर्त्तियाँ हैं, जो जैगीषव्य ऋषि की ही दो बार की तोड़-फोड़ के बाद की पुनः स्थापना का प्रमाण है। इस स्थान पर योगाभ्यास करने से योगसिद्धि शीघ्र प्राप्त होती है, ऐसा भगवान् सदाशिव का वरदान है। प्राचीन काल में इनकी पुनः स्थापना सप्तसागर में हुई थी, जहाँ यह अब भी हैं। इनके समीप में गुफा भी थी, जिसका प्रिंसेप के नक्शे में स्पष्ट उल्लेख है :

तस्मात्तत्संस्कृतं लिङ्गं पूजयिष्यन्ति ये नराः।
ज्ञानं तेषां ध्रुवं देवि नचिरादेव जायते॥
त्रिरात्रं तत्र कृत्वा वै यो नरः पूजयिष्यति।
गुहां प्रविशते चैव ज्ञानयुक्तो भवेन्नरः॥

(लिं० पु०, कृ० क० त०, पृ० ६२)

त्रीणि वर्षाणि संसेव्य लभेद्योगं न संशयः। (का० खं०, ६३।८०)

कामेश्वर : दुर्वासा ऋषि द्वारा स्थापित यह शिवलिंग सभी प्रकार की मनःकामनाओं का देनेवाला कहा गया है। इसके समीप कामकुण्ड भी था, मगर मत्स्योदरी तीर्थ के साथ-ही-साथ वह भी पाट दिया गया है और उसपर मकान बन गये हैं। एक मत यह भी है कि कामदेव ने इसकी स्थापना की। कामेश्वर तथा दुर्वासेश्वर दोनों ही शिवलिंग एक ही मन्दिर में अब भी वर्त्तमान हैं :

कामाः समृद्धिमाप्स्यन्ति कामेश्वरनिषेवणात्।
तस्मात्सर्वप्रयत्नेन काश्यां कामेश्वरः सदा।
पूजनीयः प्रयत्नेन महाकामाभिलाषुकैः॥

(का० खं०, ८५।७८–८०)

यो यस्य मनसा कामस्तं तमाप्नोति निश्चितम्।

(लिं० पु०, कृ० क० त०, पृ० ६४)

शनिप्रदोष के दिन सन्ध्या समय इनके पूजन का विशेष माहात्म्य है। कामकुण्ड में स्नान करने से सभी पातकों का नाश होता है। इससे कामकुण्ड में स्नान करके कामेश्वर-पूजन का विधान था, परन्तु अब तो कामकुण्ड ही लुप्त हो गया है। अतएव, केवल गंगास्नान की प्रथा चल रही है।

धर्मेश्वर : इस शिवलिंग की स्थापना तथा उसके समीप तपस्या करने से ही यमराज को धर्मराज की पदवी तथा अधिकार प्राप्त हुए थे। धर्मवृद्धि के लिए इसकी अर्चना अद्वितीय मानी जाती है। मनुष्य के मन से अधर्म को दूर करने तथा धर्मवृत्ति की स्थापना के लिए भी यह तीर्थ प्रसिद्ध है। यहाँ पर किये हुए सभी कर्मानुष्ठान अक्षय होते हैं और उनको शीघ्र ही सिद्धि मिलती है। कार्त्तिक शुक्ला अष्टमी को इनकी वार्षिक यात्रा होती है :

धर्मेश्वरं यः सकृदेव मर्त्यो विलोकयिष्यत्यवदातवृद्धिः।
स्नात्वा पुरस्तेऽत्र च धर्मतीर्थं न तस्य दूरे पुरुषार्थसिद्धिः॥
यदत्र दास्यन्ति हि धर्मपीठे नरा द्युनद्यां कृतमज्जनाश्च।
तदक्षयं भावि युगान्तरेष्वपि कृतप्रणामास्तव धर्मलिङ्गे॥
तद्दर्शनात्स्पर्शनतोऽर्चनाच्च सिद्धिर्भविष्यत्यचिरेण पुंसाम्॥
ये कार्त्तिके मासि सिताष्टमीतिथौ यात्रां करिष्यन्ति नरा उपोषिताः।
रात्रौ च वै जागरणं महोत्सवैर्धर्मेश्वरे ते न पुनर्भवा भुवि॥
(का० खं०, ७८।४६–५५)

यही धर्मपीठ है, जहाँ श्राद्ध करने से पितरों को अक्षय तृप्ति मिलती है। यहीं धर्म-कूप है, जिसका उल्लेख पहले किया जा चुका है। इस कूप में स्नान करके यहाँ श्राद्ध करने से गयाश्राद्ध के समान ही फल मिलता है:

यत्फलं तीर्थराजस्य स्नानेन परिकीर्त्यते।
सहस्रगुणितं तत्स्याद्धर्माम्बुस्नानमात्रतः॥
(ब्र० वै० पु०, त्रि० से०, पृ० १६५)

धर्मकूपे नरः स्नात्वा परितर्प्य पितामहान्।
गयां गत्वा किमधिकं कर्त्ता पितृमुदावहम्॥
यथा गयायां तृप्ताः स्युः पिण्डदाने पितामहाः।
धर्मतीर्थे तथैव स्युर्न न्यूनं नैव चाधिकम्॥
(ब्र० वै० पु०, वी० मि०, पृ० २६७–२६८)

त्रिलोचन : त्रिलोचन महादेव का मूलस्थान विरजा-क्षेत्र में है, जहाँ से प्रतीक-रूप में वाराणसी में भी इनका प्रादुर्भाव हुआ। इनका नाम लिंगपुराण में नहीं है, जिससे कुछ लोग इनकी प्राचीनता में शंका करते हैं; परन्तु यह शंका निर्मूल है; क्योंकि बारहवीं शताब्दी में यह स्थान बड़े महत्त्व का माना जाता था और काशिराज महाराज गोविन्द-चन्द्र ने इनके दर्शन के समय एक गाँव का दान किया था। शिवलिंगों में ओंकारेश्वर का प्रमुख स्थान है, किन्तु त्रिलोचन के दर्शनों का माहात्म्य उनसे भी बढ़कर कहा गया है। इनके नामस्मरण-मात्र से पापों का नाश होता है तथा इनके दर्शन से संसार के सभी शिवलिंगों के दर्शनों का फल मिलता है और अन्त में मुक्ति की प्राप्ति होती है। प्रत्येक अष्टमी तथा चतुर्दशी को इनके दर्शन का विशेष माहात्म्य है। वैशाख शुक्ला तृतीया (अक्षय तृतीया) को व्रत तथा जागरण करने तथा पितरों के निमित्त सान्नोदक कुम्भ का दान करने से पितरों को अक्षय तृप्ति मिलती है। त्रिलोचन के दर्शनों के पहले उनके दक्षिण गंगा में वर्त्तमान पिलिप्पिला तीर्थ में स्नान करने का विधान है। पिलिप्पिला तीर्थ स्वतः ही अत्यन्त पुनीत तथा पुण्य देनेवाला माना गया है:

ओङ्कारादपि सल्लिङ्गान्मोक्षवर्त्मप्रकाशकात्।
अतिश्रेष्ठतरं लिङ्गं श्रेयोरूपं त्रिलोचनम्॥
तेजस्विषु यथाभानुर्दृश्येषु च यथा शशी।
तथा लिङ्गेषु सर्वेषु परं लिङ्गं त्रिलोचनम्॥

त्रिलोचनस्य नामापि यैः श्रुतं शुद्धबुद्धिभिः।
सप्तजन्मार्जितात्पापात्ते पूता नात्र संशयः॥
पृथिव्यां यानि लिङ्गानि तेषु दृष्टेषु यत्फलम्।
तत्स्यात्त्रिविष्पे दृष्टे काश्यां मन्ये ततोऽधिकम्॥
प्रतिमासं सदाष्टम्यां चतुर्दश्यां च भामिनि।
आयान्ति सर्वतीर्थानि द्रष्टुं देवं त्रिविष्टपम्॥
सस्नातः सर्वतीर्थेषु सर्वावभृथवान्स च।
यो वै पिलिप्पिलातीर्थे स्नात्वोत्तरवहाम्भसि॥

(का० खं०, ७५।२४–७४)

त्रिलोचन के समीप मकान न० ए० ३।८७ में पादोदक कूप है, जो इस समय पिलिप्पिला के कुएँ के नाम से प्रसिद्ध है और इसी कारण अक्षय तृतीया को उसके जल से स्नान करने को सैकड़ों श्रद्धालु जाते हैं। त्रिलोचन की प्राचीन पिण्डिका पर साँप के लिपटने की-सी आकृति वनी थी; क्योंकि 'भुजङ्गमेखलं लिङ्गम्' (का० ख०, ७५।५८), 'नागयज्ञोपवीतिनम्' (ब्र० वै० पु०, त्रि० से०, पृ० १६९) ऐसा उसका वर्णन मिलता है।

केदारेश्वर : हिमालय में केदारनाथ का मुख्य स्थान है; परन्तु वहाँ का विग्रह लिंग-रूप नहीं है। भैंसे की पीठ के आकार का है। राजा मान्धाता के अत्यन्त वृद्ध होने पर उनको नित्य दर्शन देने के लिए काशी में केदारेश्वर का प्राकट्य हुआ, ऐसी काशी-केदार-खण्ड को कथा है। काशीखण्ड में वशिष्ठ नामक पाशुपत के वृद्ध होने पर उनके वरदान-स्वरूप काशी में केदार का उद्भव कहा गया है। विश्वेश्वर के समकक्ष ही इनका माहात्म्य माना जाता है। यहाँतक कि भैरवी यातना से विश्वेश्वर का सान्निध्य भी रक्षा नहीं करता; परन्तु केदार के अन्तर्गृह में मरनेवालों को भैरवी यातना नहीं होती। विश्वेश्वर के अन्तर्गृह का वर्णन करते समय तीसरे अध्याय में केदार के अन्तर्गृह की सीमाएँ दी जा चुकी हैं।

केदारेश्वर के दर्शनों का बड़ा फल है। उनके दर्शन को घर से चलते ही पुण्यसंचय होने लगता है और शिखर के दर्शन तथा निर्माल्य-पान करने पर तो सभी जन्म-जन्मान्तर के पापों से छुटकारा मिल जाता है। हिमालय-केदार के दर्शन करने से जो फल प्राप्त होता है, उसका सातगुना फल काशी-केदार के दर्शनों का होता है। सन्ध्या समय तीन बार केदार का नाम लेने से केदारयात्रा का पुण्य मिलने का भी वर्णन है। चैत्र कृष्णा चतुर्दशी को व्रत करके दूसरे दिन प्रातःकाल केदार का निर्माल्य ग्रहण करने का बड़ा फल माना गया है। श्रावण शुक्ला पूर्णिमा को हिमालय-केदार का वार्षिकोत्सव होता है। उसी दिन काशी-केदार की भी वार्षिक यात्रा होती है, यों तो श्रावण के सभी सोमवारों को सहस्रों भक्त दर्शन को जाते हैं। हिमालय केदार के सभी तीर्थ भी काशी-केदार के सन्निकट हैं। इस प्रकार, गौरीकुण्ड, हंसतीर्थ तथा मधुस्रवा गंगा सभी काशी में भी हैं। गौरीकुण्ड का नाम हरंपाप तीर्थ भी है। यह तीर्थ गंगाजी में है, परन्तु प्रतीक-रूप से केदारघाट के ऊपर एक कुण्ड बना हुआ है, जो गौरीकुण्ड कहलाता है। मानसरोवर भी पहले हरंपाप तीर्थ में ही ओतप्रोत था। उसका वर्त्तमान प्रतीक भी थोड़ी दूर पर था, परन्तु अब वह भी

पाट दिया गया। केदारकुण्ड, गौरीकुण्ड अथवा हरंपाप तीर्थ एक ही तीर्थ के नाम हैं। उसमें स्नान करके केदार का दर्शन करने से अन्यत्र मृत्यु होने पर भी मुक्ति मिलती है। वहाँ पिण्डदान करने का भी बड़ा फल है। भौमवती अमावस्या को वहाँ श्राद्ध करने से गयाश्राद्ध का फल होता है :

स वशिष्ठो महाप्राज्ञो दृढपाशुपतव्रतः।
देवि मे प्रार्थयामास हिमशैलादिह स्थितम्॥
ततस्तत्तपसाकृष्टः कलामात्रेण तत्र हि।
हिमशैले ततश्चात्र सर्वभावेन संस्थितः॥ (का०खं० ७७।४०-४१)
गृहाद्विनिर्गते पुंसि केदारमभिनिश्चितम्।
जन्मद्वयार्जितम्पापं शरीरादपि निर्व्रजेत्॥५॥
सायं केदार केदार केदारेति त्रिरुच्चरन्।
गृहेऽपि निवसन्नूनं यात्राफलमवाप्नुयात्॥७॥
दृष्ट्वा केदारशिखरं पीत्वा तत्रत्यमम्बु च।
सप्तजन्मकृतात्पापान्मुच्यते नात्र संशयः॥८॥
तुषाराद्रिं समारुह्य केदारं वीक्ष्य यत्फलम्।
तत्फलं सप्तगुणितं काश्यां केदारदर्शने॥४६॥
गौरीकुण्डं यथा तत्र हंसतीर्थं च निर्मलम्।
यथा मधुस्रवा गङ्गा काश्यां तदखिलं तथा॥४७॥
इदं तीर्थं हरंपापं सप्तजन्माघनाशनम्।
गङ्गायां मिलितं पश्चाज्जन्मकोटिकृताघहम्॥४८॥
सरसा मानसेनात्र पूर्वं तप्तं महातपः।
अतस्तु मानसं तीर्थं जने ख्यातिमिदङ्गतम्॥५२॥
भौमवारे यदादर्शस्तदा यः श्राद्धदो नरः॥
केदारकुण्डमासाद्य गयाश्राद्धेन किं ततः॥५९॥
(का० खं०, ७७।५-५९)

केदारेशं महालिङ्गं देहकेदारनाशनम्।
केदारवित्तपुत्राद्या भवन्ति ध्वान्तभूमयः॥
(ब्र०वै० पु०, त्रि० से०, पृ० १६२)

चैत्रकृष्णचतुर्दश्यामुपवासं विधाय च।
त्रिगण्डूषान्पिबन्प्रातर्हृल्लिङ्गमधितिष्ठति ॥ (का० खं०, ७७।६१)

मराठी 'गुरुचरित्र' नामक पुस्तक में पन्द्रहवीं शताब्दी की दक्षिणमानस-यात्रा में केदार तथा वृद्धकेदार नामक दो शिवलिंगों का उल्लेख मिलता है। इससे जान पड़ता है कि केदारेश्वर का भी कुछ-न-कुछ स्थानान्तरण हुआ है। यह वृद्धकेदार नामक शिवलिंग कहाँ है, यह अब जनमानस भूल गया है; परन्तु केदार के दक्षिण तथा हनुमानघाट के हनुमदीश्वर के उत्तर इसका स्थान था; क्योंकि 'गुरुचरित्र' में केदार के दर्शन के बाद गौरीकुण्ड और उसके बाद वृद्धकेदार का उल्लेख है और फिर हनुमदीश्वर, रामेश्वर, स्वप्नेश्वर तथा संगमेश्वर के नाम हैं। इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि स्थानान्तरण थोड़ा-सा ही हुआ है।

इस विषय पर 'तीर्थों के स्थानान्तरण' नामक अध्याय में विस्तृत विचार किया जायगा। यहाँ इतना ही कहना पर्याप्त है कि हरिश्चन्द्रघाट पर का शिवरूप वृद्धकेदार का स्थान है।

केदार की भी विश्वेश्वर की भाँति एक विशेष प्रार्थना प्रचलित है, जो नीचे दी जाती है :

अन्नानां पतये दिशां च पतये मातृक्पशूनां पुनः
स्तेनानां पतये समस्तजगतां क्षेत्रौषधीनां सताम्।
वृक्षाणां पतये शिवाय कुधियां दुस्तस्कराणां तथा
पुष्टानां पतये दिनाधिपतये सर्वात्मने ते नमः॥
अस्मानुद्धर देवदेव भवतः पादं शरण्यं नतान्
भक्ताभीष्टदमप्रमेयभगवद्धामप्रदं चान्ततः।
नैवान्यं वरयाम ते पदयुगात् केदारनाथ प्रभो
मोक्षैकप्रथितप्रभावविभवा केदारभूस्ते प्रभो॥
शिवतत्त्वं न जानामि कीदृशोऽसि महेश्वर।
यादृशोऽसि महादेव तादृशाय नमोस्तु ते॥

वृषभध्वज : यह काशी का सबसे प्रसिद्ध पुरातन स्थान है। वृषभध्वज का मन्दिर कपिलाह्लद के पास आज भी वर्त्तमान है, यद्यपि काशी के अन्य मन्दिरों के साथ यह भी बारम्बार टूटता रहा है। महाभारत में काशी के दो ही तीर्थों का उल्लेख है—एक वृषभध्वज का दूसरा कपिलाह्लद का। काशीखण्ड में भी यही कहा गया है कि मलयाचल से जब भगवान् सदाशिव काशी आये, तब इसी स्थान पर उतरे और यहीं देवताओं को उनकी वृषभ की ध्वजा का दर्शन हुआ। इसी कारण इस स्थान से सम्बद्ध शिवलिंग का नाम वृषभध्वज हुआ। यह काशी का गयातीर्थ है, जहाँ कपिलाह्लद ने फल्गु नदी का स्थान ग्रहण कर रखा है। इसका विस्तृत वर्णन कपिलाह्लद तीर्थ के सम्बन्ध में पहले किया जा चुका है। महाभारत के अनुसार, वृषभध्वज के दर्शन से राजसूय यज्ञ का फल मिलता है :

पितृतीर्थोपनिषदं रुद्रपादं विदुर्बुधाः।
ततोऽनन्तगुणं ज्ञेयं वृषध्वजमिदं प्रिये॥
(सनत्कुमारसंहिता, त्रि० से०, पृ० १७२)

कपिलाह्लदतीर्थेऽस्मिन्स्नात्वा संयतमानसः।
वृषध्वजमिमं दृष्ट्वा सर्वयज्ञफलं लभेत्॥
(का० खं०, त्रि० से०, पृ० १७३; कृ० क० त०, पृ० ४६)

ततो वाराणसीं गत्वा देवमर्च्य वृषध्वजम्।
कपिलाह्लद उपस्पृश्य राजसूयफलं लभेत्॥
(महाभारत, त्रि० से०, पृ० १७३)

कपिलाह्लदनामानं ख्यातं सर्वसुरासुरैः।
तस्मिन् ह्लदे तु यः स्नानं कुर्याद्भक्तिपरायणः॥
वृषध्वजं च वैव दृष्ट्वा राजसूयफलं लभेत्।
(लिं० पु०, कृ० क० त०, पृ० १४५)

वृषभध्वज का मन्दिर वाराणसी-क्षेत्र से बाहर पड़ता है; क्योंकि वह वरणा नदी के उस पार है। फिर भी, वहाँ की यात्रा आवश्यक मानी गई है और वहाँ के माहात्म्य को पुराणकारों ने विशेष प्रकार का समर्थन दिया है :

सीमाबहिर्गतमपि ज्ञेयं तीर्थमिदं शुभम्।
मध्ये वाराणसिश्रेष्ठं मम सान्निध्यतो नरैः ॥ (का० खं०, ६२।८४)

इसीसे इस तीर्थ की महत्ता का परिचय मिल जाता है।

वाराणसी में अन्यान्य शैव क्षेत्रों के प्रतीकात्मक शिवलिंग

शिवपुराण में काशी के अतिरिक्त ६८ शैवतीर्थों का उल्लेख है। उन सभी के प्रतिनिधि रूप में शिवलिंगों का वाराणसी में उद्भव हुआ था, ऐसा काशीखण्ड में वर्णन है। इनमें से धरणी-वाराह तथा गणाध्यक्ष एवं गणाधिपति तथा गणों को छोड़कर ६५ तीर्थों के शिवलिंगों तथा भैरव-क्षेत्र से संहारभैरव का स्थान-निर्देश नीचे दिया जा रहा है :

१. स्थाणु-कुरुक्षेत्र से : लोलार्क के पश्चिम कुरुक्षेत्र के तालाब के पास। इनका एक स्थान मकान नं० बी० २।२४७ में भी कहा जाता है।

२. देवदेव-नैमिषारण्य से : ढुण्ढिराज के उत्तर, वर्त्तमान संन्यासी कॉलेज में ढुण्ढिराज गली में मकान नं० सी० के० ३७।१२ में इनके समीप ही ब्रह्मावर्त्त कूप।

३. महाबल-गोकर्णक्षेत्र से : साम्बादित्य के समीप। लुप्त।

४. शशिभूषण-प्रभासक्षेत्र से : ऋणमोचन के पूर्व, पापमोचनेश्वर नाम से प्रसिद्ध। वहीं पर पापमोचन नाम का प्रभास तीर्थ।

५. महाकाल-उज्जयिनी से : प्राचीन काल में ओंकारेश्वर के पूर्व। वर्त्तमान काल में १. वृद्धकाल के मन्दिर में तथा २. कालभैरव के समीप के ३२।२४ नम्बर के मकान में।

६. अयोगन्धेश्वर-पुष्कर से : प्राचीन स्थान मत्स्योदरी के उत्तर ओंकारेश्वर-क्षेत्र में। वर्त्तमान समय में भदैनी के दक्षिण पुष्कर तालाब के निकट।

७. महानादेश्वर-अट्टहास-क्षेत्र से : त्रिलोचन के उत्तर, आदिमहादेव के मन्दिर में वर्त्तमान।

८. महोत्कटेश्वर-मरुत्कोट-क्षेत्र से : कामेश्वर के उत्तर उसी मन्दिर के घेरे में वर्त्तमान।

९. महाव्रतलिंग, महेन्द्र-क्षेत्र से : स्कन्देश्वर के समीप। आदिमहादेव के पश्चिम। लुप्त।

१०. विमलेश्वर-विश्वस्थान-क्षेत्र से : स्वर्लीनेश्वर के पश्चिम, नीलकण्ठ नाम से प्रसिद्ध। मकान नं० ए० १०।४७।

११. महादेव-वृन्दारक-क्षेत्र से : हिरण्यगर्भ तीर्थ के पश्चिम। आदिमहादेव के नाम से प्रसिद्ध।

१२. पितामहेश्वर-गयाक्षेत्र से : धर्मेश्वर के समीप। लुप्त।

१३.	शूलटंकेश्वर, प्रयाग से	: निर्वाण-मण्डप के दक्षिण, प्राचीन स्थान ज्ञानवापी के नैऋत्यकोण में पीपल के नीचे। अब दशाश्वमेध घाट पर वर्त्तमान।
१४.	महातेजोलिंग, शंकुकर्ण-क्षेत्र से	: विनायकेश्वर के पूर्व। लुप्त।
१५.	महायोगीश्वर, रुद्रकोटि से	: पार्वतीश्वर के समीप रुद्रस्थली में। लुप्त।
१६.	कृत्तिवास, एकाम्बर-क्षेत्र से	: कृत्तिवासेश्वर प्रसिद्ध। मकान नं० के० ४६/२३।
१७.	चण्डीश्वर, मरुजांगल क्षेत्र से	: पाशपाणि गणेश के पास, सदर बाजार में।
१८.	नीलकण्ठ, कालंजर-क्षेत्र से	: दन्तकूट गणेश के पास, कृमिकुण्ड के उत्तर। मकान नं० बी० १०/३२।
१९.	विजयलिंग, कश्मीर से	: शालकटंकट विनायक के पूर्व। मड़ुआडीह में।
२०.	ऊर्ध्वरेता, त्रिदण्डा-क्षेत्र से	: कूष्माण्डविनायक के पास, फुलवरिया गाँव में वर्त्तमान।
२१.	श्रीकण्ठलिंग, मण्डलेश्वर क्षेत्र से	: मण्डविनायक के उत्तर लक्ष्मींकुण्ड पर। मकान नं० डी० ५२/३८ में।
२२.	कपर्दीश्वर, छागलाण्डतीर्थ से	: पिशाचमोचन पर।
२३.	सूक्ष्मेश्वर, आम्रातकेश्वर-क्षेत्र से	: विकटद्विज विनायक के पास। धूपचण्डी में मकान नं० जे० १२/१३४ में।
२४.	जयन्तेश्वर, मधुकेश्वर-क्षेत्र से	: लम्बोदर विनायक के समीप। लालीघाट पर वर्त्तमान।
२५.	त्रिपुरान्तक, श्रीशैल से	: विश्वेश्वर के पश्चिम, सिगरा में टीले के ऊपर।
२६.	कुक्कुटेश्वर, सौम्यस्थान से	: वक्रतुण्ड विनायक के समीप। चौसट्ठी घाट के पास। मकान नं० डी० २०/१८ में।
२७.	त्रिशूली, जालेश्वर-क्षेत्र से	: कूटदन्त विनायक के समीप। कृमिकुण्ड पर। लुप्त।
२८.	जटीदेव, रामेश्वर-क्षेत्र से	: एकदन्त विनायक के उत्तर। वंगाली टोला में मकान नं० डी० ३२/११७ के द्वार पर पातालेश्वर नाम से प्रसिद्ध।
२९.	त्र्यम्बक, त्रिसन्ध्य-क्षेत्र से	: त्रिमुख गणेश के पूर्व। बड़ादेव मुहल्ले में त्रिलोकनाथ के नाम से प्रसिद्ध, पुरुषोत्तम भगवान् के मन्दिर में। मकान नं० डी० ३८/२१ में।
३०.	हरेश्वर, हरिश्चन्द्र-क्षेत्र से	: हरिश्चन्द्रेश्वर के सम्मुख। लुप्त।
३१.	शर्व, मध्यमेश्वर-क्षेत्र से	: चतुर्वेदेश्वर के समीप। लुप्त।
३२.	महालिंग, स्थलेश्वर-क्षेत्र से	: यज्ञेश्वर लिंग के पास। लुप्त।
३३.	सहस्राक्षेश्वर, सुवर्ण-क्षेत्र से	: शैलेश्वर के दक्षिण। लुप्त।
३४.	हर्षितेश्वर, हर्षित-क्षेत्र से	: मन्त्रेश्वर के समीप। लुप्त।
३५.	रुद्र, रुद्रमहालय से	: त्रिपुरेश्वर के समीप। त्रिपुराभैरवी के निकट। मकान नं० डी० ५/२१ में।
३६.	वृषेश्वर, वृषभध्वज-क्षेत्र से	: बाणेश्वर के समीप, स्वर्लीनेश्वर के उत्तर। लुप्त।
३७.	ईशानेश्वर, केदार-क्षेत्र से	: प्रह्लादकेशव के पश्चिम। दानेश्वर नाम से प्रसिद्ध।

३८. संहारभैरव, भैरवक्षेत्र से : खर्वविनायक के पूर्व। इनकी मूर्त्ति प्राचीन काल में राजघाट के कोट में थी, अब पाटन दरवाजे के समीप मकान नं० ए० १।८३ में वर्त्तमान है।

३९. उग्रलिंग, कनखल से : अर्कविनायक के पूर्व। लोलार्क के पूर्व गंगातट पर वर्त्तमान।

४०. भवेश्वर, वस्त्रापथ से : भीमचण्डी के समीप। वहीं वर्त्तमान।

४१. दण्डीश्वर, देवदारुवन से : देहलिविनायक के पूर्व। वहीं वर्त्तमान।

४२. भद्रकर्णेश्वर, भद्रकर्ण ह्रद से : भद्रकर्ण ह्रद-सहित उद्दण्डविनायक के पूर्व। भुइली गाँव में।

४३. शंकर, हरिश्चन्द्र-क्षेत्र से : ज्येष्ठेश्वर के समीप। लुप्त।

४४. काललिंग, यमलिंगतीर्थ से : कलशेश्वर नाम से चन्द्रेश्वर के पश्चिम। मकान नं० सी० के० ७।१०१ में।

४५. पशुपति, नेपाल से : पशुपतीश्वर प्रसिद्ध। मकान नं० सी० के० १३।६६।

४६. कपालीश्वर, करवीरक तीर्थ से : कपालमोचन तीर्थ पर। लुप्त।

४७. उमापति, देविका-क्षेत्र से : पशुपति के पूर्व। लुप्त।

४८. दीप्तेश्वर, महेश्वर-क्षेत्र से : उमापति के समीप। लुप्त।

४९. आचार्य नकुलीश्वर, कायावरोहण तीर्थ से : महादेव के दक्षिण। यह आचार्य लकुलीश्वर हैं, जिनकी आधुनिक मूर्त्ति ललिताघाट के समीप नेपालपशुपति के मन्दिर में है। मकान नं० डी० १।६७।

५०. अमरेश्वर, गंगासागर से : लोलार्क के समीप वर्त्तमान। मकान नं० बी २।२०।

५१. भीमेश्वर, सप्तगोदावरी तीर्थ से : नकुलीश्वर के सम्मुख। काशी-करवत में काशी के द्वादश लिंगों में इनको भीमशंकर माना जाता है। मकान नं० सी० के० ३१।१२।

५२. भस्मगात्रेश्वर, भूतेश्वर से : भीमेश्वर के दक्षिण। मकान नं० सी० के० ३१।१५।

५३. स्वयम्भू, नकुलीश्वर-क्षेत्र से : महालक्ष्मीश्वर के सम्मुख। रामकुण्ड के समीप। मकान नं० डी० ५४।११४ के बाहर।

५४. विरूपाक्ष, हेमकूट-क्षेत्र से : महेश्वर के दक्षिण। विश्वनाथजी के मन्दिर में शनैश्चरेश्वर के पूर्व का बड़ा शिवलिंग।

५५. हिमस्थेश्वर, गंगाद्वार (हरिद्वार) से : ब्रह्मनाल के पश्चिम। लुप्त।

५६. भूर्भुवलिंग, गन्धमादन पर्वत से : गणाधिप के पूर्व। लुप्त।

५७. हाटकेश्वर, पातालभोगवती नगरी से : ईशानेश्वर से पूर्व। अब हड़हासराय के समीप पुरानी गुदड़ी में।

५८. तारकेश्वर, आकाश से : ज्ञानवापी के पूर्व। गौरीशंकर के नीचे। लिंग लुप्त।

५९. किरातेश्वर : किरात देश से : भारभूतेश्वर के समीप। मकान नं० सी० के० ५२।१५।

६०. मरुकेश्वर, लंकापुरी से : नैऋतेश्वर नाम से। पुष्पदन्तेश्वर के समीप।

६१. जललिंग, स्थलक्षेत्र से : गंगाजी के मध्य में। जलशायी घाट के सामने गंगाजी में। इसी कारण इस घाट का नाम जलशायी घाट है। मणिकर्णिका और श्मशान के बीच में यह घाट है।

	चिता से संगृहीत शव का अधजला भाग, जो रुद्रांश कहलाता है, नाव से ले जाकर जलशायी लिंग पर चढ़ाने की परिपाटी है।
६२. श्रेष्ठलिंग, कोटीश्वर-क्षेत्र से :	ज्येष्ठेश्वर के पश्चिम। लुप्त।
६३. अनलेश्वर, वडवास्य-क्षेत्र से :	नलेश्वर के समीप। लुप्त।
६४. त्रिलोचन, विरजतीर्थ से :	पिलप्पिला तीर्थ पर। त्रिलोचन महादेव प्रसिद्ध। मकान नं० ए० २।८०।
६५. ओंकारेश्वर, अमरकण्टक से :	ओंकारेश्वर प्रसिद्ध। कोइलाबाजार के पास पठानी टोला में, मकान नं० ए० ३३।२३ में।

यह नामावली तथा स्थान-निर्देश काशीखण्ड के अनुसार है और जैसा ऊपर के विवरण से स्पष्ट है, इनमें से केवल ४५ की ही वर्त्तमान स्थिति का पता चलता है। अन्य २० का अब कोई पता नहीं लगता। इनमें से बहुत-से तो लुप्त हो गये और बहुतों के नाम जनमानस भूल गया।

मत्स्यपुराण में इस प्रकार के बाहर के तीर्थों के प्रतीक २१ शिवतीर्थों का उल्लेख है। इस सूची में दिये गये सभी स्थानों के नाम काशीखण्ड की सूची में मिलते हैं, यद्यपि नामों में कुछ रूपान्तर भी है। काशीखण्ड की सूची में क्रमसंख्या ४०, १५, ३, १५, ३३, ५०, ५, ४९, १४, ३२, ३० तथा ४३, २३, २७, २५, ३५, ३७, तथा ३८ देखने से इनका दूसरा नाम मिलेगा। कृमिचण्डेश्वर नाम के किसी शिवलिंग का उल्लेख मत्स्यपुराण के अतिरिक्त कहीं नहीं मिला, यद्यपि दृमिचण्डेश्वर का नाम वहाँ है। सम्भव है कि लिपि-प्रमाद के कारण दृमि का कृमि हो गया हो। लिंगपुराण के अनुसार आम्नातकेश्वर नाम का एक शिवलिंग भी वाराणसी में था। अग्नीश्वर (वर्त्तमान योगेश्वर) के पूर्व में उसका स्थान-निर्देश वहाँ दिया हुआ है। मकान नम्बर जे० ६।८४ में सिद्धेश्वर के सामने का प्राचीन शिवलिंग आम्नातकेश्वर ही है।

अग्निपुराण में भी इन्हीं में से सात के नाम मिलते हैं। वहाँ भी लिपि-प्रमाद से कुछ नामान्तर हो गये हैं: यथा जालेश्वर का जप्येश्वर तथा कृमिचण्डेश्वर का भृगुश्चण्डेश्वर। इस सूची में एक और भी भेद है। महाभैरव के स्थान पर अविमुक्तेश्वर का नाम है, परन्तु इसका एक कारण यह भी हो सकता है कि वहाँ वाराणसी के प्रधान (गुह्य) शिवपीठों का उल्लेख है, जबकि मत्स्यपुराण में केवल यही बात कही गई है कि ये सभी शिवप्रधानतीर्थ इसी कारण पवित्र माने जाते हैं कि वे अविमुक्त क्षेत्र में भगवान् सदाशिव के सान्निध्य में सतत वर्त्तमान रहते हैं।

ऊपर दी हुई नामावलियों में से कलशेश्वर की गुप्तकालीन मुद्रा भी राजघाट की खुदाई में मिली है। वाराणसी के अन्य १२ शिवस्थानों की भी मुद्राएँ निकली हैं, जिनसे यह जान पड़ता है कि इन मन्दिरों में किसी प्रकार के मठ थे, जिनके द्वारा इनका प्रवन्ध तथा पूजन-व्यवस्था होती थी:

हरिश्चन्द्रं परं गुह्यं गुह्यमाम्नातकेश्वरम्।
जप्येश्वरं परं गुह्यं गुह्यं श्रीपर्वतं तथा॥

महालयं परं गुह्यं भृगुश्चण्डेश्वरं तथा।
केदारं परमं गुह्यमष्टौ सन्त्यविमुक्तके।
गह्यानां परमं गुह्यमविमुक्तं परं मम॥
(अग्निपुराण, ११२।३-५)

वस्त्रप्रदं रुद्रकोटिं सिद्धेश्वरमहालयम्।
गोकर्णं रुद्रकर्णं च सुवर्णाक्षं तथैव च॥
अमरं च महाकालं तथा कायावरोहणम्।
एतानि हि पवित्राणि सान्निध्यात्सन्ध्ययोर्द्वयोः॥
कालञ्जरवनं चैव शङ्कुकर्णस्थलेश्वरम्।
एतानि च पवित्राणि सान्निध्याद्धि मम प्रिये॥
अविमुक्ते वरारोहे त्रिसन्ध्यं नात्र संशयः।
हरिश्चन्द्रं परं गुह्यं गुह्यमाम्रातकेश्वरम्॥
जालेश्वरं परं गुह्यं गुह्यं श्रीपर्वतं तथा।
महालयं तथा गुह्यं कृमिचण्डेश्वरं शुभम्॥
गुह्यातिगुह्यं केदारं महाभैरवमेव च।
अष्टावेतानि स्थानानि सान्निध्याद्धि मम प्रिये॥
अविमुक्ते वरारोहे त्रिसन्ध्यं नात्रसंशयः।
(म० पु०, १८१।२५-३०)

शिवगणों के द्वारा स्थापित शिवलिंग

जैसा इस अध्याय के प्रारम्भ में कहा जा चुका है, वाराणसी में शिवगणों द्वारा स्थापित चालीस शिवलिंगों का उल्लेख काशीखण्ड में मिलता है। इनमें से अब कुछ का ही पता लगता है। अन्य सभी या तो लुप्त हो गये या जनमानस उनको भूल गया। इनका पूरा विवरण नीचे दिया जा रहा है:

१. शंकुकर्ण द्वारा स्थापित शंकुकर्णेश्वर : विश्वेश्वर के वायव्य कोण में। इस समय शंखुधारा पर।
२. महाकाल " " महाकालेश्वर : ज्ञानवापी के आग्नेय कोण के पीपल के स्थान पर यह शिवलिंग था। अब लुप्त। इसकी पुनः प्रतिष्ठा विश्वनाथजी के घेरे में वैकुण्ठेश्वर के पश्चिम के मन्दिर में हुई। वहाँ का बड़ा शिवलिंग यही है।
३. घण्टाकर्ण " " घण्टाकर्णेश्वर : घण्टाकर्ण कुण्ड के पास। वर्तमान कर्णघण्टा सरोवर के समीप। कण्ठेश्वर नाम से पुनः प्रतिष्ठित।
४. महोदर " " महोदरेश्वर : घण्टाकर्णेश्वर के पूर्व। लुप्त।
५. सोमनन्दी " " सोमनन्दीश्वर : नन्दिषेणेश्वर के दक्षिण वरणा-तट पर। लुप्त।
६. नन्दिषेण " " नन्दिषेणेश्वर : सोमनन्दीश्वर के उत्तर वरणा-तट पर। लुप्त।
७. कालगण " " कालेश्वर : गंगा के वायव्य कोण में। अज्ञात।

८.	पिंगल	द्वारा स्थापित	पिंगलेश्वर	: कालेश्वर के उत्तर। अज्ञात।
९.	कुक्कुट	" "	कुक्कुटेश्वर	: ज्येष्ठावापी के समीप। लुप्त।
१०.	कुण्डोदर	" "	कुण्डोदरेश्वर	: लोलार्क के समीप। वहीं पर वर्त्तमान, परन्तु अब बालू के नीचे दवा हुआ अस्सी घाट पर।
११.	मयूर	" "	मयूरेश्वर	: असी नदी के तट पर कुण्डोदरेश्वर के पश्चिम। मकान न०बी १/१७४, संगमेश्वर नाम से प्रसिद्ध।
१२.	वाण	" "	वाणेश्वर	: मयूरेश्वर के पश्चिम। संगमेश्वर के मन्दिर में। मकान न० वी० १/१७७।
१३.	गोकर्ण	" "	गोकर्णेश्वर	: अन्तर्गृह के पश्चिम द्वार पर। गोकर्ण प्रसिद्ध, कोदई की चौकी के पास। मकान न० डी० ५०/३४ ए० के समीप।
१४.	तारक	" "	तारकेश्वर	: मणिकर्णिका-तट पर प्रसिद्ध।
१५.	तिलपर्ण	" "	तिलपर्णेश्वर	: दुर्गाजी के मन्दिर में, जहाँ बलि चढ़ती है।
१६.	स्थूलकर्ण	" "	स्थूलकर्णेश्वर	: दृमिचण्डेश्वर के पूर्व। लुप्त।
१७.	दृमिचण्ड	" "	दृमिचण्डेश्वर	: जैतपुरा में। मल्लू हलवाई के शिवालय में। मकान न० जे० ११/१४८ में।
१८.	प्रभामय	" "	प्रभामयेश्वर	: स्थूलकर्णेश्वर के पश्चिम। लुप्त।
१९.	सुकेश	" "	सुकेशेश्वर	: हरिकेश वन में। लुप्त।
२०.	विन्दति	" "	विन्दतीश्वर	: भीमचण्डी के समीप। अज्ञात।
२१.	छागल	" "	छागलेश्वर	: पित्रीश्वर के निकट। पितरकुण्ड पर।
२२.	कपर्दी	" "	कपर्दीश्वर	: पित्रीश्वर के उत्तर। पिशाचमोचन पर।
२३.	पिंगलाक्ष	" "	पिंगलाक्षेश	: कपर्दीश्वर के उत्तर। पिशाचमोचन पर पिंगल के नाम से।
२४.	वीरभद्र	" "	वीरभद्रेश्वर	: अविमुक्तेश्वर के पश्चिम। लुप्त।
२५.	किरात	" "	किरातेश्वर	: केदारेश्वर के दक्षिण। जयन्तेश्वर के समीप लाली-घाट पर।
२६.	चतुर्मुख	" "	चतुर्मुखेश्वर	: वृद्धकाल के समीप। वृद्धकाल के घेरे में।
२७.	निकुम्भ	" "	निकुम्भेश्वर	: कुबेरेश्वर के समीप। विश्वनाथजी के घेरे में वायव्य कोण के मन्दिर में गड़हे में।
२८.	पंचाक्ष	" "	पंचाक्षेश्वर	: महादेव के दक्षिण। रुद्राक्षेश्वर नाम से प्रसिद्ध। मकान नं० ए० २/५६।
२९.	भारभूत	" "	भारभूतेश्वर	: राजादरवाजे के समीप मछरहट्टा में। मकान नं० सी० के० ५४/४४ के पूर्व।
३०.	त्र्यक्ष	" "	त्र्यक्षेश्वर	: त्रिलोचन के समीप। लुप्त।
३१.	क्षेमक	" "	क्षेमकेश्वर	: क्षेमेश्वर घाट पर। मकान नं० वी० १४/१२।
३२.	लांगलि	" "	लांगलीश्वर	: विश्वेश्वर के उत्तर, खोवाबाजार में मकान नं० सी० के० २८/४ में।

३३. सुमुख द्वारा स्थापित सुमुखेश्वर : त्रिलोचन के समीप। मकान नं० ए० ३/८७ में पादोदक कूप के पास।
३४. आषाढि " " आषाढीश्वर : १. काशीपुरा में रानी बेतिया के मन्दिर के समीप। २. राजादरवाजे में मकान नं० सी० के० ५४/२४ में।
३५. हुण्डन " " हुण्डनेश्वर : वरणा-तट पर शैलेश्वर के समीप मढ़िया घाट पर।
३६. मुण्डन " " मुण्डनेश्वर : हुण्डनेश्वर के समीप। शैलेश्वर के निकट।
३७. नन्दी " " नन्दिकेश्वर : ज्ञानवापी के उत्तर। लुप्त।
३८. नैगमेय " " नैगमेयेश्वर : आदिमहादेव के पश्चिम। लुप्त।
३९. शाख " " शाखेश्वर : वहीं पर। लुप्त।
४०. विशाख " " विशाखेश्वर : वहीं पर। लुप्त।
४१. भृङ्गी " " भृङ्गीश्वर : वृद्धकाल के समीप। लुप्त।
४२. चण्ड " " चण्डेश्वर : ओंकार-क्षेत्र में। लुप्त।
४३. अट्टहास " " अट्टहासेश्वर : वशिष्ठेश्वर के ईशान कोण में। यमतीर्थ के उत्तर। लुप्त।

ये शिवलिंग वाराणसी-क्षेत्र में स्थित हैं। इनके अतिरिक्त वाराणसी की सीमा के बाहर वरणा के पार कपिलधारा के समीप—४४ छागवक्त्रगण द्वारा स्थापित छागवक्त्रेश्वर, तथा असी के पार कन्दवा गाँव में—४५ कर्दम गण द्वारा स्थापित कर्दमेश्वर, जहाँ पंचक्रोशी यात्रा का पहला निवासस्थान है। ये दोनों भी उल्लेखनीय हैं।

ऋषियों द्वारा स्थापित शिवलिंग

जैसा पहले कहा जा चुका है, वाराणसी में ऋषियों द्वारा स्थापित ४८ शिवलिंगों का उल्लेख मिलता है, जिनका स्थान-निर्देश नीचे दिया जाता है :

१. अगस्तीश्वर : अगस्त्यकुण्डा महल्ले में मकान नं० डी ३६/११ में।
२. अत्रीश्वर : गोकर्णेश्वर के समीप। लुप्त। अब नारदघाट पर मकान नं० डी० २५/११ में।
३. अंगिरसेश्वर : हरिकेश-वन में। जंगमवाड़ी में। मकान नं० डी० ३५/७७।
४. आनुसूर्येश्वर : गोप्रेक्षेश्वर के उत्तर। लुप्त। अब नारदघाट पर मकान नं० डी० २५/११ में।
५. उपमन्वीश्वर : मंगलागौरी के पश्चिम। अज्ञात।
६. उतथ्यवामदेवेश्वर: कम्बलाश्वतरेश्वर के उत्तर। अज्ञात।
७. ऋष्यश्रृंगेश्वर : गौतमेश्वर के नैऋत्य कोण में। लक्ष्मीकुण्ड पर कालीमठ में। वहीं श्रृंगी ऋषि की मूर्त्ति भी है। मकान नं० डी० ५२/३५ में।
८. औतथ्येश्वर : ज्येष्ठस्थान। हरतीरथ के समीप। लुप्त।
९. कामेश्वर तथा दुर्वासेश्वर : (दुर्वासा ऋषि द्वारा स्थापित) त्रिलोचन के पश्चिम कामेश्वर-मन्दिर में प्रसिद्ध।
१०. क्रत्वीश्वर : वरणा के उस पार ककरहा घाट के सामने।
११. कण्वेश्वर : ज्येष्ठस्थान में। लुप्त।

१२. कात्यायनेश्वर : हरतीरथ के समीप । लुप्त ।
१३. कणादेश्वर : वहीं लुप्त ।
१४. कश्यपेश्वर : हरिकेश-वन में, जंगमबाड़ी में सड़क पर। मकान नं० डी० ३५/७७।
१५. गोमिलेश्वर : पशुपतीश्वर के दक्षिण । अज्ञात ।
१६. गौतमेश्वर : गोदौलिया पर काशिराज के मन्दिर के पीछे। मकान नं० डी० ३७/३३ ।
१७. च्यवनेश्वर (प्रथम) : ज्येष्ठस्थान में। हरतीरथ के समीप । लुप्त ।
१८. च्यवनेश्वर (द्वितीय) : कामेश्वर के पूर्व । लुप्त ।
१९. जैगीषव्येश्वर : यागेश्वर के दक्षिण ईश्वरगंगी पर। मकान नं० जे० ६६/३ ।
२०. जाबालीश्वर : ज्येष्ठस्थान में । लुप्त ।
२१. जमदग्नीश्वर : कालभैरव के समीप मकान नं० के० ३२/५७ में ।
२२. जैमिनीश्वर : चर्चिका देवी के समीप। अज्ञात।
२३. दक्षेश्वर : वृद्धकाल के घेरे में। मकान नं० के० ५२/३९।
२४. दधीचीश्वर : गोप्रेक्षेश्वर के दक्षिण। वर्तमान केदारेश्वर के समीप।
२५. दुर्वासेश्वर (द्वितीय) : आषाढीश्वर के पूर्व भारभूतेश्वर के उत्तर। रानी बेतिया के शिवालय के पास आषाढीश्वर में।
२६. नारदेश्वर : राजघाट के उत्तर । वर्तमान काल में नारदघाट पर मकान नं० डी० २५/१२ में।
२७. पुलहेश्वर : स्वर्गद्वार के पश्चिम। विश्वनाथसिंह के राममन्दिर के चबूतरे पर।
२८. पुलस्त्येश्वर : वहीं। मकान नं० सी० के० ३३/४३ के चबूतरे पर छोटे मन्दिर में।
२९. पाराशरेश्वर : ज्येष्ठस्थान। अब लोलार्क के पास, मकान नं० बी० २/२१ में।
३०. भारद्वाजेश्वर : ज्येष्ठस्थान । लुप्त ।
३१. भृंगेरायतन : ओंकारक्षेत्र । लुप्त ।
३२. मरीचीश्वर : चोरुआ तालाब के पास। लुप्त ।
३३. माण्डव्येश्वर : ज्येष्ठस्थान। लुप्त ।
३४. मित्रावरुणलिंग : अट्टहासेश्वर के पश्चिम तथा यमतीर्थ के उत्तर। अज्ञात।
३५. मन्वीश्वर : वैद्यनाथ के नैऋत्य कोण में । लुप्त।
३६. याज्ञवल्क्येश्वर : हरिश्चन्द्र-मण्डप के सामने, सीमाविनायक की मढ़ी में।
३७. लोमशेश्वर : मकान नं० के० ५२/३९, वृद्धकाल में ।
३८. व्यासेश्वर : घण्टाकर्ण सर के तट पर। कर्णघण्टा तालाब का पानी मन्दिर में भर जाने से दर्शन असम्भव, शिखर का दर्शन होता है।
३९-४०. वशिष्ठेश्वर : १. वरणासंगम के पूर्व वरणा पार। २. वशिष्ठवामदेव-मन्दिर में। ३. ललिताघाट। लुप्त।

४१. वामदेवेश्वर : ज्येष्ठस्थान में। हरतीरथ के समीप। लुप्त।
४२ वाल्मीकीश्वर : त्रिलोचन-मन्दिर में। मकान नं० ए० २/८०।
४३. शाण्डिलेश्वर : ओंकारक्षेत्र। लुप्त।
४४. शौनकेश्वर : जम्बुकेश्वर के उत्तर। लुप्त।
४५. सनकेश्वर : कामकुण्ड के पूर्व, च्यवनेश्वर के समीप। लुप्त।
४६. सनन्दनेश्वर : सनत्कुमारेश्वर के उत्तर। लुप्त।
४७. सनत्कुमारेश्वर : सनकेश्वर के पश्चिम। लुप्त।
४८. हारीतेश्वर : ज्येष्ठस्थान में हरतीरथ के समीप। लुप्त।

ग्रहों द्वारा स्थापित शिवलिंग

राहु तथा केतु को छोड़कर अन्य सातों ग्रहों द्वारा स्थापित शिवलिंगों का वर्णन पुराणों में मिलता है। उनका स्थान-निर्देश नीचे दिया जाता है :

१. सूर्य द्वारा स्थापित गभस्तीश्वर तथा मंगलागौरी : प्रसिद्ध। म० नं० के० २४/३४ में।
२. चन्द्र द्वारा स्थापित चन्द्रेश्वर : सिद्धेश्वरी-मन्दिर में प्रसिद्ध। मकान नं० के० ७/१२४ में।
३. मंगल द्वारा स्थापित अंगारेश्वर : वर्त्तमान समय में आत्मावीरेश्वर के घेरे में, दालान में बुधेश्वर के पास।
४. वुध द्वारा स्थापित बुधेश्वर : चन्द्रेश्वर के पूर्व। आत्मावीरेश्वर के घेरे में, दालान में अंगारेश्वर के पास।
५. गुरु वृहस्पति द्वारा स्थापित वृहस्पतीश्वर : लिंगपुराण के अनुसार इनका स्थान ओंकार-क्षेत्र में रुद्रकुण्ड (सुग्गी गड़ही) के पश्चिम में था, परन्तु काशीखण्ड में इनकी स्थिति चन्द्रेश्वर के दक्षिण तथा वीरेश्वर के नैॠत्य कोण में बताई गई है। वहीं पर वर्त्तमान मन्दिर है। मकान नं० सी० के० ७/१३३।
६. शुक्र द्वारा स्थापित शुक्रेश्वर : कालिकागली में शुक्रकूप तथा उसीके समीप शुक्रेश्वर का मन्दिर है। म० नं० डी० ८/३०।
७. शनि द्वारा स्थापित शनैश्चरेश्वर : विश्वनाथजी के घेरे में मन्दिर के नैॠत्य कोण पर पीतल की जलहरी में।

ग्रह-बाधा की शान्ति के लिए इन शिवलिंगों की उपासना इनके अपने-अपने दिनों होती है। राहु तथा केतु के शिवलिंगों का पुराणों में उल्लेख नहीं मिलता, परन्तु आत्मावीरेश्वर के घेरे में दो शिवलिंगों की उपासना राह्वीश्वर तथा केत्वीश्वर के रूप में प्रचलित है।

स्वयम्भू लिंग

स्पष्ट रूप से कहे हुए स्वयम्भू लिंगों की संख्या वाराणसी में १२ है। इनके अतिरिक्त एक-दो और भी हो सकते हैं, जिनका स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता।

१. अविमुक्तेश्वर : १. विश्वनाथ के घेरे में आग्नेय कोण के मन्दिर में; २. ज्ञानवापी मस्जिद की सीढ़ियों के सामने खिड़की में।

२. ओंकारेश्वर : कोइलाबाजार पठानी टोला में। प्रसिद्ध। मकान नं० ए० ३३/२३।
३. ज्येष्ठेश्वर : सप्तसागर में कर्णघण्टा के समीप। मकान नं० के० ६२/१४४।
४. मध्यमेश्वर : प्रसिद्ध। मैदागिन के उत्तर। मकान नं० के० ५३/६३ के सामने।
५. महादेव : आदिमहादेव, त्रिलोचन के समीप प्रसिद्ध।
६. विश्वेश्वर : प्रसिद्ध।
७. वृषभध्वज : कपिलधारा में।
८. केदारेश्वर : प्रसिद्ध।
९. कपर्दीश्वर : पिशाचमोचन पर। मकान नं० सी० २१/४०।
१०. स्वयम्भू लिंग : महालक्ष्मीश्वर के समीप। मकान नं० डी० ५४/११४ के बाहर।
११. भूर्भुवलिंग : गणाधिप के पूर्व। लुप्त।
१२. वीरेश्वर : आत्मावीरेश्वर प्रसिद्ध।

वाराणसी में द्वादश ज्योतिर्लिंगों के प्रतीक

१. सोमेश्वर : मानमन्दिर मुहल्ले में मकान नं० डी० १६/३४ के समीप।
२. मल्लिकार्जुन : त्रिपुरान्तकेश्वर, सिगरा में टीले पर। मकान नं० डी० ५९/९५।
३. महाकालेश्वर : वृद्धकाल के घेरे में। मकान नं० के० ५२/३९।
४. ओंकारेश्वर : प्रसिद्ध। ओंकारेश्वर मुहल्ले में। मकान नं० ए० ३३/२३।
५. वैद्यनाथ : कमच्छा मुहल्ले में वैजनत्था नाम से प्रसिद्ध।
६. भीमशंकर : भीमेश्वर, काशी-करवत में। मकान नं० सी० के० ३२/१२।
७. रामेश्वर : १. रामकुण्ड पर। २. सोमेश्वर-मन्दिर के पास, मानमन्दिर मुहल्ले में। ३. हनुमान घाट पर।
८. नागेश्वर : १. वृद्धकाल के घेरे में; २. भोंसला घाट के समीप मकान नं० सी० के० १/२१ से सटे हुए मन्दिर में; ३. महथा घाट पर। यथार्थतः, वृद्धकाल के मन्दिर का शिवलिंग ही ज्योतिर्लिंग का प्रतीक है। 'नागेशदारुकावने' दारुवन वृद्धकाल के समीप ही था: 'इदंदारुवनस्थानम्'।
९. विश्वेश्वर : प्रसिद्ध।
१०. त्र्यम्बकेश्वर : बड़ादेव मुहल्ले में पुरुषोत्तम भगवान् के मन्दिर में। मकान नं० डी० ३८/२१, त्रिलोकनाथ के नाम से प्रसिद्ध।
११. केदारेश्वर : प्रसिद्ध।
१२. घुश्रणेश्वर या घुश्मेश्वर : बटुकभैरव के समीप।

वाराणसी-क्षेत्र के बाहर के शिवलिंग, जिनकी यात्रा होती है

वाराणसी-क्षेत्र के शिवायतनों का वर्णन समाप्त करने के पहले ऐसे दो शिवलिंगों का उल्लेख भी आवश्यक है, जो क्षेत्र के बाहर होते हुए भी उसी प्रकार वन्दनीय हैं, जिस प्रकार क्षेत्र के भीतर के देवी-देवता। इनमें से एक तो हैं वृषभध्वज, जिनका नामांकन प्रधान शिवालयों में पहले भी हो चुका है। ये कपिलधारा के समीप हैं और महाभारत में वाराणसी के शिवायतनों में केवल इन्हीं का नाम है, जिससे इनका माहात्म्य स्पष्ट है। दूसरे हैं व्यासेश्वर, जो अपने स्थापनकर्त्ता वेदव्यास नाम से अधिक प्रसिद्ध हैं। इनके दो

शिवलिंग गंगा के उस पार रामनगर क्षेत्र में हैं। पहला शिवलिंग रामनगर में महाराज काशिराज के किले में हैं। यही इनका आदिम स्थान है। सन् ११९४ ई० की तोड़फोड़ के बाद इनकी पुनः स्थापना समीप के ही एक गाँव में की गई, जहाँ वह शिवलिंग बाद की कई बार की तोड़फोड़ से किसी प्रकार बच गया। इस समय दोनों स्थानों की यात्रा होती है। माघ के महीने में 'वेदव्यास' का दर्शन शिष्ट परम्परा में परमावश्यक माना जाता रहा है। काशी को शाप देने के कारण विश्वेश्वर द्वारा वहाँ से निष्कासित होकर व्यास लोलार्क के आग्नेयकोण में गंगाजी के पूर्वीय तट पर स्थित हुए।

लोलार्कादग्निदिग्भागे स्वर्धुनीपूर्वरोधसि।
स्थितो ह्यद्यापि पश्येत्स: काशीप्रासादराजिकाम् ॥ (का० खं० ९६।२०१)

सातवाँ अध्याय

काशी तथा वाराणसी की यात्राएँ

जिस प्रकार समय-समय देवालयों के माहात्म्य में परिवर्त्तन होते रहे हैं, उसी प्रकार यात्रा-क्रम भी बराबर बदलता रहा है। इसके कई कारण थे। प्राचीन काल में काशी-क्षेत्र का जो स्वरूप था, उसमें निरन्तर परिवर्त्तन हो रहे थे तथा बहुत-से जलाशय तथा सरोवर उथले होते-होते प्राकृतिक कारणों से सूख गये। नगर की जनसंख्या निरन्तर बढ़ने तथा अन्य कारणों से नये-नये मोहाल बसते जा रहे थे, जिनके कारण तीर्थों के मार्ग बदलने पड़े। इसके बाद मुसलमानों के आक्रमण और अन्ततोगत्वा उनकी विजय से एक और कठिनाई उत्पन्न हुई। राजघाट के किले के आसपास जो नगर था, वह इस युद्ध में नष्ट-भ्रष्ट हो गया और वहाँ के निवासियों को अन्यत्र जाकर बसना पड़ा। साथ-ही-साथ मुसलमान शासकों के आवास नये-नये स्थानों पर बनते रहे और इस प्रकार नये-नये मुसलमानी मुहल्ले बसने लगे। जो तीर्थ इन स्थानों में पड़ गये, उनकी यात्रा असम्भव नहीं, तो कठिन तो अवश्य ही हो गई। जब कभी कोई दयालु शासक आया, तब कदाचित् कुछ सुविधा मिली, अन्यथा धार्मिक असहिष्णुता तथा अत्याचार सन् ११९७ ई० के बाद निरन्तर चलते रहे। बारम्बार मन्दिरों और देवालयों के टूटने का भी प्रभाव पड़ता रहा। इन सब कारणों से तीर्थयात्रा-क्रम में बड़े-बड़े परिवर्त्तन हुए, परन्तु यह सब होते हुए भी यात्राओं का प्राचीन ढाँचा अब भी जैसे-का-तैसा वर्त्तमान है, यद्यपि इसमें कहीं-कहीं भ्रम होने लगा है।

काशी में पचदेवपूजन की परम्परा सदैव ही रही है। केवल एक देवता का पूजन करनेवालों की संख्या प्रायः नगण्य ही दीख पड़ती है। तपस्वियों के अतिरिक्त प्रायः सभी लोग यहाँ पंचदेव-पूजन करते आये हैं। यह परम्परा तीर्थयात्राओं में भी स्पष्ट रूप से वर्त्तमान है।

यात्राओं में कुछ नैत्यिक, अर्थात् नित्य करनेवाली हैं और कुछ नैमित्तिक, अर्थात् विशेष अवसरों तथा पर्वों पर होती हैं। नित्य की यात्राओं में भी शारीरिक शक्ति तथा समय की उपलब्धि का ध्यान रखना पड़ता है और इस प्रकार छोटी-बड़ी सभी प्रकार की यात्राओं का वर्णन तथा उनका क्रम पुराणों और परम्पराओं में मिलते हैं। काशीवास करनेवाले लोग, जिनको धार्मिक कृत्यों तथा यात्राओं के लिए अधिक समय उपलब्ध था, बड़ी यात्राएँ करते थे। अन्य लोग छोटी यात्राओं में ही सन्तोष कर लेते थे। परन्तु, कोई-न-कोई यात्रा प्रतिदिन आवश्यक मानी जाती थी और धर्मप्राण काशीवासी उसको आज भी अनिवार्य मानते हैं। काशीखण्ड में कहा गया है कि :

न वन्ध्यं दिवसं कुर्याद्विना यात्रां क्वचित्कृती। (का० खं०, १००।१०१)

अर्थात्, ऐसा दिन कोई नहीं होना चाहिए, जिस दिन कोई भी यात्रा न की गई हो। स्वयं यात्रा न कर सके, तो प्रतिनिधि द्वारा कराने की भी व्यवस्था है और वह भी सम्भव न हो, तो यात्रा के निष्क्रय-स्वरूप संकल्पपूर्वक जल-कुम्भ तथा मिष्टान्न-दान करने से भी काम चल सकता है। यहाँ यह विचार करने की बात है कि यात्रा पर इतना बल क्यों दिया गया है। यात्रा से पुण्यप्राप्ति तथा आचार-व्यवहार में उत्तमता प्राप्त होने के विषय में पहले ही विवेचना की जा चुकी है। नियमित एवं अनुशासित जीवन तीर्थवास तथा यात्राओं के लिए अनिवार्य है और सात्त्विक कालयापन से बुद्धि और विचारों में सात्त्विकता आती ही है। तीर्थ में रहकर तीर्थ के देवताओं की वन्दना से मनोविकार दूर होने में सहायता मिलती है और जीवन में सत् का सन्निवेश तथा असत् से निवृत्ति होने के अवसर आते हैं। ब्रह्मवैवर्त्तपुराण में पंचक्रोश-यात्रा के सम्बन्ध में जो नियम कहे गये हैं, उनपर दृष्टिपात करने से बात स्पष्ट हो जायगी। नियम इस प्रकार हैं : यात्राकाल में प्रतिग्रह, अर्थात् दान लेना, दूसरे का अन्न खाना, परस्त्री से अभिलाषपूर्वक सम्भाषण, परद्रव्य-ग्रहण, असत्य-भाषण, दुर्जनों का साथ, यह सब नहीं करना चाहिए। यथाशक्ति दान करना, भूखों को खिलाना तथा स्वार्थ से दूर रहना, मन को कुमार्गों में नहीं जाने देना, केवल सात्त्विक भोजन करना और वह भी एक ही बार, रागरंग तथा मादक द्रव्यों से बचना, पृथ्वी पर सोना एवं जूता पहनकर और छाता लगाकर नहीं चलना चाहिए इत्यादि। इस प्रकार की तपस्या की परम्परा में कालयापन करने से अन्तःकरण की शुद्धि अवश्य ही होती है और तीर्थों की अर्चना से उसकी परिपुष्टि स्वाभाविक ही है।

नित्य करनेवाली यात्राओं में निम्नांकित यात्राओं का वर्णन पुराणों में मिलता है और उनकी रूढि आज भी काशी के जनजीवन में वर्त्तमान है।

१. नित्य यात्रा अथवा अनुक्रम यात्रा।
२. अन्तर्गृह-यात्रा।
३. उत्तरदिक्-यात्रा (उत्तर मानस-यात्रा)
४. दक्षिणदिक्-यात्रा (दक्षिण मानस-यात्रा)।

इनके अतिरिक्त, एक तीर्थ से पंचतीर्थी यात्राओं तक का भी वर्णन है। एकायतन से चतुर्दश आयतन तक की और उनके संयोग से बयालीस आयतनों की यात्राओं का विधान है। इन यात्राओं के साथ-साथ विघ्नकर्त्ता विनायकों तथा क्षेत्र की चण्डिकाओं की यात्रा भी काशीवास में विघ्नों के निवारण के लिए कही गई है।

प्राचीनता की दृष्टि से विचार करने पर ऐसा जान पड़ता है कि बारहवीं शताब्दी ईसवी में निम्नांकित नैत्यिक यात्राओं का विशेष चलन था :

१. चतुर्दशायतन यात्रा;
२. अष्टायतन यात्रा;
३. पंचायतन यात्रा;
४. त्रिकण्टक यात्रा तथा
५. षडंग यात्रा।

इनके साथ ललिता (मंगला गौरी)-यात्रा तथा नवदुर्गा-यात्रा की भी प्रथा थी। चण्डिका-यात्रा और विघ्नकर्त्ता विनायकों की यात्रा भी आवश्यक समझी जाती थी, विशेषतः उन लोगों के लिए, जो काशीवास करना चाहते थे या तीर्थसंन्यास लेते थे। इन यात्राओं का संकेत तथा वर्णन 'कृत्यकल्पतरु' में उद्धृत पुराणों के वाक्यों से प्राप्त होता है। काशीखण्ड में इनका तथा कुछ अन्य यात्राओं का भी उल्लेख है। हम पहले कह चुके हैं कि काशीखण्ड में काशी का ही वर्णन है, अतः उसमें काशी के तीर्थों तथा तत्सम्बन्धी सभी बातों का अत्यन्त विस्तृत विवेचन किया गया है। छोटी-बड़ी सभी बातें बताई गई हैं। इसके विपरीत अन्य पुराणों में विशिष्ट तीर्थों तथा विषयों का ही वर्णन पाया जाता है। काशीखण्ड में भी प्रारम्भ में विस्तारपूर्वक वर्णन करने के बाद अन्तिम अध्यायों में उनके सारांश तथा समीक्षा के स्वरूप में विशिष्ट विषयों का वर्णन पुनः कर दिया गया है। इस प्रकार, यात्राओं के विषय में भी अन्तिम अध्याय में महत्त्वपूर्ण यात्राओं का उल्लेख है। इसमें भी ऊपर कही हुई नित्य यात्रा अथवा दैनन्दिनी यात्रा, विश्वेश्वरी यात्रा, दो प्रकार की चतुर्दश आयतन यात्रा, अष्टायतन यात्रा, एकादश लिंगयात्रा, नवगौरी-यात्रा, विघ्नेश-यात्रा, भैरव-यात्रा, रवियात्रा, चण्डीयात्रा, अन्तर्गृह-यात्रा, कुलस्तम्भ-यात्रा तथा एकायतन यात्रा का वर्णन है। इनमें से चतुर्दशायतन यात्रा, अष्टायतन यात्रा, नवगौरी-यात्रा, विघ्नेश-यात्रा, भैरव-यात्रा, रवियात्रा, चण्डीयात्रा, कुलस्तम्भ-यात्रा अपने-अपने समय पर होती हैं, परन्तु दैनन्दिनी तथा अन्तर्गृह-यात्रा नैत्यिक, अर्थात् नित्य करनेवाली हैं। एकादशायतन यात्रा के विषय में स्पष्ट कालनिर्देश न होने से उसको भी नैत्यिक ही मानना उचित प्रतीत होता है। यदि इस नित्य करनेवाली यात्रा में कोई असमर्थ हो, तो कम-से-कम एकायतन यात्रा, अर्थात् गंगास्नान तथा विश्वेश्वर-पूजन तो अवश्य ही करना चाहिए। विशेष अवसरों पर होनेवाली यात्राओं में से कुछ का उल्लेख ऊपर हो चुका है, परन्तु इनकी संख्या बहुत बड़ी है।

१. नित्ययात्रा :

ब्रह्मवैवर्त्तपुराण में इसका विधान यह है कि प्रातः काल उठकर ढुण्ढिराज, भवानी, शंकर, कालभैरव, दण्डपाणि, छप्पन विनायक, आदिकेशव तथा नवचण्डिकाओं को मानसिक प्रणाम करके नित्य कर्म में लगे। बाद में गंगास्नान, सन्ध्योपासन, तर्पण इत्यादि करके विश्वेश्वर का स्मरण करता हुआ पूजन-सामग्री लेकर नित्ययात्रा को निकले। सबसे पहले देवी के मण्डप में जाय और वहाँ भवानी का पूजन करे (भवानी की मूर्त्ति तथा भवानी-शंकर का शिवलिंग आजकल अन्नपूर्णा-मन्दिर से मिले हुए राम-मन्दिर में कालीजी और जगन्नाथजी के बीच में है)। पहले मुख्य यात्रा इन्हीं की होती थी, परन्तु अब अन्नपूर्णाजी की होती है। पूजन के पश्चात् आठ प्रदक्षिणा करे और स्तुति तथा वन्दना करने के बाद ढुण्ढिराज का पूजन करे। तत्पश्चात्, ज्ञानवापी की प्रदक्षिणा करके वहाँ स्नान करे और दण्डपाणि को प्रणाम करके मुक्तिमण्डप में स्थित देवताओं का पूजन करे (आदित्य, द्रौपदी, विष्णु, दण्डपाणि तथा महेश्वर ये मुक्तिमण्डप के पाँच देवता हैं)। इतना करने के बाद विश्वेश्वर के मन्दिर के भीतर जाय और उनका पूजन करे, तदनन्तर उनकी तीन प्रदक्षिणा अथवा मुक्तिमण्डप में उनको पन्द्रह प्रणाम करे। इसके बाद स्वेच्छानुसार अपने काम में लगे।

काशीखण्ड में इस यात्रा का दूसरा क्रम है और उसके दो भाग किये गये हैं। प्रथम भाग को दैनन्दिनी कहा है। इसके अनुसार पहले मुक्तिमण्डप के देवताओं और महेश्वर का पूजन करके ढुण्ढिराज की अर्चना करे और तब ज्ञानवापी में स्नान करके नन्दिकेश्वर, तारकेश्वर, महाकालेश्वर तथा पुनः दण्डपाणि इन पाँच तीर्थों की दैनन्दिनी पंचतीर्थ-यात्रा पूर्ण करे। तदुपरान्त, विश्वेश्वरी यात्रा करे। पद्मपुराण में तीसरा क्रम है कि प्रातःकाल गंगास्नान जहाँ चाहे, वहाँ करे, परन्तु मध्याह्न में मणिकर्णिका में स्नान करके विश्वेश्वर के दर्शनों को जाय और भवानी, ढुण्ढिराज, दण्डपाणि तथा भैरव का पूजन करे।

आजकल बहुधा लोग काशीखण्ड में बताये हुए क्रम से नित्ययात्रा करते हैं और दैनन्दिनी के बाद विश्वेश्वर तथा अन्नपूर्णा का दर्शन करके यात्रा समाप्त की जाती है। यह क्रम पिछले सौ वर्षों से इसी प्रकार होता रहा है, यह प्रमाणित है। परन्तु, एक हस्त-लिखित तालिका में इसका दूसरा स्वरूप देखने को मिला है। उसमें निम्नांकित क्रम लिखा है:

१. श्री विश्वेश्वर
२. ज्ञानमाधव
३. ढुण्ढिराज
४. दण्डपाणि
५. विश्वेश्वर के दक्षिण द्वार पर कालभैरव
६. भवानी
७. काशी देवी (ललिता घाट पर)
८. गुहांगेश्वर (सम्भवतः 'कृत्यकल्पतरु' के गुहेश्वर, जो कलशेश्वर के दक्षिण में थे।)
९. गंगा
१०. मणिकर्णिका

यह तालिका जिस कागज पर लिखी है, वह सन् १८३५ ईसवी का बना हुआ है। इस प्रकार यह क्रम भी सौ वर्ष पूर्व प्रचलित था, ऐसा मानना पड़ता है।

२. अन्तर्गृह-यात्रा :

काशी में दो अन्तर्गृह-यात्राएँ प्रचलित हैं—एक विश्वनाथजी की तथा दूसरी केदारेश्वर की। पहली का आधार काशीखण्ड है तथा दूसरी का ब्रह्मवैवर्त्तपुराण। यह नित्य करनेवाली यात्राएँ हैं: **अन्तर्गृहस्य यात्रा वै कर्त्तव्या प्रतिवासरम्।** (का० खं०, १००।७६)

(अ) **विश्वेश्वर की अन्तर्गृह-यात्रा :** यह यात्रा बहुत छोटी नहीं है, अतएव जो लोग सांसारिक प्रपंच से निवृत्त होकर काशीवास करते हैं, यह विशेषतः उनके लिए ही है। आजकल भी काशी में सैकड़ों व्यक्ति ऐसे हैं, जो यह यात्रा नित्य करते हैं और जो लोग बाहर से काशीयात्रा को आते हैं, उनके लिए तो यह यात्रा आवश्यक ही मानी जाती है। इसमें विश्वेश्वर के अन्तर्गृह की प्रदक्षिणा कई आवरणों में होती है और तदुपरान्त माहात्म्य-पूर्ण शिवायतनों, देवीपीठों तथा विनायकपीठों की एक क्रम से अर्चना होती है। यात्रा

प्रारम्भ करने के पूर्व विश्वेश्वर के समीप के पाँचों विनायकों तथा विश्वेश्वर का पूजन होता है और मुक्तिमण्डप में यात्रा का संकल्प करके मणिकर्णिका-स्नान से यात्रा प्रारम्भ होती है। मणिकर्णीश्वर से आरम्भ करके पहले पर्वतेश्वर तक ईशान कोण में जाना होता है और फिर वहाँ से लौटकर ललिताघाट, मीरघाट, दशाश्वमेधघाट होते हुए अगस्त्यकुण्डा, जंगमवाड़ी, कोदई चौकी, ध्रुवेश्वर, गोकर्ण, हड़हा, राजादरवाजा, लखी-चौतरा, पशुपतीश्वर, गोमठ, वीरेश्वरघाट, संकटा घाट, अग्नीश्वर घाट, भोंसला-मन्दिर और फिर संकटा घाट पर आकर वशिष्ठ वामदेव में प्रदक्षिण का प्रथम अंग समाप्त होता है। फिर, सीमाविनायक से प्रारम्भ होकर कई बार कई प्रकार के मोड़ लेती हुई यात्रा अन्त में विश्वेश्वर के मन्दिर में समाप्त होती है। इस यात्रा में ७७ देवस्थानों के दर्शन होते हैं और उनके नाम तथा क्रम काशीखण्ड में निर्धारित हैं, जिनका पूरा विवरण नीचे दिया गया है। इस सम्बन्ध में यह स्मरण रखना है कि कम-से-कम आठ सौ वर्षों की परम्परा में यदा-कदा भ्रम अथवा परिवर्त्तन हो जाना स्वाभाविक है। ये परिवर्त्तन यात्राक्रम में कहीं-कहीं देख पड़ते हैं। पन्द्रहवीं शताब्दी ईसवी के तृतीय किंवा चतुर्थ चरण में 'गुरुचरित्र' नामक ग्रन्थ मराठी भाषा में लिखा गया। इस ग्रन्थ में अन्तर्गृह-यात्रा का जो वर्णन है, उसमें काशीखण्ड में कहे हुए क्रम से कुछ भेद है। यात्रा प्रारम्भ करने के पूर्व पंच-विनायक तथा विश्वेश्वर के पूजन के अतिरिक्त पांचालेश्वर का उल्लेख है, जो सम्भवतः पाँचों पाण्डवेश्वरों की ओर संकेत करता है। 'कम्वलाश्वतरौ' के स्थान पर कमलेश्वर, हरिकेश वन के स्थान पर हरिहरेश्वर, कीकसेश्वर के स्थान पर किंकरेश्वर, कलशेश्वर के वदले कल्लेश्वर, वीरेश्वर के स्थान पर विश्वेश्वर, विघ्नेश्वर के वदले विघ्नेश्वर, सीमाविनायक के स्थान पर सोमनाथ विनायक, ब्राह्मीश्वर के वदले ब्रह्मेश्वर, अप्सरसेश्वर के स्थान पर असुरेश्वर ये नामों में भ्रम हो गये हैं। पितामहेश्वर, करुणेश्वर, विशालाक्षी और प्रतिग्रहेश्वर के नाम छूट गये हैं तथा सुरेश्वर और आनन्दभैरव के नाम बढ़ गये हैं। इसके अति-रिक्त ज्ञानवापी का उल्लेख गौणरूप में ही है, परन्तु ज्ञानेश्वर के पूजन का उल्लेख है। मुक्तिमण्डप का भी नाम आया है। इन परिवर्त्तनों को ध्यान से देखने पर इनके भ्रमात्मक होने की बात स्पष्ट हो जाती है। यात्री नये देश में आया था, अतः नामों में भ्रम हो जाना स्वाभाविक था, विशेषतः तीर्थपुरोहितों की वाणी भी दोषपूर्ण हो सकती थी। नित्ययात्रा में विश्वेश्वर के द्वार पर कालभैरव का उल्लेख हम ऊपर कर चुके हैं। सम्भवतः, इन्हीं के लिए आनन्दभैरव का नाम कहा गया है। सुरेश्वर से क्या तात्पर्य था, यह नहीं कहा जा सकता, अन्यथा यात्राक्रम प्राचीन ही था। (का० खण्ड, १००।७६–९६)

प्रातः स्नान करके पंचविनायक तथा विश्वेश्वर के पूजन के पश्चात् मुक्तिमण्डप में यात्रा का संकल्प करके मणिकर्णिका में जाकर स्नान करे। तदनन्तर, सिद्धविनायक के दर्शन के वाद निम्नांकित क्रम से देव-दर्शन करे :

१. मणिकर्णीश्वर : मणिकर्णिका घाट के ऊपर, मकान नं० सी० के० ८/१२।
२. कम्वलेश्वर : वहीं पर, मकान नं० सी० के० ८/१४ में कम्वलाश्वतरेश्वर नाम से।
३. अश्वतरेश्वर : वहीं पर, ,, ,, ,, ,, ।
४. वासुकीश्वर : संकटाजी के दक्षिण। मकान नं० सी० के० ७/१५५।

५. पर्वतेश्वर : वहीं पर, मकान नं० सी० के० ७/५०।
६. गंगाकेशव : ललिताघाट। मकान नं० डी० २/६७।
७. ललितादेवी : वहीं पर, „ „ ।
८. जरासन्धेश्वर : मीरघाट। मकान नं० डी० ३/७९ ।
९. सोमेश्वर : मानमन्दिर घाट। मकान नं० डी० १६/३४ के पास।
१०. वाराहेश्वर : दशाश्वमेध घाट। मकान नं० डी० १७/१११ ।
११. ब्रह्मेश्वर : बालमुकुन्द का चौहट्टा। मकान नं० डी० ३३/६६–६७।
१२. अगस्तीश्वर : अगस्त्यकुण्डा मुहल्ले में। मकान नं० डी० ३६/११।
१३. कश्यपेश्वर : जंगमवाड़ी। मकान नं० डी० ३५/७७।
१४. हरिकेशेश्वर : वहीं पर, मकान नं० डी० ३५/२७३ के दक्षिण।
१५. वैद्यनाथ : कोदई चौकी के पास। मकान नं० डी० ५०/२०।
१६. ध्रुवेश्वर : मिसिरपोखरा मुहल्ले में सनातन धर्म कॉलेज के पिछवाड़े, कोने पर।
१७. गोकर्णेश्वर : कोदई की चौकी मुहल्ले में दयलू की गली में। मकान नं० डी० ५०/३४ए के दक्षिण।
१८. हाटकेश्वर : पुरानी गुदड़ी में।
१९. कीकसेश्वर : हड़हा मुहल्ले में। मकान नं० सी० के० ४८/४५ ।
२०. भारभूतेश्वर : राजादरवाजा। मकान नं० सी० के० ५४/४४ के पूर्व।
२१. चित्रगुप्तेश्वर : मछरहट्टा में। मकान नं० सी० के० ५७/७७।
२२. चित्रघण्टा देवी : चौक में चन्दू नाऊ की गली में। मकान नं० सी० के० २३/३४।
२३. पशुपतीश्वर : पशुपतीश्वर मुहल्ले में। मकान नं० सी० के० १३/६६।
२४. पितामहेश्वर : कश्मीरीमल की हवेली के पीछे शीतला गली में। मकान नं० सी० के० ७/९२।
२५. कलशेश्वर : नागरों की ब्रह्मपुरी में। मकान न० सी० के० ७/१०६।
२६. चन्द्रेश्वर : सिद्धेश्वरी में। मकान नं० सी० के० ७/१२४।
२७. आत्मावीरेश्वर संकटा घाट पर। मकान नं० सी० के० ७/१५८।
२८. विघ्नेश्वर : नीमवाली ब्रह्मपुरी में। मकान नं० सी० के० २/४१।
२९. अग्नीश्वर : अग्नीश्वर घाट के पास। मकान नं० सी० के० २/३।
३०. नागेश्वर : भोंसला-मन्दिर के पास। मकान नं० सी० के० १/२१ से सटे हुए।
३१. हरिश्चन्द्रेश्वर : संकटा घाट के ऊपर। मकान नं० सी० के० ७/१६६।
३२. चिन्तामणिविनायक वहीं पर, वशिष्ठ वामदेव के द्वार पर। मकान नं० सी० के० ७/१६१।
३३. सेनाविनायक : वहीं पर, हरिश्चन्द्रेश्वर के सामने दीवार में, मढ़ी में।
३४. वशिष्ठ : वहीं पर, मकान नं० सी० के० ७/१६१।
३५. वामदेव : वहीं पर, „ „ „।

३६. सीमाविनायक : वहीं पर, सेनाविनायक के पास।
३७. करुणेश्वर : ललिताघाट के ऊपर। मकान नं० सी० के० ३४/१०।
३८. त्रिसन्ध्येश्वर : वहीं पर, मकान नं० डी० १/४०।
३९. विशालाक्षीदेवी : मीरघाट। मकान नं० डी० ३/८५।
४०. धर्मेश्वर : धर्मकूप में। मकान नं० डी० २/२१।
४१. विश्ववाहुकी देवी : वहीं पर, मकान नं० डी० २/१३।
४२. आशाविनायक : मीरघाट में हनुमान्जी के मन्दिर में। मकान नं० डी० ३/७९।
४३. वृद्धादित्य : मीरघाट पर। मकान नं० डी० ३/१६।
४४. चतुर्वक्त्रेश्वर : सकरकन्द गली में। मकान नं० डी० ७/१९।
४५. ब्राह्मीश्वर : वहीं पर, मकान नं० डी० ७/६।
४६. मनःप्रकामेश्वर : साक्षीविनायक के पास। मकान नं० डी० १०/५०।
४७. ईशानेश्वर : कोतवालपुरा में बाँसफाटक सिनेमा के पीछे गली में। मकान नं० सी० के० ३७/६९।
४८. चण्डीचण्डीश्वर : कालिका गली में। मकान नं० डी० ८/२७।
४९. भवानीशंकर : अन्नपूर्णा-मन्दिर की बगल के राम-मन्दिर में कालीजी और जगन्नाथजी के बीच में।
५०. ढुण्ढिराज : प्रसिद्ध
५१. राजराजेश्वर : ढुण्ढिराज गली में। मकान नं० सी० के० ३५/३३।
५२. लांगलीश्वर : खोवा बाजार में। मकान नं० सी० के० २८/४।
५३. नकुलीश्वर : अक्षयवट में। मकान नं० सी० के० ३५/२०।
५४. परान्नेश्वर : ढुण्ढिराज गली में दण्डपाणि-मन्दिर के सामने, मकान नं० सी० के० ३५/३४ में।
५५. परद्रव्येश्वर : " " " "।
५६. प्रतिग्रहेश्वर : " " " "।
५७. निष्कलंकेश्वर : " " " "।
५८. मार्कण्डेयेश्वर : वहीं पर, मकान नं० सी० के० ३६/१०।
५९. अप्सरसेश्वर : ज्ञानवापी मस्जिद की सीढ़ी के सामने खिड़की में छोटा शिवलिंग।
६०. गंगेश्वर : ज्ञानवापी के पूर्व पीपल के नीचे मूर्त्ति लुप्त है।
६१. ज्ञानवापी में स्नान : ज्ञानवापी प्रसिद्ध।
६२. नन्दिकेश्वर : ज्ञानवापी के उत्तर। मूर्त्ति लुप्त है।
६३. तारकेश्वर : गौरीशंकर के नीचे। मूर्त्ति लुप्त है।
६४. महाकालेश्वर : ज्ञानवापी के पूर्व पीपल के नीचे मूर्त्ति लुप्त है। विश्व- : नाथजी के मन्दिर में, पश्चिम के मन्दिर में पुनःस्थापना।
६५. दण्डपाणि : वहीं पर, ढुण्ढिराज गली में भी मन्दिर है। मकान नं० सी० के० ३६/१०।

६६. महेश्वर	:	ज्ञानवापी के नैऋत्य कोण में, पीपल के नीचे।
६७. मोक्षेश्वर	:	वहीं पर, मूर्ति लुप्त है।
६८. वीरभद्रेश्वर	:	ज्ञानवापी के वायव्य कोण में। मूर्ति लुप्त है।
६९. अविमुक्तेश्वर	:	विश्वनाथजी के मन्दिर में। मस्जिद की सीढ़ी के सामने खिड़की में बड़ा शिवलिंग।
७०–७४. पंचविनायक	:	ज्ञानवापी के पूर्व की गली में नेपालीखपड़े में चार और ढुण्ढिराज-गली में गणनाथ। मकान नं० सी० के० ३१/१२, ३१/१६, ३४/६०, ३५/८ और ३७/१ में।
७५. विश्वेश्वर	:	प्रसिद्ध।

यह सारी यात्रा मौन होकर करनी चाहिए। यात्रा के अन्त में विश्वेश्वर का पूजन, स्तवन, क्षमापराधन इत्यादि करके अपने घर को जाना होता है। वर्त्तमान यात्राक्रम में भवानी-शंकर (ऊपर क्रम-संख्या ४९) की पूजा के बाद अन्नपूर्णाजी की भी पूजा होती है और ढुण्ढिराज का पूजन तदुपरान्त किया जाता है। सोमेश्वर (क्रम-संख्या ९) के बाद दाल्भ्येश्वर का पूजन भी होने लगा है।

(आ) केदारेश्वर की अन्तर्गृह-यात्रा : इस अन्तर्गृह की सीमाएँ इस प्रकार ब्रह्मवैवर्त्तपुराण में कही गई हैं : पूर्व में गंगाजी के मध्यभाग तक, आग्नेय कोण में आधे कोश (अर्थात् २००० गज तक), दक्षिण में लोलार्क तक, नैऋत्य कोण में शंखोद्धार तीर्थ तक, पश्चिम में वैद्यनाथ तक, वायव्य कोण में लक्ष्मी-कुण्ड तक, उत्तर में शूलटंकेश्वर तक और ईशान कोण में आधे कोश तक। इस अन्तर्गृह में जितने देवस्थान पड़ते हैं, उन सभी के दर्शन-पूजन का क्रम इस यात्रा में है। यह यात्रा पहले हरिश्चन्द्र घाट पर स्नान करके प्रारम्भ होती थी, परन्तु वहाँ श्मशान हो जाने से तथा केदारेश्वर का स्थान बदलने से अब केदारघाट पर (आदिमणिकर्णिका में) स्नान करके और केदारजी के मन्दिर में वर्त्तमान देवताओं के पूजन से प्रारम्भ होती है और सभी देवताओं के दर्शन-पूजन के उपरान्त पुनः आदिमणिकर्णिका में स्नान तथा केदार के दर्शन-पूजन से समाप्त होती है। इस यात्रा में निम्नांकित देवताओं के दर्शन आजकल प्रचलित हैं :

केदारघाट :

१. आदिमणिकर्णिका	:	केदारघाट।
२. केदारेश्वर	:	प्रसिद्ध।
३. गणपति	:	केदार-मन्दिर में।
४. दण्डपाणि	:	" "
५. भैरव	:	" "
६. स्कन्द	:	" "
७. अन्नपूर्णा	:	" "
८. पार्वती	:	" "
९. दक्षिणामूर्त्ति	:	" "
१०. चण्डगण	:	" "

११. इन्द्रद्युम्नेश्वर : केदार-मन्दिर में।
१२. कालंजर : " "
१३. रनादकेश्वर : " "
१४. दधीचीश्वर : " "
१५. नीलकण्ठेश्वर : मकान नं० बी० ६/९९ में।
१६. गौरीकुण्ड : केदारघाट पर।
१७. हरम्पापर्तीर्थ तथा हरम्पापेश्वर : घाट पर ही।
१८. किरातेश्वर : जयन्तेश्वर के समीप लाली घाट पर।

केदारजी के समीप :

१९. लम्बोदर विनायक : चिन्तामणि विनायक नाम से प्रसिद्ध। लाली घाट के ऊपर सड़क पर।
२०. शत्रुघ्नेश्वर : लछूजी की धर्मशाला के समीप। हनुमान घाट पर।
२१. भरतेश्वर : काशीनाथ शास्त्री के मकान में। हनुमान घाट पर।
२२. लक्ष्मणेश्वर : अनन्थ शास्त्री के मकान में। हनुमान घाट पर।
२३. रामेश्वर : हनुमानजी के मन्दिर के घेरे मे। हनुमान घाट पर।
२४. सीतेश्वर : वहीं नीम की जड़ में। हनुमान घाट पर।
२५. हनुमदीश्वर : वहीं समीप में। हनुमान घाट पर।
२६. रुरुभैरव : घाट किनारे। हनुमान घाट पर।
२७. स्वप्नेश्वर : बादशाहगंज, शिवाला।
२८. स्वप्नेश्वरी : वहीं।
२९. अक्रूरेश्वर : अक्रूर घाट, भदैनी।

भदैनी में :

३०. चामुण्डा देवी : लोलार्क के समीप। अर्कविनायक के मन्दिर में।
३१. चर्ममुण्डा देवी : वहीं समीप। अज्ञात।
३२. महारुण्डा देवी : वहीं। अब लुप्त।
३३. करन्धमेश्वर : वहीं।
३४. अर्कविनायक : लोलार्क के समीप।
३५. पराशरेश्वर : मठ में। मकान नं० बी० २/२१।
३६. उद्दालकेश्वर : समीप में।
३७. अमरेश्वर : लोलार्क कुण्ड के पास। मकान नं० बी० २/२०।
३८. कुण्डोदरेश्वर : वहीं। अस्सीघाट पर बालू में दबे हुए।
३९. लोलार्ककुण्ड : प्रसिद्ध।
४०. लोलार्कादित्य : प्रसिद्ध। कुण्ड पर आले में।
४१. शुष्केश्वर : दुर्गाकुण्ड के नैर्ऋत्य कोण में।
४२. जनकेश्वर : सुकुलपुर में।
४३. असी-संगम : प्रसिद्ध।

४४. असी-संगमेश्वर : वहीं, मकान नं० बी० १/१७७।

कुरुक्षेत्र मुहल्ले में :

४५. सिद्धेश्वर : प्रसिद्ध। मकान नं० बी० २/२८२।
४६. सिद्धेश्वरी देवी : वहीं।
४७. स्थाणु : कुरुक्षेत्र तालाब पर। मकान नं० बी २/२४७।
४८. कुरुक्षेत्रतीर्थ : प्रसिद्ध दुर्गाकुण्ड के समीप।

दुर्गाकुण्ड :

४९. दुर्गाकुण्ड तीर्थ : प्रसिद्ध। दुर्गाजी के घेरे में।
५०. दुर्गविनायक : वहीं।
५१. दुर्गादेवी : प्रसिद्ध।
५२. कालरात्रि : वहीं।
५३. चण्डभैरव : वहीं।
५४. द्वारेश्वर : वहीं।
५५. शूर्पकर्णेश्वर : वहीं।
५६. कुक्कुटेश्वर : वहीं।
५७. जांगलीश्वर : वहीं।
५८. तिलपर्णेश्वर : वहीं, जिस मन्दिर के सामने वलि प्रदान होता है।
५९. मुकुटेश्वर : गोवावाई का मन्दिर, समीप ही मुकुटकुण्ड नवावगंज।
६०. वराका देवी : नवावगंज मुकुटकुण्ड पर पँचकौड़ी देवी के नाम में प्रसिद्ध।

शंखधारा मुहल्ला :

६१. शंखोद्धार तीर्थ : शंखूधारा कुण्ड।
६२. द्वारकानाथ : वहीं।
६३. द्वारकेश्वर : वहीं।
६४. शंकुकर्णेश्वर : वहीं। मकान नं० बी० २२/१२० के सामने।

बैजनत्था मुहल्ला :

६५. वैद्यनाथ : प्रसिद्ध बैजनत्था नाम से।

कमच्छा मुहल्ला :

६६. कहोलेश्वर : वैजनत्था के समीप।
६७. कामाक्षा देवी : प्रसिद्ध।
६८. क्रोधन भैरव : वहीं।
६९. वटुकभैरव : वहीं, प्रसिद्ध।
७०. घृष्णेश्वर : बटुकभैरव के पास।
७१. ब्रह्मपदपदेश्वर : वहीं।

केदारेश्वर का अंतर्गृह क्षेत्र

लक्सा मुहल्ला :

७२. लवेश्वर	:	रामकुण्ड के समीप। मकान नं० डी० ५३/४८।
७३. कुशेश्वर	:	वहीं।
७४. रामकुण्ड	:	प्रसिद्ध।
७५. रामेश्वर	:	वहीं। मकान नं० डी० ५४/११५।

लक्ष्मीकुण्ड मुहल्ला :

७६. करवीरेश्वर	:	प्रसिद्ध। मकान नं० डी० ५२/४१।
७७. महालक्ष्मीश्वर	:	नृसिंह बाबू बंगाली के मकान में।
७८. लक्ष्मीकुण्ड तीर्थ	:	प्रसिद्ध।
७९. कूणिताक्ष विनायक	:	वहीं। मकान नं० डी० ५२/३८।
८०. महालक्ष्मी	:	प्रसिद्ध। मकान नं० डी० ५२/४०।
८१. महाकाली	:	वहीं।
८२. महासरस्वती	:	वहीं।
८३. शिखिचण्डी	:	वहीं। मकान नं० डी० ५२/४०।
८४. उग्रेश्वर	:	वहीं।

दशाश्वमेध :

८५. रुद्रसरोवर तीर्थ	:	गंगाजी में दशाश्वमेध घाट पर।
८६. शूलटंकेश्वर	:	प्रसिद्ध।
८७. दशाश्वमेधतीर्थ	:	दशाश्वमेध घाट।
८८. वन्दी देवी	:	मकान नं० डी० १७/१०० में।
८९. दशाश्वमेधेश्वर	:	शीतलाजी के मन्दिर में।
९०. गोव्याघ्रेश्वर	:	समीप।
९१. मानधात्रीश्वर	:	मकान नं० सी० के० ३४/१४ में।
९२. चौसट्ठी देवी	:	चौसट्ठी घाट पर प्रसिद्ध।
९३. वक्रतुण्ड विनायक	:	सरस्वतीविनायक नाम से प्रसिद्ध, राणामहल के समीप। मकान नं० डी० २०/४।

बंगाली टोला :

९४. पातालेश्वर	:	मकान नं० डी० ३२/११७ के द्वार पर।
९५. सिद्धेश्वर	:	समीप में।
९६. नैऋतेश्वर	:	पुष्पदन्तेश्वर के समीप।
९७. हरिश्चन्द्रेश्वर	:	वहीं।
९८. अंगिरसेश्वर	:	हरिकेशेश्वर के पास जंगमबाड़ी में।
९९. पुष्पदन्तेश्वर	:	मकान नं० डी० ३२/१०२ में।
१००. एकदन्त विनायक	:	वहीं। फाटक पर।
१०१. गरुड	:	मकान नं० डी० ३१/३९ए देवनाथपुरा में।

१०२. गरुडेश्वर : देवनाथपुरा में। मकान नं० डी० ३१/३९ ए में।
१०३. सर्वेश्वर : बबुआ पाण्डे घाट के ऊपर।
१०४. सोमेश्वर : समीप में।

नारद घाट :

१०५. नारदेश्वर : तैलंगमठ नारदघाट। मकान नं० डी० २५/१२ में।
१०६. अवभ्रातकेश्वर : विभ्राटकेश्वर नाम से प्रसिद्ध।
१०७. अत्रीश्वर : मकान नं० डी० २५/११ नारद घाट पर।
१०८. अनसूया देवी : " " "
१०९. अनसूयेश्वर : " " "

मानसरोवर मुहल्ला :

११०. मानसरोवर तीर्थ : प्रसिद्ध। लुप्त।
१११. मानसरोवरेश्वर : मानसरोवर मुहल्ले में मकान नं० बी० १४/२१ के सामने।
११२. सुरामाण्डेश्वर : तिलभाण्डेश्वर नाम से प्रसिद्ध।

डोड़ियाबीर मुहल्ला :

११३. विमाण्डेश्वर :
११४. कहोलेश्वर (द्वितीय) :
११५. नर्मदेश्वर :
११६. सुरेश्वर :
११७. पद्मसुरेश्वर :

क्षेमेश्वर घाट :

११८. क्षेमेश्वर : क्षेमेश्वर घाट। मकान नं० बी० १४/१२।
११९. चित्रांगदेश्वर : कुमारस्वामी मठ में। मकान नं० बी० १४/११८।
१२०. चित्रांगदेश्वरी देवी : वहीं। मकान नं० बी० १४/११८।
१२१. रुक्मांगदेश्वर : चौकीघाट के ऊपर।

केदार घाट :

१२२. अम्बरीषेश्वर : केदार-मन्दिर में।
१२३. तारकेश्वर : केदारघाट पर बुर्जी के नीचे।
१२४. आदिमणिकर्णिका : केदारघाट।
१२५. केदारेश्वर : प्रसिद्ध।

(इ) **ओंकारेश्वर की अन्तर्गृहयात्रा :** विश्वेश्वर तथा केदारेश्वर की अन्तर्गृहयात्राओं के अतिरिक्त वाराणसी में ओंकारेश्वर की भी अन्तर्गृहयात्रा प्राचीनकाल से होती रही है। परन्तु, इधर चालीस-पचास वर्षों से इसमें शैथिल्य आने लगा और वर्त्तमान काल में इस यात्रा का सांगोपांग विधान जाननेवाले केवल एक ही स्वामीजी बच रहे हैं। काल के प्रभाव से इस विवरण में भी कुछ त्रुटियाँ आ गई हैं, जिनका निराकरण तभी सम्भव होगा, जब इसके सम्बन्ध का पौराणिक वर्णन मिल जाय, जो अभी तक नहीं मिल पाया है।

निम्नांकित वर्णन में मुख्य त्रुटि यह आ गई है कि इसके अनुसार ओंकारेश्वर की पूरी प्रदक्षिणा हो जाती है, जो नहीं होनी चाहिए। शिवस्यार्धप्रदक्षिणा यात्रा-क्षेत्र की सीमाएँ तो ठीक हैं, परन्तु क्रम में किसी प्रकार त्रुटि का समावेश हो गया है। क्षेत्र का वहुत वड़ा भाग मुसलमानी मुहल्लों में पड़ता है। त्रुटियों का यह भी एक कारण है कि वहुत से शिवलिंग अपने स्थान से हटकर अन्यत्र आ गये हैं।

यात्रा मत्स्योदरी तीर्थ से प्रारम्भ होती है, जहाँ अब स्नान असम्भव होने से केवल मार्जन-आचमन किया जाता है। वहाँ से सीधी सड़क से ओंकारेश्वर को जाते हैं। ओंकारेश्वर में संकल्प करके देवताओं का पूजन प्रारम्भ होता है, जिसका क्रम नीचे दिया जा रहा है। ओंकारेश्वर के समीप के तीर्थों का पूजन करने के वाद उनके पूर्व के मार्ग से सीधे उत्तर जाकर भारद्वाजी टोल होते हुए प्रह्लाद घाट पहुँचते हैं और वहाँ से गंगातट से दक्षिण-पश्चिम चलकर रामघाट के आगे अग्नीश्वरघाट (वर्त्तमान नाम नया घाट) से ऊपर चढ़कर गोल गलीवाले मार्ग के वीच से सिद्धेश्वरी देवी के मन्दिर को वायें छोड़ते हुए कश्मीरीमल की हवेली की वगल से पशुपतीश्वर की गली में घुसते हैं। इस मार्ग के वायें की पट्टी विश्वेश्वर के अन्तर्गृह में आती है, इसीसे गली के बीच में चलने का विधान है। सिद्धेश्वरी का मन्दिर विश्वेश्वर अन्तर्गृह में पड़ता है। पशुपतीश्वर गली से नीचे ढाल उतरकर पं० अंजनिनन्दन मिश्र के घर के पास से दाहिनी ओर लक्खीचौतरा की गली में जाकर थोड़ी दूर चलने पर ठीक लक्खीचौतरा की बगल से दाहिने घूमकर बाईं ओर चन्द्रघण्टा की गली में सीढ़ी चढ़कर जाते हैं और वहाँ से बड़ी सड़क पर निकलते हैं। वहाँ से मैंदागिन का बगीचा दाहिने छोड़ते हुए मध्यमेश्वर, वृद्धकाल, कालभैरव होकर पुनः चन्द्रघण्टा की गली के पश्चिमी छोर पर पहुँचते हैं। (इस स्थान पर कुछ त्रुटि है; क्योंकि मध्यमेश्वर, वृद्धकाल होकर कालभैरव और वहाँ से पुनः चौक में आने से रास्ता कट जाता है। यदि वड़ी सड़क से टाउन हाल के पिछवाड़े से पहले कालभैरव होकर तव वृद्धकाल की ओर जायें, तो यह त्रुटि मिट सकती है।) वहाँ से गोविन्दपुरा में घुसकर मछरहट्टा फाटक के भीतर से बाईं गली में घुसकर गुदड़ीबाजार की ओर निकलते हैं। वहाँ से दाहिने घूमकर काशीपुरा की सड़क से वेतिया की कोठी के पास से सप्तसागर में घुसते हैं और ज्येष्ठेश्वर इत्यादि का पूजन करके पुनः उसी मार्ग से वेतिया की कोठी की चौमुहानी पर आते हैं। वहाँ से बड़ी पियरी की सड़क से कबीरचौरा से वेतिया कोठी जानेवाली सड़क पर पहुँचकर, दाहिने मुड़कर वरनवाल धर्मशाला की वगल से औघड़नाथ की तकिया होते हुए झण्डातले निकलते हैं और वहाँ से मिडिल स्कूल के सामने छोटी पियरी ... पिसनहरिया का कुआँ वायें छोड़ते हुए नाटी इमली की सड़क पर होते हुए ईसरगंगी जाते हैं। वहाँ से डिगिया मुहल्ले से होते हुए नागकुआँ जाते हैं और फिर वागेश्वरी तथा सिद्धेश्वरी होकर पुनः नागकुआँ को वायें छोड़ते हुए मढ़ियाघाट जाते हैं। वहाँ के देवताओं का पूजन करके वहीं शैलपुत्री दुर्गा के मन्दिर में रात्रिवास करते हैं।

सशक्त लोग यात्रा आगे भी चलाते रहते हैं और एक ही दिन में उसे पूरी

कर लेते हैं। शैलपुत्री से वरणा तट पर चलकर पुल पर से इसी पार उतरकर कपाल-मोचन होते हुए बड़ी सड़क पर (ग्राण्डट्रंक रोड) आते ही सीधे पापमोचन (नौआ पोखरा) तीर्थ जाते हैं। वहाँ से बलुआवीरवाले मार्ग से हनुमानफाटक पहुँचने के पहले ही ऋणमोचन तीर्थ आदि का दर्शन करते हुए हनुमान-मन्दिर को बायें छोड़कर चौमुहानी से पीली कोठी के समीप धनेसरा मठ में और वहाँ से गोलगढ्डा में विश्वकर्मेश्वर का दर्शन कर कपालमोचन तीर्थ जाते हैं। वहाँ से बड़ी लाइन के नीचे से दाहिने मुड़कर ऐतरणी-वैतरणी की बगल से छुतहा अस्पताल होते हुए सड़क पर आते हैं और सड़क के किनारे-किनारे वरणा-संगम और वहाँ से स्वर्लीनेश्वर तथा प्रह्लादेश्वर होते हुए पुनः ओंकारेश्वर पर जाकर यात्रा समाप्त करते हैं। (कपालमोचन तीर्थ से बड़ी लाइन के नीचे से मुड़ने के कारण यहाँ पर ओंकारेश्वर का सोमसूत्र कट जाने की त्रुटि होती है। कपालमोचन से उलटे लौटकर हनुमानफाटक होते हुए पुनः ओंकारेश्वर के पश्चिम की सड़क से लौटकर पुनः उनके पूर्व के मार्ग से उत्तर जाकर कपालमोचन के पास से दाहिने बड़ी लाइन के नीचे से ऐतरणी-वैतरणी इत्यादि जाने से यह त्रुटि मिट सकती है। परन्तु, यथार्थ बात पौराणिक वर्णन मिलने पर ही कही जा सकती है, जो अभी तक नहीं प्राप्त हो सकी है।)

यात्रा में पूजनीय देवताओं का क्रम इस प्रकार है:

१. शूलेश्वर	:	ओंकारेश्वर के अकार-मन्दिर के दक्षिण पेड़ की जड़ में चौखूंटे अर्घेवाला शिवलिंग।
२. नादेश्वर	:	उसी पेड़ में पीछे की तरफ बिना अर्घे का लेटा हुआ शिवलिंग।
३. बिन्द्वीश्वर	:	नादेश्वर के समीप का आधा फटा हुआ शिवलिंग।
४. अकाररूपात्मन् ओंकारेश्वर	:	वही अकार का प्रसिद्ध शिवलिंग।
५. उकाररूपात्मन् ओंकारेश्वर	:	ओंकारेश्वर के टीले के दक्षिण मकार नाम से प्रसिद्ध शिवलिंग।
६. मकाररूपात्मन् ओंकारेश्वर	:	टीले के ऊपर ओंकारेश्वर नाम से प्रसिद्ध शिव-लिंग।
७. तारतीर्थ (कपालमोचनतीर्थ)	:	ओंकारेश्वर टीले के पश्चिम सटा हुआ सूखा तालाब, जो अब पाटा जा रहा है।
८. शुभोदककूप	:	टीले के पूर्व का कुआँ।
९. श्रीमुखीगुहा	:	टीले के नीचे लुप्त। उसका द्वार श्रमोदक कूप के भीतर गर्मियों में देख पड़ता है।
१०. गर्गेश्वर	:	श्रमोदक कूप के पूर्व में पेड़ के नीचे। अब लुप्त।
११. दमनकेश्वर	:	प्रसिद्ध मकार-मन्दिर के द्वार के सामने मढ़ी में।
१२. प्रह्लादकेशव	:	प्रह्लाद घाट पर प्रसिद्ध (मकान नं० ए० १०।८०)
१३. प्रह्लादेश्वर	:	वहीं उसी मन्दिर में प्रसिद्ध।

१४. वीरेश्वर संस्थानगू	:	वीरेश्वर का प्राचीन स्थान। प्रह्लादेश्वर के उत्तर में।
१५. पिलिप्पिल तीर्थ	:	त्रिलोचनघाट पर गंगाजी में।
१६. त्रिलोचनेश्वर	:	त्रिलोचनघाट के ऊपर प्रसिद्ध (ए० २।८०)
१७. अरुणादित्य	:	त्रिलोचन-मन्दिर में।
१८. वाल्मीकीश्वर	:	त्रिलोचन-मन्दिर में।
१९. महादेव	:	त्रिलोचन के पिछवाड़े आदिमहादेव नाम से प्रसिद्ध।
२०. नरनारायणकेशव	:	महथाघाट के ऊपर वदरीनारायण नाम से प्रसिद्ध।
२१. उद्दालकेश्वर	:	राजमन्दिर में रामचन्द्रजी के मन्दिर की वगल की कोठरी में। (मकान नं० के० २०।१५९)।
२२. कपिलेश्वरगुहा	:	कपिलेश्वर गली में मकान नं० के० २९।१२ में।
२३. विन्दुमाधव	:	पंचगंगा घाट के ऊपर प्रसिद्ध (के० २२।३३)।
२४. धूतपापेश्वर	:	पंचगंगा घाट पर पुश्ते में।
२५. किरणेश्वर	:	लुप्त।
२६. हनुमदीश्वर	:	रामघाट पर कालविनायक के सामने के मकान में।
२७. मध्यमेश्वर	:	मैदागिन के उत्तर मकान नं० के० ५३।६३ के सामने।
२८. मृत्वीश्वर	:	दारानगर में मृत्युंजय नाम से प्रसिद्ध (के० ५२।३९)।
२९. मातलीश्वर (मालतीश्वर)	:	वृद्धकाल-मन्दिर में (के० ५२।३९)।
३०. वृद्धकालेश्वर	:	वृद्धकाल-मन्दिर में (के० ५२।३९)।
३१. महाकालेश्वर	:	वहीं।
३२. दक्षेश्वर	:	वहीं।
३३. वलीश्वर (वन्दीश्वर)	:	वहीं।
३४. वलीश्वर कुण्ड	:	गड़ही मुहम्मद शहीद (लुप्त)।
३५. महाकालकुण्ड	:	दुहड़ीगड़ही।
३६. जयन्तेश्वर	:	वृद्धकाल-मन्दिर (के० ५२।३९) में।
३७. अन्तकेश्वर	:	वहीं।
३८. हस्तिपालेश्वर	:	वहीं।
३९. ऐरावतेश्वर	:	वहीं।
४०. ऐरावतकुण्ड	:	वृद्धकाल के छोर के द्वार के आग्नेय कोण में लुप्त।
४१. विष्वक्सेनेश्वर	:	वृद्धकाल-मन्दिर (के० ५२।३९) में।
४२. कृत्तिवासेश्वर	:	आलमगीरी मस्जिद में स्थान-पूजन।
४३. कृत्तिवासेश्वर	:	रत्नेश्वर के समीप वगीचे में (के० ४६।२३)।

४४. हंसतीर्थ : हरतीरथ का पोखरा।
४५. रत्नेश्वर : वृद्धकाल की सड़क पर (के० ५३।४०)।
४६. दाक्षायिणीश्वर : समीप में, मकान नं० के० ४६।३२ में।
४७. अम्बिकेश्वर : वहीं, मकान नं० के० ५३।३८ में।
४७. ऋणहरेश्वर : वहीं समीप में।
४९. कालकूप : दण्डपाणिभैरव के मन्दिर में (के० ३१।४९)।
५०. कालेश्वर : वहीं (के० ३१।४९)।
५१. कालराज (कालभैरव) : समीप में प्रसिद्ध (के० ३२।२२)।
५२. जैगीषव्येश्वर : सप्तसागर मुहल्ले में (पुनः स्थापना)।
५३. व्याघ्रेश्वर : वहीं (के० ६३।१६)।
५४. कन्दुकेश्वर : वहीं (के० ६३।२९)।
५५. देवकेश्वर : वहीं।
५६. शतकालेश्वर : वहीं।
५७. हेतुकेश्वर : वहीं।
५८. तक्षककुण्ड : लुप्त।
५९. तक्षकेश्वर : औघड़नाथ की तकिया के समीप। पुनः स्थापना।
६०. वासुकीश्वर : वहीं तक्षकेश्वर के सामने सड़क पार। पुनः स्थापना।
६१. वासुकिकुण्ड : लुप्त।
६२. ईश्वरगंगा : इसरगंगी का तालाब प्रसिद्ध।
६३. जैगीषव्यगुहा : नरहरिपुरा, मकान नं० जे० ६६।३।
६४. जैगीषव्येश्वर : वहीं (जे० ६६।३)।
६५. अग्नीध्रेश्वर : वहीं जागेश्वर नाम से प्रसिद्ध (जे० ६६।४)।
६६. कर्कोटकवापी : नागकुआँ प्रसिद्ध (जे० २३।२०६)।
६७. कर्कोटक नाग : वहीं (जे० २३।२०६) जलमग्न।
६८. कर्कोटकेश्वर : वहीं (जे० २३।२०६) जलमग्न।
६९. वागीश्वरी : वागेश्वरी नाम से प्रसिद्ध (जे० ६।३३)।
७०. वागीश्वरीवापी : वहीं लुप्त।
७१. सिद्धवापी : समीप में लुप्त। परन्तु, कूप मकान नं० जे० ६।८४ के समीप वर्त्तमान।
७२. सिद्धेश्वर : वहीं (जे० ६।८४)।
७३. ज्वरहरेश्वर (जराहरेश्वर?) : वहीं (जे० ६।८४)।
७४. आम्नातकेश्वर (सोमेश्वर?) : वहीं (जे० ६।८४)।
७५. सिद्धगण : वहीं। लुप्त।
७६. शैलेश्वर : मढ़ियाघाट पर वरणा के तट पर।
७७. शैलेश्वरी : शैलपुत्री दुर्गा नाम से प्रसिद्ध वहीं मढ़िया घाट पर।
७८. वरणा नदी : वहीं मढ़िया घाट पर मार्जन।

७९. पापमोचन तीर्थ	:	पठानी टोल के पास नौआ पोखरा नाम से प्रसिद्ध।
८०. पापमोचनेश्वर	:	वहीं पोखरे के पास।
८१. ऋणमोचन तीर्थ	:	लड्डू गड़हा के समीप में।
८२. अंगारेश्वर	:	ऋणमोचन और ग्वालगड़हे के बीच में दक्षिण-वाले मन्दिर में।
८३. धनदेश्वर	:	पीली कोठी के पास बाबा नरसिंहदास के मठ में (जे० ४।९१)
८४. हलीशेश्वर	:	वहीं।
८५. धनदेश्वर तीर्थ	:	धनेसरा ताल।
८६. विश्वकर्मेश्वर	:	स्ट्रीथफील्ड रोड पर मकान नं० ए० ३४।६१ में।
८७. कपालमोचन तीर्थ (भैरवतीर्थ)	:	लाटभैरव का तालाब।
८८. नौभैरव	:	वहीं लाटभैरव के पास।
८९. कपालेश्वर	:	वहीं।
९०. ऐतरणी	:	समीप में प्रसिद्ध।
९१. वैतरणी	:	वहीं प्रसिद्ध।
९२. वरणा-संगम	:	प्रसिद्ध।
९३. संगमेश्वर	:	आदिकेशव के पास नीचे के मन्दिर में।
९४. प्रयागलिंग	:	वहीं संगमेश्वर-मन्दिर में।
९५. शान्तिकरीगौरी	:	वहीं। संगमेश्वर के पूर्व।
९६. केशवादित्य	:	आदिकेशव मन्दिर में दीवार में।
९७. आदिकेशव	:	प्रसिद्ध वरणा-संगम पर।
९८. ज्ञानकेशव	:	वहीं।
९९. वेदेश्वर	:	आदिकेशव के द्वार पर कोठरी में।
१००. नक्षत्रेश्वर	:	वहीं वेदेश्वर के पास।
१०१. दण्डीश्वर	:	वहीं।
१०२. तुंगेश्वर	:	वहीं।
१०३. गजतीर्थ	:	आदिकेशव के पीछे। लुप्त।
१०४. भैरवतीर्थ	:	लुप्त।
१०५. स्वर्लीनेश्वर	:	प्रह्लादघाट के समीप। नया महादेव नाम से प्रसिद्ध (ए० ११/२९)।

३. एकायतन यात्रा :

इन दोनों प्रमुख यात्राओं के अतिरिक्त एकायतन यात्रा से चतुर्दश-आयतन यात्रा तक के विधान पुराणों में मिलते हैं, जिनको अपनी शक्ति तथा सुविधा के अनुसार काशीवासी करते रहे हैं, यद्यपि इनका चलन अब कम होने लगा है। एकायतन यात्रा का वर्णन 'सनत्कुमारसंहिता' में मिलता है। इसमें मणिकर्णिका-स्नान के उपरान्त विश्वेश्वर-दर्शन का विधान है। यहाँ यह स्मरण रखना चाहिए कि दैनन्दिनी

तथा विश्वेश्वरी यात्राएँ, जिनका पहले वर्णन हो चुका हैं, इसी एकायतन यात्रा का ही परिवर्धित अथवा पूर्ण स्वरूप है। मणिकर्णिका तो काशी के प्रधान स्नानतीर्थों में मुख्य है ही :

स्नात्वा मुमुक्षुर्मणिकर्णिकायां मृडानि गङ्गाहृदये तवास्ये।
विश्वेश्वरं पश्यति योऽपि कोऽपि शिवत्वमायाति पुनर्न जन्म ।।
(सनत्कुमारसंहिता, काशीदर्पण, पृ० ४४)

प्राचीन लिंगपुराण में एकायतन का जो रूप है, वह विश्वेश्वर के प्राधान्य के पहले का है, जिसमें अविमुक्तेश्वर की यात्रा ही एकायतन यात्रा कही गई है :

अवमुक्ते महाक्षेत्रेऽविमुक्तमवलोक्य च ।
त्रिजन्मजनितं पापं हित्वा पुण्यमयो भवेत् ।। (लिं०पु०,त्रि०से०,पृ० १६६)
अविमुक्तं सदालिङ्गं योऽत्र द्रक्ष्यति मानवः ।
न तस्य पुनरावृत्तिः कल्पकोटिशतैरपि ।। (लिं०पु०,कृ०क०त०,पृ०१०९)

४. द्विरायतन यात्रा (नन्दिपुराण)

मणिकर्ण्यां नरः स्नात्वा मणिकर्णीशमर्चयेत् ।
ततो वाप्यां नरः स्नात्वा विश्वेशं पूजयेत्तु यः ।।
सर्वपापविनिर्मुक्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते। (का० द०, पृ० १५४)

मणिकर्णिका में स्नान तथा मणिकर्णीश्वर (गोमठ में) का दर्शन-पूजन और ज्ञानवापी में स्नान तथा विश्वेश्वर का दर्शन-पूजन यही द्विरायतन यात्रा का क्रम है:

५. त्रिरायतन यात्रा (प्राचीन लिंगपुराण)

इसको त्रिकण्टक-यात्रा भी कहते हैं:

अविमुक्तं च स्वर्लीनं तथा मध्यमकं पदम्।
एतत्त्रिकण्टकं देवि मृत्युकालेऽमृतप्रदम् ।। (कृ०क०त०, पृ०१२३)

इस यात्रा में अविमुक्तेश्वर (विश्वनाथ-मन्दिर में), स्वर्लीनेश्वर (नया महादेव, प्रह्लाद घाट पर) तथा मध्यमेश्वर (मैदागिन के उत्तर) का दर्शन-पूजन होता है।

६. चतुरायतन यात्रा (प्राचीन लिंगपुराण)

शैलेशं सङ्गमेशं च स्वर्लीनं मध्यमेश्वरम्।
दृष्ट्वा न जायते मर्त्यः संसारे दुःखसागरे ।। (त्रि०से०,पृ०२६१)

इस यात्रा में मढ़ियाघाट वरणातट पर शैलेश्वर, वरणागंगासंगम के पास संगमेश्वर, प्रह्लाद घाट के पास स्वर्लीनेश्वर तथा मैदागिन के उत्तर मध्यमेश्वर का दर्शन-पूजन करने का विधान है।

७. पंचायतन यात्रा (प्राचीन लिंगपुराण)

कृत्तिवासो मध्यमेश ओङ्कारश्च कपर्दिकः।
विश्वेश्वर इति ज्ञेयं पञ्चायतनमुत्तमम् ।। (त्रि०से०, पृ० २६१)

इस यात्रा में कृत्तिवासेश्वर (वृद्धकाल के दक्षिण), मध्यमेश्वर (मैदागिन के उत्तर), ओंकारेश्वर

(ओंकारेश्वर मुहल्ले में), कपर्दीश्वर (पिशाचमोचन पर), और विश्वेश्वर का पूजन होता है। कूर्मपुराण में भी यही पंचायतन कहे गये हैं (त्रि० से०, १६७)। 'कृत्यकल्पतरु' में दिये हुए लिंगपुराण के अनुसार ओंकारेश्वर के पाँचों अंगों को भी पंचायतन कहा जाता है तथा उन्हीं का दर्शन-पूजन पंचायतन यात्रा होती है, परन्तु उस स्थान पर अब केवल तीन ही मन्दिर बच रहे हैं।

८. षडंग यात्रा (प्राचीन लिंगपुराण)

> **अविमुक्तं च स्वर्लीनमोङ्कारं चण्डमीश्वरम्।**
> **मध्यमं कृत्तिवासं च षडङ्गमीश्वरं स्मृतम्॥**
> **(कृ०क०त०,पृ० १२४; त्रि०से०, पृ०२६१)**

इस यात्रा में अविमुक्तेश्वर, स्वर्लीनेश्वर, ओंकारेश्वर, चण्डेश्वर, मध्यमेश्वर तथा कृत्तिवासेश्वर के दर्शन-पूजन का क्रम है। अन्य पुराणों के अनुसार दो अन्य योग भी षडंग कहलाते हैं :

> **विश्वेश्वरो विशालाक्षी द्युनदी कालभैरवः।**
> **श्रीमाण्ढुण्ढिर्दण्डपाणिः षडङ्गो योग उच्यते॥**

तथा

> **ओङ्कारः कृत्तिवासश्च केदारश्च त्रिविष्टपः।**
> **वीरेश्वरोऽथ विश्वेशः षडङ्गोऽयमिहापरः॥ (त्रि०से०,पृ० २६२)**

इसके अनुसार विश्वेश्वर, विशालाक्षी गौरी (मीरघाट), गंगाजी, कालभैरव दण्डपाणि तथा ढुण्ढिराज का अर्चन-पूजन भी षडंग यात्रा होती है। और इसी प्रकार, ओंकारेश्वर, कृत्तिवासेश्वर, केदारेश्वर, त्रिलोचन (त्रिलोचन मुहल्ले में), आत्मावीरेश्वर (संकटाजी के पास) तथा विश्वेश्वर का दर्शन-पूजन भी षडंग यात्रा कहलाती है।

९. अष्टायतन यात्रा :

प्राचीन लिंगपुराण के अनुसार यह यात्रा नैत्यिक रूप से भी होती थी और विशेष अवसरों पर भी भक्त लोग इसको करते थे :

> **अग्नीशाने च कर्त्तव्यं स्नानं वै दीर्घिकाजले।**
> **दृष्ट्वा देवं ततो गच्छेदुर्वशीश्वरमुत्तमम्॥**
> **तं दृष्ट्वा मनुजो देवि लाङ्गलीश ततो व्रजेत्।**
> **तं दृष्ट्वा तु ततो देवि आषाढीशं ततोऽर्चयेत्॥**
> **दृष्ट्वा चाषाढिनं देवं भारभूतं ततो व्रजेत्।**
> **तं दृष्ट्वा तु ततो देवं गच्छेद्वै त्रिपुरान्तकम्॥**
> **तं दृष्ट्वापि ततो देवि नकुलीशं ततो व्रजेत्।**
> **दक्षिणे नकुलीशस्य त्र्यम्बकं च ततो व्रजेत्॥ (कृ०क०त०,पृ०१२२)**

अर्थात्, ईश्वरगंगी तालाब में स्नान तथा समीप के योगेश्वर महादेव (म० नं० के० ६६/४, नरहरिपुरा) का दर्शन-पूजन, तदुपरान्त औसानगंज के गोलाबाग में उर्वशीश्वर की, खोवा बाजार में लांगलीश्वर की, काशीपुरा में महारानी बेतिया के मन्दिर के पास आषाढीश्वर

की, राजादरवाजे में भारभूतेश्वर की, सिगरा में टीले पर त्रिपुरान्तकेश्वर की, विश्वनाथ-मन्दिर के समीप अक्षयवट में नकुलीश्वर की तथा बड़े देव पर पुरुषोत्तम भगवान् के मन्दिर में (मकान नं० डी० ३८/२१) त्र्यम्बकेश्वर (प्रसिद्ध नाम त्रिलोक नाथ) की अर्चना इस यात्रा का क्रम है। काशीखण्ड के अनुसार :

दक्षेशः पार्वतीशश्च तथा पशुपतीश्वरः।
गङ्गेशो नर्मदेशश्च गभस्तीशः सतीश्वरः॥
अष्टमस्तारकेशश्च प्रत्यष्टमि विशेषतः। (का०खं० १००।४९-५०)

वृद्धकाल में दक्षश्वर, त्रिलोचन पर आदिमहादेव के मन्दिर में पार्वतीश्वर, नन्दनसाह मुहल्ले के समीप पशुपतीश्वर, वहीं पर गंगेश्वर (अथवा ज्ञानवापी के पूर्व पीपल के नीचे), त्रिलोचन पर नर्मदेश्वर, मंगलागौरी पर गभस्तीश्वर, रत्नेश्वर के पास वृद्ध काल की सड़क पर सतीश्वर तथा ज्ञानवापी के पास अथवा मणिकर्णिका घाट पर तारकेश्वर का दर्शन-पूजन करने का इस यात्रा में विधान है। यह यात्रा अष्टमी को विशेष रूप से होती है।

१०. एकादश आयतन यात्रा :

इस यात्रा का उल्लेख प्राचीन लिंगपुराण में नहीं है, परन्तु काशीखण्ड के प्रमाण से यह यात्रा अत्यन्त प्रसिद्ध है और आजकल भी होती है। इस यात्रा में लिंगपुराण की अष्टायतन यात्रा के प्रारम्भिक सात शिवलिंगों के बाद चार और आयतनों की यात्रा होती है :

आग्नीध्रकुण्डे सुस्नातः पश्येदाग्नीध्रमीश्वरम्।
उर्वशीशं ततो गच्छेत्ततस्तु नकुलीश्वरम्॥
आषाढीशं ततो दृष्ट्वा भारभूतेश्वरं ततः।
लाङ्गलीशमथालोक्य ततस्तु त्रिपुरान्तकम्॥
ततो मनःप्रकामेशं प्रीतिकेशमथो व्रजेत्।
मदालसेश्वरं तस्मात्तिलपर्णेश्वरं ततः॥ (का०खं०,१००।६३-६५)

ईश्वरगंगी के तालाब में स्नानोपरान्त यागेश्वर, उर्वशीश्वर, नकुलीश्वर, आषाढीश्वर, भारभूतेश्वर, लांगलीश्वर, त्रिपुरान्तकेश्वर, मनःप्रकामेश्वर (साक्षीविनायक), प्रीतिकेश्वर (वहीं पर), मदालसेश्वर (कालिका गली के सामने में नैपालीखपरा में) तथा तिलपर्णेश्वर (दुर्गाकुण्ड पर) का दर्शन-पूजन—यही यात्रा का क्रम है।

११. चतुर्दश आयतन यात्रा :

प्राचीन लिंगपुराण में इसका एक ही प्रकार का वर्णन मिलता है, परन्तु काशीखण्ड के अन्तिम अध्याय में इसके दो अन्य प्रकारों का उल्लेख है। इस प्रकार, इस यात्रा के तीन प्रकार प्रचलित हैं। चतुर्दशायतन यात्रा में प्रत्येक मास की कृष्णपक्ष की प्रतिपदा से प्रारम्भ करके चतुर्दशी तक एक-एक आयतन का नित्य दर्शन-पूजन करने का विधान है। यदि यह न सम्भव हो, तो कृष्णपक्ष की चतुर्दशी के दिन पूरी यात्रा करे। 'त्रिस्थलीसेतु' के समय (सन् १५८५ ई०) में शिष्ट-सम्प्रदाय शैलेशादि चतुर्दश आयतनों की यात्रा चैत्र में, ओंकारादि चतुर्दश आयतनों की वैशाख में तथा अमृतेशादि चतुर्दश आयतनों की यात्रा ज्येष्ठ-कृष्ण में करते थे।

(क) प्राचीन लिंगपुराण में इस यात्रा का निम्नांकित क्रम है :

शैलेशं प्रथमं दृष्ट्वा स्नात्वा वै वरणानदीम्।
स्नानं तु सङ्गमे कृत्वा दृष्ट्वा वै सङ्गमेश्वरम् ॥
स्वर्लीनं तु कृतस्नानो दृष्ट्वा स्वर्लीनमीश्वरम् ।
मन्दाकिन्यां नरः स्नात्वा दृष्ट्वा वै मध्यमेश्वरम् ॥
हिरण्यगर्भे स्नातस्तु दृष्ट्वा चैवं तु ईश्वरम् ।
मणिकर्ण्यां नरः स्नात्वा दृष्ट्वा चैशानमीश्वरम् ॥
तस्मिन् कूपे उपस्पृश्य दृष्ट्वा गोप्रेक्षमीश्वरम् ।
कपिलायां ह्रदे स्नात्वा दृष्ट्वा वै वृषभध्वजम् ॥
उपशान्तस्य देवस्य दक्षिणे कूपमुत्तमम् ।
तस्मिन् कूपे उपस्पृश्य दृष्ट्वोपशान्तमीश्वरम् ॥
पञ्चचूडाह्रदे स्नात्वा ज्येष्ठस्थानं ततोऽर्चयेत् ।
चतुःसमुद्रकूपे तु स्नात्वा देवं ततोऽर्चयेत् ॥
देवस्याग्रे तु कूपस्य तत्रोपस्पर्शने कृते ।
ततोऽर्चयेत देवेशं शुद्धेश्वरमतः परम् ॥
दण्डखाते नरः स्नात्वा व्यादेशं तु ततोऽर्चयेत् ।
शौनकेश्वरकुण्डे तु स्नानं कृत्वा ततोऽर्चयेत् ॥
जम्बुकेश्वरनामानं दृष्ट्वा . चैव यशस्विनि ।
प्रतिपत्प्रभृति देवेशि यावत् कृष्णचतुर्दशीम् ॥

(कृ०क०त०, पृ० १२१-१२२)

'त्रिस्थलीसेतु' में जो उद्धरण दिया हुआ है, उसमें बारहवीं पंक्ति में निवासेश्वर, चौदहवीं पंक्ति में शुक्रेश्वर तथा पन्द्रहवीं पंक्ति में व्याघ्रेश्वर के नाम उल्लिखित हैं (त्रि०से०, २६४)। काशीखण्ड में इस यात्रा का जो वर्णन है, वह भी त्रिस्थलीसेतु के पाठ को ही पुष्ट करता है। 'कृत्यकल्पतरु' के इस उद्धरण में लिपि-प्रमाद के कारण कुछ अशुद्धियाँ हो गई हैं, जिनका निराकरण त्रिस्थलीसेतु के आधार पर हो जाता है। 'कृत्यकल्पतरु' में ही पृ० १३५ पर इस सम्बन्ध का जो श्लोक है, उसमें भी ठीक पाठ है :

शैलेशं सङ्गमेशं च स्वर्लीनं मध्यमेश्वरम् ।
हिरण्यगर्भमीशानं गोप्रेक्षं वृषभध्वजम् ॥
उपशान्तशिवं चैवज्येष्ठस्थाननिवासिनम् ।
शुक्रेश्वरं च विख्यातं व्याघ्रेशं जम्बुकेश्वरम् ॥
दृष्ट्वा न जायते मर्त्यः संसारे दुःखसागरे । (कृ० क० त०, पृ० १३५)

आजकल भी यह यात्रा इसी प्रकार होती है, जिसमें शैलेश्वर (मढ़ियाघाट, वरणातट), संगमेश्वर (वरणा-संगम), स्वर्लीनेश्वर (नया महादेव, राजघाट पर), मध्यमेश्वर (मैदागिन से उत्तर), हिरण्यगर्भेश्वर (त्रिलोचनघाट पर), ईशानेश्वर (बाँसफाटक सिनेमा के पीछे की गली में), गोप्रेक्षेश्वर (लालघाट पर), वृषभध्वज (कपिलधारा पर), उपशान्तेश्वर (अग्नीश्वर घाट पर), ज्येष्ठेश्वर (काशीपुरा में), निवासेश्वर (भूतभैरव पर), शुक्रेश्वर (अन्नपूर्णा-

मन्दिर के पीछे कालिका गली में), व्याघ्रेश्वर (भूतभैरव पर), तथा जम्बुकेश्वर (बड़े गणेश के पास) इनका दर्शन-पूजन किया जाता है। काशीखण्ड में चतुर्दश आयतन यात्रा के जो दो अन्य क्रम दिये हैं, उनकी यात्राएँ भी प्रचलित हैं :

(ख) ओङ्कारः प्रथमं लिङ्गं द्वितीयं च त्रिलोचनम् ।
तृतीयं च महादेवः कृत्तिवासश्चतुर्थकम् ।।
रत्नेशः पञ्चमं लिङ्गं षष्ठं चन्द्रेश्वराभिधम् ।
केदारः सप्तमं लिङ्गं धर्मेशश्चाष्टमं प्रिये ।।
वीरेश्वरं च नवमं कामेशं दशमं विदुः ।
विश्वकर्मेश्वरं लिङ्गं शुभमेकादशं परम् ।।
द्वादशं मणिकर्णीशमविमुक्तं त्रयोदशम् ।
चतुर्दशं महालिङ्गं मम विश्वेश्वराभिधम् ।। (का०खं०,७३।३२-३५)

इसमें से पहली में ओंकारेश्वर (कोइलावाजार), त्रिलोचन (प्रसिद्ध), आदिमहादेव (वहीं पर), कृत्तिवासेश्वर (वृद्धकाल के पास), रत्नेश्वर (वहीं पर), केदारेश्वर (केदारघाट पर), धर्मेश्वर (मीरघाट पर), आत्मावीरेश्वर (संकटाघाट पर), कामेश्वर (मछोदरी के पूर्व), विश्वकर्मेश्वर (हनुमानफाटक के उत्तर), मणिकर्णीश्वर (मणिकर्णिका घाट के पास), अविमुक्तेश्वर (विश्वनाथ के मन्दिर में अथवा ज्ञानवापी मस्जिद की सीढ़ियों के सामने) तथा विश्वेश्वर का दर्शन-पूजन होता है।

(ग) दूसरी में :

अमृतेशस्तारकेशो ज्ञानेशः करुणेश्वरः ।
मोक्षद्वारेश्वरश्चैव स्वर्गद्वारेश्वरस्तथा ।।
ब्रह्मेशो लाङ्गलीशश्च वृद्धकालेश्वरस्तथा ।
वृषेशश्चैव चण्डीशो नन्दिकेशो महेश्वर ।।
ज्योतिरूपेश्वरं लिङ्गं ख्यातमत्र चतुर्दशम् । (का०खं०,७३।४५-४७)

ब्रह्मनाल पर अमृतेश्वर, ज्ञानवापी के पूर्व तारकेश्वर (लिंग गुप्त), लाहौरी टोला में धनीराम खत्री के मकान में ज्ञानेश्वर, ललिता घाट पर करुणेश्वर, फूटे गणेश के पास मोक्षद्वारेश्वर, ब्रह्मनाल पर स्वर्गद्वारी में स्वर्गद्वारेश्वर, बालमुकुन्द के चौहट्टा में ब्रह्मेश्वर, खोवावाजार में लांगलीश्वर, दारानगर में वृद्धकालेश्वर, पुलिस लाइन में चण्डीश्वर, गोरखनाथ के टीले पर हरिश्चन्द्र कॉलेज के पास वृषेश्वर, ज्ञानवापी के उत्तर नन्दिकेश्वर (लिंग गुप्त है), ज्ञानवापी क पास अथवा मणिकर्णिका घाट पर महेश्वर, तथा मणिकर्णिकेश्वर के पास ज्योतिरूपेश्वर का अर्चन-पूजन किया जाता है।

पद्मपुराण के अनुसार, चतुर्दशलिंग-यात्रा के तीनों क्रमों को एक साथ करने पर यह यात्रा बयालीस लिंगों की यात्रा हो जाती है और इसी नाम से यह आजकल प्रसिद्ध है। इसी प्रकार, ओंकारादि चतुर्दशायतन और तदुपरान्त दक्षेश्वरादि अष्टायतन तथा शैलेशादि चतुर्दशायतन इनकी इस क्रम से एक साथ यात्रा को काशीखण्ड में छत्तीस लिंगयात्रा कहा गया है। (का०खं०, ९४।३६–३९)

१२. उत्तर दिक्-यात्रा तथा दक्षिणदिक् यात्रा :

इन यात्राओं का कोई पौराणिक प्रमाण नहीं मिला, परन्तु इनकी परम्परा कम-से-कम पाँच सौ वर्षों से चल रही है; क्योंकि 'गुरुचरित्र' में इनका उल्लेख उत्तर मानस-यात्रा तथा दक्षिण मानस-यात्रा के नाम से मिलता है।

(क) उत्तर दिक्-यात्रा अथवा उत्तर मानस-यात्रा : यात्रा मुक्तिमण्डप से प्रारम्भ होती है और दण्डपाणि तथा मोदादि पंच विनायकों के दर्शन के बाद विश्वनाथ का दर्शन पूजन होता है। तदुपरान्त निम्नांकित क्रम से यात्रा चलती है :

१. ज्ञानवापी : प्रसिद्ध।
२. लांगलीश्वर : खोवाबाजार। मकान नं० सी० के० २८/४।
३. पशुपतीश्वर : नन्दन साहु के महल्ले में। मकान नं० सी० के० १३/६६।
४. पितामहेश्वर : शीतला गली में कश्मीरीमल की हवेली के पास। मकान नं० सी० के० ७/९८ की वगल में।
५. कलशेश्वर : पास ही। मकान नं० सी० के० ७/१०१ नागरों की ब्रह्मपुरी में।
६. चन्द्रकूप : सिद्धेश्वरी में। मकान नं० सी० के० ७/१२४।
७. चन्द्रेश्वर : वहीं। मकान नं० सी० के० ७/१२४।
८. सिद्धेश्वरी देवी तथा सिद्धेश्वर : वहीं। मकान नं० सी० के० ७/१२४।
९. विघ्नेश्वर : नीमवाली ब्रह्मपुरी में। मकान नं० सी० के० २/४१।
१०. कलिकालेश्वर : सिद्धेश्वरी में, चन्द्रेश्वर की दालान में। मकान नं० सी० के० ७/१२४।
११. आत्मावीरेश्वर : प्रसिद्ध। मकान नं० सी० के० ७/१५८।
१२. मंगलेश्वर : वहीं। मकान नं० सी० के० ७/१५८।
१३. बुधेश्वर : वहीं। मकान नं० सी० के० ७/१५८।
१४. पर्वतेश्वर : संकटाघाट। मकान नं० सी० के० ७/५०।
१५. वासुकीश्वर : आत्मावीरेश्वर के पास, मकान नं० सी० के० ७/१५५।
१६. वृहस्पतीश्वर : वहीं। मकान नं० सी० के० ७/१३३।
१७. वशिष्ठ वामदेव : संकटाजी के पूर्व। मकान नं० सी० के० ७/१६१।
१८. याज्ञवल्क्येश्वर : वहीं। संकटाजी के घेरे की दीवार में मढ़ी में हरिश्चन्द्रेश्वर के सामने।
१९. कृष्णेश्वर : संकटाजी से पूर्व मन्दिर के वाहर।
२०. हरिश्चन्द्रेश्वर : वहीं। मकान नं० सी० के० ७/१६६।
२१. यमेश्वर : यमघाट पर। गंगातट पर।
२२. यमतीर्थ : गंगा में वहीं। यमघाट प्रसिद्ध।
२३. संकटा देवी : प्रसिद्ध वहीं।
२४. विन्ध्यवासिनी देवी : वहीं पर। मकान नं० सी० के० २/१३३।
२५. नागेश्वर : भोंसलाघाट पर। मकान नं० सी० के० १/२१ से सटे हुए मन्दिर में।

२६. उपशान्तेश्वर : अग्नीश्वर घाट पर। मकान नं० सी० के० २/४।
२७. अग्नीश्वर : पास के मकान में। मकान नं० सी० के० २/३।
२८. गभस्तीश्वर : मंगला गौरी में। मकान नं० के० २४/३४।
२९. मंगला गौरी : प्रसिद्ध। मकान नं० के० २४/३४।
३०. व्यंकटेश : बालाघाट पर लक्ष्मण बाला के नाम से प्रसिद्ध।
३१. बिन्दुमाधव : प्रसिद्ध। मकान नं० के० २२/३३।
३२. पंचनद तीर्थ : पंचगंगा घाट पर।
३३. पंचगंगेश्वर : वहीं। मकान नं० के० २२/११।
३४. दुग्धविनायक : दूधविनायक पर।
३५. दधिविनायक : वहीं।
३६. घृतविनायक : वहीं।
३७. मधुविनायक : वहीं।
३८. शर्कराविनायक : वहीं।
३९. आमर्दकेश्वर : काठ की हवेली के पीछे। मकान नं० के० ३०/४।
४०. कालमाधव : वहीं, मकान नं० के० ३०/४।
४१. पापभक्षेश्वर : समीप में। मकान नं० के; ३२/३६।
४२. कालभैरव : प्रसिद्ध। मकान नं० के० ३२/२२।
४३. दण्डपाणिभैरव : दण्डपाणि गली में। मकान नं० के० ३१/४९।
४४. (क) कालेश्वर : वहीं, मकान नं० के० ३१/४९।
(ख) महाकालेश्वर : कालभैरव के पूर्व। मकान नं० के० ३२/२४।
४५. धनधान्येश्वर : रतनफाटक के पास। मकान नं० के० १७/९ के पास।
४६. त्रिलोचन : प्रसिद्ध।
४७. कामेश्वर : त्रिलोचनगंज में। प्रसिद्ध।
४८. मत्स्योदरी तीर्थ : मछोदरी का तालाब।
४९. ओंकारेश्वर : ओंकारेश्वर मुहल्ले में। मकान नं० ए० ३३/२३।
५०. तारकुण्ड तीर्थ : समीप में। पुराना कपालमोचन तीर्थ।
५१. सुमन्त्वीश्वर : हनुमान फाटक पर। मकान नं० ए० ३१/९१।
५२. ऋणमोचन तीर्थ : समीप में।
५३. पापमोचन तीर्थ : समीप में।
५४. कपालमोचन तीर्थ : लाटभैरव का तालाब, जो वर्त्तमान काल में कपालमोचन नाम से प्रतिष्ठित है।
५५. कुलस्तम्भ : लाटभैरव नाम से प्रसिद्ध।
५६. ऐंतरणी तीर्थ : वैतरणी से पश्चिम।
५७. वैतरणी तीर्थ : प्रसिद्ध।
५८. शैलेश्वर : मढ़ियाघाट, वरणातट।
५९. शैलपुत्री दुर्गा : वहीं पर।

६०. ढुण्डन-मुण्डनगण : वहीं पर।
६१. उत्तरार्ककुण्ड : वकरियाकुण्ड, अलईपुरा में।
६२. उत्तरार्क : वहीं पर अलईपुरा में। मूर्त्ति लुप्त।
६३. कर्कोटक तीर्थ : नागकुआँ। प्रसिद्ध।
६४. ज्वरहरेश्वर : वागीश्वरी के पास। मकान नं० जे० ६/८४।
६५. सिद्धेश्वर : वहीं।
६६. वागीश्वरी देवी : जैनपुरा में।
६७. शिवगंगा तीर्थ : ईश्वरगंगी तालाव।
६८. अग्नीध्रेश्वर : नरहरिपुरा में जागेश्वर महादेव नाम से प्रसिद्ध। मकान नं० के० ६६/४।
६९. जैगीषव्य गुहा : समीप में। मकान नं० के० ६६/३।
७०. अपमृत्युहरेश्वर : मृत्युंजय नाम से प्रसिद्ध। मकान नं० के० ५२/३९।
७१. वृद्धकालेश्वर : वहीं पर। मकान नं० के० ५२/३९।
७२. महाकालेश्वर : वहीं। " "
७३. दक्षेश्वर : वहीं। " "
७४. धन्वन्तरीश्वर : वहीं। " "
७५. मणिप्रदीपकुण्ड : लुप्त।
७६. मणिप्रदीप नाग : वहीं नागनाथ मुहल्ले में। लुप्त।
७७. असितांग भैरव : वृद्धकाल के घेरे में सर्वेश्वर-मन्दिर में। मकान नं० के० ५२/३९।
७८. कृत्तिवासेश्वर : हरतीरथ के पास वृद्धकाल के दक्षिण। मकान नं०के०४६/२३।
७९. रत्नेश्वर : वहीं सड़क पर। मकान नं० के ५३/४०।
८०. रत्नचूड तीर्थ : समीप में लुप्त।
८१. अम्बिकेश्वर : समीप में। मकान नं० के० ५३/३८।
८२. हंसतीर्थ : हरतीरथ का पोखरा नाम से प्रसिद्ध।
८३. मन्दाकिनी तीर्थ : मैदागिन का तालाब प्रसिद्ध।
८४. हृषीकेश : मध्यमेश्वर के पास।
८५. मध्यमेश्वर : मैदागिन के उत्तर।
८६. जम्बुकेश्वर : बड़े गणेश पर। मकान नं० के० ५८/१०३।
८७. महाराज विनायक : बड़े गणेश। मकान नं० के० ५८/१०३।
८८. सिद्ध्यष्टकेश्वर : वहीं पर। मकान नं० के० ५८/१०३।
८९. कन्दुकेश्वर : भूतभैरव पर। मकान नं० के० ६३/२९।
९०. भूतभैरव : प्रसिद्ध। मकान नं० के० ६३/२८।
९१. ज्येष्ठा गौरी : समीप में। मकान नं० के० ६३/२४।
९२. ज्येष्ठेश्वर : वहीं पर। मकान नं० के० ६२/१४४।
९३. ज्येष्ठविनायक : उसी मन्दिर में। मकान नं० के० ६२/१४४।

९४.	चतुःसमुद्रकूप	:	काशीपुरा की सड़क पर।
९५.	काशीदेवी	:	वहीं पर। प्रसिद्ध।
९६.	घण्टाकर्णेश्वर	:	कर्णघण्टा पर। मकान नं० के० ६०/६७।
९७.	घण्टाकर्णतीर्थ	:	वहीं। मकान नं० के० ६०/६७ में।
९८.	महोदरगण	:	वहीं।
९९.	द्वारविनायक	:	जो विनायक ब्रह्मनाल में अथवा पाँच पाण्डव-मन्दिर में।
१००.	ढुण्ढिराज	:	प्रसिद्ध।
१०१.	अन्नपूर्णा	:	प्रसिद्ध।
१०२.	विश्वेश्वर	:	प्रसिद्ध।

उत्तर मानस-यात्रा नाम से इस यात्रा के सम्बन्ध में 'गुरुचरित्र' (पन्द्रहवीं शताब्दी) में जो क्रम दिया है, उसके अनुसार यात्री पंचगंगा में स्नान करके मार्ग के तीर्थों का दर्शन-पूजन करता हुआ विश्वेश्वर तथा मुक्तिमण्डप में पहुँचता है और वहाँ से यात्रा आगे चलती है। इस सूची में केवल ६८ तीर्थों के नाम हैं। इनमें कुछ के विषय में तो प्रमाद समझ पड़ता है; क्योंकि वे उत्तरयात्रा में नहीं आ सकते जैसे केदार तथा ईशानेश्वर, (सम्भवतः, निवासेश्वर का भ्रमाश्रित नाम) और कुछ यात्राक्रम में अपने स्थान से हट गये हैं। कुछ नये नाम भी मिलते हैं। इनमें सबसे महत्त्वपूर्ण नाम क्षेत्रपाल का है। कालभैरव तथा कालेश्वर के बीच में यह नाम मिलता है—और कालभैरव के पीछे केदार के ठीक सामने क्षेत्रपाल की प्राचीन मूर्त्ति इस समय भी वर्त्तमान है, जो यथार्थतः काशी के क्षेत्रपाल दण्डपाणि की प्राचीन मूर्त्ति। यह अविमुक्तेश्वर अथवा विश्वेश्वर-मन्दिर से हटाई गई और बाद में यहाँ स्थापित हुई थी। इसमें मध्य में दण्डपाणि तथा उनके दोनों ओर उनके सहायक परिचारक उद्भ्रम तथा सम्भ्रम की मूर्त्तियाँ हैं जो नवीं अथवा दसवीं शताब्दी की जान पड़ती हैं। इसी प्रकार, कालभैरव के पास ही नवग्रह के मन्दिर का भी उल्लेख है। 'शेरिंग' ने भी इस मन्दिर का नामांकन किया है और यह अब भी वर्त्तमान है। बड़े गणेश का नाम इसमें वक्रतुण्ड मिलता है। वरणापार के तीर्थों, अर्थात् वृषभध्वज तथा ज्वालानृसिंह के नाम भी इस सूची में हैं। जलशायी का भी नाम मिलता है और सबसे बड़ी बात यह है कि हनुमान्‌जी के मन्दिर का भी उल्लेख है। जलशायी तथा मोदादि पंचविनायक के बीच में यह स्थान कहा गया है। इस सूची के पूर्व कहीं भी हनुमान्‌जी के दर्शन-पूजन का उल्लेख काशी के सम्बन्ध में देखने में नहीं आया। ज्ञानवापी का तो यहाँ उल्लेख नहीं, किन्तु ज्ञानेश्वर का नाम है। आजकल ज्ञानेश्वर का मन्दिर लाहौरी टोला में है, परन्तु इस सूची से जान पड़ता है कि पन्द्रहवीं शती ईसवी के अन्त में ज्ञानवापी के पास ज्ञानेश्वर का शिवलिंग था, जो उसके बाद नष्ट हुआ। एक और नया नाम सम्भ्रम का भी यहाँ मिलता है, जो दण्डपाणि के सहायकों में एक का है। यह नाम अविमुक्तेश्वर तथा विश्वनाथ के बीच में आया है, जिससे यही समझ पड़ता है कि वहीं दण्डपाणि के समीप ही सम्भ्रम की भी पूजा होती थी।

(ख) दक्षिण दिग्यात्रा अथवा दक्षिण मानस-यात्रा : यह यात्रा भी विश्वेवर से प्रारम्भ होती है और इसमें यथानिर्दिष्ट तीर्थों का दर्शन-पूजन किया जाता है :

विवरण : मानचित्र-सं० –४

१. शैलेश्वर
२. शैलेश्वरी
३. हुण्डनेश
४. मुण्डनेश
५. हुण्डनगण
६. मुण्डनगण
७. लाटभैरव
८. विश्वकर्मेश्वर
९. सुमन्त्वादित्य तथा सुमन्त्वीश्वरं
१०. कपालमोचन
११. ओंकारेश्वर
१२. अघोरोद कूप
१३. अकार मन्दिर
१४. मकार मन्दिर
१५. तक्षकेश्वर
१६. ज्वरहरेश्वर
१७. आम्नातकेश्वर
१८. सिद्धेश्वर
१९. महामुण्डेश्वर
२०. महामुण्डा चण्डी (वागेश्वरी)
२१. स्कन्दमाता दुर्गा
२२. अश्वारूढा
२३. कर्कोटकवापी (नागकुआँ)
२३(क). दृमिचण्डेश्वर (मल्लू हलवाई का मन्दिर)
२४. हेरम्बविनायक
२५. पञ्चास्यविनायक
२६. विमलेश्वर
२७. पिशाचेश्वर
२८. पितृकुण्ड
२९. छागलेश्वर
३०. पित्रीश्वर
३१. क्षिप्र प्रसादन विनायक
३२. बटुकभैरव
३३. घ्रण्णेश्वर
३४. क्रोधन भैरव
३५. कामाक्षा देवी
३६. वैद्यनाथ
३७. शंकुकर्णेश्वर
३८. शंखोद्धार-तीर्थ
३९. कुरुक्षेत्र-तालाब
४०. स्थाणु—१
४२. स्थाणु—२

१.	विश्वेश्वर	:	प्रसिद्ध।
२.	अविमुक्तेश्वर	:	विश्वनाथ-मन्दिर में तथा मस्जिद के फाटक के सामने धर्मशाला में।
३.	शुक्रेश्वर	:	कालिका गली में। मकान नं० डी० ८/३०।
४.	शुक्रकूप	:	वहीं पर, शुक्रेश्वर के पास में।
५.	महाकाली	:	वहीं, मकान नं० डी० ८/१७।
६.	चण्डीचण्डीश्वर	:	वहीं, मकान नं० डी० ८/२७।
७.	धर्मेश्वर	:	धर्मकूप में मीरघाट के पास। मकान नं० डी० २/२१।
८.	धर्मकूप	:	वहीं।
९.	विश्ववाहुका देवी	:	समीप ही। मकान नं० डी० २/१३।
१०	दिवोदासेश्वर	:	विश्ववाहुका के मन्दिर में। मकान नं० डी० २/१३।
११.	विशालाक्षी देवी	:	वहीं, मकान नं० डी० ३/८५।
१२.	आशाविनायक	:	समीप में।
१३.	वृद्धादित्य	:	मीरघाट पर। मकान नं० डी० ३/१६।
१४.	आनन्दभैरव	:	वहीं, समीप गली में।
१५.	त्रिपुरा भैरवी	:	त्रिपुरा भैरवी मुहल्ले में। मकान नं० डी० ५/२४।
१६.	वाराही देवी	:	वाराही घाट पर। मकान नं० डी० १६/८४।
१७.	रामेश्वर	:	मानमन्दिर घाट। मकान नं० डी० १६/३४ के पास।
१८.	सोमेश्वर	:	वहीं, सोमेश्वर के समीप।
१९.	दाल्भ्येश्वर	:	वहीं, समीप में। मकान नं० डी० १६/२८।
२०.	लक्ष्मीनारायण	:	मानमन्दिर।
२१.	प्रयागमाधव	:	दशाश्वमेध पर। मकान नं० डी० १७/१११।
२२.	संकर्षणतीर्थ	:	मानमन्दिर घाट।
२३.	शूलटंकेश्वर	:	दशाश्वमेध घाट पर।
२४.	दशाश्वमेधतीर्थ	:	" " "
२५.	आदिवाराहेश्वर	:	दशाश्वमेध, राम-मन्दिर के पास। मकाननं०डी० १७/१११।
२६.	दशाश्वमेधेश्वर	:	बड़ी शीतलाजी में।
२७.	बन्दी देवी	:	दशाश्वमेध पर। मकान नं० डी० १७/१००।
२८.	शीतला देवी	:	दशाश्वमेध घाट पर।
२९.	चतुःषष्टियोगिनी	:	राणा महल चौसट्ठी घाट।
३०.	कृष्णगोपाल	:	पास में।
३१.	पातालेश्वर	:	बंगाली टोला में। मकान नं० डी० ३२/११७ के द्वार पर।
३२.	पुष्पदन्तेश्वर	:	समीप में। मकान नं० डी० ३२/१०२।
३३.	गरुडेश्वर	:	समीप में। मकान नं० डी० ३२/३९ए।
३४.	तिलभाण्डेश्वर	:	पाण्डे की हवेली में।
३५.	रेवातीर्थ	:	रेउड़ी तालाब।

३६.	मानसरोवर तीर्थ	:	मानसरोवर तालाब। अब लुप्त।
३७.	हंसेश्वर	:	समीप में। लुप्त।
३८.	क्षेमेश्वर	:	समीप में। मकान नं० बी० १४/१२।
३९.	रुक्मांगदेश्वर	:	समीप में। चौकी घाट के ऊपर।
४०.	चित्रग्रीवा देवी	:	कुमारस्वामी मठ। मकान नं० बी० १४/११८।
४१.	गौरीकुण्ड	:	केदार घाट पर।
४२.	केदारेश्वर	:	प्रसिद्ध।
४३.	चिन्तामणि गणेश	:	लालीघाट के ऊपर सड़क पर।
४४.	हनुमान्	:	हनुमान् घाट पर बड़े हनुमान्।
४५.	हनुमदीश्वर	:	" " "
४६.	रामेश्वर	:	वहीं हनुमान्‌जी के घेरे में।
४७.	रामचन्द्र	:	समीप में।
४८.	सिद्धकुण्ड	:	मनिया गड़ही।
४९.	कूटदन्त विनायक	:	क्रमिकुण्ड पर।
५०.	स्वप्नेश्वर	:	१. बादशाह गंज में। २. लोलार्क के समीप।
५१.	स्वप्नेश्वरी देवी	:	१. वहीं पर। २. लोलार्क के समीप।
५२.	हयग्रीव तीर्थ	:	आनन्दमयी अस्पताल के पास। लुप्त।
५३.	हयग्रीवेश्वर	:	वहीं पर।
५४.	पाराशरेश्वर	:	लोलार्क पर। मकान नं० बी० २/२१।
५५.	अमरेश्वर	:	वहीं पर समीप में। मकान नं० बी० २/२०।
५६.	अर्कविनायक	:	लोलार्क पर।
५७.	लोलार्क	:	प्रसिद्ध। भदैनी में।
५८.	असिसंगम	:	प्रसिद्ध।
५९.	असिमाधव	:	समीप में।
६०.	पुष्करतीर्थ	:	गुदरदास के स्थान के पास।
६१.	स्थाण्वीश्वर	:	१. कुरुक्षेत्र तालाब पर। २. समीप में मकान नं० बी० २/२४७।
६२.	कुरुक्षेत्रतीर्थ	:	वहीं।
६३.	रणस्तम्भ	:	वहीं।
६४.	महामाया देवी	:	दुर्गाकुण्ड पर।
६५.	कुक्कुटेश्वर	:	दुर्गाजी के घेरे में।
६६.	द्वारेश्वर	:	वहीं।
६७.	दुर्गाकुण्डतीर्थ	:	वहीं प्रसिद्ध।
६८.	दुर्गाजी	:	वहीं प्रसिद्ध।
६९.	वराटिका देवी तथा मुकुटकुण्ड	:	मुकुटकुण्ड पर गोई बाई के नाम से प्रसिद्ध। मकान नं० बी० २७/२०।

७०.	मुकुटेश्वर	:	वहीं। लुप्त।
७१.	द्वारावती तीर्थ	:	शंखूधारा।
७२.	द्वारावतीश्वर	:	समीप में।
७३.	दुर्वासा ऋषि	:	समीप में।
७४.	कृष्णरुक्मिणी	:	समीप में।
७५.	वैद्यनाथ	:	कामाक्षा पर बैजनत्था नाम से प्रसिद्ध।
७६.	कामाक्षा देवी	:	वटुकभैरव के पास। प्रसिद्ध।
७७.	वटुकभैरव	:	प्रसिद्ध।
७८.	रामेश्वर	:	रामकुण्ड पर।
७९.	रामकुण्ड	:	प्रसिद्ध लक्सा मुहल्ले में।
८०.	लवेश्वर	:	वहीं।
८१.	कुशेश्वर	:	वहीं।
८२.	महालक्ष्मीतीर्थ	:	लक्ष्मीकुण्ड।
८३.	महालक्ष्मी देवी	:	वहीं।
८४.	सूर्यकुण्ड	:	सूर्यकुण्ड मुहल्ले में।
८५.	साम्बादित्य	:	वहीं।
८६.	द्विमुख विनायक	:	वहीं दालान में।
८७.	दीप्ता शक्ति	:	वहीं।
८८.	गोदावरी तीर्थ	:	गोदौलिया में। लुप्त।
८९.	गौतमेश्वर	:	गोदौलिया पर, काशिराज के मन्दिर के पास। मकान नं० डी ३७/३३।
९०.	त्र्यम्बकेश्वर	:	मकान नं० डी० ३८/२१ बड़ादेव मुहल्ले में त्रिलोकनाथ नाम से प्रसिद्ध।
९१.	समुद्रेश्वर	:	कोतवालपुरा लाजपत राय रोड पर। मकान नं० डी० ३७।३२ में सड़क की पटरी के छोटे शिवालय में।
९२.	कोटिलिंगेश्वर	:	साक्षीविनायक की गली में।
९३.	मनःप्रकामेश्वर	:	साक्षीविनायक पर। मकान नं० डी० १०/५०।
९४.	साक्षीविनायक	:	प्रसिद्ध।
९५.	ढुण्ढिराज	:	प्रसिद्ध।
९६.	नैमिषारण्यतीर्थ	:	ब्रह्मावर्त्त कूप। देवदेव के सामने अपारनाथ मठ में, मकान नं० सी० के० ३७/१२।
९७.	अन्नपूर्णा	:	प्रसिद्ध।
९८.	विश्वेश्वर	:	प्रसिद्ध।

पन्द्रहवीं शताब्दी ईसवी में यह यात्रा दक्षिण मानस-यात्रा के नाम से प्रसिद्ध थी। 'गुरुचरित्र' में इस यात्रा के तीर्थों की जो सूची दी हुई है, वह इस सूची से छोटी है। किन्तु, उसमें कई नये तीर्थ के नाम मिलते हैं, जिनमें सबसे महत्त्वपूर्ण वृद्धकेदार हैं, जो

वर्त्तमान यात्रा की सूची में नहीं हैं। इनका मन्दिर हरिश्चन्द्रघाट के ऊपर है। केदार का यही प्राचीन स्थान था। तोड़फोड़ के वाद उनकी स्थापना वर्त्तमान स्थान पर हुई।

१३. जलतीर्थों की यात्राएँ :

जिस प्रकार शिवायतनों की संख्यानुसार यात्राएँ कही गई हैं, उसी प्रकार जलतीर्थों की भी यात्राओं का पुराणों में वर्णन है।

क. एकतीर्थी यात्रा :

चक्रपुष्करिणीतीर्थे स्नातव्यं प्रतिवासरम्। (ब्र०वै०पु०, का० द०, पृ०१५७)

अर्थात्, मणिकर्णिका में नित्य स्नान करना चाहिए।

ख. द्वितीर्थी यात्रा :

इस यात्रा के दो क्रम हैं :

१. प्रातः पञ्चनदे स्नात्वा मध्याह्ने मणिकर्णिकाम्। (लिं०पु०, का०द०, पृ०१५७)

२. प्रातर्दशाश्वमेघे च मध्याह्ने मणिकर्णिकाम्। (शिवरहस्ये का०द०, पृ०१५७)

अर्थात्, प्रातः पंचगंगा में अथवा दशाश्वमेध में स्नान तथा मध्याह्न में मणिकर्णिका में स्नान करना चाहिए।

ग. त्रितीर्थी यात्रा :

काश्यां तीर्थत्रयी श्रेष्ठा नित्यं सेव्या प्रयत्नतः।
आदौ प्रयागे तु स्नात्वा पञ्चगङ्गां ततः परम्॥
ततः पुष्करिणीतीर्थे स्नात्वा मुच्येत बन्धनात्।
(लिंगपुराण, का० द०, पृ० १५७)

अर्थात्, सबसे पहले दशाश्वमेघ पर प्रयागतीर्थ में स्नान करना, फिर पंचगंगा में और सबके बाद मणिकर्णिका में। दशाश्वमेघघाट पर प्रयागेश्वर के पास एक सोता गंगा में पश्चिम से पूर्व की ओर जाकर गिरता है, वहीं प्रयागतीर्थ है। प्रयागेश्वर को इस समय लोग ब्रह्मेश्वर, कहने लगे हैं।

घ. चतुस्तीर्थी यात्रा :

पुण्ये पिलिप्पिलातीर्थे त्रिसरित्परिसेविते।
ततः पञ्चनदे स्नात्वा मणिकर्णिह्रदे ततः॥
ततो ज्ञानोदवाप्यान्तु स्नात्वा विश्वेशमर्चयेत्।
(का०खं०, का०द०, पृ० १५६)

अर्थात्, पहले त्रिलोचन घाट पर पिलिप्पिला तीर्थ में, फिर पंचगंगा में, तदुपरान्त मणिकर्णिका में और अन्त में ज्ञानवापी में स्नान करना चाहिए।

ङ. पंचतीर्थी यात्रा :

इस यात्रा से सम्बद्ध तीर्थों के विषय में चौथे अध्याय में विस्तारपूर्वक लिखा जा चुका है, परन्तु वहाँ यात्राक्रम नहीं वतलाया गया। अतएव, यहाँ उसका वर्णन किया जाता है :

प्रथमं चासिसंभेदं तीर्थानां प्रवरम्परम्।
ततो दशाश्वमेधाख्यं सर्वतीर्थनिषेवितम्॥

ततः पादोदकं तीर्थमादिकेशवसन्निधौ ।
ततः पञ्चनदम्पुण्यं स्नानमात्रादघौघहृत् ॥
एतेषामपि तीर्थानां चतुर्णामपि सत्तम ।
पञ्चमं मणिकर्णाख्यं मनोऽवयवशुद्धिदम् ॥ (का० खं०, ८४।१०८-११०)

अर्थात्, सबसे पहले असिसंगम, तदुपरान्त क्रम से दशाश्वमेध, पादोदक तीर्थ (वरणा-संगम पर), पंचगंगा तथा अन्त में मणिकर्णिका का स्नान करने को पंचतीर्थी यात्रा कहते हैं, जिसका बड़ा माहात्म्य है। इन पाँच तीर्थों में स्नान करने के उपरान्त इनके निकट देवस्थानों का दर्शन-पूजन भी इसका अंग है। इस प्रकार, इस यात्रा का निम्नांकित क्रम है, जो आज कल भी प्रचलित है :

१. असीसंगम-स्नान तथा असीमाधव (तुलसीघाट के पास), त्रिविक्रम (वहीं), असीसंगमेश्वर (रानी सुरसर के मन्दिर के द्वार पर), लोलार्क (भदैनी में) और अर्कविनायक (लोलार्क के पूर्व) के दर्शन-पूजन के वाद, २. दशामेश्वध-स्नान और तदनन्तर दशाश्वमेधेश्वर (वड़ी शीतला में), वन्दी देवी, मकान नं० डी, १७।१०० में, शूलटंकेश्वर (घाट पर), आदि वाराह (राम-मन्दिर के समीप), सोमेश्वर (मानमन्दिर में) दाल्भ्येश्वर (वहीं समीप में), तथा प्रयागमाधव (मकान नं० डी० १७।१११ में) का दर्शन-पूजन किया जाता जाता है। इसके वाद ३. वरणासंगम पर पादोदकतीर्थ में स्नान तथा आदिकेशव, संगमेश्वर (नीचे-मन्दिर में), खर्वविनायक (राजघाट के किले में पास ही), केशवादित्य (आदिकेशव के मन्दिर में), ज्ञानकेशव (वहीं), नक्षत्रेश्वर (वहीं) और वेदेश्वर (समीप में ही) का दर्शन-पूजन करके लौटते हुए ४. पंचगंगा में स्नान और तदुपरान्त बिन्दुमाधव, गभस्तीश्वर तथा मंगला-गौरी का दर्शन-पूजन होता है और अन्त में ५. मणिकर्णिका में स्नान और मणिकर्णी देवी (चक्र-पुष्करिणी में), सिद्धविनायक (वहीं) और मणिकर्णीश्वर (गोमठ में) का दर्शन-पूजन, तथा अन्त में विश्वेश्वर, अन्नपूर्णा तथा ज्ञानवापी की अर्चना करके मुक्तिमण्डप में यात्रा की समाप्ति होती है।

च. षडंग तीर्थयात्रा :

पादोदकासिसंभेदज्ञानोदमणिकर्णिकाः ।
षडङ्गोऽयं महायोगो ब्रह्मधर्मह्रदावपि ॥ (त्रि० से०, पृ० २६२)

अर्थात्, वरणासंगम पर पादोदक तीर्थ, असीसंगम, ज्ञानवापी, मणिकर्णिका, ब्रह्मेश्वर के समीप ब्रह्महृद (बालमुकुन्द के चौहट्टा में ब्रह्मेश्वर हैं) तथा पंचगंगा इन छह तीर्थों के स्नान को षंडगतीर्थी कहते हैं। ब्रह्महृद अव लुप्त है। उसके स्थान पर अहल्याबाई घाट पर गंगाजी में स्नान होता है।

१४. नवगौरी यात्रा :

पाँचवें अध्याय में गौरीपीठों का वर्णन करते हुए इस विषय की पूरी विवेचना हो चुकी है और जैसा वहाँ कहा जा चुका है, इस यात्रा में प्रत्येक गौरी के पूजन के पूर्व वहाँ के तीर्थों में स्नान का नियम है। यह यात्रा प्रत्येक मास के शुक्लपक्ष की तृतीया को होती है, परन्तु चैत्र शुक्ल-तृतीया का विशेष माहात्म्य है। पुराने समय में चैत्र नवरात्र में नवगौरी का पूजन उसी प्रकार क्रमपूर्वक होता था, जैसे आश्विन नवरात्र में नवदुर्गा का पूजन। अर्थात्, प्रतिपदा से नवमी तक प्रत्येक दिन एक-एक गौरी का क्रम से पूजन होता था।

१५. नवदुर्गा यात्रा :

इसके दो स्वरूप हैं। एक में तो दुर्गाकुण्ड की दुर्गाजी की यात्रा प्रत्येक अष्टमी तथा चतुर्दशी को होती है और यदि इन दिनों मंगलवार पड़ जाय, तो माहात्म्य बढ़ जाता है। इसके अतिरिक्त, दोनों नवरात्रों में प्रति दिन एक-एक देवीपीठ की यात्रा क्रम से होती है, जिसका विवेचन पाँचवें अध्याय में विस्तारपूर्वक किया जा चुका है :

अष्टम्यां च चतुर्दश्यां भौमवारे विशेषतः।
सम्पूज्या सततं काश्यां दुर्गा दुर्गतिनाशिनी॥
नवरात्रं प्रयत्नेन प्रत्यहं सा समर्चिता।
नाशयिष्यति विघ्नौघान्सुमतिश्च प्रदास्यति॥ (का०खं०, ७२।८२)

१६. विघ्नेश्वर-यात्रा अथवा विनायक-यात्रा :

लिंगपुराण में इस यात्रा के दो स्वरूप दीख पड़ते हैं। एक तो तीर्थ में वर्त्तमान विनायकपीठों की अर्चना के रूप में और दूसरा इस उद्देश्य से कि विघ्नकर्त्ता गणेश काशीवास में विघ्न न करें। प्रथम दृष्टि से वहाँ केवल चार गणेशपीठों का उल्लेख है जैसा ऊपर पाँचवें अध्याय में स्पष्ट किया जा चुका है। विघ्ननाश के लिए जिन गणेश-पीठों की वन्दना-अर्चना होती है, उनके नाम भी वहीं दिये जा चुके हैं।

काशीखण्ड के अनुसार, विश्वेश्वर-मन्दिर की आठों दिशाओं में विनायकों के सात आवरण हैं। इनकी यात्रा कठिन है और एक दिन में सम्भव नहीं हैं; क्योंकि पहले आवरण में क्षेत्र की पूरी प्रदक्षिणा होती है और इसके वाद इस प्रदक्षिणा की परिधि निरन्तर छोटी होती जाती है। इस प्रकार, विश्वनाथजी की सात परिक्रमा हो जाती हैं और साथ-ही-साथ सभी विनायकों का दर्शन-पूजन भी हो जाता है। काशीखण्ड के ९७वें अध्याय में उनके नाम तथा स्थान-निर्देश दिये हुए हैं। तदनुसार नीचे लिखा जाता है :

प्रथम आवरण :

१. अर्कविनायक : लोलार्ककुण्ड के पास गंगातट पर।
२. दुर्गविनायक : दुर्गाकुण्ड पर।
३. भीमचण्डविनायक : भीमचण्डी गाँव में।
४. देहलीविनायक : चौखण्डी गाँव मे।
५. उद्दण्डविनायक : रामेश्वर के पास भुइली गाँव में।
६. पाशपाणिविनायक : सदर बाजार में।
७. खर्वविनायक : वरणा-संगम आदिकेशव के पास।
८. सिद्धिविनायक : मणिकर्णिका घाट पर अमेठी के शिवालय के समीप।

द्वितीय आवरण :

९. लम्बोदर विनायक (चिन्तामणिविनायक) : केदारजी के पास लाली घाट के ऊपर सड़क पर।
१०. कूटदन्त विनायक : कृमिकुण्ड मुहल्ले में बावा कीनाराम की समाधि के समीप।
११. शालकटंकटविनायक : मड़ुआडीह बाजार में तालाब के पास।

१२. कूष्माण्डविनायक : फुलवरिया गाँव में चण्डीश्वर के पास।

१३. मुण्डविनायक : चण्डीदेवी के मन्दिर में, सदर वाजार में।

१४. विकटद्विजविनायक : धूपचण्डी देवी के मन्दिर में पिछवाड़े (मकान नं० जे० १२/१३४)।

१५. राजपुत्रविनायक : राजघाट के किले में।

१६. प्रणवविनायक : त्रिलोचन घाट। हिरण्यगर्भेश्वर में।

तृतीय अवरण :

१७. वक्रतुण्ड विनायक : (सरस्वतीविनायक) चौंसट्ठी घाट पर, राणामहल में (मकान नं० डी० २०/४)।

१८. एकदन्त विनायक : बंगाली टोला में पुष्पदन्तेश्वर के द्वार पर। मकान नं० डी० ३२/१०२।

१९. त्रिमुख विनायक : सिगरा के टीले पर त्रिपुरान्तकेश्वर के समीप।

२०. पंचास्य विनायक : पिशाचमोचन पर।

२१. हेरम्ब विनायक : वहीं पर वाल्मीकि के टीले पर।

२२. विघ्नराज विनायक : चित्रकूट के तालाब पर।

२३. वरद विनायक : राजघाट से प्रह्लाद घाट की सड़क पर।

२४. मोदकप्रिय विनायक : त्रिलोचन पर आदि महादेव के मन्दिर में।

चतुर्थ आवरण :

२५. अभयद विनायक : दशाश्वमेघ घाट पर शूलटंकेश्वर के मन्दिर में। (मकान नं० डी० १७/१११ के नीचे)।

२६. सिंहतुण्ड विनायक : बालमुकुन्द के चौहट्टा के पास ब्रह्मेश्वर के मन्दिर में, मकान नं० डी० ३३/६६।

२७. कूणिताक्ष विनायक : लक्ष्मीकुण्ड पर।

२८. क्षिप्रप्रसादन विनायक : पितरकुण्डा पर।

२९. चिन्तामणि विनायक : ईश्वरगंगी पर जागेश्वर मन्दिर में। मकान नं० के० ६६/४।

३०. दन्तहस्त विनायक : बड़े गणेश के घेरे में।

३१. पिचिण्डिल विनायक : प्रह्लादघाट पर।

३२. उद्दण्डमुण्ड विनायक : त्रिलोचन के घेरे में, वाराणसी देवी के मन्दिर में।

पंचम आवरण :

३३. स्थूलदन्त विनायक : मानमन्दिरघाट पर सोमेश्वर मन्दिर के द्वार पर। मकान नं० डी० १६।३४ के पास।

३४. कलिप्रिय विनायक : साक्षीविनायक पर मनःप्रकामेश्वर के मन्दिर में (मकान नं० डी० १०/५०)।

३५. चतुर्दन्त विनायक : सनातन धर्म कालेज के पास ध्रुवेश्वर के मन्दिर में।

३६. द्वितुण्ड विनायक (द्विमुख गणेश) : सूर्यकुण्ड पर साम्वादित्य के मन्दिर की दालान में।

३७. ज्येष्ठविनायक : काशीपुरा में, ज्येष्ठेश्वर में। (मकान नं०के० ६२/१४४)।

३८. गजविनायक : मछरहट्टा में भारभूतेश्वर के मन्दिर में।
३९. कालविनायक : रामघाट पर सीढ़ियों पर पेड़ के नीचे।
४०. नागेश विनायक : १. भोंसला घाट पर नागेश्वर-मन्दिर में। २. महथा घाट पर।

षष्ठ आवरण:

४१. मणिकर्णिविनायक : मणिकर्णिका पर पुलिस चौकी के पास।
४२. आशाविनायक : मीरघाट हनुमान्‌जी के मन्दिर में।
४३. सृष्टिविनायक : कालिका गली में।
४४. यक्षविनायक : रुद्रप्रसाद के मन्दिर में।
४५. गजकर्ण विनायक : कोतवाल पुरा बाँसफाटक सिनेमा के पीछे गली में ईशानेश्वर के मन्दिर में।
४६. चित्रघण्ट विनायक : चौक में १. रानीकुआँ पर, २. जगन्नाथ दास बल-भद्रदास की दूकान के पास।
४७. स्थूलजंघ विनायक : इनके स्थान के विषय में मतभेद है। त्रिपाठीजी इनका नाम मित्रविनायक तथा स्थान मंगला गौरी के पास लिखते हैं। गोरजी ने इनका नाम ही इस सूची में नहीं रखा। वर्त्तमान काल में नीचीबाग के चित्रघण्ट विनायक में दोनों का पूजन होता है। मूर्त्तियाँ भी उस मन्दिर में दो हैं। सम्भवतः, दोनों ही विनायक वहाँ पर हैं। जान पड़ता है कि तोड़फोड़ के बाद चित्रघण्ट विनायक की इस स्थान पर स्थापना हुई। कालान्तर में चित्रघण्ट विनायक का पुराने स्थान पर भी मन्दिर बन गया, जो जगन्नाथदास बलभद्रदास की दूकान के पास है।
४८. मंगलविनायक : मंगलागौरी के मन्दिर में।
४८. (क) मित्रविनायक : आत्मावीरेश्वर में, दालान में।

सप्तम आवरण:

४९. मोदविनायक : काशी-करवट के मन्दिर में।(मकान नं० सी० के० ३१/१२)।
५०. प्रमोदविनायक : समीप के ही एक घर में। (मकान नं० सी० के० ३१/१६)।
५१. सुमुख विनायक : पास ही गली में (मकान नं० सी० के० ३५/८)।
५२. दुर्मुख विनायक : पास ही नैपालीखपड़े की गली में, एक मकान में (मकान नं० सी० के० ३४/६०)।
५३. गणनाथ विनायक : ढुण्ढिराज गली में खड़ी मूर्त्ति। यद्यपि ज्ञानवापी के पास भी एक विशालकाय मूर्त्ति पर गणनाथ का नाम पिछले तीन चार वर्षों के बीच लिख दिया गया है, परन्तु यह ठीक नहीं जान पड़ता।

५४. ज्ञानविनायक : स्थान लुप्त है। कुछ लोगों का मत है कि ये लांगलीश्वर-मन्दिर में हैं।

५५. द्वारविनायक : १. विश्वनाथ के पुराने मन्दिर के द्वार पर।
२. पंचपाण्डव-मन्दिर में।

५६. अविमुक्त विनायक : प्राचीन स्थान लुप्त है। विश्वनाथ-मन्दिर में अवि-मुक्तेश्वर के समीप पूजन होता है। कुछ लोग ज्ञान-वापी पर करते हैं। विश्वनाथ-मन्दिर में नैऋत्य कोण के देवी-मन्दिर में प्राचीन मूर्त्ति है, ऐसी किंवदन्ती है।

विनायक-यात्रा प्रत्येक मास के कृष्णपक्ष की चतुर्थी को होती है। यदि उस दिन मंगलवार पड़ जाय, तो विशेष माहात्म्य है।

कुर्यात्प्रति चतुर्थीह यात्रा विघ्नेशतुः सदा। (का०खं०, त्रि०से०, पृ०२३०)

१७. विष्णु यात्रा :

काशी में केशव, माधव, नारायण, वाराह, नृसिंह, गोविन्द, वामन इत्यादि रूप में विष्णु के अनेक पीठ हैं, जिनका विवेचन पाँचवें अध्याय में विस्तारपूर्वक हो चुका है और जैसा वहाँ कहा गया है कि काशी में प्रत्येक एकादशी को विष्णुयात्रा की परिपाटी है। उस दिन लोग अपनी शक्ति तथा सुविधा के अनुसार पाँचवें अध्याय में उल्लिखित विष्णुपीठों का दर्शन-पूजन करते हैं।

१८. आदित्य-यात्रा :

काशी में १४ आदित्यपीठ हैं, जिनकी यात्राओं के दिन पृथक्-पृथक् हैं; परन्तु रविवार को आदित्य-यात्रा सर्वत्र ही होती है और यदि उस दिन षष्ठी या सप्तमी भी मिल जाय, तो बहुत पुनीत योग माना जाता है। इनका स्थान-निर्देश, यात्रादिवस इत्यादि विषय पाँचवें अध्याय में विस्तारपूर्वक बताये जा चुके हैं :

रविवारे रवेर्यात्रा षष्ठ्यां वा रविसंयुजि।
तथैव रविसप्तम्यां कार्या दोषानुपत्तये॥
षष्ठीसप्तमीसंयोगे वारश्चेदंशुमालिनः।
योगोऽयं पद्मको नाम सहस्रार्कग्रहैः समः॥ (काशीदर्पण, पृ० १३६)

१९. भैरवयात्रा :

'कृत्यकल्पतरु' में भैरवयात्रा का कोई उल्लेख नहीं है, परन्तु काशीखण्ड में आठों दिशाओं में आठों भैरवों की स्थापना का वर्णन है :

रुरुश्चण्डोसिताङ्गश्च कपाली क्रोधनस्तथा।
उन्मत्तभैरवस्तद्वत्क्रमात्संहारभीषणौ ॥ (त्रि०से०, पृ० १९५)

इस वाक्य में 'तद्वत्क्रमात्' इस पद से यह स्पष्ट है कि ये क्रमपूर्वक आठों दिशाओं में प्रतिष्ठित थे। वर्तमान यात्राक्रम में यह दिशाओंवाली बात नहीं मिलती। यह भी एक उन समस्याओं में से है, जिसका समाधान ढूंढ़ना होगा। एक हस्तलिखित तालिका में एक श्लोक मिलता है, परन्तु यह कहाँ का है, यह उसमें नहीं लिखा है :

असिताङ्गो रुरुश्चण्डो क्रोध उन्मत्तभैरवः ।
कपाली भीषणश्चैव संहारोऽष्टम एव च ॥

इस समय जो अष्टभैरव-यात्रा होती हैं, उनके स्थान इस प्रकार हैं :

१. रुरुभैरव : १. हनुमान् घाट पर या २. गोमठ में।
२. चण्डभैरव : दुर्गाकुण्ड पर।
३. असितांगभैरव : वृद्धकाल में।
४. कपालीभैरव : लाटभैरव।
५. क्रोधनभैरव : कामाक्षा देवी के मन्दिर में।
६. उन्मत्तभैरव : भीमचण्डी के पास देवरा गाँव में।
७. संहारभैरव : पाटन दरवाजे के पास (मकान नं० ए० १/८३ में)।
८. भीषणभैरव : भूतभैरव सप्तसागर महल्ले में।

इनके अतिरिक्त काशीखण्ड में कंकालभैरव का भी उल्लेख है और वे मणिकर्णिका के समीप मकान नं० सी० के० ८/१८० में गली पर हैं। भैरवयात्रा प्रत्येक मास की अष्टमी तथा चतुर्दशी तथा प्रत्येक रविवार और मंगलवार को होती है। वर्त्तमान काल में कालभैरव-यात्रा का विशेष प्रचार है। अन्य भैरवपीठों की यात्रा कभी-कभी ही कोई-कोई भक्त करते हैं।

२०. सप्तर्षि-यात्रा :

काशीखण्ड के अठ्ठारहवें अध्याय में सप्तर्षियों द्वारा स्थापित शिवलिंगों का स्थान-निर्देश तथा माहात्म्य मिलता है। शिष्टाचार से ऋषिपंचमी के अतिरिक्त शुक्लपक्ष की सभी पंचमियों को भी यह यात्रा होती है।

१. अत्रीश्वर : गोकर्णेश्वर के समीप। लुप्त। अब नारद घाट पर मकान नं० डी० २५।११ में।
२. मरीचीश्वर : चोरुआ गड़हा के पास लुप्त।
३. पुलहेश्वर : ब्रह्मनाल पर स्वर्गद्वार के पश्चिम।
४. पुलस्त्येश्वर : वहीं समीप में। मकान नं० सी० के० ३३।४३ में।
५. अंगिरसेश्वर : १. जंगमवाड़ी में। २. स्वर्गद्वारी पर।
६. वशिष्ठेश्वर : १. वरणा-संगम के पार। २. वसिष्ठवामदेव में संकटाघाट पर और ३. ललिताघाट पर, जिस मन्दिर में गंगादित्य हैं।
७. कृत्वीश्वर : ककरहा घाट के सामने वरणा नदी के उस पार पेड़ के नीचे।

प्राचीन काल में संकटाघाट के ऊपर वसिष्ठवामदेव मन्दिर में इन दोनों ऋषियों की मनुष्याकार मूर्तियाँ भी थीं। जिनके स्थान पर अब केवल शिवलिंग ही बचे हैं। एक मूर्त्ति भी है :

वसिष्ठवामदेवौ च मूर्त्तिरूपधरावुभौ ।
द्रष्टव्यौयत्नतः काश्यां महाविघ्नविनाशिनौ ॥ (का० खं०, १००।८७)

२१. द्वादश ज्योतिर्लिंग-यात्रा :

१.	सोमनाथ	: मान मन्दिर घाट पर सोमेश्वर (मकान नं० डी० १६/३४) के समीप।
२.	मल्लिकार्जुन	: सिगरा में त्रिपुरान्तकेश्वर के टीले पर त्रिपुरान्तकेश्वर।
३.	महाकाल	: १. वृद्धकाल के घेरे में। २. कालभैरव के समीप मकान नं के० ३२।२४ में।
४.	ओंकारेश्वर	: कोइलावाजार में ओंकारेश्वर।
५.	वैद्यनाथ	: कमच्छा के समीप वैद्यनाथ। वैजनत्था के नाम से प्रसिद्ध।
६.	भीमशंकर	: काशी-करवट में (मकान नं० सी० के० ३११/२) भीमेश्वर नाम से।
७.	रामेश्वर	: १. मानमन्दिर घाट पर सोमेश्वर मन्दिर के पास (डी० १६/३४)। २. रामकुण्ड पर। ३. हनुमान् घाट पर। इनमें से मानमन्दिर घाट के रामेश्वर का ही प्राधान्य है; क्योंकि त्रिपुरा भैरवी के समीप यही स्थान है और सेतुवन्धयात्रा मान-मन्दिर घाट पर ही होती आई है।
८.	नागेश्वर	: १. वृद्धकाल में। २. भोंसलाघाट के समीप प्रसिद्ध।
९.	त्र्यम्वकेश्वर	: वड़ादेव मुहल्ले में पुरुषोत्तम भगवान् के मन्दिर (मकान नं० डी० ३८/२१) में त्रिलोकनाथ नाम से प्रसिद्ध।
१०.	केदार	: केदारेश्वर प्रसिद्ध।
११.	घुसृणेश्वर	: बटुकभैरव के समीप।
१२.	विश्वेश्वर	: प्रसिद्ध।

२२. सप्तपुरी-यात्रा :

अयोध्यादि सातों पुरियां काशी में वर्त्तमान हैं, ऐसा पुराणों का वचन है और इसी आधार पर काशी में जिन-जिन स्थानों में उनकी संस्थिति है, वहाँ उनपुरियों की यात्रा होती है। यह यात्रा नित्य करने का विधान है, परन्तु इस यात्रा की विशेषता यह है कि इसमें किस ऋतु में किस पुरी की यात्रा करना चाहिए, इसका भी निर्देश है। ब्रह्मवैवर्त्तपुराण के अनुसार शंखोद्धार (शंखूधारा) के पास द्वारका है। यहाँ की यात्रा वर्षा में, विन्दुमाधव के पास विष्णुकांची है, वहाँ की यात्रा शरद् ऋतु में, सोमेश्वर के वायव्यकोण में रामकुण्ड पर अयोध्या है जहाँ रामेश्वर नाम का शिवलिंग है, वहाँ की यात्रा ग्रीष्मऋतु में, असी-संगम पर गंगाद्वार, अर्थात् हरद्वार है, जहाँ की यात्रा शिशिर ऋतु में, वृद्धकाल से कृत्तिवासेश्वर तक उज्जयिनी अथवा अवन्तिका है, जहाँ की यात्रा हेमन्त ऋतु में, उत्तरार्क (वकरियाकुण्ड) से उत्तर वरणा नदी तक मथुरा है, जहाँ की यात्रा वसन्तऋतु में होती है। काशी और शिवकांची तो काशी में व्याप्त ही है। (ब्र० वै० पु०, का० र०, १३।२६–३९)

२३. पंचक्रोशी-यात्रा :

काशी की सभी यात्राओं की शीर्षस्थ होते हुए भी यह यात्रा सबसे अधिक विवादास्पद भी है। आधुनिक निवन्धकारों का मत है कि यह यात्रा प्राचीन नहीं है, वरन् तेरहवीं

शताब्दी ईसवी के आसपास इसका प्रारम्भ हुआ है। 'कृत्यकल्पतरु' के तीर्थविवेचनकाण्ड की भूमिका में डॉ० के० वी० आर० आयंगर लिखते हैं कि लक्ष्मीधर ने इस पंचक्रोशी यात्रा का उल्लेख नहीं किया है। अतएव, सम्भवतः पंचक्रोशी मार्ग का तथा उसपर स्थित मन्दिरों का बारहवीं शताब्दी के बाद तक अस्तित्व नहीं था और उसके बाद बहुत दिनों तक यह यात्रा परमावश्यक नहीं मानी जाती थीं। इस सम्बन्ध में उन्होंने शेरिंग के इस वाक्य का उल्लेख किया है कि पंचक्रोशी मार्ग पर स्थित कोई भी देवालय तीन शताब्दियों से अधिक पुराना नहीं है। यहाँ यह विचारणीय है कि केवल पंचक्रोशी मार्ग का ही क्यों, काशी का कोई भी देवालय तीन सौ वर्ष से अधिक का नहीं है। तो क्या इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि काशी में प्राचीन काल में कोई देवालय ही नहीं था? इतना ही नहीं, दैवयोग से पंचक्रोशी मार्ग पर ही एक देवालय दसवीं शताब्दी का बच गया है। यह है कर्दमेश्वर का शिवालय, जहाँ पंचक्रोशी यात्रा का पहला आवास होता है।

डॉ० आल्टेकर तथा काशी के इतिहासकार का भी पंचक्रोशी यात्रा के विषय में ऐसा ही मत है! परन्तु, यथार्थतः बात ऐसी नहीं है। काशी-क्षेत्र की प्रदक्षिणा बारहवीं शताब्दी में तथा उसके पूर्व भी होती थी, इस बात का उल्लेख 'कृत्यकल्पतरु' में ही वर्त्तमान है, जिस ओर इन विद्वानों का ध्यान नहीं गया। तीर्थविवेचनकाण्ड के 'नानातीर्थमाहात्म्यम्' नाम के अध्याय में वामनपुराण का उद्धरण है, जिसमें समस्त भारतवर्ष के तीर्थों की यात्रा का वर्णन है। उसमें कहा गया है कि "माघ मास में प्रयाग की यात्रा करने के पश्चात् काशी आये और दशाश्वमेध में स्नान करके सर्वपाप हरनेवाले देवताओं और मन्दिरों में अर्चना तथा पितरों का श्राद्ध-तर्पण किया तथा वाराणसी पुरी की प्रदक्षिणा करके और अविमुक्तेश्वर तथा केशव का पूजन करके और लोलार्क का दर्शन करके वे मधुवन को चले गये:"

> माघमासमथोपोष्य ततो वाराणसीं गतः ॥
> दशाश्वमेधं गङ्गायां तीर्थे सुरगृहादिषु ।
> सर्वपापहरास्वेषु सम्पूज्य पितृदेवताः ॥
> प्रदक्षिणीकृत्य पुरीं पूज्याविमुक्तकेशवौ ।
> लोलं दिवाकरं दृष्ट्वा ततो मधुवनं ययौ ॥

(वामनपुराण, कृ० क० त०, पृ० २३७)

इस उद्धरण से यह तो स्पष्ट हो ही जाता है कि क्षेत्र की प्रदक्षिणा उस समय भी होती थी, अपितु एक बात और भी बलात् हमारे सामने आ जाती है कि यह धारणा कि कृत्य-कल्पतरु के तीर्थविवेचनकाण्ड के वाराणसी-माहात्म्य-प्रकरण में काशी के विषय की सभी बातें आ गई हैं और जिस बात का वहाँ उल्लेख नहीं है, वह उस समय थी ही नहीं, ठीक नहीं है। डॉ० आयंगर प्रभृति विद्वान् कुछ ऐसी ही धारणा बना बैठे हैं; क्योंकि तीर्थों की संख्या का विवेचन करते हुए उनका यही मत है कि कृत्यकल्पतरु के समय में काशी में केवल ३५० तीर्थ थे और काशीखण्ड के समय तक वे बढ़कर १६५० हो गए। कृत्यकल्पतरु, पृ० ४१ से १२१ तक में तीर्थों की जो नामावली

दी हुई है, उसमें पर्वतेश्वर का नाम नहीं है, यद्यपि पृ० ३९ पर पर्वतेश्वर का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण उल्लेख है। इसी प्रकार, उपशान्तेश्वर के पास के कूप का, शौनकेश्वर-कुण्ड का तथा त्र्यम्बक का उस नामावली में उल्लेख नहीं है; परन्तु आगे चलकर तीर्थयात्रा के सम्बन्ध में इनका नामांकन हुआ है। नवदुर्गाओं तथा नवचण्डिकाओं का नामोल्लेख भी उस नामावली में नहीं मिलता। ढुण्ढिराज तथा अन्य चार विघ्न करनेवाले विनायकों का नाम भी उस सूची में नहीं है। कृत्यकल्पतरु के तीर्थविवेचनकाण्ड में पृ० १२० पर लिंग-पुराण के उद्धरण में स्पष्ट लिखा है कि इस सूची में केवल सिद्धलिंगों, कूपों, ह्रदों, वापियों, तथा कुण्डों का उल्लेख है, यद्यपि इनके अतिरिक्त सहस्रों लिंग और हैं, जिनका वर्णन यहाँ नहीं किया गया है। इससे भी यही बात सिद्ध होती है कि यह वाराणसी के प्रधान तीर्थों की ही नामावली है, सभी तीर्थों की नहीं। कृत्यकल्पतरु के समय के ही महाराज गोविन्दचन्द्र के दानपत्रों में त्रिलोचन, लौडेश्वर तथा इन्द्रमाधव का उल्लेख है, जो इस सूची में नहीं हैं। पुरातत्त्व के प्रभाव से कई शिवलिंगों के नाम मिलते हैं, जिनका नामांकन कृत्यकल्पतरु में नहीं हुआ।

पंचक्रोशी यात्रा का उल्लेख काशीखण्ड में भी नहीं है, परन्तु ब्रह्मवैवर्त्तपुराण के काशीरहस्य में इसका विस्तारपूर्वक वर्णन हुआ है। विषय यह है कि अन्यत्र किये हुए पातकों का नाश तो काशी में प्रवेश-मात्र से हो जाता है, परन्तु काशीक्षेत्र में किये हुए पापों से निवृत्ति किस प्रकार हो। इसी सम्बन्ध में यह कहा गया है कि वर्ष में दो बार, अर्थात् उत्तरायण तथा दक्षिणायन में और नहीं तो कम-से-कम एक बार काशीक्षेत्र की प्रदक्षिणा कर लेने से उनकी निवृत्ति हो जाती है :

अन्यक्षेत्रे कृतम्पापं पुण्यक्षेत्रे विनश्यति।
पुण्यक्षेत्रे कृतं पापं वाराणस्यां विनश्यति ॥
वाराणस्यां कृतं पापं अन्तर्गेहे विनश्यति।
अन्तर्गेहे कृतम्पापं वज्रलेपो भविष्यति ॥
वज्रलेपच्छिदे ह्येतत्पञ्चक्रोशप्रदक्षिणम् ॥

(ब्र० वै० पु०, का० र०, ११।१७–१६)

स्वयं विश्वेश्वर भी यह यात्रा वर्ष में दो बार करते ही हैं :

दक्षिणे चोत्तरे चैव ह्ययने सर्वदा मया।
क्रियते क्षेत्रदाक्षिण्यं भैरवस्य भयादपि ॥ (सनत्कुमारसंहिता)

यह यात्रा एक दिन, दो दिन, तीन दिन, चार दिन, पाँच दिन तथा सात दिन में पूरी करने की विधि रही है; परन्तु आजकल पाँच दिन की ही प्रथा रह गई है। तदनुसार, चार विश्रामस्थल भी निर्धारित हैं। एक दिन की यात्रा में तो कहीं ठहरने का प्रश्न ही नहीं है। दो दिन में करे, तो वरणा-तट पर, अर्थात् रामेश्वर में रात्रिवास करे। तीन दिन की यात्रा में भीमचण्डी तथा रामेश्वर में ठहरे। चार दिन में यात्रा करनेवाला दुर्गाजी, भीमचण्डी तथा रामेश्वर में निवास करे। पाँच दिनवाले लोग कर्दमेश्वर, भीमचण्डी, रामेश्वर तथा कपिलधारा में रात्रि वितावें। राजा, वृद्ध तथा बालक को जहाँ कहीं भी सुविधा हो, वहाँ रात्रि-निवास तथा विश्राम करें। **(ब्र०वै०पु०, का० र०, १०।७८–८४)**

काशीरहस्य के अनुसार आश्विन, कार्तिक तथा मार्गशीर्ष और माघ, फाल्गुन, चैत्र तथा वैशाख इस यात्रा के लिए विशेष माने गये हैं। (का० र०, १०।५-७) परन्तु, श्रद्धावश, यह सदैव हो सकती है:

यथा कथञ्चिद्देवेशि पञ्चक्रोशप्रदक्षिणम् ।
कुर्यादेव न मासादि चिन्तयेद्धर्मकोविदः ।
स एव शुभदः कालो यस्मिंच्छ्रद्धोदयो भवेत् ॥ (का० र०, १०। ८४-८५)

इस यात्रा का यह विधान है कि यात्रा के एक दिन पहले व्रत अथवा हविष्यान्न का भोजन करे तथा ढुण्ढिराज का विधिवत् पूजन करके रात्रि में भगवान् सदाशिव का ध्यान तथा प्रार्थना करे। यात्रा के दिन प्रातःकाल गंगाजी में स्नान करके नित्ययात्रा तथा विश्वेश्वर का दर्शन-पूजन करने के उपरान्त ज्ञानवापी के समीप मुक्तिमण्डप में यात्रा का संकल्प करे। तदुपरान्त मौन होकर ढुण्ढिराज का पूजन करके उनसे यात्रासिद्धि के लिए बारम्बार मौन प्रार्थना करे और फिर विश्वेश्वर का पूजन तथा उनकी तीन प्रदक्षिणा और दण्डवत् प्रणाम करने के बाद मोदादि पंचविनायकों को प्रणाम तथा उनका पूजन करते हुए आगे दण्डपाणि का पूजन करे। इसके बाद विश्वेश्वर के पश्चिम द्वार के समीप स्थित कालभैरव का पूजन करके पुनः मणिकर्णिका को जाय और वहाँ विधिपूर्वक स्नान करे। फिर, मणिकर्णिका तथा मणिकर्णेश्वर का पूजन करके सिद्धविनायक की अर्चनापूर्वक यात्रा का प्रारम्भ करे। यात्रा में पड़नेवाले तीर्थों का क्रम से नामांकन नीचे किया जाता है। यात्रा सदैव मौन होकर करनी चाहिए और यात्रा के समय सभी तीर्थ यात्री के दाहिनी ओर पड़ने चाहिए। अतएव, गंगातीर के मार्ग से यात्रा करने का विधान है, अन्यथा नाव से भी लोग जाते हैं: १. गंगाकेशव तथा ललिता देवी (ललिताघाट), २. जरासन्धेश्वर (मीरघाट), ३. सोमेश्वर (मानमन्दिर घाट), ४. दाल्म्येश्वर (वहीं), ५. शूलटंकेश्वर (दशाश्वमेघघाट), ६. आदिवाराह (वहीं), ७. दशाश्वमेधेश्वर (वहीं), ८. बन्दी देवी (वहीं, मकान नं० डी० १७/१००), ९. सर्वेश्वर (बबुआ पाण्डे घाट के ऊपर), १०. केदारेश्वर (केदारघाट पर प्रसिद्ध), ११. हनुमदीश्वर (हनुमान् घाट पर हनुमान्जी के मन्दिर के नीचे मढ़ी में), १२. असिसंगमेश्वर, १३. लोलार्क (भदैनी में) और १४. अर्कविनायक (वहीं) का दर्शनपूजन करे। १५. वहाँ से निर्दिष्ट मार्ग से जाकर दुर्गाकुण्ड (प्रसिद्ध) में स्नान करने का विधान है। अग्निपुराण के मत से केदारेश्वर के निकट गौरीकुण्ड, अर्थात् केदार घाट में भी स्नान करना चाहिए। दुर्गाकुण्ड में स्नान करके १६. दुर्गविनायक का पूजन करके १७. दुर्गाजीकी अर्चना और प्रार्थना करे। वाशिष्ठलिंगपुराण में समीप की रेणुका देवी के दर्शन करने का भी उल्लेख है:

जय दुर्गे महादेवि जय काशिनिवासिनि ।
क्षेत्रविघ्नहरे देवि पुनर्दर्शनमस्तु ते ॥ (का० र०, १०।२८)

और, पुनः पंचक्रोशी मार्ग पर जाकर कर्दमेश्वर की ओर चल दे। १८. मार्ग में करमाजीतपुर में विष्वक्सेनेश्वर का पूजन करते हुए कन्दवा ग्राम में पहुँचकर १९. कर्दमकूप में

स्नान तथा उसके जल का दर्शन करके वहीं पर २०. सोमनाथ, २१. विरूपाक्ष तथा २२. नीलकण्ठ की भी अर्चना करने के वाद, २३. कर्दमेश्वर का तिल तथा पंचधान्य से पूजन करे। श्राद्ध-तर्पणादि करके ब्राह्मण-भोजन के उपरान्त स्वयं भोजन करे तथा वहीं रात्रिवास करे। प्रातःकाल नित्यकर्म तथा स्नान-पूजन के वाद कर्दमेश्वर की अर्चना तथा प्रार्थना करके यात्रा पर पुनः चल पड़े:

कर्दमेश महादेव काशिवासजनप्रिय।
त्वत्पूजनान्महादेव पुनर्दर्शनमस्तु ते॥ (का० र०, १०।३२)

मार्ग में २४. नागनाथ (अमरागाँव), २५. चामुण्डा, २६. मोक्षेश्वर, २७. करुणेश्वर (अवड़े गाँव में) २८. वीरभद्र, २९. विकटाख्या दुर्गा (देवहना गाँव में), ३०. उन्मत्त भैरव, ३१. नील, ३२. कालकूट, ३३. विमला दुर्गा, ३४. महादेव, ३५. नन्दिकेश्वर, तथा भृंगी-रिटिगण, ३६. गणप्रिय (देउरा गाँव में), ३७. विरूपाक्ष (गौरा गाँव), ३८. यक्षेश्वर (मातलदेईचक में), ३९. विमलेश्वर (प्रयागपुर), ४०. मोक्षदेश्वर (वहीं), ४१. ज्ञानेश्वर (वहीं) तथा ४२. अमृतेश्वर (असवारी गाँव) की अर्चना करते हुए ४३. गन्धर्वसागर नामक सरोवर पर पहुँचकर स्नान करे और तब ४४. भीमचण्डी देवी की दूध तथा अन्य उपचारों से पूजा करे और तदुपरान्त श्राद्ध-तर्पण के द्वारा देव-पितरों को तुष्ट करे और ४५. चण्डविनायक, ४६. रविरक्ताक्ष गन्धर्व, तथा ४७. नरकार्णवतारक शिव का पूजन करके रात्रि को जागरण करता हुआ वहीं निवास करे। प्रातःकाल स्नानादि के उपरान्त भीमचण्डी देवी का पूजन तथा प्रार्थना करके देहली-विनायक के लिए प्रस्थान करे:

भीमचण्डि प्रचण्डानि मम विघ्नानि नाशय।
नमस्तेऽस्तु गमिष्यामि पुनर्दर्शनमस्तु ते॥ (का० र०, १०।४०)

४८. एकपाद गण (कचनार गाँव) को प्रणाम तथा उनका पूजन करने के वाद धनधान्य की प्राप्ति के लिए तिल तथा चावल वहाँ पृथ्वी पर छिड़ककर आगे चले। मार्ग में ४९. महाभीम गण (हरपुर गाँव में हर्रा के तालाव के समीप), ५०. भैरव, तथा ५१. भैरवी (हरसोर गाँव), ५२. भूतनाथ (दीनदयालपुर), ५३. सोमनाथ, तथा सिन्धुसागरतीर्थ, ५४. कालनाथ (लँगोटिया हनुमान् के समीप), ५५. कपर्दीश्वर, ५६. कामेश्वर (चौखण्डी गाँव), ५७. गणेश्वर, ५८. वीरभद्र (वहीं), ५९. चारुमुख तथा ६०. गणनाथ (भटौली गाँव), का पूजन करते हुए ६१. देहलीविनायक पहुँचने पर लड्डू, लावा, चिउड़ा, सत्तू तथा ऊख से उनका पूजन कर उनके मन्दिर के पीछे ६२. षोडश विनायक की अर्चना करे और रामेश्वर की ओर आगे बढ़े। मार्ग में मुड़ली गाँव में ६३. उद्दण्ड विनायक, तथा हीरमपुर गाँव में ६४. उत्कलेश्वर, ६५. रुद्राणी तथा उनकी तपोभूमि का दर्शन-पूजन करते हुए रामेश्वर पहुँचे। वहाँ वरणा नदी में स्नान करके तर्पण-श्राद्ध इत्यादि करे और तत्पश्चात् श्वेत तिल तथा विल्वपत्रादि से ६६. रामेश्वर का पूजन करने के बाद उनके पूर्व में ६७. सोमनाथ, ६८. भरतेश्वर, ६९. लक्ष्मणेश्वर, ७०. शत्रुघ्नेश्वर, ७१. द्यावाभूमीश्वर तथा ७२. नहुषेश्वर की अर्चना करने के

उपरान्त रामेश्वर में ही विश्राम करे। प्रातःकाल नित्यकर्म से निवृत्त होकर रामेश्वर का पूजन करे और प्रार्थना करके आगे चले :

श्रीरामेश्वररामेण पूजितस्त्वं सनातन।
आज्ञान्देहि महादेव पुनर्दर्शनमस्तु ते ॥ (का० र०, १०।५१)

वरणा नदी पार करके असंख्यात तीर्थ तथा असंख्यात लिंगों का पूजन करके, करोना गाँव में ७३. देवसंघेश्वर का पूजन करके, तथा वहाँ पर कुछ दान करके, वरणा नदी को पार करके पुनः वाराणसी-क्षेत्र में स्थित ७४. पाशपाणि गणेश (सदर बाजार में) का पूजन कर, पुनः वरणा पार जाकर शिवपुर में टिके। शिवपुर में टिकने का कोई शास्त्रीय प्रमाण नहीं है, परन्तु शिष्टाचार से स्वीकृत होने से प्रचलित है। कोटवा गाँव में वृषभध्वज तथा कपिलधारातीर्थ में वास करने का शास्त्रीय विधान है, किन्तु अब वहाँ पर वास करने का प्रचलन कम हो गया है। अब शिवपुर से चलकर वृषभध्वज होते हुए उसी दिन यात्रा समाप्त कर दी जाती है। कुछ लोग शिवपुर से प्रातःकाल चलने के पहले पाशपाणि गणेश का पुनः पूजन तथा उनसे प्रार्थना करते हैं और तब आगे की यात्रा को चलते हैं :

पाशपाणे गणाध्यक्ष सततं लड्डुकप्रिय।
आज्ञान्देहि गणश्रेष्ठ पुनर्दर्शनमस्तु ते ॥

मार्ग में खजूरी गाँव में ७५. पृथ्वीश्वर का दर्शन-पूजन करके दीनदयालपुर में ७६. यूपसरोवर (सोना तालाब) में मार्जन करते हुए धीरे चलकर ७७. कपिलाह्लद (कपिलधारा) पहुँचने पर वहाँ विधानपूर्वक स्नान तथा श्राद्ध-तर्पण करके ७८. वृषभध्वज का पूजन और उनसे प्रार्थना की जाती है :

वृषभध्वज देवेश पितृणां मुक्तिदायक।
आज्ञान्देहि महादेव पुनर्दर्शनमस्तु ते ॥ (का० र०, १०।५६)

यह प्रार्थना करने के बाद कपिलधारा सारोदर की प्रदक्षिणा करके कोटवा गाँव में ७९. ज्वालानृसिंह की पूजा होती है और फिर वरणा पार करके वरणा-संगम-स्नान करने का विधान है। तदनन्तर, ८०. आदिकेशव, ८१. संगमेश्वर, ८२ खर्व-विनायक की अर्चना करके झोली में जौ लेकर उनको विष्णु भगवान् का नाम लेते हुए धीरे-धीरे पृथ्वी पर छोड़ना चाहिए और इस प्रकार ८३. प्रह्लादेश्वर, तथा ८४. त्रिलोचन का पूजन करते हुए ८५. पंचनद (पंचगंगा) में पहुँच कर स्नान करे। पुनः ८६. बिन्दुमाधव की अर्चना करके ८७. गभस्तीश्वर, ८८. मंगला गौरी, ८९. वशिष्ठ वामदेव (संकठाघाट), ९०. पर्वतेश्वर (सिन्धियाघाट), ९१. महेश्वर (मणिकर्णिका घाट पर मढ़ी में) की पूजा करके, ९२. सिद्धविनायक में जाकर उनका पूजन करके वहीं पर छप्पनों विनायकों का ध्यान करे। ब्रह्मवैवर्त्तपुराण में इन सभी विनायकों के पूजन का उल्लेख है, परन्तु अग्निपुराण में केवल ध्यान करने को कहा गया है और यही प्रचलित भी है छप्पन विनायकों के नाम (जो पहले दिये जा चुके हैं) लेकर प्रणाम करने की परिपाटी है :

ततो गत्वा पुनर्धीमान् भक्त्या सिद्धिविनायकम्। स्मृत्वा गणपतींस्तत्र सप्तावरणसंस्थितान् ॥

विवरण : मानचित्र—४क

१. प्रयाग लिंग
२. संगमेश्वर
३. वेदेश्वर
४. नक्षत्रेश्वर
५. आदिकेशव
६. ज्ञानकेशव
७. वामनकेशव
८. दत्तात्रेय
९. संगमेश्वर का द्वितीय शिवलिंग
१०. खर्वविनायक
११. शान्तिकरी गौरी
१२. राजपुत्र विनायक
१३. हिरण्यकशिपु-कूप
१४. जोगीवीर

मानचित्र सं. ४ क
गंगा जी
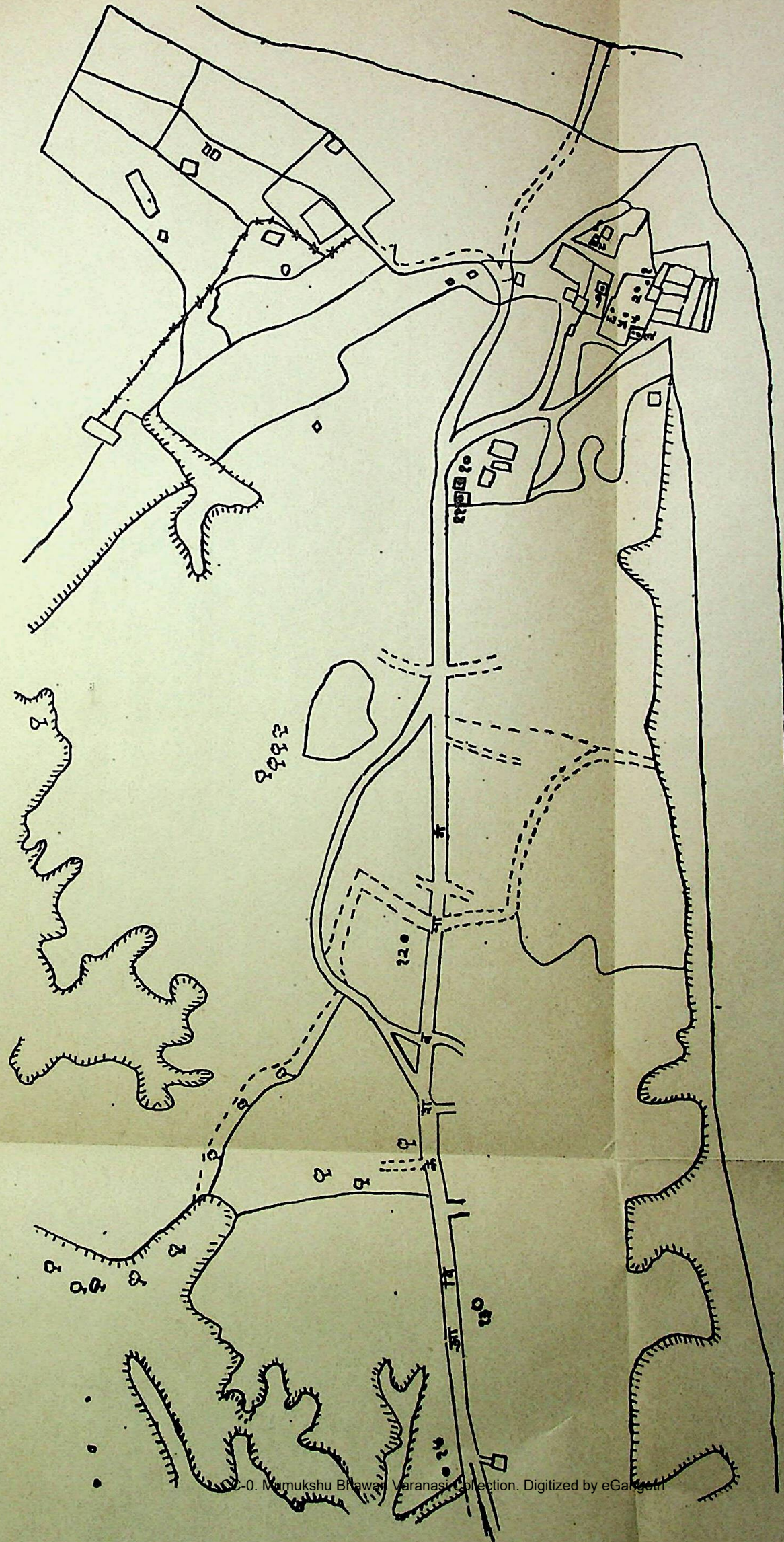
(अग्निपुराण)। इसके बाद मणिकर्णिका में स्नान करके, ज्ञानवापी के समीप ९३. महेश्वर का दर्शन करके विश्वेश्वर के मन्दिर में जाकर उनका पंचोपचार पूजन करे और पुनः-पुनः प्रणाम करके मुक्तिमण्डप में जाकर बैठे और विष्णु, दण्डपाणि, ढुण्ढिराज, भैरव तथा द्रुपदादित्य की तथा मोदादि पाँच गणेशों की पुनः अर्चना करके यात्रा में प्रदक्षिणा किये हुए सभी देवताओं का क्रम से स्मरण करे, तदुपरान्त विश्वेश्वर से प्रार्थना करे और यथाशक्ति दान दे। फिर, घर जाकर श्रद्धानुसार ब्राह्मण तथा दीन-दुःखियों को भोजन कराये :

जय विश्वेश विश्वात्मन् काशीनाथ जगद्गुरो।
त्वत्प्रसादान्महादेव कृता क्षेत्रप्रदक्षिणा॥
अनेकजन्मपापानि कृतानि मम शङ्कर।
गतानि पञ्चक्रोशात्मलिङ्गस्यास्य प्रदक्षिणात्॥
त्वद्भक्तिकाशिवासाभ्यां रहितः पापकर्मणा।
सत्सङ्गश्रवणाद्यैश्च कालो गच्छतु नः सदा॥
हर शम्भो महादेव सर्वज्ञ सुखदायक।
प्रायश्चित्तं सुनिर्वृत्तं पापानान्त्वत्प्रसादतः।
पुनः पापमतिर्मास्तु धर्मबुद्धिः सदास्तु मे॥
पञ्चक्रोशस्य यात्रेयं यथा शक्त्या मया कृता।
न्यूनं सम्पूर्णतां यातु त्वत्प्रसादादुमापते॥ (का०र०, १०।६९–७५)

इस यात्रा में इस बात का सदैव ध्यान रखना चाहिए कि पंचक्रोशी मार्ग को जिस स्थान पर छोड़े, वहीं से पुनः यात्रा प्रारम्भ करे। ऐसे कई अवसर आते हैं। लोलार्क तथा दुर्गाजी के दर्शन के लिए असी नदी के पास वाराणसी में प्रवेश होता है तथा पाशपाणि गणेश के पूजन के लिए वरणा पार करके वाराणसी में प्रवेश होता है। पृथ्वीश्वर-पूजन भी वाराणसी में ही होता है। इन अवसरों पर इस बात का ध्यान रखे। सत्तर या अस्सी वर्ष पहले भीमचण्डी के उत्तर भी कुछ मार्ग की गड़बड़ी होने लगी थी, परन्तु स्वर्गीय महामहोपाध्याय **पण्डित बापूदेव शास्त्री** के प्रयत्न से वह ठीक हो गई थी, परन्तु यात्रामार्ग इस स्थान पर अब भी कुछ गड़बड़ है।

२४. विविध यात्राएँ :

(क) ऊपर कही हुई विशेष यात्राओं के अतिरिक्त बहुत-सी यात्राएँ ऐसी हैं, जो विशिष्ट महीनों के विशिष्ट दिनों में होती हैं। जैसे :

१. रविवार
- १. प्रत्येक मास में लोलार्क-यात्रा।
- २. ,, ,, अर्कविनायक-यात्रा (वहीं पर)।
- ३. आदित्य-यात्रा।
- ४. भैरव-यात्रा।
- ५. पौष में उत्तरार्क-यात्रा। यह अब लुप्त है।
- ६. ज्येष्ठ में वृद्धकाल-यात्रा।
- ७. चैत्र में साम्बादित्य-यात्रा।

२. सोमवार
१. प्रत्येक मास में अ. चन्द्रेश्वर।
आ. करुणेश्वर।
२. श्रावण में केदारेश्वर।

३. मंगलवार
१. दुर्गाजी।
२. हनुमान्‌जी।
३. भौमवती अमावस्या को केदारजी में श्राद्ध।
४. भैरव। भौमाष्टमी परमपुनीत।
५. यमतीर्थ तथा यमेश्वर—चतुर्दशी तथा भरणी नक्षत्र में।
६. वन्दी देवी।

४. गुरुवार
गुरुपुष्ययोग में बृहस्पतीश्वर। यदि व्यतिपात भी हो, तो ज्ञानवापी-यात्रा।

५. शुक्रवार
१. संकठाजी।
२. शुक्रेश्वर।

६. शनिवार
१. शनैश्चरेश्वर
२. शनिप्रदोष को कामेश्वर।
३. शनिप्रदोष को चन्द्रेश्वर।

(ख) इसी प्रकार कुछ यात्राएँ विशेष तिथियों में होती हैं:

१. चतुर्थी
१. ढुण्ढिराज।
२. विनायक-यात्रा।
३. भौमवार पड़े, तो अंगारेश्वर-यात्रा।

२. षष्ठी
१. यदि रविवार हो, तो आदित्य-यात्रा।

३. सप्तमी
१. यदि रविवार हो, तो आदित्य-यात्रा।

४. अष्टमी
१. भैरव-यात्रा।
२. दुर्गाजी।
३. स्वप्नेश्वरी।
४. चण्डी-यात्रा।
५. पिंगला (सिद्धेश्वरी के पास अदृश्य)।
६. ईशानेश्वर ?
७. त्रिलोचन।
८. मत्स्योदरी।
९. ज्ञानवापी।
१०. मंगलवार की अष्टमी को भैरवयात्रा का विशेष माहात्म्य है।
११. सिद्धयोगेश्वरी।

५.	नवमी	१. चण्डीयात्रा (अप्रचलित)।
		२. कुलस्तम्भ-यात्रा (लाटभैरव)।
		३. व्यासपुरी-यात्रा (कर्णघण्टा पर)।
६.	एकादशी	१. विष्णुयात्रा।
७.	द्वादशी	१. ललिताघाट पर स्थित काशीदेवी की यात्रा।
		२. ज्ञानवापी में एकादशी-व्रत के उपरान्त जलपान।
८.	चतुर्दशी	१. ईशानेश्वर।
		२. सिद्धयोगेश्वरी।
		३. आत्मावीरेश्वर।
९.	पूर्णिमा	१. चन्द्रेश्वर।
		२. यदि पूर्णिमा को भाद्रपदा नक्षत्र हो, तो भाद्रह्रद। अब लुप्त है। वर्तमान भद्रकुण्ड भी भोंसलाघाट पर वालू में दबा पड़ा है।
१०.	अमावास्या	१. चन्द्रकूप में सोमवती अमावास्या को श्राद्ध।
		२. कपिलधारा तथा वृषभध्वज में भी सोमवती अमावास्या को श्राद्ध का बड़ा माहात्म्य है।
		३. यदि भौमवार हो, तो केदारकुण्ड में श्राद्ध।
		४. यदि गुरुवार हो, तो धर्मकूप में श्राद्ध।
११.	चन्द्रग्रहण	१. दण्डखात में स्नान (यह तीर्थ लुप्त हो गया है)।
१२.	सूर्यग्रहण	१. लोलार्क, कुरुक्षेत्र का तालाब, सोनहटिया तथा दण्डखात में स्नान। दण्डखात तीर्थ अब लुप्त है।

(ग) इन सामान्य तिथियात्राओं के अतिरिक्त कुछ यात्राएँ वार्षिक रूप से विशेष महीनों की विशेष तिथियों को होती हैं। इनमें से मुख्य-मुख्य का विवरण नीचे दिया जाता है :

तिथि	तीर्थ का नाम	स्थान
चैत्र कृ० १	१. शैलेशादि चतुर्दश लिंग-यात्रा	तीर्थों के स्थान 'चतुर्दशायतन-यात्रा' शीर्षक में पहले दिये जा चुके हैं।
	२. योगिनी-यात्रा	मानमन्दिर घाट पर वाराही देवी की, मयूरी की लक्ष्मीकुण्ड पर, कामाक्षा की कमच्छा में, तथा अन्य सभी की चौसट्ठी घाट पर राणा-महल में यात्रा होती है। इनके प्रतीक-रूप में चौसट्ठी घाट पर स्थित चौसट्ठी देवी की यात्रा ही अब प्रचलित हो गई है, परन्तु इसका कोई शास्त्रीय प्रमाण नहीं है।

तिथि	तीर्थ का नाम	स्थान
चैत्र कृ० १	३. शैलेश्वर-यात्रा	मढ़िया घाट वरणा-तट पर।
चैत्र कृ० २	१. संगमेश्वर-यात्रा	आदिकेशव के पास।
" " ३	१. स्वर्लीनेश्वर	नया महादेव नाम से राजघाट के निकट।
" " ४	१. मध्यमेश्वर	मँदागिन के उत्तर मध्यमेश्वर मुहल्ले में।
	२. ढुण्ढिराज	प्रसिद्ध।
" " ५	१. हिरण्यगर्भेश्वर	त्रिलोचनघाट पर।
" " ६	१. ईशानेश्वर	कोतवालपुरा में बाँसफाटक सिनेमा के पास की गली में। मकान नं० सी० के० ३७।४३।
" " ७	१. गोप्रेक्षेश्वर	लालघाट पर। मकान नं० के० ४।२४ में।
" " ८	१. वृषभध्वज	कपिलधारा में।
" " ९	१. उपशान्तशिव	अग्नीश्वर घाट के निकट पटनीटोला के फाटक के पास। मकान नं० सी० के० २।४ में।
" " १०	१. ज्येष्ठेश्वर	काशी पुरा सप्तसागर में। मकान नं० के० ६२।१४४।
" " ११	१. निवासेश्वर	भूतभैरव पर। लुप्त।
" " १२	१. शुक्रेश्वर	कालिका गली में। मकान नं० डी० ८।३०।
" " १३	१. व्याघ्रेश्वर	भूतभैरव पर। मकान नं० के० ६३।१६।
शनियुक्ता १३	१. कामेश्वर	त्रिलोचन बाजार में सड़क के पास।
" " १४	१. (अ) जम्बुकेश्वर	बड़े गणेश पर। मकान नं० के० ५८।१०३।
" " १४	(आ) केदारेश्वर	प्रसिद्ध।
चैत्र शु० १	१. शैलपुत्री दुर्गा	मढियाघाट पर वरणा-तट पर शैलेश्वर के मन्दिर में।
	२. मुखनिर्मालिका गौरी	गायघाट पर हनुमान्‌जी के मन्दिर में।
" " २	१. ब्रह्मचारिणी दुर्गा	दुर्गाघाट के ऊपर गली में। मकान नं० के० २२।७१।
	२. ज्येष्ठा गौरी	भूतभैरव पर ज्येष्ठेश्वर के समीप। मकान नं० के० ६३।२४।
" " ३	१. चित्रघण्टा दुर्गा	चौक के पास चन्दूनाऊ की गली में। मकान नं० सी० के० २३।३४।
	२. सौभाग्यगौरी	आदिविश्वेश्वर के मन्दिर के घेरे में। मकान नं० सी० के० ३८।८।
	३. नवगौरी	इनके स्थान नवगौरी-यात्रा में दिये जा चुके हैं।
	४. मंगलागौरी	प्रसिद्ध।

तिथि	तीर्थ का नाम	स्थान
चैत्र शु० ३	५. विश्वभुजा देवी	धर्मेश्वर के पास। मकान नं० डी० २।१३।
	६. आशाविनायक	मीरघाट। मकान नं० डी० ३।७९।
	७. पार्वतीश्वर	त्रिलोचन मुहल्ले में आदिमहादेव के मन्दिर में।
" " ४	१. कूष्माण्डा दुर्गा	बड़ी दुर्गा। दुर्गाकुण्ड के पास।
	२. श्रृंगारगौरी	विश्वनाथ-मन्दिर में ईशान कोण के अन्नपूर्णा-मन्दिर में।
" " ५	१. स्कन्दमाता	जैतपुरा में। वागीश्वरी-मन्दिर में। प्रसिद्ध। मकान नं० जे० ६।३३।
	२. विशालाक्षी गौरी	मीरघाट पर। मकान नं० डी० ३।८५।
" " ६	१. कात्यायनी दुर्गा	आत्मावीरेश्वर के मन्दिर में। मकान नं० सी० के० ७।१५८।
	२. ललिता गौरी	ललिताघाट पर। मकान नं० २ डी० १।६७।
" " ७	१. कालरात्रि दुर्गा	कालिका गली में कालीजी। मकान नं० डी० ८।१७।
	२. भवानी गौरी	अन्नपूर्णाजी की बगल के राम-मन्दिर में कालीजी तथा जगन्नाथजी के बीच में।
" " ८	१. महागौरी दुर्गा	इस दिन कुछ लोग अन्नपूर्णाजी का पूजन करते हैं, कुछ लोग संकठाजी का। ये दोनों स्थान प्रसिद्ध हैं।
	२. मंगला गौरी	प्रसिद्ध।
	३. भवानी	अन्नपूर्णाजी के निकट राम-मन्दिर में।
	४. मध्यमेश्वर	मैदागिन के उत्तर अपने नाम के मुहल्ले में।
	५. ज्येष्ठा गौरी	भूतभैरव पर। मकान नं० के० ६३।२४।
	६. महामुण्डा देवी	जैतपुरा के समीप। वागीश्वरी में नीचे की कोठरी में। मकान नं० जे० ६।३३।
" " ९	१. सिद्धिदात्री दुर्गा	कुछ लोग सिद्धेश्वरी देवी का पूजन करते हैं, जो चन्द्रेश्वर के मन्दिर में सिद्धेश्वरी मुहल्ले में हैं और कुछ सिद्ध-माता का, जो टाउन हाल के पीछे गली में हैं।
	२. महालक्ष्मी गौरी	लक्ष्मीकुण्ड पर मकान नं० डी ५२।४०।
	३. रामचन्द्र	सभी राम-मन्दिरों में।
" " १३	१. कामेश्वर	त्रिलोजन बाजार की गली में। मकान नं० ए २।९।

तिथि	तीर्थ का नाम	स्थान
चैत्र शु० १४	१. पशुपतीश्वर	प्रसिद्ध। मकान नं० सी०के० १३।६६।
,, ,, १५	१. कृत्तिवासेश्वर	वृद्धकाल के दक्षिण। इस दिन इनकी महापूजा का बड़ा माहात्म्य है। मकान नं० के० ४६।२३।
	२. चन्द्रेश्वर	सिद्धेश्वरी के मन्दिर में। मकान नं० सी० के० ७।२२४।
	३. केदारेश्वर	प्रसिद्ध।
वैशाख कृ० १	१. ओंकारेश्वरादि चतुर्दशायतन	इन तीर्थों के स्थान 'चतुर्दशायतन-यात्रा' शीर्षक में दिये जा चुके हैं।
	२. ओंकारेश्वर	ओंकारेश्वर मुहल्ले में।
,, ,, २	१. त्रिलोचन	प्रसिद्ध।
,, ,, ३	१. आदिमहादेव	त्रिलोचन के पास।
,, ,, ४	१. कृत्तिवासेश्वर	वृद्धकाल के दक्षिण। मकान नं० के० ४६।२३।
,, ,, ५	१. रत्नेश्वर	वृद्धकाल की सड़क पर। मकान नं० के० ५३।४०।
,, ,, ६	१. चन्द्रेश्वर	सिद्धेश्वरी के मन्दिर में। मकान नं० के ७।१२४।
,, ,, ७	१. केदारेश्वर	प्रसिद्ध।
,, ,, ८	१. धर्मेश्वर	मीरघाट। धर्मकूप के पास मकान नं० डी० २।२१।
	२. पंचमुद्रा देवी	संकठाजी के नाम से प्रसिद्ध। मकान नं० सी० के० ७।१५९।
,, ,, ९	१. आत्मावीरेश्वर	प्रसिद्ध। मकान नं० सी० के० ७।१५८
,, ,, १०	१. कामेश्वर	मछोदरी के पास गली में। प्रसिद्ध। मकान नं० ए २।९।
,, ,, ११	१. विश्वकर्मेश्वर	हनुमान् फाटक के उत्तर। मकान नं० ए ३४।६।
,, ,, १२	१. मणिकर्णीश्वर	गोमठ में राजा वर्दवान के घेरे के पास। मकान नं० सी० के० ८।१२।
,, ,, १३	१. अविमुक्तेश्वर	ज्ञानवापी मस्जिद की सीढ़ियों के सामने, खिड़की में अथवा विश्वनाथ के वर्त्तमान मन्दिर में।
शनि-संयुक्त १३	१. कामेश्वर	मछोदरी के पास गली में। प्रसिद्ध। मकान नं० ए २।९।
,, ,, १४	१. विश्वेश्वर	प्रसिद्ध।
वैशाख शु० ३	१. त्रिलोचन	त्रिलोचनघाट पर।

तिथि	तीर्थ का नाम	स्थान
वैशाख शु० ३	२. परशुरामेश्वर	नन्दन साहु के मुहल्ले में। मकान नं० सी० के० १४।१६।
,, ,, १४	१. ओंकारेश्वर	ओंकारेश्वर मुहल्ले में। मकान नं० ए० ३३।२३।
,, ,, ,,	२. नृसिंह	प्रह्लाद-घाट राजमन्दिर, दुर्गाघाट तथा गोमठ में और सभी नृसिंह-मन्दिरों में।
ज्येष्ठ कृ० १	१. अमृतेश्वरादि	इनके स्थान 'चतुर्दशायतन-यात्रा' शीर्षक में देखिए।
	२. अमृतेश्वर	ब्रह्मनाल पर। मकान नं० सी० के० ३३।२८ में।
,, ,, २	१. तारकेश्वर	ज्ञानवापी के पूर्व। लिंग लुप्त।
,, ,, ३	१. ज्ञानेश्वर	लाहौरीटोला में धनीराम खत्री के० मकान में। मकान नं० डी० १।३२
,, ,, ४	१. करुणेश्वर	ललिताघाट पर। मकान नं० सी० के० ३४।१०।
,, ,, ५	१. मोक्षद्वारेश्वर	लाहौरीटोले में। मकान नं० सी० के० ३४।१०।
,, ,, ६	१. स्वर्गद्वारेश्वर	ब्रह्मनाल में, स्वर्गद्वारी में। मकान नं० सी० के० १०।१६
,, ,, ७	१. ब्रह्मेश्वर	वालमुकुन्द के चौहट्टा में। मकान नं० डी० ३३।६७।
,, ,, ८	१. लांगलीश्वर	खोवावाजार में। मकान नं०सी० के० २८।४।
,, ,, ९	१. वृद्धकालेश्वर	दारानगर में प्रसिद्ध। मकान नं० के० ५२।३९।
,, ,, १०	१. वृपेश्वर	हरिश्चन्द्र कॉलेज के पास गोरखनाथ के टीले पर। मकान नं० के० ५८।७८।
,, ,, ११	१. चण्डीश्वर	सदर वाजार में चण्डीदेवी के मन्दिर में।
,, ,, १२	१. नन्दिकेश्वर	ज्ञानवापी के उत्तर। लुप्त।
,, ,, १३	१. महेश्वर	ज्ञानवापी के नैऋत्य कोण में पीपल के नीचे अथवा मणिकर्णिकाघाट पर।
,, ,, १४	१. ज्योतिरूपेश्वर	मणिकर्णिकेश्वर के पास।
ज्येष्ठ शु० १–१०	१. दशाश्वमेधेश्वर	दशाश्वमेध घाट पर।
,, ,, ८	१. ज्येष्ठा गौरी	काशीपुरा में भूतभैरव के पास। मकान नं० ६३।२४।

तिथि	तीर्थ का नाम	स्थान
ज्येष्ठ शु० १०	१. गंगेश्वर तथा गंगाजी	ज्ञानवापी के पूर्व, पीपल के नीचे। लिंग लुप्त। अथवा पशुपतीश्वर के पूर्व। गंगास्नान तथा गंगाजी का पूजन भी।
,, ,, १४	१. ज्येष्ठेश्वर	सप्तसागर में। मकान नं० के० ६२/१४४
	२. ज्येष्ठविनायक	वहीं। उसी मन्दिर में।
सोमवार अनु-राधा नक्षत्रयुक्त	१. जैगीषव्यगुहा	ईश्वरगंगी में जागेश्वर महादेव के पीछे। मकान नं० जे० ६६।३।
आषाढ शु० २	१. रथयात्रा	राजा तालाब पर। बेनीराम के बगीचे के पास।
,, ,, १४	१. आषाढीश्वर	काशीपुरा में रानी वेतिया के शिवालय के पीछे। अथवा राजादरवाजा के पास भारभूतेश्वर के उत्तर। मकान नं० सी० के० ५४।२४।
आषाढ़ शु० १५	१. आषाढीश्वर	काशीपुरा में रानी बेतिया के शिवालय के पीछे। अथवा राजादरवाजा के पास भारभूतेश्वर के उत्तर। शिवालय नं० सी० के० ५४/२४ में।
	२. व्यासेश्वर	कर्णघण्टा पर। मन्दिर में जल भर गया है, दर्शन नहीं होते।
	३. विशिष्ट पंचतीर्थ यात्रा	जिसमें कपालमोचन, ऋणमोचन, पाप-मोचन, वैतरणी तथा कुलस्तम्भ में स्नान।
श्रावण कृ० ३०		ये सभी स्थान प्रसिद्ध हैं। यह यात्रा मतान्तर से भाद्र कृ०३० को पंचपुष्करिणी-यात्रा के नाम से भी होती है।
श्रावण शु० ४	१. ढुण्ढिराज	प्रसिद्ध।
,, ,, ५	१. वासुकीकुण्ड	नागकुआँ के समीप। लुप्त।
	२. वासुकीनाग	,, ,, । लुप्त।
	३. वासुकीश्वर	आत्मावीरेश्वर के समीप। मकान नं० सी० के० ७।१५५।
	४. कर्कोटक वापी	नागकुआँ प्रसिद्ध। मकान नं०जे० २३।२०६
,, ,, १४	१. आदिमहादेव	त्रिलोचन के पास। पवित्रारोपण।
भाद्र कृ० ३	१. विशालाक्षी	मीरघाट। मकान नं० डी० ३।८५।
,, ,, ८	१. गंगातीरस्थ महालक्ष्मी	केदारेश्वर के दक्षिण मकान नं० बी० ६।९९ में।
भाद्र शु० ३	१. मंगलागौरी	प्रसिद्ध। मकान नं० के० २४।३४।
,, ,, ४	१. ढुण्ढिराज	प्रसिद्ध।
,, ,, ६	१. लोलार्क	भदैनी पर प्रसिद्ध।

तिथि	तीर्थ का नाम	स्थान
भाद्र शु० ८	१. महालक्ष्मी	लक्ष्मीकुण्ड पर प्रसिद्ध। यह यात्रा सोलह दिनों तक चलती है—भाद्र शु० ८ से आश्विन कृ० ८ तक। सोरहिया का मेला इस नाम से प्रसिद्ध है। मकान नं० डी०५२।४०।
,, ,, १२	१. वरणासंगम	प्रसिद्ध।
,, ,, १५	१. कुलस्तम्भ	लाटभैरव प्रसिद्ध।
	२. आश्विनेयेश्वर	यदि इस दिन पूर्वभाद्रपदा नक्षत्र पड़ जाय, तो अत्यन्त पुनीत। गंगामहल के सामने। मकान नं० सी० के० २।२६।
आश्विन कृ० २	१. ललितायात्रा	ललिताघाट। त्रि०से० के अनुसार आश्विन कृ० ३ को यह यात्रा होती है। मकान नं० डी० १।६७।
,, ,, ३०	१. पितृकुण्ड	पितरकुण्डा, औरंगाबाद के समीप।
,, ,, शु० १–९	१. विश्वभुजा गौरी	धर्मकूप के पास मीरघाट पर। मकान नं० डी० २।१३।
	२. नवदुर्गा यात्रा	चैत्र नवरात्र में वर्णित क्रम से।
	३. दुर्गायात्रा	बड़ीदुर्गा। दुर्गाकुण्ड के पास।
	४. चौंसठ योगिनी-यात्रा	चैत्र कृ० १ को वर्णित स्थानों में।
,, शु० ८	१. भवानी गौरी	अन्नपूर्णा के पास के राम-मन्दिर में।
	२. महामुण्डा चण्डी	जैतपुरा में। वागीश्वरी मन्दिर में नीचे की कोठरी में।
	३. छागेश्वरी	कपिलधारा पर वृषभध्वज के दक्षिण में।
कार्त्तिक कृ० १४	१. मानसरोवर	मानसरोवर प्रसिद्ध। अब लुप्त।
,, शु० २	१. यमेश्वर	संकठाघाट गंगातट पर।
,, ,, ८	१. धर्मेश्वर	मीरघाट, धर्मकूप के पास। मकान नं० डी० २।२१।
,, ,, ११	१. विन्दुमाधव	प्रसिद्ध पंचगंगा पर। वर्त्तमान काल में यह यात्रा एकादशी से पूर्णिमा-पर्यन्त होती है।
,, ,, १४	१. विश्वेश्वर	विश्वेश्वर की महापूजा। यह उनका प्रतिष्ठा-दिन है।
मार्गशीर्ष कृ० २	१. दण्डपाणि	ढुण्ढिराज गली में तथा विश्वनाथ के पश्चिम के मन्दिर में। कालभैरव मन्दिर के पीछे क्षेत्रपाल नाम से प्रसिद्ध। मकान नं० के० ३२।२६ के बाहर।
,, ,, ८	१. कालभैरव	प्रसिद्ध। मकान नं० के० ३२।२२।

तिथि	तीर्थ का नाम	स्थान
मार्ग० शु० ६	१. मातलीश्वर	मालतीश्वर नाम से वृद्धकाल के घेरे में।
	२. लोलार्क	यदि रविवार हो, तो अति पुनीत। प्रसिद्ध।
,, ,, ११	१. कालमाधव	काठ की हवेली के पीछे आमर्दकेश्वर के मन्दिर में। मकान नं० के० ३०/४ में।
	२. पादोदक तीर्थ	एकादशी से पूर्णिमा तक—वरणासंगम में स्नान तथा आदिकेशव-दर्शन।
,, ,, १४	१. पिशाचमोचन	प्रसिद्ध। स्नान तथा कपर्दीश्वर का दर्शन-पूजन।
,, ,, १५	१. गोपीगोविन्द	लालघाट पर स्नान तथा गौरीशंकर महादेव के मन्दिर में गोपीगोविन्द का दर्शन। मकान नं० के० ४।२४ में।
	२. भृगुकेशव	गोलाघाट पर।
पौष शुक्ल १५	१. नरनारायण	मतान्तर से पौष के प्रत्येक रविवार को। महथाघाट पर। बदरीनारायण नाम से प्रसिद्ध।
माघ कृ० ४	१. वक्रतुण्डयात्रा	बड़े गणेश का दर्शन-पूजन।
,, १४	१. अविमुक्तेश्वर-यात्रा	विश्वनाथजी के घेरे में।
	२. कृत्तिवासेश्वर	रत्नेश्वर के समीप। ज्ञानवापी मस्जिद की सीढ़ी के सामने।
,, शु० ४	१. ढुण्ढिराज	प्रसिद्ध।
	२. मुखप्रेक्षणिका	मंगला गौरी के पास गभस्तीश्वर के नैऋत्यकोण में।
,, ,, ७	१. लोलार्क	प्रसिद्ध।
,, ,, ७	२. केशवादित्य	वरणासंगम में स्नान करके मौन रहकर केशवादित्य का पूजन, आदिकेशव के मन्दिर में। माघ शु० ७ को यदि रविवार हो, तभी यह यात्रा होती है।
	३. साम्बादित्य	सूर्यकुण्ड पर।
फा० कृ० १४	१. अविमुक्तेश्वर	विश्वनाथ के मन्दिर में अथवा मस्जिद की सीढ़ी के सामने।
	२. कृत्तिवासेश्वर	रत्नेश्वर के पास बगीचे में। इस दिन हरतीरथ की आलमगीरी मस्जिद में भी यात्रा होती है।
	३. प्रीतिकेश्वर	साक्षीविनायक के पीछे। मकान नं० डी० १०।८।
	४. रत्नेश्वर	वृद्धकाल की सड़क पर। मकान नं० के० ५३।४०।

तिथि	तीर्थ का नाम	स्थान
फा० शुक्ल १५	दाल्भ्येश्वर	मानमन्दिर-घाट। सोमेश्वर के समीप।

(घ) इनके अतिरिक्त कुछ अन्य विशेष यात्राएँ भी होती हैं:

१. कर्क-संक्रान्ति के दिन	शंखोद्धारतीर्थ (शंखधारा की यात्रा)।
२. अगस्त्योदय पर	अगस्त्यकुण्ड (अगस्त्यकुण्डा में) की यात्रा तथा वहाँ अगस्त्य को अर्घ्यदान।
३. सिंहस्थगुरु में	गोदावरीकुण्ड की यात्रा। गोदावरीकुण्ड अब लुप्त हो गया है।
४. माघ मास में	रामनगर के किले में स्थित वेदव्यास अथवा व्यासेश्वर की यात्रा सभी काशी-निवासियों के लिए परमावश्यक मानी जाती है। कुछ लोग रामनगर से कुछ दूर पर स्थित पुनःस्थापित शिवलिंग की यात्रा करते ह, जो 'बड़े वेदव्यास) नाम से प्रसिद्ध है।

आठवाँ अध्याय

शंका-समाधान

काशी तथा वाराणसी के धार्मिक वैभव के सभी पक्षों का विवेचन करने के उपरान्त यह आवश्यक प्रतीत होता है कि इस सम्बन्ध में उठाई हुई शंकाओं का समाधान करने का भी प्रयत्न किया जाय। साथ ही, पिछले पाँच-छह दशकों में काशी-विषयक जो साहित्य-रचना हुई है और उसमें यहाँ के धार्मिक पक्ष के सम्बन्ध में जो अनर्गल कल्पनाएँ की गई हैं, उनका प्रतिवाद भी अपेक्षित है। इस अध्याय का यही उद्देश्य है।

उन्नीसवीं शताब्दी में कुछ विदेशियों ने काशी तथा वाराणसी के विषय में पर्याप्त अनुसन्धान किया, जिसके फलस्वरूप बहुत-सी सामग्री का संचय तथा विश्लेषण हुआ। इस सम्बन्ध में **पार्जिटर, कीथ, मैकडानेल** इत्यादि के कार्य सराहनीय हैं। साथ ही **शेरिंग कीन, ग्रीव्ज, हैवेल** आदि ने काशी तथा वाराणसी के विषय में स्वतन्त्र ग्रन्थ लिखे, जिनमें उपर्युक्त सामग्री के उपयोग के साथ-साथ इन लोगों ने बहुत-कुछ स्वतन्त्र कार्यकलाप भी किया। विशेष कर शेरिंग की पुस्तक तो उनके अथक परिश्रम तथा अध्यवसाय की जाज्वल्यमान साक्षी है। इन पुस्तकों से एक बहुत बड़ा लाभ यह भी हुआ कि आज से सौ वर्ष पूर्व की वाराणसी का विस्तृत वर्णन हमको लभ्य हो सका। शेरिंग का सम्बन्ध एक मिशनरी संस्था से होने के कारण उनका दृष्टिकोण संकीर्ण होना स्वाभाविक ही है, परन्तु इसी के साथ-साथ भारतीय पुरातत्त्व का अविकसित स्वरूप ही उनके समक्ष था, इसलिए यहाँ की इमारतों, मन्दिरों तथा मस्जिदों के कालानुक्रम के विषय में उनके विचार त्रुटिपूर्ण हैं। पुरानी सभी इमारतों में उन्हें बुद्धकालीन स्थापत्य तथा कला का निरन्तर भ्रम होता रहा है और उस आधार पर आश्रित उनकी विवेचना भी ठीक नहीं हो सकी। कीथ, मैकडानल आदि विद्वान् अपने पाश्चात्य दृष्टिकोण के कारण बहुत-सी बातों का पूर्वापरत्व समझ ही नहीं सके और पाश्चात्य सभ्यता के गर्व से ओतप्रोत होने के कारण भारतीय विशेषताओं को उन्होंने वह गौरव नहीं प्रदान किया, जो उन्हें मिलना चाहिए था। हमारे देश के आधुनिक विद्वानों पर इन पाश्चात्य विद्वानों के विचारों का प्रभाव पड़ना भी इस कारण अनिवार्य हो गया कि भारतीय दृष्टिकोण उनके सामने रखा ही नहीं गया। इस सम्बन्ध में यह बात ध्यान में रखनी है कि भारतीय दर्शनों का पठन-पाठन आज भी विश्वविद्यालयों में नहीं के बराबर है और दर्शनशास्त्र की सर्वोच्च एम्० ए० पदवी प्राप्त कर लेने पर भी हमको भारतीय दर्शन का बहुत ही अपर्याप्त ज्ञान रहता है; और वह भी पाश्चात्य विद्वानों की पुस्तकों के द्वारा प्राप्त—जो भारतीय परम्पराओं से अनभिज्ञ रहे हैं। इन्हीं सब कारणों से काशी-विषयक आधुनिक साहित्य में बहुत-सी ऐसी बातें मिलती हैं, जिनसे भ्रम उत्पन्न होने की सम्भावना है। एक बात और भी है। इस आधुनिक साहित्य में अनुसन्धान की दृष्टि से जो शंकाएँ की गई हैं, उनके समाधान का कोई भी प्रयत्न

नहीं किया गया है, जिससे जनसाधारण को इनके समझने में सहायता मिले। उदाहरण के लिए, सभी लोग कहते हैं कि मुसलमानों के आक्रमण के पूर्व वाराणसी का धार्मिक आधिपत्य अविमुक्तेश्वर नामक शिवायतन का था, परन्तु आगे चलकर अकस्मात् उनका नाम-भर ही बच गया और उनकी महत्ता विश्वेश्वर को मिल गई, यहाँतक कि पन्द्रहवीं शताब्दी में विद्वानों ने यही कहा कि **अविमुक्तश्मशानोभयसंज्ञके क्षेत्रे अविमुक्तेश्वरो विश्वेश्वरनाम्ना लोकप्रसिद्धः** अर्थात्, अविमुक्तक्षेत्र में अविमुक्तेश्वर ही विश्वेश्वर नाम से प्रसिद्ध हैं। यह परिवर्तन किस प्रकार और क्यों हुआ, इसको समझने-समझाने का किसी ने भी कदापि प्रयत्न नहीं किया। इसका परिणाम यह है कि भारतीय जनमानस विभिन्न प्रकार की शंकाओं से उद्वेलित रहता है और उसके दृष्टिकोण में वह स्थिरता नहीं आने पाती, जो श्रद्धा तथा विश्वास के लिए नितान्त आवश्यक है। इस प्रकार की यथार्थ तथा तात्त्विक समस्याओं पर भी विचार करने का प्रयत्न इस अध्याय में किया गया है।

भारतीय विद्वानों के काशी-विषयक निबन्धों में तीन निबन्ध मुख्य हैं, अर्थात् **डॉ० अल्तेकर** का 'हिस्टरी ऑफ बनारस' नामक ग्रन्थ, **डॉ० के० वी० रंगस्वामी अय्यंगर** की 'कृत्यकल्पतरु' के तीर्थविवेचन-काण्ड की भूमिका, और अन्त में **डॉ० मोतीचन्द्र** का 'काशी का इतिहास', जो कुछ दिनों पहले प्रकाशित हुआ है। इन तीन को आधार मानकर इनमें की हुई शंकाओं पर अब हम विचार करेंगे। यहाँ एक बात अत्यन्त नम्रतापूर्वक निवेदन करने की धृष्टता अनिवार्य हो जाती है कि 'काशी का इतिहास' के विद्वान् लेखक ने काशी के धार्मिक चित्रण में उस न्यायशीलता का परिचय नहीं दिया है, जो ऐसे अवसरों पर अपेक्षित होता है और बहुत-से स्थानों पर बिना पूरी बात जाने-समझे अपनी पूर्वनिर्मित कल्पनाओं को तथ्य का स्थान दे डाला है। संस्कृत-श्लोकों का हिन्दी-व्याकरण से अर्थ लगाने अथवा अपूर्ण उद्धरणों के आधार पर अपने मन के अर्थ निकालने का यही कारण है। सुविज्ञ लोगों पर तो इन अनर्थों का कोई अनुचित प्रभाव नहीं पड़ेगा. परन्तु साधारण पाठक के मन में अनर्गल शंकाएँ उठना स्वाभाविक है। इसी कारण 'शंका-समाधान' शीर्षक के अन्तर्गत इनका निराकरण भी किया गया है। इस पुस्तक के पहले छह अध्यायों में इनमें से बहुत-सी शंकाओं का अपने-अपने स्थान पर निवारण किया जा चुका है, परन्तु एकत्र रूप में उनका निराकरण अपेक्षित होने से यहाँ उनपर पुनः संक्षिप्त दृष्टिपात आवश्यक है।

(क) काशीवासियों की धार्मिक शिथिलता : शंकाओं में सबसे महत्त्वपूर्ण शंका, जिसका उल्लेख **डॉ० अल्तेकर** की 'हिस्टरी ऑव बनारस' तथा **डॉ० मोतीचन्द्र** के 'काशी का इतिहास' दोनों में हुआ है, यह है कि जिस समय से आर्यधर्म काशी में नवागन्तुक रूप में आया था, उस समय से निरन्तर काशीनिवासी आर्यधर्म के प्रति उतने आकृष्ट नहीं हुए और न उस तत्परता से उन्होंने उसका पालन किया, जैसाकि तत्कालीन ब्रह्मावर्त्त, ब्रह्मर्षिदेश तथा मध्यप्रदेश के निवासी करते थे। इस भावना का आधार **मैकडोनल** तथा **कीथ** के 'वैदिक इण्डेक्स' में वर्णन किया हुआ उनका दृष्टिकोण है, जिसका प्रायः अनुवाद ही 'काशी का इतिहास' के पृ० २१ पर कर दिया गया है। "पश्चिम के वैदिक क्रियावाद को पूर्व ने

पूर्णतः स्वीकार नहीं किया था और पूर्व का झुकाव ब्राह्मण-अध्यात्मवाद की ओर पूर्ण रूप से नहीं था। बौद्धधर्म भी पूर्व की देन है और जैसा बौद्धग्रन्थों से पता चलता है, यहाँ क्षत्रियों का स्तर ब्राह्मणों से ऊँचा था।" इसकी पुष्टि में अथर्ववेद का वह मन्त्र, जिसमें तक्मा को काशी, गान्धार, मूजवान् तथा मगध के लोगों के पास जाने का आदेश है, प्रस्तुत किया गया है। पृ० २० पर कहा गया है कि "इसके माने तो यह होते हैं कि गान्धार, मगध और काशी के लोगों से कुरु-पांचाल देश के ठेठ वैदिक सभ्यता के अनुयायी आर्य अप्रसन्न थे। इस शत्रुता का कारण शायद इन प्रदेशों में धर्म-पालन की शिथिलता थी।" इसके बाद काशिराज धृतराष्ट्र के अश्वमेध के घोड़े को शतानीक सत्राजित द्वारा पकड़ लिये जाने के फलस्वरूप उस यज्ञ के अपूर्ण रह जाने के कारण काशीवासियों द्वारा श्रौताग्नि न धारण करने का उल्लेख करते हुए पृ० २० पर ही कहा गया है कि "यह समझ नहीं में आता कि हार जाने पर काशीवासियों ने अग्निहोत्र क्यों छोड़ दिया। क्या इस घटना से काशीवासियों की वैदिक प्रक्रियाओं की ओर अवहेलना नहीं प्रकट होती? ऐसा सम्भव है; क्योंकि वैदिक युग और बहुत बाद तक भी काशीवासियों में धार्मिक कट्टरपन की कमी थी। वे दूसरों की बातें सुनते थे और दूसरों के विश्वासों का आदर करते थे। इसलिए, प्राचीन वैदिक दृष्टि में काशी की कोई धार्मिक महत्ता नहीं थी। आज दिन हम काशी को प्राचीन वैदिक धर्म का केन्द्र मानते हैं; पर 'मनुस्मृति' में (तीसरी सदी ईसा-पूर्व) तो भारतवर्ष का पवित्रतम क्षेत्र ब्रह्मावर्त्त था, काशी की कोई गिनती ही नहीं थी। इसमें तो काशी मध्यदेश में भी नहीं सम्मिलित हुई है।"

इन उद्धरणों का विश्लेषण करने से निम्नांकित बातें निकलती हैं :

१. काशीवासियों के श्रौताग्नि धारण करना छोड़ देने का कारण उनका धार्मिक शैथिल्य था।
२. उनमें धार्मिक कट्टरपन की कमी थी; क्योंकि वे दूसरों के विश्वासों का आदर करते थे।
३. प्राचीन वैदिक दृष्टि में काशी की कोई धार्मिक महत्ता इसी कारण नहीं थी; क्योंकि काशीनिवासी दूसरों की बातें सुनते थे और उनका आदर करते थे।
४. मनुस्मृति में, अर्थात् ईसा-पूर्व ३०० में काशी का कोई स्थान नहीं है। वह मध्यदेश में भी नहीं मानी गई।
५. काशी के लोगों से कुरु-पांचाल देश के ठेठ वैदिक सभ्यता के अनुयायी आर्य इसलिए अप्रसन्न थे कि वहाँ धर्म-पालन में शिथिलता थी।

यदि हम इन तथ्यों पर निष्पक्ष होकर विचार करें, तो इन सभी निष्कर्षों में तार्किक शैथिल्य दीख पड़ता है। सबसे पहली बात, जो हमको इस सम्बन्ध में देखनी है, वह यह है कि ये काशीवासी कौन थे जिनकी धार्मिक शिथिलता का गान किया जा रहा है। एक बात तो स्पष्ट ही है कि आर्य-धर्म को मानने का अनार्यों को अधिकार ही नहीं था। अतएव, काशीनिवासी आर्यों पर ही यह आक्षेप हो सकता है। और, ये आर्य उन्हीं आर्यों में से कुछ लोग थे, जो विदेघ माथव के नेतृत्व में कुरुक्षेत्र से पूर्व की ओर आये थे। अतएव, पूर्व की जलवायु छोड़कर उनमें धर्म-शैथिल्य होने का कोई कारण नहीं था और इस जलवायु के इतना दूषित होने का कोई प्रमाण नहीं है। इतना ही नहीं, काशिराज धृतराष्ट्र ने अश्वमेध यज्ञ किया। यह तो कट्टरपन का प्रमाण है, शिथिलता का नहीं।

धर्म की अथवा राज्य की प्रारम्भिक परिस्थितियों में इतने बड़े यज्ञ करने का प्रश्न ही नहीं उठा करता था। जब धर्म का स्वरूप व्यापक होता है और राज्य समृद्ध हो जाता है, तभी ऐसे यज्ञ हुआ करते हैं। अतएव, जब अश्वमेध का उपक्रम हुआ, तब तो धार्मिक स्थिरता तथा विश्वास की दृढ़ता सिद्ध ही है। दुर्भाग्य से घोड़ा छीन लिया गया और यज्ञ अपूर्ण ही रह गया। इसके प्रायश्चित्त तथा प्रतिशोध के कारण काशीवासियों को श्रौताग्नि से सैकड़ों वर्षों तक विमुख रहना पड़ा; क्योंकि धृतराष्ट्र के परवर्त्ती किसी राजा ने उस अपूर्ण यज्ञ को पूर्ण करने में सफलता नहीं पाई। शतपथ-ब्राह्मण में स्पष्ट ही लिखा है कि "**हैतदर्घावकाश्योग्नीन्नाबधत आत्तसोमपीथाहस्म इति वदन्तः**" (श० प० ब्रा०, १३।४।४।१९) अर्थात्, काशीवासी कहते हैं कि हमसे सोमपान छीन लिया गया है, इसलिए हम श्रौताग्नि धारण नहीं कर रहे हैं। इस दृष्टि से यह स्पष्ट है कि श्रौताग्नि के त्याग करने में धार्मिक कट्टरपन दीख पड़ता है, न कि शिथिलता। देश-के-देश का यह संकल्प कि जबतक हमारा यज्ञ पूरा न होगा, तबतक हम श्रौताग्नि नहीं धारण करेंगे, उसी प्रकार का है, जैसा चाणक्य के शिखाबन्धन छोड़ने का तथा महाराणा प्रताप का पलंग पर न सोने और स्वर्ण-पात्रों में भोजन न करने का संकल्प अथवा द्रौपदी की वेणी-बन्धन छोड़ने की प्रतिज्ञा।

अब रही बात प्राचीन वैदिक दृष्टि में काशी की कोई महत्ता न होने की। यह बात अपने स्थान पर ठीक हो या नहीं, परन्तु 'मनुस्मृति' के साथ तीसरी शताब्दी ईसा-पूर्व का समय-निर्देश जोड़कर जो यह सिद्ध करने का प्रयत्न है कि उस समय तक काशी हेय समझी जाती थी, वह अनुचित है। 'मनुस्मृति' के निर्माण का समय ईसा-पूर्व तीसरी शताब्दी मान लेने पर भी यह कोई भी बुद्धिमान् नहीं स्वीकार कर सकता कि जिस भौगोलिक स्थिति का उसमें वर्णन है, वह तत्कालीन थी। तीसरी शताब्दी में मौर्य-साम्राज्य स्थापित हो चुका था। वाल्मीकीय रामायण लिखी जा चुकी थी। महर्षि वाल्मीकि वाराणसी की प्रशंसा कर चुके थे कि **उक्षा पक्षी तुरग उरगः कोऽपिवा वारणो वा वाराणस्यां जनन-मरणक्लेश दुःखासहिष्णुः। नत्वन्यत्र प्रविरलरणत्कंकणक्वाण मिश्रं वारस्त्रीभिश्चमरमरुता-वीजितो भूमिपालः**"। महाभारत का भी निर्माण हो चुका था, जिसमें वनपर्व में वाराणसी को तीर्थ माना जा चुका था। "**ततोवाराणसीं गत्वा देवमर्च्य वृषध्वजम्। कपिलाह्रवमुपस्पृश्य राजसूयफलं लभेत्।** (महाभारत, वनपर्व ८२।७७)। जाबालि-उपनिषद् भी बन चुकी थी और तीसरी शताब्दी के तीन सौ वर्ष पूर्व ही काशी की इतनी धार्मिक महत्ता थी कि बुद्ध भगवान् को पाटलिपुत्र, राजगृह इत्यादि से इतनी दूर आकर काशी में ही अपना पहला धार्मिक प्रवचन करना उचित जान पड़ा। ऐसी स्थिति में सैकड़ों वर्ष पहले की परिस्थिति का वर्णन करनेवाली 'मनुस्मृति' के कालनिर्देश का सहारा लेने से कुछ भी सिद्ध नहीं होता। एक बात और भी है। मनुस्मृति के देश-विभाग भौगोलिक हैं। उनकी सीमाएँ भी भौगोलिक हैं। जैसा पहले अध्याय में कहा जा चुका है कि जैसे-जैसे आर्यों की राजनीतिक सत्ता पूर्व की ओर बढ़ती गई, वैसे-ही-वैसे धर्मक्षेत्र की पूर्वीय सीमा निरन्तर पूर्व की ओर फैलती गई और असम तथा बंगाल की सीमा बनानेवाली करतोया नदी का विदेघ माथव के समय सदानीरा नाम हो गया, जो (देखिए अमरकोश) नाम पहले गण्डकी का था। यह स्थिति महाभारत की रचना के पूर्व ही प्राप्त हो गई थी; क्योंकि वहाँ गण्डकी और

सदानीरा के नाम अलग-अलग आए हैं। गण्डकीं च सदानीरां शर्करावर्त्तमेव च। (महाभारत, २।२०।२७)

इस प्रकार, कुरुपांचाल के आर्यों के ही एक कुटुम्ब को, जो काशी में थोड़े ही दिनों पहले आकर बसा था, धर्म-शैथिल्य के दोषारोपण से मुक्ति मिल जाती है।

(ख) काशी में तीर्थों की बाढ़: दूसरी महत्त्वपूर्ण शंका आक्षेप के रूप में है। इसका प्रथम उल्लेख 'कृत्यकल्पतरु' के तीर्थ विवेचनकाण्ड की भूमिका में मिलता है। वहाँ प्राचीन लिंग-पुराण में दी हुई तीर्थ-सूची को विस्तृत एवं सर्वसम्पूर्ण मानकर अन्यत्र उल्लिखित तीर्थों को नवनिर्मित माना गया है। इस प्रकार, काशीखण्ड में कहे हुए द्वादश आदित्य, छप्पन विनायक, ज्ञानवापी, मंगला गौरी, भवानी, शूलटंकेश्वर, विदारनरसिंह, गोपीगोविन्द, लक्ष्मी-नृसिंह, किणोवाराह तथा कालभैरव की प्राचीनता में सन्देह प्रकट किया गया है। वाराणसी के देवमन्दिरों की संख्या के आधार पर भी इस आक्षेप की पुष्टि की गई है। 'काशी का इतिहास' में यह बात और भी स्पष्ट रूप से कही गई है: "जैसे-जैसे समय बीतता जाता था, वैसे-वैसे बनारस में तीर्थों की बाढ़ आती जाती थी। लक्ष्मीधर ने अपने निबन्ध में बनारस के करीब तीन सौ चालीस मन्दिरों का उल्लेख किया है। जो मन्दिर बारहवीं सदी के बाद बने, उनके उल्लेख **नारायण भट्ट** और **मित्र मिश्र** ने किये हैं। शिव की राजधानी में शिव-परिवार का भी होना आवश्यक है, इसीलिए इसमें अनेक नामोंवाली पार्वती, नन्दी, विनायक और भैरव आ गये हैं। उदाहरणार्थ, अस्सी-संगम पर गाहड़वाल-युग में लोलार्केश्वर का मन्दिर था। काशीखण्ड ने इस कल्पना को प्रसारित करके काशी में द्वादश आदित्यों की कल्पना कर ली। लिंगपुराण में पाँच विनायकों का उल्लेख है। काशी-खण्ड में उनकी संख्या ५६ तक पहुँच गई है। देवमन्दिरों की संख्या किस तरह बढ़ रही थी, इसका पता इसी बात से चलता है कि **लक्ष्मीधर** के समय में इनकी संख्या तीन सौ पचास थी, प्रिंसप के समय इनकी संख्या एक हजार हो गई और सन् १८६८ ई० में इनकी संख्या सोलह सौ चौवन तक पहुँच गई। लक्ष्मीधर ने मणिकर्णिका का उल्लेख किया है, पर उसमें स्नान आजकल की तरह किसी विशेष पवित्रता का द्योतक नहीं था।" अन्यत्र 'काशी का इतिहास' में यह भी लिखा गया है कि "लक्ष्मीधर द्वारा उद्धृत लिंगपुराण के विवरणों की, बाद के पौराणिक विवरणों (काशीखण्ड ब्रह्मवैवर्त्त) से तुलना करने पर यह बात साफ हो जाती है कि सोलहवीं सदी के लेखकों ने किस तरह प्राचीन मन्दिरों के नये उद्देश्य दिखलाने के प्रयत्न किये। इन पुराणकारों ने बनारस में ही उन (सुदूर के) तीर्थों के पर्यायवाची तीर्थ ढूंढ़ निकाले।"

इन सभी बातों का विश्लेषण करने पर निम्नांकित आक्षेपों का निर्माण होता है:

(अ) मत्स्यपुराण तथा अग्निपुराण (जिनको 'काशी का इतिहास' गुप्तकालीन मानता है) के समय से सोलहवीं शताब्दी ईसवी तक वाराणसी में नये-नये तीर्थों की कल्पना की गई, जिसके कारण तीर्थों की संख्या बढ़ती गई।

(आ) 'कृत्यकल्पतरु' के तीर्थविवेचनकाण्ड में दी हुई तीर्थों की सूची वाराणसी के सभी तीर्थों की सूची है। उस समय वहाँ केवल ३४०–३५० तक ही मन्दिर थे। अतएव,

काशीखण्ड में इनके अतिरिक्त जिन मन्दिरों का उल्लेख हैं, वे सन् १११० ई० (कृत्यकल्पतरु का निर्माण-काल) के बाद के हैं और कल्पनाश्रित हैं।

(इ) पन्द्रहवीं-सोलहवीं शताब्दी के पुराणकारों ने प्राचीन तीर्थों के नये उद्देश्य निकाले।

इन आक्षेपों की समीक्षा करने के पहले पुराण-साहित्य के विषय में कुछ आधुनिक स्वीकृतियों का उल्लेख उचित जान पड़ता है। वर्त्तमान विशेषज्ञ ऐसा मानते हैं कि मत्स्यपुराण तथा अग्निपुराण गुप्तकालीन, अर्थात् पाँचवीं शताब्दी ईसवी के हैं। दण्डी का 'दशकुमारचरित' नवीं-दसवीं शताब्दी में लिखा गया। 'कृत्यकल्पतरु' का बारहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में (सन् १११० ई० के आस-पास) निर्माण हुआ। काशीखण्ड के सम्बन्ध में कुछ विवाद है। डॉ० अय्यंगर ने 'कृत्यकल्पतरु' के तीर्थविवेचनकाण्ड की भूमिका में कहा है कि सन् १४४० ई० में काशीखण्ड का तैलंग-भाषा में अनुवाद हो चुका था। इससे स्पष्ट है कि उस समय काशी के विषय में काशीखण्ड सर्वस्वीकृत पुराण था। कोई भी पुराण अपने निर्माण के समय से ही सर्वस्वीकृत नहीं होता, उसमें समय लगता है। इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि इस अनुवाद के प्रायः सौ वर्ष पहले उसका निर्माण अवश्य हो गया होगा। इस प्रकार, उसका निर्माण-काल चौदहवीं शताब्दी के मध्य में पहुँचता है। 'काशी का इतिहास' उसको पन्द्रहवीं-सोलहवीं शताब्दी का मानता है, जो प्रत्यक्ष ही असम्भव है। ब्रह्मवैवर्त्तपुराण का काशीरहस्य कदाचित् पन्द्रहवीं शताब्दी का हो सके। वह भी सोलहवीं शताब्दी का नहीं हो सकता। क्योंकि, काशी-रहस्य में रामेश्वर का स्थान रामकुण्ड पर कहा गया है, जबकि पन्द्रहवीं शताब्दी में लिखे गये मराठी-ग्रन्थ 'गुरुचरित्र' में उसका स्थान हनुमान्घाट हो गया है, जो शर्की बादशाहों की तोड़-फोड़ के बाद की पुनः स्थापना है।

अब ऊपर के आक्षेपों पर विचार करते हुए हमको सबसे पहले यह देखना है कि इन पुराणों में वाराणसी के तीर्थों के विषय में किस प्रकार विचार हुआ है। अग्निपुराण में वाराणसी के सम्बन्ध में केवल सात अनुष्टुप् श्लोकों का एक अध्याय है, जिसमें वाराणसी का माहात्म्य, अविमुक्त क्षेत्र के नाम का कारण तथा वहाँ के प्रसिद्ध आठ शिवलिंगों के नाम हैं। वाराणसी-क्षेत्र की सीमाओं तथा परिमाण का भी वर्णन है। इन आठ शिवलिंगों में अविमुक्तेश्वर को छोड़कर सात वे ही नाम हैं, जिनको मत्स्यपुराण में बाहर के शैवतीर्थों से सम्बद्ध बतलाया गया है। मत्स्यपुराण में वाराणसी-विषयक छह अध्याय हैं, जिनमें सब मिलाकर ३९३ श्लोक हैं। इसमें वाराणसी-क्षेत्र का परिमाण तथा उसका माहात्म्य आदि विस्तृत रूप में वर्णित हैं। वाराणसी के माहात्म्य को ही प्रकट करते हुए अन्य शैवक्षेत्रों का उल्लेख है कि इनकी पवित्रता का यही कारण है कि ये वाराणसी में अविमुक्तेश्वर के सान्निध्य में आते हैं। इसी के साथ-साथ उन क्षेत्रों के आठ प्रसिद्ध शिवलिंगों का नाम देकर कहा गया है कि उनकी शक्ति-सम्पन्नता इसी कारण है कि वे अविमुक्त क्षेत्र में अविमुक्तेश्वर के समीप त्रिकाल रहते हैं। हरिकेश यक्ष तथा कुबेर की तपस्या एवं वरदानों का भी उल्लेख है। वाराणसी के केवल तीन शिवलिंगों का—अविमुक्तेश्वर, त्रिसन्ध्येश्वर एवं कृत्तिवासेश्वर और पाँच तीर्थों का वहाँ नामांकन है, जिनकी पंचतीर्थीयात्रा आज भी होती है। भगवान् सदाशिव के उद्यान आनन्दकानन का भी वर्णन है। वरणा-संगम का भी उल्लेख है।

ब्रह्माजी के पाँचवें शिर के नोंच लेने और उसके हाथ में चिपक जाने का भी वर्णन है। व्यास के व्यामोहवश शाप देने की भी बात कही गई है। परन्तु, ये सब विषय वाराणसी के अविमुक्तक्षेत्र के माहात्म्य की पृष्ठभूमि में उदाहरण-स्वरूप आये हैं। मुख्य विषय अविमुक्त क्षेत्र की महत्ता का वर्णन ही है।

प्राचीन लिंगपुराण में १६ अध्याय वाराणसी के तीर्थों के सम्बन्ध में थे, जिनका उद्धरण 'कृत्यकल्पतरु' में रहने से ही उनकी रक्षा हो सकी, अन्यथा वर्त्तमान लिंगपुराण में तो उनका पता ही नहीं रह गया। वहाँ तो वाराणसी के विषय में १४४ श्लोकों का एक अध्यायमात्र रह गया है। प्राचीन लिंगपुराण के इन १६ अध्यायों में वाराणसी के तीर्थों का नामांकन, स्थाननिर्देश तथा फलस्तुति की गई है। 'कृत्यकल्पतरु' के तीर्थविवेचनकाण्ड में प्रायः पंचानबे पृष्ठों में वाराणसी के तीर्थों का वर्णन है, जिसका आधार बहुधा प्राचीन लिंगपुराण के उद्धरण ही हैं।

काशीखण्ड में प्रायः सात सौ पृष्ठों में काशी-विषयक सभी बातें विस्तारपूर्वक कही गई हैं।

इन सभी बातों को ध्यान में रखकर ऊपर के तीनों आक्षेपों पर विचार करना है। अग्निपुराण में तो केवल सात ही श्लोक हैं, अतएव उसमें किसी तीर्थविशेष का नामोल्लेख न होने से कुछ भी सिद्ध नहीं होता। मत्स्यपुराण में भी तीर्थ-माहात्म्य का ही प्राधान्य है। केवल आठ या नौ तीर्थों का नामांकन है, जिनका प्राधान्य इस प्रकार सिद्ध होता है। ये तीर्थ हैं—अविमुक्तेश्वर, त्रिसन्ध्येश्वर, कृत्तिवासेश्वर, दशाश्वमेध, लोलार्क, आदिकेशव, बिन्दुमाधव तथा मणिकर्णिका। सम्भवतः विश्वेश्वर का नाम भी है, परन्तु यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि वहाँ पर 'विश्वेश्वर' शिवलिंग-विशेष के रूप में कहा गया है अथवा केवल सदाशिववाची शब्द के रूप में। यहाँ यह बात ध्यान में रखनी है कि तीर्थों की सम्पूर्ण सूची के रूप में ये नाम नहीं आये हैं, वरन् इनको केवल प्रधान तीर्थ माना जा सकता है।

अब केवल प्राचीन लिंगपुराण तथा काशीखण्ड की सूचियाँ बचती हैं, जिनके आधार पर 'काशी का इतिहास' तीर्थों में बाढ़ आने की बात कहता है। अतएव, इनपर विस्तृत विवेचन अपेक्षित है।

प्राचीन लिंगपुराण में तीर्थों के नामांकन के बाद यह स्पष्ट रूप से लिखा है कि यह सूची केवल सिद्धतीर्थों की ही है, सम्पूर्ण तीर्थों की नामावली नहीं है।

> अन्यानि सन्ति लिङ्गानि शतशोऽथ सहस्रशः।
> न मया तानि चोक्तानि बहुत्वान्नामधेयतः॥
> एतानि सिद्धलिङ्गानि कूपाः पुण्या ह्लदास्तथा।
> वाप्यो नद्योऽथ कुण्डानि मया ते परिकीर्त्तिताः॥

(लिंगपुराण, कृ० क० त०, पृ० १०)

अर्थात्, सिद्धलिंगों, कूपों, पुण्य ह्लदों, बावलियों, नदियों तथा कुण्डों का उल्लेख यहाँ हुआ है। इनके अतिरिक्त, सैकड़ों तथा सहस्रों और लिंग हैं, जिनका वर्णन विस्तार-भय से नहीं किया गया। अतएव, इस सूची को सम्पूर्ण सूची मानना अनुचित है और आक्षेपों का यही

आधार है, जो प्रत्यक्ष ही निराधार है। काशीखण्ड में बहुत-से शिवलिंगों का विशद वर्णन कर चुकने के बाद सत्तानबेवें अध्याय में सिद्धलिंगों का अलग से नामोल्लेख, स्थान-निर्देश, तथा फलस्तुति दी गई है। इस सूची का यदि लिंगपुराण की सूची से मिलान किया जाय, तो यह स्पष्ट हो जाता है कि ये दोनों सूचियाँ प्रायः एक-सी हैं। इन सूचियों को सूक्ष्म दृष्टि से देखने से यह भी जान पड़ता है कि लिंगपुराण के कुछ देवता काशीखण्ड में छूट गये हैं और काशी-खण्ड में कुछ देवता ऐसे हैं, जो लिंगपुराण में नहीं हैं, परन्तु दोनों सूचियों की तीर्थ-संख्या से तो यही सिद्ध होता है कि काशीखण्ड की सूची में केवल ३८२ नाम हैं, जबकि लिंगपुराण की सूची में ४४८ तीर्थों का नामोल्लेख है और इनके अतिरिक्त १३ और नाम यात्राओं का अंग होकर आये हैं। इस प्रकार, यह सिद्ध हो जाता है कि सिद्ध-पीठों की संख्या में बाढ़ नहीं आई, अपितु कुछ ह्रास ही हुआ। पाठकों की सुविधा के लिए दोनों सूचियाँ परिशिष्ट 'क' में दी जा रही हैं।

यह तो हुई सिद्ध तीर्थों की बात. अब काशीखण्ड में दिये हुए अन्य तीर्थों पर विचार करने के पूर्व यह बात स्पष्ट रूप से समझ लेनी है कि काशीखण्ड के सात सौ पृष्ठ केवल वाराणसी या काशी का ही वर्णन करते हैं। उनके लिए केवल यही एक क्षेत्र है, जिसका सांगोपांग वर्णन करने का प्रयत्न किया गया है। अग्निपुराण, मत्स्यपुराण या लिंगपुराण की तरह अन्य पुण्य क्षेत्रों अथवा अन्य विषयों से काशीखण्ड का कोई सम्बन्ध नहीं हैं। इस कारण जिस विस्तार के साथ काशी के तीर्थों का वर्णन करने की सुविधा वहाँ थी, वह अन्यत्र नहीं थी और इसीलिए वहाँ पर अपेक्षाकृत कम महत्त्ववाले तीर्थों का भी उल्लेख हुआ है, जिस कारण उनकी संख्या अधिक होना स्वाभाविक है। इससे यह निष्कर्ष निकालना कि नये-नये तीर्थों की कल्पना कर डाली गई, न्यायसंगत नहीं है। यहाँ यह भी ध्यान में रखना है कि इतना सब कुछ होते हुए भी बहुत-से तीर्थ काशीखण्ड में भी छूट गये हैं; यथा लौड़ेश्वर तथा इन्द्रमाधव, जिनके नाम महाराज गोविन्दचन्द्र के ताम्रपत्रों में मिलते हैं तथा बहुत-से और भी शिवलिंग हैं, जिनकी मुद्राएँ राजघाट की खुदाई में निकली हैं। (देखिए पृ० २३७)

इस सम्बन्ध में 'कृत्यकल्पतरु' के निम्नांकित उद्धरणों को ध्यानपूर्वक देखने की भी आवश्यकता है, जिनमें स्पष्ट रूप से लिखा है कि किन-किन स्थानों पर अनेक अन्यान्य शिवायतन थे, जिनका विस्तृत वर्णन वहाँ नहीं दिया गया है।

१. धनदेशस्य कुण्डसमीपे (धनेसरा तालाब के निकट)

अन्यानि तत्र लिङ्गानि स्थापितानि सुरासुरैः।
तानि दृष्ट्वाति पुण्यानि स्वर्गलोकं व्रजेन्नरः ॥ (कृ० क० त०, पृ० ७०)

२. करवीरलिङ्गस्य समीपे

पुण्यानि तत्र लिङ्गानि स्थितानि परमेश्वरि। (कृ०क० त०, पृ० ७१)

३. उर्वशीशसमीपे (बाबू के बाजार में स्थित उर्वशीश्वर के समीप)

तस्यैव तु समीपे तु लिङ्गानि स्थापितानि च।
गणैस्तु मम धर्मज्ञैः श्रेष्ठानि सुमहान्ति च॥ (कृ० क० त०, प० ७)

४. कृत्तिवासेश्वरसमीपे

अन्ये च बहवस्तत्र सिद्धलिङ्गाश्च सुव्रते। (कृ० क० त०, पृ० ८)

५. आषाढ़ीश्वरसमीपे (बेतिया के मन्दिर के समीप काशीपुरा में अथवा राजादरवाजा के समीप)

अन्यानि तत्र लिङ्गानि स्थापितानि महान्ति च। (कृ० क० त०, पृ० ९३)

६. गभस्तीश्वरसमीपे

अन्यानि तत्र लिङ्गानि स्थापितानि महात्मभिः। (कृ० क० त०, पृ०९७)

७. विरूपाक्षकूपसमीपे

अन्यानि तत्र लिङ्गानि सुरैः संस्थापितानि च। (कृ० क० त०, पृ० १०)

८. इन्द्रेश्वरस्य समीपे

अन्यानि तत्र लिङ्गानि देवासुरमरुद्गणैः।
यक्षैर्नागैश्च गन्धर्वैः किन्नराप्सरसां गणैः ॥
लोकपालैः सुरैश्चैव लिङ्गानि स्थापितानि तु। (कृ०क० त०, पृ० १०५)

९. पुष्पदन्तेश्वरस्य समीपे

तस्यैवाग्नेयकोणे तु लिङ्गानि सुमहान्ति च।
देवर्षिगणपुष्टानि सर्वसिद्धिकराणि च ॥ (कृ०क० त०, पृ० ११७)

१०. स्कन्देश्वरसमीपे

तत्र शाखैर्विशाखैश्च नैगमीयैश्च सुन्दरि।
स्थापितानि च लिङ्गानि गणैः सर्वैर्बहूनि च ॥ (कृ० क० त०, पृ० ४६)

११. हिरण्याक्षेश्वरसमीपे

हिरण्याख्यस्य सामीप्ये अन्यैर्देवैः सहस्रशः।
स्थापितानि च लिङ्गानि भक्त्या चैव फलार्थिभिः॥ (कृ०क०त०, पृ०४७)

१२. रुद्रेश्वरस्य समीपे

रुद्रस्य च समीपे तु ऋषिभिः स्थापितानि च।
लिङ्गानि मम सुश्रोणि सर्वकामफलानि च॥ (कृ०क०त०, पृ० ६३)

१३. महालयस्योत्तरेण

महालयस्योत्तरेण लिङ्गानि सुमहान्ति च।
देवैः सर्वैर्महाभागैः स्थापितानि शुभार्थिभिः॥ (कृ० क० त०, पृ० ६३)

१४. देवेश्वरसमीपे कामकुण्डस्य दक्षिणे

अन्यानि तत्र लिङ्गानि स्थापितानि महात्मभिः।
तानि दृष्ट्वा तु मनुजः सर्वयज्ञफलं लभेत्॥ (कृ० क० त०, पृ० ६६)

एक बात और भी है कि यदि लिंगपुराण की सूची को सम्पूर्ण माना जाय, तो इसमें कई ऐसे शिवलिंगों के नाम नहीं हैं, जिनका अस्तित्व 'कृत्यकल्पतरु' के निर्माण के समय अन्य सूत्रों से सिद्ध हो जाता है। राजघाट की खुदाई में जिन शिवायतनों की मुहरें मिली हैं,

उनके निम्नांकित नाम 'काशी का इतिहास' में दिये गये हैं (पृ० ९६-९७ तथा भूमिका पृ० ८) :

१. श्रीसारस्वत, २. योगेश्वर, ३. भृंगेश्वर, ४. प्रीतिकेश्वर स्वामिन्, ५. गंगेश्वर या गर्गेश्वर, ६. गभस्तीश्वर, ७. भोगकेश्वर, ८. प्राज्ञेश्वर, ९. हस्तीश्वर, १०. वटुकेश्वर स्वामी, ११. कपर्दक रुद्र, १२. श्रीस्कन्दरुद्र स्वामी, १३. कलशेश्वर और १४. अविमुक्तेश्वर।

इनमें १, २, ३, ७, ८, ९, १०, ११ तथा १२ के नाम 'कृत्यकल्पतरु' में नहीं हैं। इनके अतिरिक्त 'काशी का इतिहास' में जो आठ शिवलिंग, वाराणसी के प्रसिद्ध शिवलिंग, मत्स्य-पुराण तथा अग्निपुराण के आधार पर बताये गये हैं, उनमें से भी 'जलेश्वर' अथवा 'जप्येश्वर तथा 'महाभैरव' के नाम 'कृत्यकल्पतरु' में नहीं हैं। क्या इससे यह स्पष्ट नहीं हो जाता कि 'कृत्यकल्पतरु' की सूची में तत्कालीन सभी शिवलिंगों के नाम न होकर केवल प्रसिद्ध एवं सिद्ध शिवलिंगों के नाम हैं। ऐसी दशा में यह कहना कि बारहवीं शताब्दी के बाद नये-नये शिवलिंगों तथा तीर्थों की कल्पना कर ली गई, अनुचित है। 'कृत्यकल्पतरु' में त्रिलोचन तथा लौडेश्वर के नाम भी नहीं हैं, जिनका उल्लेख महाराज गोविन्दचन्द्र के दानपत्रों में स्पष्ट अंकित हैं। यह तो हुई 'कृत्यकल्पतरु' की सूची की बात। अब काशी-खण्ड की सूची को देखने से यह दीख पड़ता है कि पुरातत्त्व से सिद्ध गुप्तकालीन शिवलिंगों में भी कई नाम उसमें नहीं मिलते। क्रमसंख्या ७, ८, ९, १०, ११ तथा १२ के नाम वहाँ नहीं हैं। इससे तो यही प्रकट होता है कि काशीखण्ड की सूची भी पूर्ण नहीं है। सम्भवतः, ये गुप्तकालीन शिवायतन उस समय तक उतने महत्त्वपूर्ण नहीं रह गए थे।

इस सम्बन्ध में एक बात ध्यान में रखने की यह भी है कि पुराणों में प्राचीन शिवायतनों के अतिरिक्त नवनिर्मित शिवायतनों के नाम कहीं नहीं मिलते। इससे भी उल्लिखित तीर्थों की प्राचीनता सिद्ध होती है। कर्णचेदि के कर्णमेरु तथा पद्मेश्वर के विशाल शिवालयों का नाम किसी भी पुराण में कहीं भी नहीं आया। यदि नई-नई कल्पनाएँ पुराणों में संकलित होतीं, तो इन दो शिवालयों के नाम उनमें अवश्य सम्मिलित हुए होते।

इन्हीं आक्षेपों के सन्दर्भ में नवीन इतिहासकारों ने कुछ तीर्थों के नाम भी गिनाये हैं, जिनके लिंगपुराण में न होने के कारण उनकी महत्ता अथवा प्राचीनता में सन्देह का संकेत किया गया है। जैसे—१. "इस मणिकर्णिका-कुण्ड का अग्निपुराण तथा मत्स्यपुराण में कहीं पता नहीं है। जान पड़ता है, इसकी कल्पना छठीं शताब्दी के आरम्भ में हुई होगी (काशी का इतिहास, पृ० ९५)"। इसी प्रकार, 'कृत्यकल्पतरु' के तीर्थविवेचनकाण्ड की भूमिका में भी मणिकर्णिका के तत्कालीन महत्त्व में सन्देह किया गया है (कृ०क०त०, भूमिका, पृ०७५)।

२. "मुक्तिमण्डप, श्रृंगारमण्डप, ऐश्वर्यमण्डप, ज्ञानमण्डप, ज्ञानवापी, मंगला गौरी, भवानी, शूलटंक, विदारनरसिंह, लक्ष्मीनृसिंह, गोपीगोविन्द, किणोवाराह तथा कालभैरव—इनके नाम भी 'कृत्यकल्पतरु' में न होने के कारण इनकी भी प्राचीनता में सन्देह किया गया है।" (कृ०क०त०, ती०वि०का०, भूमिका, पृ० ७६; काशी का इतिहास, पृ०, १७१)

३. "पंचक्रोशीयात्रा का लक्ष्मीधर ने कहीं उल्लेख नहीं किया है, पर स्कन्दपुराण के पिछले सौ वर्ष के कई संस्करणों में उसका उल्लेख मिलता है।" (काशी का इतिहास, पृ०

१६८)। "लक्ष्मीधर ने पंचक्रोशी का कहीं उल्लेख नहीं किया है। लगता है कि बारहवीं सदी के बहुत बाद इस कल्पना का उदय हुआ होगा।" (काशी का इतिहास, पृ० १७१)। डॉ० अय्यंगर ने लिखा है कि यद्यपि पंचक्रोशी का उल्लेख काशीखण्ड के कुछ संस्करणों में चार सौ वर्षों से अधिक काल से मिलता है, परन्तु लक्ष्मीधर ने उसका उल्लेख नहीं किया। सम्भवतः, बारहवीं शताब्दी के बाद तक इस यात्रा का तथा इससे सम्बद्ध मन्दिरों का अस्तित्व नहीं था, जो आगे चलकर क्रमशः स्थापित हो गया। (कृ०क०त०, ती० वि० का०, भूमिका, पृ० ४२ तथा ७५)। इस मत की परिपुष्टि में शेरिंग का यह वाक्य दोनों इतिहासकारों ने उद्धृत किया है कि "पंचक्रोशी मार्ग का कोई मन्दिर तीन सौ वर्ष से पुराना नहीं है।"

४. "'आनन्दवन' यह नाम 'कृत्यकल्पतरु' में नहीं है, अतएव यह भी नया है।" (काशी का इतिहास, पृ० १७०, कृ० क० त०, ती० वि० का०, भूमिका, पृ० ७३)

५. "पंचतीर्थी यात्रा का वर्त्तमान क्रम नया है; क्योंकि 'कृत्यकल्पतरु' में दूसरा क्रम दिया हुआ है।" (काशी का इतिहास, पृ० १७०)

६. "गाहड़वाल-युग में अस्सी-संगम पर लोलार्केश्वर शिव का मन्दिर था। काशीखण्ड ने इस कल्पना को प्रसारित करके काशी में द्वादश आदित्यों की परिकल्पना कर ली। इसी तरह जहाँ लिंगपुराण में पाँच विनायकों का उल्लेख है, काशीखण्ड में उनकी संख्या छप्पन तक पहुँच गई है।" (काशी का इतिहास, पृ० १७०)

७. "देवमन्दिरों की संख्या किस तरह बढ़ रही थी, इसका पता इस बात से चलता है कि लक्ष्मीधर के समय इनकी संख्या तीन सौ पचास थी, प्रिंसेप के समय इनकी संख्या एक हजार हो गई और सन् १८६८ ई० में शेरिंग ने अपनी पुस्तक लिखी। इनकी संख्या सोलह सौ चौअन तक पहुँच गई।" (काशी का इतिहास, पृ० १७०)

८. सोलहवीं शताब्दी के पुराणकारों ने प्राचीन तीर्थों के नये उद्देश्य निकाले। (काशी का इतिहास पृ० १७०)

अतएव, इन आपत्तियों के औचित्य पर भी विचार करना आवश्यक है।

१. मणिकर्णिका-कुण्ड का नाम अग्निपुराण में न होना स्वाभाविक है; क्योंकि वहाँ केवल सात ही श्लोकों में काशी का पूरा वर्णन हुआ है, परन्तु यह कहना कि मत्स्यपुराण में मणिकर्णिका का नाम नहीं है, निरी अनर्गल बात है। वहाँ तो स्पष्ट शब्दों में लिखा है कि वाराणसी के पाँच प्रधान तीर्थों में मणिकर्णिका महाश्रेष्ठ है।

तीर्थानां पञ्चकं सारं विश्वेशानन्दकानने।
दशाश्वमेधं लोलार्कः केशवो बिन्दुमाधवः॥
पञ्चमी तु महाश्रेष्ठा प्रोच्यते मणिकर्णिका। (म०पु०, १८५। ६५-६६)

मत्स्यपुराण का समय 'काशी का इतिहास' ने गुप्तकाल स्वीकार किया है। अतएव, पाँचवीं शताब्दी ईसवी में मणिकर्णिका का माहात्म्य स्पष्ट रूप से सिद्ध हो जाता है। इस प्रकार, छठीं शताब्दी के आरम्भ में उसकी कल्पना की बात नितान्त निराधार है। लिंगपुराण के आधार पर मणिकर्णिका के महत्त्व पर शंका करना भी अनुचित है; क्योंकि लिंगपुराण शिवलिंगों तथा शिवायतनों का पुराण है। उनका वर्णन करते हुए अन्य समीपस्थ तीर्थों

का भी उल्लेख वहाँ प्रसंगवश हो गया है, परन्तु यह उल्लेख केवल सन्दर्भजनित है, अतएव वहाँ उनके माहात्म्य पर विशेष बल नहीं दिया गया है।

२. **मुक्तिमण्डपादि :** 'कृत्यकल्पतरु' में विश्वेश्वर के सम्बन्ध में केवल डेढ़ श्लोक दिये गये हैं। अतएव, वहाँ पर उस शिवायतन के चारों मण्डपों आदि का उल्लेख न होना कोई आश्चर्य की बात नहीं है। काशीखण्ड में विश्वेश्वर की ही प्रधानता है। अतएव उनके देवायतन का विस्तृत वर्णन होना स्वाभाविक है। इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है।

ज्ञानवापी : ज्ञानवापी का वर्णन 'कृत्यकल्पतरु' में स्पष्ट रूप से किया गया है, यद्यपि उसका नाम वहाँ नहीं दिया गया है। अविमुक्तेश्वर का माहात्म्य-वर्णन करने के बाद लिंग-पुराण कहता है कि उनके दक्षिण में सुन्दर वापी है, जिसका जलपान करने से मनुष्य के हृदय में तीन लिंग उत्पन्न होते हैं। उसकी रक्षा पश्चिम में दण्डपाणि, पूर्व में तारकेश्वर, उत्तर में नन्दीश्वर तथा दक्षिण में महाकालेश्वर करते हैं। ठीक यही बात काशीखण्ड में कही गई है, अतएव इस सम्बन्ध का भ्रम निराधार है। आज भी ज्ञानवापी के चारों ओर इन देवताओं की पूजा होती है :

> **देवस्य दक्षिणे भागे वापी तिष्ठति शोभना।**
> **पीतमात्रेण तैनेव उदकेन यशस्विनि ॥**
> **त्रीणि लिङ्गानि वर्धन्ते हृदये पुरुषस्य तु।**
> **दण्डपाणिस्तु तत्रस्थो रक्षते तज्जलं सदा ॥**
> **पश्चिमे तीरमासाद्य देवदेवस्य शासनात्।**
> **पूर्वेण तारको देवो जलं रक्षति सर्वदा ॥**
> **नन्दीशश्चोत्तरेणैव महाकालस्तु दक्षिणे।**
> **रक्षते तज्जलं नित्यं मद्भक्तानां तु मोहनम् ॥** (कृ०क०त०, पृ०१०९-११०)

मंगला गौरी : मंगला गौरी का वर्णन 'कृत्यकल्पतरु' में पूरे विस्तार से किया गया है, परन्तु उनका नाम वहाँ ललिता बतलाया गया है।

> **दक्षिणेन गभस्तीशाद्वाराणस्यान्तु सुव्रते।**
> **मानवानां हितार्थाय त्वं च तत्र व्यवस्थिता ॥**
> **मायापुर्यान्तु ललितां दृष्ट्वा यल्लभते फलम्।**
> **तत्फलं ललितायां च वाराणस्यां न संशयः ॥** (कृ०क०त०, पृ० ९४-९५)

सम्भवतः उस समय उनका नाम ललिता था, परन्तु एक अन्य ललितादेवी—भोगललिता अथवा संवर्त्तललिता नाम की भी वहाँ बतलाई गई हैं, जो वर्त्तमान काल में ललितादेवी नाम से प्रख्यात हैं। इन दोनों में भ्रम मिटाने की दृष्टि से सम्भवतः ललिता का नाम मंगला गौरी पड़ गया।

भवानी : भवानी का भी स्पष्ट उल्लेख 'कृत्यकल्पतरु' में है, परन्तु वहाँ उनका नाम नहीं दिया गया। शुक्रेश्वर के पश्चिम में इनका स्थान बतलाया गया है :

> **तस्यैव (शुक्रकूपस्य) पश्चिमे भागे देवो देवी च तिष्ठतः।**
> **मुक्तिदौ तौ तु सर्वेषां येऽपि दुष्कृतिनो नराः ॥** (कृ०क०त०, पृ०११३)

शूलटंकेश्वर : शूलटंकेश्वर वाराणसी के देवता नहीं हैं। इनका स्थान प्रयाग में है,

जहाँ से प्रतीक-रूप में वाराणसी में भी इनका प्रादुर्भाव हुआ। अन्य शिवतीर्थों से आये हुए सरसठ शिवलिंगों के साथ इनका वर्णन काशीखण्ड में किया गया है। 'कृत्यकल्पतरु' में इन शिवायतनों में केवल एक या दो का ही उल्लेख है, औरों का नहीं। यहाँ तक कि 'कृत्यकल्पतरु' के निर्माणकाल में भी प्रसिद्ध शिवलिंग त्रिलोचन का उसमें नाम नहीं है।

विदारनरसिंह, लक्ष्मीनृसिंह, गोपीगोविन्द, किणोवराह : लिंगपुराण में विशेषतः शिवलिंगों का वर्णन है। प्रसंगवशात् आनेवाले अन्य तीर्थों का भी उल्लेख है, परन्तु बल शिवलिंगों पर ही है। अतएव, वहाँ केवल आदिकेशव के विष्णुपीठ का ही नामांकन हुआ है। ओंकारेश्वर के अंगस्वरूप ओंकारेश्वर में विष्णु की स्थिति का भी वर्णन है। अन्य किसी भी विष्णुपीठ का वहाँ वर्णन नहीं है। यहाँ तक कि मत्स्यपुराण में उल्लिखित बिन्दुमाधव का भी वहाँ नाम नहीं है। ऐसी स्थिति में इन विष्णुपीठों का वहाँ नाम न होने में कोई आश्चर्य नहीं होना चाहिए। इसके अतिरिक्त किणोवराह भी बाहर के तीर्थों से आनेवाले देवता हैं।

कालभैरव : भैरव की उत्पत्ति महेश्वर की आज्ञा से ब्रह्मा को दण्ड देने के लिए हुई। यह कथा पुराणों में सर्वत्र मिलती है और इसी कारण भैरव को शिव का अवतार ही माना जाता है। लिंगपुराण में भी सदाशिव ने अपने हाथ से कपाल गिरने का वर्णन किया है। इससे भी यही स्थिर होता है कि भैरव को शिव ही माना जाता रहा है। 'कृत्यकल्पतरु' में कहा गया है कि "कपालमोचनतीर्थ में स्नान करने से हमारे हाथ से छूटकर कपाल गिर पड़ा और उस तीर्थ में हम कपालेश्वर नाम से स्थित हो गये :"

अन्यच्च ते प्रवक्ष्यामि महातीर्थं यशस्विनि।
कपालमोचनं नाम त्रिषु लोकेषु विश्रुतम्॥
कपालं पतितं तत्र स्नातस्य मम सुन्दरि।
तस्मिन् स्नातो वरारोहे ब्रह्महत्यां व्यपोहति॥
कपालेश्वर नामानं तस्मिंस्तीर्थे व्यवस्थितम्। (लिं०पु०, कृ०क०त०, पृ०५५)

काशीखण्ड में इस सबका विस्तृत वर्णन है, जिसका पाँचवें अध्याय में 'भैरवपीठ' नामक शीर्षक के अन्तर्गत विस्तारपूर्वक विवेचन किया जा चुका है। काशीखण्ड में स्पष्ट शब्दों में कहा गया है कि कपालमोचन तीर्थ की ओर मुख करके भैरव स्थित हो गये :

कपालमोचनं तीर्थं पुरस्कृत्वा तु भैरवः।
तत्रैव तस्थौ भक्तानां भक्षयन्नवसन्ततिम्॥
पापभक्षणमासाद्य कृत्वा पापशतान्यपि।
कुतो बिभेति पापेभ्यः कालभैरवसेवकः॥
आमर्दयति पापानि दुष्टानां च मनोरथान्।
आमर्दक इति ख्यातस्ततोऽसौ कालभैरवः॥ (का०ख०, ३१।१३८—१४०)

इस प्रकार, कालभैरव का कपालेश्वर के रूप में 'कृत्यकल्पतरु' में स्पष्ट उल्लेख है और काशीखण्ड में उनके तीनों स्वरूपों का भी वर्णन है। उनके स्थान के विषय में भी कोई सन्देह नहीं है; क्योंकि यह स्थान 'कृत्यकल्पतरु' तथा 'काशीखण्ड' दोनों में ही कपालमोचनतीर्थ के तट पर बतलाया गया है। अब प्रश्न केवल एक रह जाता है। वह यह कि कालभैरव का

वर्तमान मन्दिर कपालमोचन से बहुत दूर हैं। संक्षेप में, इस विषय का भी पाँचवें अध्याय में विवेचन किया जा चुका है। 'तीर्थों का स्थानान्तरण' नामक अध्याय में इस विषय पर पुनः प्रकाश डाला जायगा।

(ग) पंचक्रोशी यात्रा की आधुनिकता : 'काशी का इतिहास' इस यात्रा का उल्लेख काशीखण्ड के सौ वर्ष पूर्व के कई संस्करणों में होना स्वीकार करता है, परन्तु 'कृत्यकल्पतरु' में इसका वर्णन न मिलने से इसकी प्राचीनता उसको स्वीकार नहीं है। डॉ० अय्यंगर का कहना है कि चार सौ वर्षों से अधिक समय से काशीखण्ड के कुछ संस्करणों में इस यात्रा का उल्लेख मिलता है, परन्तु 'कृत्यकल्पतरु' में न होने से उससे अधिक प्राचीनता वे इस यात्रा को नहीं दे पाते।

इन शंकाओं का समाधान बहुत सरल है। 'कृत्यकल्पतरु' के काशी-विषयक वर्णन मे तो इस यात्रा का कहीं उल्लेख नहीं मिलता, परन्तु उसी पुस्तक में आगे चलकर 'नानातीर्थ-माहात्म्यम्' नामक अध्याय में स्पष्ट कहा गया है कि वाराणसी पुरी की प्रदक्षिणा की गई। इससे यह सिद्ध होता है कि 'कृत्यकल्पतरु' के निर्माण के पहले से पंचक्रोशी प्रदक्षिणा होती थी। उसका मार्ग कौन था तथा उसपर कौन-कौन-से देवमन्दिर थे। इसका वर्णन न होने से यात्रा का वर्णन अधूरा भले ही माना जाय, परन्तु यात्रा की परम्परा तथा प्राचीनता तो प्रमाणित है ही।

दशाश्वमेधे गङ्गायां तीर्थे सुरगृहादिषु।
सर्वपापहरांस्त्वेषु सम्पूज्य पितृदेवताः॥
प्रदक्षिणीकृत्य पुरीं पूज्यादिमुक्तकेशवौ।
लोलं दिवाकरं दृष्ट्वा ततो मधुवनं गतौ॥ (वा० पु०, कृ०क०त०, पृ० ३७)

शेरिंग का यह कथन कि पंचक्रोशी मार्ग का कोई भी मन्दिर तीन सौ वर्षों से पुराना नहीं है, केवल इसी बात की पुष्टि करता है कि वाराणसी के सभी मन्दिरों के साथ-साथ पंचक्रोशी के मन्दिर भी मुसलमानों के राज्यकाल में तोड़े गये; क्योंकि वाराणसी नगर में भी तो तीन सौ वर्षों से पुराना कोई देवालय नहीं बचा और मुसलमान इतिहास-कार सन् ११९४ ई० में काशी के एक हजार मन्दिर तोड़े जाने की बात कहते हैं। यथार्थतः शेरिंग का यह कहना सत्य नहीं है; क्योंकि पंचक्रोशी यात्रा के प्रथम विश्रामस्थल कन्दवा में ही कर्दमेश्वर का दसवीं शताब्दी ईसवी का मन्दिर न जाने कैसे बच गया है, जिसको 'काशी का इतिहास' भी स्वीकार करता है (काशी का इतिहास, पृ० ४००)। ऐसी स्थिति में तीन सौ वर्षों से पहले के मन्दिरों का न होना पंचक्रोशी यात्रा की प्राचीनता का हनन नहीं कर सकता। इतना ही नहीं, पंचक्रोशी यात्रा के मार्ग पर स्थित मन्दिरों में बहुत-सी प्राचीन मध्ययुगीन मूर्त्तियाँ टूटी-फूटी दशा में अब भी मिलती हैं। उदाहरण के लिए, अवड़ेगाँव के मोक्षेश्वर-मन्दिर की दीवारों में बहुत-सी प्राचीन मूर्त्तियाँ लगी हैं। हरसोस के राधाकृष्ण-मन्दिर में लक्ष्मीनारायण की प्राचीन मूर्त्ति रही है। चौखण्डी में कामेश्वर-मन्दिर में सूर्य तथा गणेश की मध्ययुगीन मूर्त्तियाँ हैं। भीमचण्डी देवी में दशमुखी काली तथा कई अन्य मूर्तियाँ हैं। एक गणेशजी तो, सम्भवतः आठवीं-नवीं शताब्दी के,

भग्नास्था में ही मिले हैं, जिनसे इस मार्ग के देवालयों पर भी मुसलमानों के अत्याचार का स्पष्ट प्रमाण उपलब्ध होता है।

(घ) **आनन्दवन :** आनन्दवन का नाम **लक्ष्मीधर** ने नहीं लिखा। यह ठीक है, परन्तु उनके छह-सात सौ वर्ष पूर्व मत्स्यपुराण में 'आनन्दकानन' शब्द का प्रयोग हो चुका था और उस उपवन का वर्णन भी वहाँ किया जा चुका था। अतएव, इस नाम की प्राचीनता में सन्देह का कोई स्थान नहीं है। 'कुट्टनीमतम्' में तो आनन्दवन नाम स्पष्ट रूप से आया है और यह ग्रन्थ नवीं शताब्दी का माना जाता है।

(ङ) पंचतीर्थी यात्रा : काशी के इतिहास में लिखा हैं कि 'कृत्यकल्पतरु' के समय में पंचतीर्थी यात्रा का दूसरा क्रम था—वर्त्तमान क्रम नहीं। परन्तु, 'कृत्यकल्पतरु' में पंचतीर्थी नामक यात्रा का नाम ही नहीं है। इसके अतिरिक्त मत्स्यपुराण में पंचतीर्थी यात्रा का वही क्रम कहा गया है, जो इस समय चल रहा है। इसका अर्थ यह हुआ कि पाँचवीं शताब्दी का यात्राक्रम अक्षुण्ण है। फिर, शंका का स्थान कहाँ?

(च) द्वादशादित्य एवं छप्पन विनायक : इस सम्बन्ध में 'काशी का इतिहास' में जो कुछ कहा गया है, वह स्वयं अशुद्ध है। 'कृत्यकल्पतरु' में पाँच नहीं, नौ विनायकों का उल्लेख है और काशीखण्ड में ५६ नहीं, वरन् ६७ का। इसके अतिरिक्त, लोलार्क में लोलार्केश्वर महादेव अवश्य हैं, पर उनका नाम तथा माहात्म्य कहीं भी नहीं मिलता। 'कृत्यकल्पतरु' में तो स्पष्ट ही लोलार्क को सूर्य की प्रतिमा ही मानकर फलादेश हुआ है। वहाँ लिखा है :

तस्यैव दक्षिणे भागे लोलार्को नाम वै रविः (कृ०क०त०, पृ०११८)

फिर, वह लोलार्केश्वर शिव का स्थान था, यह मनगढ़न्त बात कहाँ से उठ गई? वामन-पुराण के उद्धरण में भी 'कृत्यकल्पतरु' में 'लोलं दिवाकरं दृष्ट्वा' (कृ० क० त०, पृ० २३७) यही लिखा है।

यह तो हुई भ्रम-निवारण की बात। अब रहा इन शंकाओं का समाधान। जैसा पहले कहा जा चुका है, 'कृत्यकल्पतरु' की सूची केवल सिद्धपीठों की सूची है। अतएव, काशीखण्ड में उससे अधिक नाम आना कोई आश्चर्य की बात नहीं है। जिन छप्पन विनायकों का काशी-खण्ड में उल्लेख है, वे एक या दो स्थानों में नहीं हैं, वरन् विश्वेश्वर-मन्दिर की आठों दिशाओं में उनके सात आवरण हैं। वे वाराणसी के प्रधान विनायकपीठ हैं, ऐसा कहीं नहीं कहा गया है। इनमें तो किसी भी प्रधान विनायक का नाम नहीं हैं, यहाँतक कि ढुण्ढिराज का भी नाम वहाँ नहीं है। 'कृत्यकल्पतरु' में जिन विनायकों के नाम हैं, उनका स्पष्ट स्थान-निर्देश न होने से उनके वर्त्तमान स्थान के विषय में कुछ नहीं कहा जा सकता। अतएव, इसको तीर्थों की बाढ़ कहना समीचीन नहीं है। लौडेश्वर तथा इन्द्रमाधव की तरह के ही ये ५६ विनायक हैं, जिनका नाम 'कृत्यकल्पतरु' में आना आवश्यक नहीं माना गया। एक बात और भी है इन छप्पन विनायकों में कम-से-कम तीन या चार विनायकों की प्राचीन मूर्त्तियाँ भी मिल चुकी हैं, जिनमें दो के चित्र सामने दिये जा रहे हैं। अन्य विनायकों की भी प्राचीन मूर्त्तियाँ खोज करने पर मिलना असम्भव नहीं है।

यही वात द्वादशादित्यों के सम्बन्ध में भी है। लोलार्क का प्राधान्य सर्वस्वीकृत है। लिंगपुराण तथा काशीखण्ड दोनों ही इसको स्वीकार करते हैं। अन्य एकादश आदित्य पहले नहीं थे और काशीखण्ड के समय इनकी कल्पना कर ली गई। इसकी भी वही दशा है, जैसे त्रिलोचन महादेव को भी वाद की कल्पना इस आधार पर मान लेना कि उनका नाम 'कृत्यकल्पतरु' में नहीं है, यद्यपि महाराज गोविन्दचन्द्र के एक दानपत्र में उनके दर्शन-पूजन का उल्लेख है। ऐसा ही कोई दानपत्र यदि आदित्यों में से किसी क सम्बन्ध का मिल जाता, तो ये एकादश आदित्य भी पुराने मान लिये जाते, जैसे मुद्राओं के मिलने से गभस्तीश्वरादि शिवलिंग गुप्तकालीन मान लिये गये हैं। यहाँ एक वात और भी विचार करने की है कि यदि इन विनायकों तथा आदित्यों की कल्पना वाद की होती तो उनमें से कुछ को ऐसी जगहों में न स्थापित किया जाता, जो मुसलमानों के प्रत्यक्ष अधिकार में थे और जहाँ उनकी स्थापना तथा यात्रा इसी कारण असम्भव थी। उदाहरणार्थ, उत्तरार्क वकरियाकुण्ड पर, जहाँ अलवी की मजार है और जहाँ गाजीमियाँ का मेला लगता है। उत्तरार्क का रविवारों को लगनेवाला मेला वहाँ आज भी जेठ के रविवारों को लगता है। केवल उसका नामांतरण 'गाजीमियाँ का मेला' हो गया है। यही वात केशवादित्य खखोल्का-दित्य तथा अरुणादित्य के सम्बन्ध में भी है। ये सभी मुसलमान प्रधान स्थानों में हैं। इसी प्रकार, खर्वविनायक तथा राजपुत्रविनायक राजघाट के फूटे कोट में हैं, जहाँ पर भी उनकी नयी स्थापना तथा यात्रा संभव नहीं थी; क्योंकि वह क्षेत्र भी पूरी तरह मुसलमानों के अधिकार में था। वरद विनायक का भी स्थान ऐसा ही है। इन उदाहरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि कम-से-कम ये सात तीर्थ तो पुराने ही थे और यदि ऐसी वात है, तो अन्य आदित्यों तथा विनायकों को किस आधार पर नया माना जाय? राजपुत्र विनायक की तो सातवीं-आठवीं शताब्दी की मूर्त्ति उसी स्थान पर पृथ्वी में गड़ी हुई मिली है। भग्न तो यह है ही। इसका चित्र सामने दिया गया है।

(छ) **देवमन्दिरों की संख्या** निरन्तर वढ़ रही थी यह वात सत्य है, परन्तु इसमें आश्चर्य का क्या स्थान? वाराणसी में शिवलिंग की स्थापना करने का इतना बड़ा माहात्म्य माना जाता था और आज भी माना जाता है कि जिस किसी धर्मप्राण मनुष्य को समुचित साधन उपस्थित हो सके, वही यहाँ शिवालय वनवाता था और यदि उतना सामर्थ्य न हुआ, तो किसी पुराने देवमन्दिर में एक शिवलिंग की स्थापना करता था। वाराणसी के किसी भी शिवालय में जाइए, वहाँ एक से अधिक शिवलिंग स्थापित मिलेंगे। ऐसी दशा में शिवालयों तथा अन्य दवमन्दिरों की संख्या में वृद्धि स्वाभाविक है। परन्तु, इस वृद्धि से यह आक्षेप निकालना कि नये मन्दिरों को पुराणोक्त वनाने की प्रवृत्ति चल रही थी, इसका कुछ प्रमाण देना होगा, तभी यह वात स्वीकार की जा सकेगी। केवल 'काशी का इतिहास' अथवा शेरिंग प्रभृति की कल्पना से यह वात प्रमाणित नहीं मानी जा सकती। प्रिंसप के समय में (सन् १८२३ ई०) १००० मन्दिर थे, जो शेरिंग के समय (सन् १८६८ ई०) १६५४ हो गये थे, यही इस वात का प्रमाण है कि इन पचास वर्षों में ६५४ नये शिवालय वाराणसी में वन गये थे। मगर, क्या इनके नामों का भी पुराणों में समावेश हो गया? ऐसा तो नहीं हुआ। इतना ही क्यों, कर्णमेरु तथा पद्मेश्वर के बृहदाकार विशाल शिवालयों के नाम भी जब काशी-

खण्ड में नहीं आये तब इन छोटे-छोटे शिवालयों के नाम पुराण-स्वीकृत हो जायेंगे, यह कोरी कल्पना ही है। इसमें तथ्य की गंध भी नहीं है। सच बात तो यह है कि यदि मन्दिरों की नई गणना की जाय, तो संभवतः इस समय दो हजार से ऊपर मन्दिर वाराणसी में मिलेंगे। आक्षेप तो पुराणों पर है, देवमन्दिरों पर नहीं और वह आक्षेप नितान्त निराधार है। मुसलमान इतिहासकार स्पष्ट रूप से कहते हैं कि सन् ११९४ ई० में वाराणसी के एक हजार मन्दिर तोड़े गये। यदि 'कृत्यकल्पतरु' के समय केवल ३४० थे, तो ये ६६० कहाँ से आ गये ?

(ज) **प्राचीन तीर्थों के नये उद्देश्य :** इस आक्षेप का तात्पर्य यह है कि सोलहवीं शताब्दी के पूर्व भारतवर्ष के अन्य तीर्थों के प्रतीकों का वाराणसी में अस्तित्व नहीं था, अपितु उस समय ही इनकी कल्पना यहाँ की गई। अर्थात्, सप्तपुरियां आदि के वाराणसी में होने की जो बात पुराणों में कही गई है वह काल्पनिक है। सोलहवीं शताब्दी के किन पुराणों से यहाँ तात्पर्य है, यह निश्चित रूप से तो नहीं कहा जा सकता; परन्तु सम्भवतः ब्रह्मवैवर्त्तपुराण के काशीरहस्य की ओर यहाँ संकेत है। काशीखण्ड तो इसके पहले ही बन चुका था; क्योंकि अधिक-से-अधिक उसको चौदहवीं शताब्दी का माना जा सकता है, कारण कि सन् १४४० ई० में उसका तैलंग-भाषा में अनुवाद हो चुका था। जो कुछ भी हो, हमारे सामने प्रश्न यह है कि क्या इन तीर्थों की कल्पना पहले नहीं थी, बाद में हुई ? 'काशीरहस्य' में लिखा है कि :

> **काश्यां नवीश्वराः सप्तपुर्यः सन्ति समागताः।**
> **नवारण्यानि च तथा नगाश्च सुकृतप्रदाः।।** (का० खं०, १३।१४)
> **तथा सर्वाणि तीर्थानि सप्तपुर्यश्च मानदे।**
> **वसन्ति काशीमाश्रित्य स्वसामर्थ्यविवृद्धये।।** (का० खं०, १३।२६–२७)

अर्थात्, नवउश्वर, सातपुरी, नव अरण्य तथा पर्वत जो पुण्य फल देनेवाले हैं, वे काशी में वर्त्तमान हैं। बात यह है कि सातों पुरी तथा सभी तीर्थ अपना सामर्थ्य बढ़ाने के लिए काशी में निवास करते हैं। अतएव :

> **तीर्थार्थी न बहिर्गच्छेन्न देवार्थी कदाचन।**
> **सर्वतीर्थानि देवाश्च वसन्त्यत्राविमुक्तके।।** (का० खं०, १३।१३)

सम्भवतः ब्रह्मवैवर्त्तपुराण के इन्हीं वाक्यों की ओर संकेत करते हुए 'काशी का इतिहास' में यह आक्षेप हुआ है कि सोलहवीं शताब्दी के पुराणकारों ने प्राचीन तीर्थों के नये उद्देश्य निकाले। इस सम्बन्ध में एक बात यह कहनी है कि ब्रह्मवैवर्त्तपुराण के ये श्लोक 'त्रिस्थलीसेतु, में भी उद्धृत हुए हैं (त्रि०से०, पृ० १३९), जो सन् १५८० ई० के आसपास बना हुआ माना जाता है। अतएव, ब्रह्मवैवर्त्तपुराण सोलहवीं शताब्दी का तो नहीं हो सकता। उसके पहले का ही होगा।

मत्स्यपुराण में, जिसको 'काशी का इतिहास' ने भी गुप्तकालीन माना है, निम्नांकित श्लोक मिलते हैं :

> **कालिञ्जरवनं चैव शङ्कुकर्णं स्थलेश्वरम् ।।२६।।**

एतानि च पवित्राणि सान्निध्याद्धि मम प्रिये ।
अविमुक्ते वरारोहे त्रिसन्ध्यं नात्र संशयः ॥२७॥
यानि स्थानानि श्रूयन्ते त्रिषु लोकेषु सुव्रते ।
अविमुक्तस्य पादेषु नित्यं सन्निहितानि वै ॥३१॥ (म०पु०, १८१।२६–३१)

अर्थात्, कालिंजरवन, शंकुकर्ण, तथा स्थलेश्वर तीर्थ इत्यादि इसी कारण पवित्र हैं कि वे अविमुक्त में त्रिकाल हमारे सान्निध्य में रहते हैं। त्रैलोक्य में जो स्थान (पवित्र) सुने जाते हैं, वे अविमुक्तक्षेत्र के भिन्न-भिन्न प्रदेशों में नित्य ही निवास करते हैं। इसके आगे फिर वहीं कहा गया है:

अत्रैव सप्तभुवनं काञ्चनो मेरुपर्वतः। (म०पु०, १८४।१८)

काशीखण्ड में लिखा है :

यदा प्रभृति विश्वेशो मन्दरादागतोऽभवत् ।
तस्मिन्नानन्दगहने तदा प्रभृति सत्तम ॥
सर्वाण्यायतनान्याशु साधूनि सगिरीण्यपि ।
सनदीनि सतीर्थानि सद्वीपानि ययुस्ततः ॥

अर्थात्, जबसे मन्दराचल से विश्वेश्वर आनन्दवन (वाराणसी) में आये तबसे सभी शिवायतन, गिरि, नदी, तीर्थ, द्वीपादि वहाँ आकर निवास करने लगे। इन उद्धरणों से स्पष्ट है कि वाराणसी में अन्य तीर्थों के निवास की बात मत्स्यपुराण-काल से निरन्तर चली आ रही थी। 'कृत्यकल्पतरु' में ही मत्स्यपुराण के ऊपर कहे हुए श्लोकों में से ३१वाँ श्लोक उद्धृत है। इतना ही नहीं, वहाँ मत्स्यपुराण का निम्नांकित श्लोक भी दिया गया है :

भूलोके चान्तरिक्षे च दिवि तीर्थानि यानि च ।
अतीत्य वर्त्तते सर्वाण्यविमुक्तं प्रभावतः ॥ (म०पु०, १८४।४४; कृ०क०त०, पृ०२६)

फिर आगे चलकर कहा गया है :

यानि चान्यानि पुण्यानि स्थानानि मम भूतले ।
तानि सर्वाण्यनेकानि काशिपुर्यां विशन्ति माम् ॥ (स्क०पु०, कृ०क०त०, पृ० ३७)

इतना ही नहीं, एक स्थान पर 'कृत्यकल्पतरु' में ही यह भी कहा गया है कि :

अन्यच्च ते प्रवक्ष्यामि उपायज्ञानसाधनम् ।
यानि तीर्थानि चोक्तानि व्योमतन्त्रे पुरा मया ॥
तेभ्योऽप्यधिकं तीर्थमविमुक्तं महामुने ।
सर्वतीर्थानि च मया तस्मिन् स्थाने प्रतिष्ठिताः॥ (लिं०पु०, कृ०क०त०, पृ०३३–३३)

इन अकाट्य प्रमाणों से वाराणसी-क्षेत्र में सभी तीर्थों की उपस्थिति में किसी प्रकार का सन्देह नहीं रहना चाहिए। अतएव, किसी नई कल्पना का ब्रह्मवैवर्त्तपुराण दोषी नहीं है। उसका अपराध इतना ही हो सकता है कि उसमें कुछ तीर्थों का स्थान-निर्देश किया गया है :

शङ्खोद्धारप्रदेशे तु द्वारका परिकीर्त्तिता ।
बिन्दुमाधवपार्श्वस्था विष्णुकाञ्चीति विश्रुता ॥
उत्तरार्कादुत्तरतो मथुरा वरणावधि ।

अयोध्या वायुकोणे तु सोमेश्वरसमीपतः।
यत्र रामेश्वरं लिङ्गं वसेत्सीतापतिः स्वयम्॥
विभीषणादिभिर्यत्र राक्षसैर्वानरैरपि।
स्थापितान्ययुतं सार्धं लिङ्गानि परितः पृथक्॥
असिसम्भेदकोणे तु गङ्गाद्वारम्प्रकीर्त्तितम्।
वृद्धकालात्पुरोभागे कृत्तिवासेश्वरावधि॥
कालकालपुरी ज्ञेया ह्यवन्ती ह्यघतो जगत्।
एतः काश्याम्पुरः पूर्वं देवैर्ब्रह्मादिभिः शिवे।
स्तुत्वा प्रकाशिताः काशी जनित्री भोगमोक्षयोः (ब्र०वै०पु०, का०र०, १३।२९–३५)

अर्थात्, शंखोद्धार (वर्त्तमान शंखधारा) प्रदेश में द्वारका, बिन्दुमाधव के समीप विष्णुकांची, उत्तरार्क (वकरियाकुण्ड) से उत्तर वरणानदी तक मथुरा, सोमेश्वर के वायव्य कोण में अयोध्या, असी-संगम के समीप हरद्वार अथवा मायापुरी, तथा वृद्धकाल से कृत्तिवासेश्वर तक उज्जयिनी स्थित हैं।

परन्तु, यह कल्पना भी नवीन नहीं थी। इसके भी कुछ प्रमाण मिलते हैं। 'कृत्यकल्पतरु' के लिंगपुराण में महाकालेश्वर का जो स्थान बतलाया गया है, वह वहीं है, जहाँ ब्रह्मवैवर्त्त पुराण अवन्ती, अर्थात् उज्जयिनी की स्थिति बतलाता है और उत्तरार्क क्षेत्र (वकरियाकुण्ड) से ही गोवर्धनधारी कृष्ण की गुप्तकालीन मूर्त्ति मिली थी, जिसका उल्लेख 'काशी का इतिहास' में पृ० ११४ पर किया गया है। ब्रह्मवैवर्त्तपुराण वही स्थान मथुरा का बतलाता है। 'कृत्य-कल्पतरु' में लिखा है :

अन्यदायतनं वक्ष्ये वाराणस्यां सुरेश्वरि।
रामेण स्थापितं लिङ्गं लङ्कायाश्चागतेन हि॥ (कृ०क०त०, पृ० ११२)

यह स्थान भी उसी जगह है, जहाँ ब्रह्मवैवर्त्तपुराण अयोध्या की स्थिति बतलाता है। इसी प्रकार, द्वादश ज्योतिर्लिंगों में नागेश्वर का स्थान दारुवन में कहा जाता है। वह दारुवन वाराणसी में वृद्धकाल-क्षेत्र में माना जाता था, ऐसा 'कृत्यकल्पतरु' में ही लिखा है :

(कृत्तिवासेश्वरं) लिङ्गं दारुवने गुह्यमृषिसंङ्घैस्तु पूजितम्।
(लिं०पु०, कृ०क०त०, पृ०७७)

और पुनः

एतद्दारुवनं स्थानं कलौ देवस्य गीयते। (लिं०पु०, कृ०क०त०, पृ०७८)

और, नागेश्वर का लिंग वृद्धकाल-मन्दिर में आज भी वर्त्तमान है।

(झ) **मत्स्योदरी नदी पन्द्रहवीं शताब्दी के पूर्व लुप्त हो गई थी** : तीसरी शंका मत्स्योदरीतीर्थ से सम्बन्ध रखती है। इस विषय पर जो कुछ 'कृत्यकल्पतरु' के तीर्थविवेचनकाण्ड की भूमिका में लिखा है, उसको पढ़कर बड़ा आश्चर्य होता है। वहाँ मित्र मिश्र के 'तीर्थप्रकाश' नामक ग्रन्थ के तत्सम्बन्धी वाक्यों का उल्लेख करने के बाद कहा गया है कि 'अतएव यह कोई प्राचीन नदी थी, जो काशी जिस करारे पर स्थित है, उसके पानी को बहाकर ले जाती थी और वर्षा ऋतु में उसका जल गंगा के जल से मिल जाता था। **लक्ष्मीधर** के समय में इस नदी का स्वरूप गंगा से अलग दीख पड़ता था, परन्तु जब काशीखण्ड का वर्त्तमान स्वरूप लिखा गया, तब ऐसा माना जाता था कि मत्स्योदरी पृथ्वी के नीचे बहती है

अथवा गंगा की धारा के नीचे उसका प्रवाह है। सोलहवीं शताब्दी तक तो उसका व्यक्तित्व ऐसा भूल गया था कि 'त्रिस्थलीसेतु' में भट्टनारायण को इस सम्बन्ध में बड़ी खींचातानी करके यह सिद्ध करना पड़ा कि गंगा का ही नाम मत्स्योदरी है। अथवा मत्स्याकार काशी के उदर में होने के कारण इस तीर्थ का नाम मत्स्योदरी है। (कृ० क० त०, ती० वि० का० की भूमिका, पृ० ७८)। 'काशी का इतिहास' में भी प्रायः यही कहा गया है। "इन सब उल्लेखों से पता चलता है कि कम-से-कम बारहवीं सदी में मत्स्योदरी कोई छोटी नदी अथवा नाले के रूप में थी, जो गंगा से मिल जाती थी, पर काशीखण्ड के आधुनिक संस्करण में मत्स्योदरी को भूमि के भीतर वहनेवाली नदी माना गया है, जिससे यह प्रकट होता है कि १५वीं सदी में यह नदी लुप्त हो चुकी थी और लोग उसका अस्तित्व भूल चुके थे।" सोलहवीं सदी में, नारायणभट्ट की व्युत्पत्ति के अनुसार, 'मत्स्याकार काशी के गर्भ में होने से इसका नाम मत्स्योदरी पड़ा।' (काशी का इतिहास, पृ० २) आगे चलकर 'काशी का इतिहास' में मन्दाकिनी तीर्थ के सम्बन्ध में विवेचन करते हुए लिखा है: "यह झील उन झीलों में एक थी, जो गंगा के समानान्तर शहर में फैली हुई थी और जो शायद किसी काल में गंगा की बाढ़ का फैला हुआ पानी ग्रहण कर लेती थी। यह भी सम्भव है कि समानान्तर में फैली ये झीलें प्राचीन मत्स्योदरी की द्योतक हैं।" (काशी का इतिहास, पृ० ३८४)

काशीखण्ड के जिन श्लोकों का ऊपर उल्लेख है, वे इस प्रकार हैं:

ततः शैलं महादुर्गं तैः काशीपरितः कृतम्।
परिखापि कृता रम्या मत्स्योदर्या जलाविला॥
मत्स्योदरी द्विधा जाता बहिरन्तश्चरा पुनः।
तच्च तीर्थं महत् ख्यातं मिलितं गाङ्गवारिभिः॥
यदा संहारमार्गेण गङ्गाम्भः प्रविशेदिह।
तदा मत्स्योदरीतीर्थं लभ्येत पुण्यगौरवात्॥
सर्वपर्वाणि तत्रैव सर्वतीर्थानि तत्र वै।
तत्रैव सर्वलिङ्गानि गङ्गा मत्स्योदरी यतः॥
अविमुक्तमिदं क्षेत्रं मत्स्याकारत्वमाप्नुयात्।
परितः स्वर्धुनीवारि संसारि परिलक्ष्यते॥

(का०खं०, ६९।१३५–१४१; तीर्थप्रकाश, २४०-२४१; त्रि० से०, पृ० १३९-१४०)

इस सम्बन्ध में 'तीर्थप्रकाश' के निम्नांकित वाक्य हैं:

संहारमार्गेण प्रतिलोमवर्त्मना। इह मत्स्योदरीतीर्थे। गणैः कृतायां परिखायां मत्स्योदरी जलसंयुक्तायां बहिर्मत्स्योदरी जाता अन्तर्मत्स्योदरीतीर्थमस्त्येवेति द्वैविध्यमित्यर्थः। गङ्गा मत्स्योदरी यतः गङ्गामत्स्योदर्यौ यत्र तत्रैव सर्वपर्वाणीत्यर्थः। केचित्तु मत्स्योदरीति गङ्गा विशेषणं मत्स्याकारं वाराणसीक्षेत्रमुदरे यस्या इति व्युत्पत्त्या गङ्गैव मत्स्योदरीत्यर्थः। तदुक्तम् मत्स्याकारत्वमाप्नुयात् इत्यादि। (तीर्थप्रकाश, पृ० २४१)

त्रिस्थलीसेतु के तत्सम्बन्धी वाक्य इस प्रकार हैं:

संहारमार्गेण प्रतिलोमवर्त्मना। इह मत्स्योदरीतीर्थे। मत्स्योदरीतीर्थजलयुक्तायां परिखायां

गणैः कृतायां मत्स्योदरीतीर्थमेवान्तः स्वस्थाने बहिश्च परिखायां गमनाद् द्विविधमभूत्तत्र च परिखाद्वारेण यदा प्रतिकूलमार्गेण वर्षासु वृद्धातिशयेन गङ्गाजलं प्रसरति तदातिप्राशस्त्यमित्यर्थः। मत्स्याकारं काशीक्षेत्रमुदरे यस्या इति व्युत्पत्त्या गङ्गैव मत्स्योदरीसंज्ञा यतोयत्र यत्रतीर्थं प्रविशति तत्र तत्रैव सर्वतीर्थानि सर्वपर्वाणीत्यादेरर्थः। यत्र यत्र च लिङ्गानि तदुपलक्षितानि तीर्थानि तत्र तत्र मत्स्योदरीं गङ्गां मिलितां प्राप्येति यत्र यत्रेति पद्यार्थः। (त्रि०से०, पृ०१४०)

इन उद्धरणों के साथ-साथ 'कृत्यकल्पतरु' में निम्नांकित श्लोक मिलते हैं :

तिस्रो नद्यस्तु तत्रस्था वहन्ति च शुभोदकाः।
यासां दर्शनमात्रेण ब्रह्महत्या निवर्त्तते॥
एका पितामहस्रोता मन्दाकिनी तथापरा।
मत्स्योदरी तृतीया च एतास्तिस्रस्तु पुण्यदाः॥
मन्दाकिनी तथा पुण्या मध्यमेश्वरसंस्थिता।
पितामहस्रोतिका च अविमुक्ते तु पुण्यदा॥
मत्स्योदरी च ओङ्कारे पुण्यदा सर्वदैवतैः।
तस्मिन् स्थाने यदा गङ्गा आगमिष्यति भामिनि॥
तदा पुण्यतमः कालो देवानामपि दुर्लभः।
वरणासिक्तसलिले जाह्नवीजलमिश्रिते॥
तत्र नादेश्वरे पुण्ये स्नातः किमनुशोचति।
तस्मिन् काले च तत्रैव स्नानं देवि कृतं मया॥
तेन हस्ततलाद्देवि कपालं पतितं क्षणात्।
कपालमोचनं नाम तत्रैव सुमहत्सरः॥
पावनं सर्वसत्त्वानां पुण्यदं सर्वदेहिनाम्।
मत्स्योदरीजले गङ्गा ओङ्कारेश्वरसन्निधौ॥
तदा तस्मिन् जले स्नात्वा ब्रह्महत्यां व्यपोहति।

(कृ० क० त०, पृ० १२७–१२८)

इस संपूर्ण सामग्री को पढ़ने के बाद जिस प्रकार की शंकाएँ 'काशी का इतिहास' तथा तीर्थविवेचनकाण्ड की भूमिका में उठाई गई हैं, उनको देखकर आश्चर्य होता है। सीधी-सी बात, जिसकी 'त्रिस्थलीसेतु' ने स्पष्ट रूप से व्याख्या कर दी थी, को न समझकर इस प्रकार की बातें कही गई हैं। काशीखण्ड में कहा गया कि शिवलिंगों ने मत्स्योदरीतीर्थ के सन्निकट शैलों से घिरा हुआ दुर्ग बनाया और उसके पास मत्स्योदरी के जल से भरी हुई परिखा, जिसको अंग्रेजी में 'मोट' कहा जाता है, बनाई। इस प्रकार, मत्स्योदरीतीर्थ दो प्रकार का हो गया। एक तो मत्स्योदरी की झील और दूसरी मत्स्योदरी की जल से भरी हुई परिखा। झील को अन्तश्चर और परिखा को बहिश्चर कहा गया; क्योंकि झील का जल भीतर-ही-भीतर चलता था और परिखा का जल बहकर वरणा नदी में गिरता था। वर्षाकाल में जब कभी गंगा में बहुत बड़ी बाढ़ आती थी, तब गंगा का पानी वरणा तथा मत्स्योदरी-परिखा के जल को उल्टा ढकेलता हुआ मत्स्योदरीतीर्थ में बढ़कर आ जाता था। इस परिस्थिति को मत्स्योदरीयोग कहा जाता था और वह स्थिति अत्यन्त प्रशंसनीय मानी

जाती थी। उस समय जितने तीर्थ, जितने पर्व तथा जितने शिवलिंग थे, वे सभी उस संगम में प्राप्त हो जाते थे और इस प्रकार गंगा के बहते हुए जल से काशीक्षेत्र पूर्णतः घिर जाता था, जिससे उसका स्वरूप मछली का-सा हो जाता था। इस अन्तिम स्थिति को परिलक्षित करते हुए 'त्रिस्थलीसेतु' ने कहा कि ऐसा जान पड़ता था कि गंगा स्वयं ही मत्स्योदरी-रूप धारण कर लेती है। यह कविता का चमत्कार-मात्र है, न कि मत्स्योदरी की नई परिभाषा। 'कृत्यकल्पतरु' के लिंगपुराण के जो श्लोक ऊपर दिये हुए हैं, उनमें कहा गया है कि वाराणसी में तीन पुण्यदा नदियाँ वहती हैं। पितामहस्रोतिका, जिसको ब्रह्मनाल भी कहते हैं, अविमुक्तेश्वर के समीप, मन्दाकिनी मध्यमेश्वर के निकट तथा मत्स्योदरी ओंकार-क्षेत्र में है। मत्स्योदरी में जब गंगा आकर मिल जाती है, तब वह इतना पुनीत काल होता है कि देवताओं को भी दुर्लभ है। वरणा के जल तथा गंगा के जल से मत्स्योदरी के जल का संगम ओंकारेश्वर के समीप होता है। उस पवित्र जल में स्नान तथा ओंकारेश्वर के दर्शन के बाद चिन्ता की कोई बात नहीं रह जाती, अर्थात् मुक्ति का मार्ग खुल जाता है। ऐसे ही अवसर पर हमने (भगवान् शंकर ने भैरव-रूप से) स्नान किया था, जिससे हमारे हाथ में चिपका हुआ ब्रह्मकपाल तुरन्त ही छूटकर गिर पड़ा था। वहीं पर कपालमोचन नाम का महान् सरोवर हुआ, जो बड़ा पवित्र तथा पुण्य देनेवाला है। ओंकारेश्वर के समीप मत्स्योदरी के जल में जब गंगा आ मिलती है, तब उस जल में स्नान करने से ब्रह्महत्या भी छूट जाती है।

इस परिस्थिति को पुराणों में मत्स्योदरीयोग कहा है। इन्द्रद्युम्नेश्वर तक गंगा का जल बढ़ने पर जिस प्रकार इन्द्रद्युम्नयोग होता है, जिसको आजकल 'इन्द्रदमन' लगना कहा जाता है, उसी प्रकार उससे भी कठिन तथा दुर्लभ यह मत्स्योदरीयोग है।

पितामहस्रोतिका, मत्स्योदरी तथा मन्दाकिनी,—ये तीनों वर्षा के दिनों में नदी का रूप धारण कर लेती थीं। पितामहस्रोतिका तो नाले के रूप में थी ही, जिससे अविमुक्तेश्वर के आसपास का जल वहकर गंगा में गिरता था। मन्दाकिनी में वर्त्तमान दारानगर, औसानगंज, काशीपुर, विश्वेश्वरगंज आदि का जल पहुँचता था, जो विलोकतीर्थ (जो धीरे-धीरे भरकर विलोक नाल हो गया, वर्त्तमान बुलानाला), सप्तसागर, भूलोटन, वेनिया, मिसिरपोखरा, गोदावरीतीर्थ(जहाँ वर्त्तमान गोदौलिया का मुहल्ला बसा है) से होकर गोदावरी नाले से बहता हुआ दशाश्वमेध के दक्षिण शीतलाघाट पर गंगा में गिरता था। और, मत्स्योदरी का जल ओंकारेश्वर के पास से होता हुआ वरणा नदी में गिरता था। जब अधिक वर्षा होती थी और वरणा के जल को ढकेलता हुआ गंगा का पानी उस ओर से उल्टा बढ़ता था, तब मत्स्योदरी का जल तथा वरणा-जल-मिश्रित गंगा का जल मिल जाते थे और मत्स्योदरी-क्षेत्र एकदम जलाप्लावित हो जाता था और यह जल शिवतडाग (हालू गड़हा, जिसको पाटकर विश्वेश्वरगंज का बाजार बसाया गया है) को भी भरता हुआ मन्दाकिनी में मिल जाता था, जहाँ से ऊपर कहे हुए मार्ग से वह दशाश्वमेध-घाट पर गंगा में गिरता था। इस प्रकार, राजघाट से दशाश्वमेध-घाट तक का पूरा क्षेत्र गंगा के पानी से घिर जाता था। इसी परिस्थिति का वर्णन काशीखण्ड में हुआ है कि वाराणसी-क्षेत्र मत्स्याकार हो जाता था और गंगा का जल उसके चारों ओर फैला रहता था। वहीं पर कवि उत्प्रेक्षा करता है कि इस प्रकार गंगा के उदर में मत्स्याकार क्षेत्र हो जाने से मानों गंगा भी मत्स्योदरी (जिसके उदर में मछली हो) हो जाती है।

न मत्स्योदरी नाला था, जो लुप्त हो गया, न काशीनिवासी उसके अस्तित्व को भूले और न भट्टनारायण को खींचतान का अर्थ निकालना पड़ा। सीधी-सी बात में रहस्य ढूँढ़ते-ढूँढ़ते यह तिल का पहाड़ हमारे इतिहासकारों ने बना डाला।

(ञ) कपालमोचन-घाट : इस सम्बन्ध में ऐसी ही एक और कल्पना हमारे नवीन इतिहासकारों ने कर डाली है। उसका भी निराकरण यहाँ कर देना उचित है। **डॉ० अल्टेकर** ने अपनी 'हिस्टरी ऑव बनारस' के पृ० २९ पर लिखा है कि बारहवीं शताब्दी में कपालमोचन गंगातट पर था, जिसको कपालमोचनघाट कहते थे। 'काशी का इतिहास' में भी यही बात पृ० १४७ पर कही गई है। यह कथन भी भ्रम पर आधृत है। महाराज गोविन्दचन्द्र के एक दानपत्र में लिखा है कि "श्रीमद्वाराणस्यां कपालमोचनघट्टे उत्तरवाहिन्यां गङ्गायां स्नात्वा" इत्यादि। इसका अर्थ हमारे इतिहासकार यह लगाते हैं कि कपालमोचन नाम का कोई घाट गंगा पर था, जहाँ महाराजा गोविन्दचन्द्र ने स्नान किया; परन्तु वे यह भूल जाते हैं कि इन्हीं महाराजा के महामन्त्री ने अपने 'कृत्यकल्पतरु' नामक ग्रन्थ में कपालमोचन का स्थान स्पष्ट रूप से ओंकारेश्वर के समीप और उसका स्वरूप सरोवर का बतलाया है : **कपालमोचनं नाम तत्रैव सुमहत्सरः।** अब प्रश्न यह उठता है, यदि कपालमोचन सरोवर था, तो गंगा में स्नान वहाँ किस प्रकार किया गया है ? इसका उत्तर भी बहुत ही सीधा है। जिस दिन यह स्नान किया गया, उस दिन श्रावण-शुक्ला पूर्णिमा थी (सं० ११७८ विक्रमीय), अर्थात् गंगा पूरी बाढ़ पर थी। सम्भवतः उस दिन मत्स्योदरीयोग लगा हुआ था, अर्थात् गंगाजी का पानी वरणा को ढकेलता हुआ मत्स्योदरी में भर गया था। जैसा ऊपर कहा जा चुका है, यह योग अत्यन्त दुर्लभ तथा पुनीत माना जाता है और इसी दुर्लभ योग में महाराज गोविन्दचन्द्र ने कपालमोचन सरोवर के घाट पर गंगा के जल में स्नान किया और इस पुनीत अवसर पर दान किया, जिसका उल्लेख इस दान-पत्र में है। इस कपालमोचन सरोवर का जीर्णोद्धार रानी भवानी ने करवाया। इस कारण **प्रिंसेप** के नक्शे में इसको 'रानी भवानी टैंक' कहा गया है। सन् १८६३ ई० में काशी का दूसरा नक्शा **बैक्स** नामक कलक्टर ने प्रकाशित किया। इसमें इस तालाब का नाम 'मत्स्योदरी-संगम' दिया हुआ है, जो इस प्राचीन परिस्थिति का स्मरण कराता है। आजकल इस सरोवर में जल नहीं है और प्रायः आधा सरोवर कूड़े से भर गया है, घाट भी टूट-फूट गये हैं। यदि नगरपालिका ने ध्यान न दिया, तो कुछ दिनों में यह बिलकुल भर जायगा और इस तीर्थ का लोप ही हो जायगा।

(ट) अविमुक्तेश्वर तथा विश्वेश्वर : चौथी शंका अविमुक्तेश्वर तथा विश्वेश्वर के शिवलिंगों के सम्बन्ध में है। इसमें पहली बात यह कही जाती है कि विश्वेश्वर तथा अविमुक्तेश्वर के आदिम मन्दिर कहाँ पर थे, यह अज्ञात है। अर्थात्, ये मन्दिर वहाँ नहीं थे, जहाँ जनश्रुति इनकी स्थापना करती है—अविमुक्तेश्वर का ज्ञानवापी के समीप तथा विश्वेश्वर का कुन्दीगर टोले में, जहाँ अब रजिया की मस्जिद है।

इस सम्बन्ध में **डॉ० अल्टेकर** ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि विश्वेश्वर का मन्दिर उस स्थान पर नहीं था, जहाँ पर आदिविश्वेश्वर का वर्त्तमान मन्दिर है और उनका मुख्य तर्क यह है कि विश्वेश्वर के दक्षिण में एक वापी होनी चाहिए, जो आदि

विश्वेश्वर के मन्दिर के दक्षिण में नहीं मिलती। दूसरा तर्क यह है कि यद्यपि ज्ञानवापी इस स्थान से दक्षिण है, परन्तु लाजपत राय रोड पुरानी सड़क है, जिसको पार करके बहुत दूर पर इस वापी का होना इस सन्दर्भ में स्वीकार नहीं किया जा सकता। उनका विचार यही समझ पड़ता है कि विश्वेश्वर-मन्दिर ज्ञानवापी के प्रांगण में ही था। डॉ० अय्यंगर कहते हैं कि विश्वनाथ का वर्त्तमान मन्दिर लक्ष्मीधर के समय के विश्वेश्वर अथवा अविमुक्तेश्वर के मन्दिर के ही स्थान पर है, यह बहुत सन्देहास्पद है। इसी बात को 'काशी का इतिहास' इन शब्दों में कहता है कि:

"इसमें भी सन्देह नहीं कि आज दिन जहाँ विश्वनाथ का मन्दिर है, वहाँ अविमुक्तेश्वर अथवा विश्वेश्वर का मन्दिर कभी नहीं था; क्योंकि विवेचन के अनुसार, अविमुक्त का स्थान बनारस के उत्तर में था"। (काशी का इतिहास, पृ० १७१)।

"बनारस में लोगों का विश्वास है कि प्राचीन विश्वनाथ का मन्दिर उत्तर-पश्चिम आदिविश्वेश्वर के मन्दिर की जगह था। लेकिन, बात ऐसी नहीं है; क्योंकि जब विश्वनाथ का प्राचीन मन्दिर तोड़ा गया, तब उसी की बगल में नया मन्दिर बना। पौराणिक जनश्रुति कहती है कि ज्ञानवापी विश्वनाथ के मन्दिर के दक्षिण में थी, पर आदिविश्वेश्वर के दक्षिण में ऐसा कोई कुआँ नहीं है।" (काशी का इतिहास, पृ० ४०१)।

"गहड़वाल-युग में विश्वनाथ का मन्दिर कहाँ था, उसका ठीक पता नहीं लग पाता, पर सम्भव यह है कि यह शहर के उत्तर भाग में ही रहा होगा। (काशी का इतिहास, पृ० ४०१)

विश्वेश्वर का प्राचीन मंदिर कहाँ था, इसमें यथार्थतः शंका करने का कोई कारण नहीं होना चाहिए; क्योंकि 'कृत्यकल्पतरु' में उसका स्थान स्पष्ट शब्दों में बतलाया गया है।

पूर्वोत्तरदिशाभागे तस्य देवस्य (विश्वेश्वरस्य) सुन्दरि।
अवधूतं महत्तीर्थं सर्वपापापनुत्तमम्॥
तस्य पूर्वेण संलग्नं नाम्ना पशुपतीश्वरम्। (कृ० क० त०, पृ० ९३)

वहाँ कहा गया है कि विश्वेश्वर के उत्तर-पूर्व दिशा में अवधूत नाम का महान् तीर्थ है, जिसके पूर्वतट पर पशुपतीश्वर का मन्दिर है। यह अवधूत तीर्थ पाटकर पशुपतीश्वर का मुहल्ला बसा है। इस अवधूत तीर्थ का पश्चिमी तट वर्त्तमान लाजपत राय रोड तक पहुँचता था, जैसा खत्री मेडिकल हाल के उत्तर से कचौड़ीगली जानेवाली गली के ढाल से स्पष्ट है और खत्री मेडिकल हाल से केवल लाजपत राय रोड पार करने पर नैऋत्यकोण में रजिया की मस्जिद है और उसके पास में ही आदिविश्वेश्वर का स्मारक-रूप मन्दिर है। इस बात को **शेरिंग** ने भी स्वीकार किया है कि यह सम्भव है कि विश्वेश्वर का पहला मन्दिर इसी स्थान पर रहा हो (शेरिंग की पुस्तक, पृ० ५५ तथा ३२०)। लाजपतराय रोड को पुरानी मानना भी **डॉ० अल्टेकर** का भ्रम है। यह सड़क तो अभी सौ वर्ष पुरानी भी नहीं है। न तो यह **प्रिंसेप** के नक्शे में है और न **बैक्स** के नक्शे में, जो सन् १८६३ ई० में बना।

अविमुक्तेश्वर का स्थान बनारस के उत्तर में था, यह भी 'काशी का इतिहास' के लेखक का मतिभ्रम है, जैसा हम आगे चलकर देखेंगे, परन्तु विश्वेश्वर का स्थान अवधूततीर्थ के नैऋत्यकोण में था, ऐसा 'काशी का इतिहास' में भी स्वीकार किया गया है। वहाँ लिखा है:

"उस (विश्वेश्वर) मन्दिर के पूर्वोत्तर में अवधूततीर्थ था। अवधूततीर्थ से लगा हुआ पूर्व में पश्चिमाभिमुख पशुपतीश्वर का चतुर्मुख लिंग था।" (काशी का इतिहास, पृ० १८१) जब 'काशी का इतिहास' स्वयं यह कहता है कि विश्वेश्वर का मन्दिर अवधूततीर्थ के नैऋत्य कोण में था, तब सन्देह का स्थान ही कहाँ रह जाता है, परन्तु विश्वेश्वर तथा अविमुक्तेश्वर के सम्बन्ध में वहाँ इतना प्रगाड मतिभ्रम है कि अपनी ही बात पर विश्वास नहीं है। यह बात आगे चलकर पूरी तरह सिद्ध हो जायगी।

अब रही अविमुक्तेश्वर के मन्दिर के स्थान की बात। जहाँतक 'कृत्यकल्पतरु' के साक्ष्य का प्रश्न है, वहाँ इस मन्दिर का स्थान-निर्देश भी बिलकुल स्पष्ट है, अर्थात् ज्ञानवापी के उत्तर जहाँ अब ज्ञानवापी की मस्जिद है। अविमुक्तेश्वर का माहात्म्य बतलाकर वहाँ कहा गया है कि:

देवस्य दक्षिणे भागे वापी तिष्ठति शोभना।
तस्यास्तथोदकं पीत्वा पुनर्जन्म न विद्यते।
पीतमात्रेण तेनैव उदकेन यशस्विनि॥
त्रीणि लिङ्गानि वर्धन्ते हृदये पुरुषस्य तु।
दण्डपाणिस्तु तत्रस्थो रक्षते तज्जलं सदा॥
पश्चिमं तीरमासाद्य देवदेवस्य शासनात्।
पूर्वेण तारको देवो जलं रक्षति सर्वदा।
नन्दीशश्चोत्तरेणैव महाकालस्तु दक्षिणे॥
रक्षते तज्जलं नित्यं मद्भक्तानां तु मोहनम्।
अविमुक्तस्य चाग्रे तु लिङ्गं पश्चान्मुखस्थितम्।
प्रीतिकेश्वरनामानं प्रीतिं यच्छति शाश्वतीम्॥
अविमुक्तोत्तरेणैव लिङ्गं पश्चान्मुखं स्थितम्।
अविमुक्तं च तं देवि नाम्ना वै मोक्षकेश्वरम्॥

(लिंगपुराण, कृ०क०त०, पृ०१०९-११०)

अर्थात्, अविमुक्तेश्वर के दक्षिण अत्यन्त सुन्दर वापी है, जिसका जल पीने से पुनर्जन्म नहीं होता और पीनेवाले के हृदय में तीन लिंगों की उत्पत्ति होती है। उस वापी के जल की, पश्चिम में दण्डपाणि, पूर्व में तारकेश्वर, उत्तर में नन्दीश्वर तथा दक्षिण में महाकालेश्वर रक्षा करते हैं। अविमुक्तेश्वर के सम्मुख पश्चिमाभिमुख प्रीतिकेश्वर नाम का शिवलिंग है और उत्तर में मोक्षकेश्वर का।

इस वर्णन के पढ़ने पर क्या किसी को भी कोई सन्देह बना रह सकता है कि अविमुक्तेश्वर का मन्दिर कहाँ पर था। ज्ञानवापी की पूरी चौहद्दी तथा प्रीतिकेश्वर तथा मोक्षकेश्वर के स्थान-निर्देश से बात बिलकुल स्पष्ट है। भ्रम का कहीं स्थान नहीं है, परन्तु 'काशी का इतिहास' को फिर भी भ्रम बना ही रह जाता है। इतनी सब बात होते हुए भी 'काशी का इतिहास' में इस शिवलिंग का नाम अविमुक्तेश्वर न मानकर देवदेव माना गया है, यद्यपि इसके वर्णन में 'काशी का इतिहास' में ही लिखा है: "और इसका नाम अविमुक्त पड़ा। उन दिनों भी उस मन्दिर में कुक्कुटों की पूजा होती थी, मन्दिर के दक्षिण भाग में

एक वापी थी, उसके जल की, पश्चिम में दण्डपाणि रक्षा करते थे। पूर्व में तारक, उत्तर में नन्दीश, और दक्षिण में महाकाल थे। प्रीतिकेश्वर– अविमुक्तेश्वर के आगे पश्चान्मुख लिंग। अविमुक्त के उत्तर में मोक्षेश्वर थे।" (काशी का इतिहास, पृ० १८३) देवदेव शब्द महादेव, ब्रह्मा और विष्णु तीनों के लिए अपने-अपने स्थान पर पुराण-साहित्य में प्रयुक्त होता है, यह सर्वविदित है। 'कृत्यकल्पतरु' में ही कितनी बार इस पद का प्रयोग महादेव के लिए हुआ है। ऐसी परिस्थिति में देवदेव को नामवाचक संज्ञा मान लेना, जबकि वहीं पर अविमुक्त नाम दिया हुआ है, किसी पूर्वार्जित भ्रम का ही द्योतक हो सकता है।

अविमुक्तेश्वर तथा विश्वेश्वर के मन्दिरों के केवल स्थान के ही विषय में 'काशी का इतिहास' को सन्देह तथा भ्रम नहीं है, वरन् इन शिवलिंगों के सम्बन्ध में सभी प्रकार के भ्रम वहाँ देखने को मिलते हैं।

"अब प्रश्न यह उठता है कि क्या अविमुक्तेश्वर के और नाम भी थे। पुराणों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि उसके कम-से-कम दो नाम और थे, अर्थात् देवदेव और विश्वेश्वरदेव (मत्स्यपुराण १८१।८, ९८४।१९, १५५।५३, १८२।१७)।"

"ऊपर हम कह आये हैं कि देवदेव और विश्वेश्वरदेव अविमुक्तेश्वर के ही नाम थे। कालान्तर में अविमुक्तेश्वर का नाम तो समाप्त हो गया और उसकी जगह विश्वेश्वर का नाम प्रचलित हो गया।" (काशी का इतिहास, पृ० ९६)

इन दो उद्धरणों की समीक्षा से यह बात निकलती है कि अविमुक्तेश्वर, विश्वेश्वर तथा देवदेव एक ही शिवलिंग के तीन नाम थे। परन्तु, विचार करने से 'काशी का इतिहास' का यह कथन ठीक नहीं जान पड़ता। जैसा ऊपर कहा जा चुका है, देवदेव शब्द सदाशिव के लिए शैव पुराणों में, विष्णु भगवान् के लिए वैष्णव पुराणों में तथा यदा-कदा ब्रह्मा जी के लिए भी पुराण-साहित्य में मिलता है। मत्स्यपुराण के जो प्रमाण इस सम्बन्ध में दिये गये हैं, वे भी इसी प्रकार के हैं। दूर जाने की आवश्यकता नहीं, 'कृत्यकल्पतरु' में ही देवदेव पद सदाशिव के अर्थ में कितनी ही बार प्रयुक्त हुआ है।

१. देवदेव उवाच। (कृ०क०त०, पृ० ३४)
२. कथयस्व प्रसादेन देवदेव महेश्वर। (कृ०क०त०, पृ० ४९)
३. कथयस्व प्रसादेन देवदेव महेश्वर। (कृ०क०त०, पृ० ५७)
४. दर्शनाद्देवदेवस्य ब्रह्महापि प्रमुच्यते। (कृ०क० त०, पृ० ८२)
५. अन्यश्च देवदेवस्य स्थानं गुह्यं यशस्विनि। (कृ० क० त०, पृ० ९३)
६. तस्यैव देवदेवस्य प्रभावं श्रृणु भास्कर। (कृ०क० त०, पृ० ९९)
७. देवदेव उवाच। (मत्स्यपुराण, कृ०क०त०, पृ० ११०)

इनमें पृष्ठ ८२ पर देवदेव यह पद कृत्तिवासेश्वर तथा पृ० ९९ पर कलशेश्वर के सम्बन्ध में प्रयोग किया गया है। ऐसी स्थिति में यह कहना कि पृ० १०८ पर आया हुआ देवदेव पद किसी लिंग-विशेष का नाम है, उचित नहीं प्रतीत होता।

अन्यदायतनं वक्ष्ये वाराणस्यां सुरेश्वरि।
यत्रैव देवदेवस्य रुचिरं स्थानमीप्सितम्॥ (कृ०क०त०, पृ० १०८)

अतएव, देवदेव नाम अविमुक्तेश्वर का था, यह बात सिद्ध नहीं होती। अब देखना है कि क्या उनका ही नाम विश्वेश्वर देव था। मत्स्यपुराण के जिस श्लोक का आधार इस बात के लिए लिया गया है, वह इस प्रकार है :

प्राप्य विश्वेश्वरं देवं न स भूयोऽभिजायते।
अनन्यमानसो भूत्वा योऽविमुक्तं न मुञ्चति।। (म०पु०, १८२।१७)

इस श्लोक में प्रयुक्त विश्वेश्वर शब्द को अविमुक्तेश्वर का नाम मानना बिना खींचातानी किये सम्भव नहीं है। यहाँ यह पद या तो सदाशिववाची है, या वह विश्वेश्वर नामक शिवलिंग की ओर संकेत करता है। विश्वेश पद मत्स्यपुराण में एक जगह और भी आया है :

तीर्थानां पञ्चकं सारं विश्वेशानन्दकानने।
पूर्वोत्तरे दिग्विभागे तस्मिन् क्षेत्रे तु सुन्दरि। (म०पु०, १८५।६५)

वहाँ भी इसके यही दो अर्थ हो सकते हैं। ऐसी परिस्थिति में 'विश्वेश्वरदेव अविमुक्तेश्वर का ही नाम था', 'काशी का इतिहास' का यह कथन कहाँतक न्यायसंगत है, यह हमारे पाठक स्वयं ही देख लें। यहाँ यह बात भी ध्यान में रखनी है कि 'कृत्यकल्पतरु' में ही विश्वेश्वर नाम के एक शिवायतन का स्पष्ट उल्लेख है। यदि अविमुक्तेश्वर का ही नाम विश्वेश्वर था, तो यह विश्वेश्वर नाम का दूसरा शिवलिंग कहाँ से आ गया? अपने इस पूर्वार्जित भ्रम के कारण 'काशी का इतिहास' ने आगे चलकर बड़ा अनर्थ किया है :

१. 'कृत्यकल्पतरु' में वाराणसी के तीर्थों का वर्णन जिस शिवलिंग से प्रारम्भ होता है, उसको ही वहाँ अविमुक्तेश्वर मान लिया गया है (पृ० १७३)। डॉ० अय्यंगर ने भी यही कल्पना की है (पृ० ७३)।

२. देवदेव नाम से अविमुक्तेश्वर का स्थान ज्ञानवापी के उत्तर माना गया है।

३. यदि यह माना जाय कि यह नाम अविमुक्तेश्वर का ही था (पृ० १८१), तो विश्वेश्वर नाम से उनका स्थान अवधूततीर्थ के नैर्ऋत्यकोण में भी मानना पड़ेगा।

अब हमारे पाठक ही विचार करें कि तीर्थों की एक ही सूची में क्या एक ही शिवलिंग के तीन स्थान बतलाये जा सकते हैं और वे भी तीन नामों से। यदि यह नहीं हो सकता, तो ऊपर की कही हुई बातों से भ्रम प्रमाणित हो जाता है।

इन तीनों शिवलिंगों के सम्बन्ध में जो जानकारी 'कृत्यकल्पतरु' देता है, उसपर दृष्टि-पात करने से बात बिलकुल स्पष्ट हो जाती है।

१. जिस शिवलिंग का नाम 'काशी का इतिहास' अविमुक्तेश्वर बतलाता है (पृ०१७३) उस शिवलिंग का नाम केवल 'महादेव' ही 'कृत्यकल्पतरु' में कहा गया है :

पूर्वोत्तरे दिग्विभागे तस्मिन् क्षेत्रे तु सुन्दरि।
सुरासुरैः स्तुतश्चाहं तत्र स्थाने यशस्विनि।।
दिव्यं वर्षसहस्रं तु स्तुतोऽहं विविधैः स्तवैः।
उत्पन्नं मम लिङ्गं तु भित्त्वा भूमिं यशस्विनि।।
वाराणस्यां महादेवि तत्र स्थाने स्थितो ह्यहम्।
कूपस्तत्रैव संलग्नो महादेवस्य चैव हि।।
तत्रोपस्पर्शनाद्देवि लभेद्वागीश्वरीं गतिम्।
तत्र वाराणसी देवी स्थिता विग्रहरूपिणी।। (कृ०क०त०, पृ०४१)

इस उद्धरण में इस शिवलिंग का नाम केवल 'महादेव' कहा गया है, जसा कि छठीं पंक्ति से स्पष्ट है। आगे चलकर भी जब-जब इस शिवलिंग का उल्लेख होता है, यही 'महादेव' शब्द ही प्रयोग किया जाता है:

महादेवस्य पूर्वेण गोप्रेक्षमिति विश्रुतम्। (कृ०क०त०, पृ० ४२)
पश्चिमे तु दिशाभागे महादेवस्य भामिनि।
स्कन्देन स्थापितं लिङ्गं मम भक्त्या सुरेश्वरि॥ (कृ० क० त०, पृ० ४६)

यदि यह अविमुक्तेश्वर का शिवलिंग होता, तो वह नाम कहीं-न-कहीं अवश्य आता। और फिर, अविमुक्तेश्वर नामक शिवलिंग का तो दूसरा स्थान नाम-सहित अन्यत्र बतलाया ही गया है। ऐसी दशा में महादेव नामक शिवलिंग को अविमुक्तेश्वर मानना ठीक नहीं है। इस सम्बन्ध में यह भी विचारणीय है कि आज भी इस शिवलिंग का नाम आदिमहादेव ही कहा जाता है और वाराणसी देवी की मूर्त्ति भी उसी के निकट वर्त्तमान है। 'त्रिस्थली-सेतु' में भी इस शिवलिंग का नाम 'महादेव' ही माना गया है।

पवित्रपर्वणि सदा श्रावणे मासि यत्नतः।
लिङ्गं पवित्रमारोप्य महादेवे न गर्भभाक्॥
श्रावण शुक्लचतुर्दश्यां त्रिलोचनसमीपस्थमहादेवे पवित्रारोपणं महाफलम्।
(त्रि० से०, पृ० २५१)

२. 'कृत्यकल्पतरु' में विश्वेश्वर नामक शिवलिंग का जो स्थान बतलाया गया है, उस सम्बन्ध में पहले पर्याप्त कहा जा चुका है। वही विश्वेश्वर का आदिम स्थान था और वही शिवलिंग विश्वेश्वर नाम का था, कालान्तर में जिसका मन्दिर टूट जाने पर उसकी स्थापना ज्ञानवापी के उत्तर अविमुक्तेश्वर के प्रांगण में हुई। इस सम्बन्ध में छठे अध्याय में बहुत कुछ कहा जा चुका है और 'तीर्थों का स्थानान्तरण' नामक अगले अध्याय में इस विषय पर पुनः कुछ कहा जायगा।

३. इस प्रकार, महादेव तथा विश्वेश्वर के दो शिवलिंगों के अविमुक्तेश्वर न रह जाने पर जो शिवलिंग ज्ञानवापी के उत्तर में स्थित था, जिसका वर्णन 'कृत्यकल्पतरु' में पृ० १०८–१०९ में किया गया है, वही अविमुक्तेश्वर का शिवलिंग था, यह सिद्ध होता है। उस वर्णन में तो उसका नाम अविमुक्त बतलाया भी गया है। इस सम्बन्ध का भ्रम केवल मतिभ्रमाश्रित ही है, अन्यथा भ्रम का कोई स्थान ही नहीं था।

गतैस्तु राक्षसैर्देवि लिङ्गं तत्रैव संस्थितम्।
स्थाने तु रुचिरे शुभ्रे देवदेवः स्वयं प्रभुः॥
अविमुक्तस्तत्र मध्ये अविमुक्तं ततः स्मृतम्।
तदाविमुक्ते तु सुरैर्हरस्य
नाम स्मृतं पुण्यतमाक्षराढ्यम्।
मोक्षप्रदं स्थावरजङ्गमानाम्
ये प्राणिनः पञ्चतां तत्र याताः॥
अविमुक्तं सदालिङ्गं योऽत्र द्रक्ष्यति मानवः॥
न तस्य पुनरावृत्तिः कल्पकोटिशतैरपि॥ (कृ० क० त०, पृ० १०९)

इस सम्वन्ध में एक बात और भी ध्यान में रखनी है कि राजघाट की खुदाई में अवि-मुक्तेश्वर के नाम की कई मुद्राएँ मिली हैं, जो गुप्तकाल से नवीं शताब्दी तक की हैं। उनमें से एक पर अविमुक्तेश्वर तथा प्रीतिकेश्वर दोनों के नाम मिलते हैं, जिससे यह निष्कर्ष निकाला गया है कि इन दोनों मन्दिरों का प्रवन्ध एक ही संस्था के अधीन था ('काशी का इतिहास' की भूमिका, पृ० ८)। 'कृत्यकल्पतरु' में यह स्पष्ट लिखा है कि प्रीतिकेश्वर का शिवलिंग अविमुक्तेश्वर के आगे पास ही में था (कृ०क०त०, पृ०१११)। यह भी इस बात को प्रमाणित करता है कि अविमुक्तेश्वर का स्थान ज्ञानवापी के उत्तर में ही था।

एक प्रश्न अब भी रह जाता है कि यदि देवदेव अविमुक्तेश्वर का नाम नहीं था, तो फिर आरम्भिक गुप्तयुग के अक्षरों में 'देवदेव स्वामिन्' नामवाली मुद्रा किस शिवलिंग की है। इस प्रश्न का स्पष्ट उत्तर काशीखण्ड में मिल जाता है। वहाँ लिखा है कि भारतवर्ष के ६८ शैवतीर्थों के प्रतीक-रूप शिवलिंगों का वाराणसी में आविर्भाव हुआ। इनमें नैमिषारण्य से आये हुए शिवलिंग का देवदेव नाम था:

नैमिषाद्देवदेवोऽत्र ब्रह्मावर्त्तेन संयुतः।
तत्रांशमात्रं संस्थाप्य काश्यामाविरभूद्विभो ॥
ढुण्ढिराजोत्तरे भागे सिद्धिदं साधकस्य वै।
ब्रह्मावर्त्त इति ख्यातः पुनरावृत्तिहृन्नृणाम्।
लिङ्गं वै देवदेवाख्यं तदग्रे कूपमुत्तमम् ॥
तत्कूपाद्भिः कृतस्नानो देवदेवं समर्च्य च ॥
तत्पुण्यं नैमिषारण्यात्कोटिकोटिगुणं स्मृतम्। (का० ख०, ६९।१०–१३)

इस प्रकार, इस प्रश्न का भी उत्तर मिल जाता है और साथ-ही-साथ एक बात भी स्थिर हो जाती है कि काशीखण्ड में कहे हुए इन आगन्तुक शिवलिंगों की काशी में उपस्थिति का पुरातत्त्व से भी प्रमाण मिलता है।

'काशी का इतिहास' की एक और बात का उल्लेख करने के बाद इस सम्वन्ध की सभी शंकाओं का समाधान हो जाता है। वहाँ पृ० १४५ पर लिखा है: 'गहड़वाल-युग में विश्वनाथ की स्थापना हुई'।

यह बात कितनी अनर्गल है, यह तो इसी से दीख पड़ता है कि 'कृत्यकल्पतरु' में ही विश्वे-श्वर नामक शिवलिंग का उल्लेख तथा स्थान-निर्देश है और यह बात निर्विवाद है कि लक्ष्मी-धर ने जिस लिंगपुराण का उद्धरण दिया है, उसकी प्राचीनता उस समय निश्चित थी। अपने ही समय के निर्मित पुराण को प्रमाण-रूप में स्वीकार करना लक्ष्मीधर जैसे विद्वान् की विद्वत्ता पर ही आक्षेप है, जो कोई भी किसी प्रकार नहीं मान सकता। जिस समय लक्ष्मीधर ने अपना निवन्ध लिखा, उस समय जो पुराण प्रामाणिक माने जाते थे, उन्हीं का उन्होंने साक्ष्य दिया है। अतएव, लिंगपुराण उस समय प्रामाणिक प्राचीन ग्रंथ था, न कि तत्कालीन काव्य और उसके अनुसार उस समय विश्वेश्वर का शिवलिंग प्राचीन लिंगों में माना जाता था।

इस सम्वन्ध में छठे अध्याय में भी बहुत-सी बातें कही गई हैं, जिनको पाठक कृपया देख लें।

(ठ) गुप्तयुग के मुख्य शिवायतन—इस सम्बन्ध में 'काशी का इतिहास' में जो नाम दिये गये हैं, वे अग्निपुराण के हैं, न कि मत्स्यपुराण के, जैसा वहाँ कहा गया है। मत्स्यपुराण में तो कुछ दूसरी ही बात कही गई है, जो अग्निपुराण की बात को प्रायः काट देती है।

हरिश्चन्द्रं परं गुह्यं गुह्य मान्मातकेश्वरम्।
जपेश्वरं परं गुह्यं गुह्यं श्रीपर्वतं तथा॥
महालयं पर गुह्यं भृगुश्चण्डेश्वरं तथा।
केदारं परमं गुह्यं अष्टौ सन्त्यविमुक्तके॥
गुह्यानां परमं गुह्यमविमुक्तं परं मम। (अ० पु०, ११२।३-५)
वस्त्रप्रदं रुद्रकोटिं सिद्धेश्वरं महालयम्।
गोकर्णं रुद्रकर्णं च सुवर्णाक्षं तथैव च॥
अमरं च महाकालं तथा कायावरोहणम्।
एतानि हि पवित्राणि सान्निध्यात्सन्ध्ययोर्द्वयोः॥
कालिञ्जरवनं चैव शङ्कुकर्णं स्थलेश्वरम्।
एतानि च पवित्राणि सान्निध्याद्धि मम प्रिये॥
अविमुक्ते वरारोहे त्रिसन्ध्यं नात्र संशयः।
हरिश्चन्द्रं परं गुह्यं गुह्यमाम्नातकेश्वरम्॥
जालेश्वरं परं गुह्यं गुह्यं श्रीपर्वतं तथा।
महालयं परं गुह्यं कृमिचण्डेश्वरं शुभम्॥
गुह्यातिगुह्यं केदारं महाभैरवमेव च।
अष्टावेतानि स्थानानि सान्निध्याद्धि मम प्रिये॥
अविमुक्ते वरारोहे त्रिसन्ध्यं नात्र संशयः। (म० पु०, १८१।२५-३०)

'काशी का इतिहास' इस सम्बन्ध में कहता है कि

"मत्स्यपुराण (१८१।२८-२९) में कहा गया है, गुप्तयुग में काशी के निम्नांकित प्रसिद्ध आठ शिवलिंग थे: १.—हरिश्चन्द्र, २. आम्रातकेश्वर, ३. जालेश्वर, ४. श्रीपर्वत, ५. महालय, ६. कृमिचण्डेश्वर, ७. केदारेश्वर, और ८. अविमुक्तेश्वर। हम आगे चलकर देखेंगे कि मत्स्यपुराण के इस कथन में काफी सत्यता है!" (काशी का इतिहास, पृ० ९४)

ऊपर दिये हुए मत्स्यपुराण के उद्धरण को देखने से ज्ञात हो जायगा कि उसमें अविमुक्तेश्वर का नाम है ही नहीं। वहाँ तो आठवाँ नाम महाभैरव का है, अतएव यह नाम भी इस तालिका में सम्मिलित करना होगा। दूसरी बात यह है कि अग्निपुराण में तो यह अवश्य कहा गया है कि ये आठ स्थान अविमुक्त क्षेत्र में परम गुह्य हैं, परन्तु मत्स्यपुराण में बिलकुल दूसरी बात कही गई है। वहाँ तो यह कहा गया है कि अपने-अपने शैव-तीर्थ में स्थित इन शिवलिंगों की महत्ता इसी कारण है कि ये त्रिकाल अविमुक्तक्षेत्र में अविमुक्तेश्वर के सान्निध्य में प्राप्त रहते हैं, इसमें कोई संशय नहीं है। इन तीर्थों की महत्ता में यहाँ शंका नहीं की जा रही है। ये तीर्थ काशी में प्रतीक-रूप से अवश्य थे, जैसा कि काशीखण्ड में दिये हुए इस प्रकार के तीर्थों की तालिका से स्पष्ट है, परन्तु वाराणसी के

मुख्य तीर्थ ये ही थे, यह बात मत्स्यपुराण से नहीं सिद्ध होती। वहाँ तो कृत्तिवासेश्वर तथा त्रिसन्ध्येश्वर के नाम इस सन्दर्भ में मिलते हैं—अविमुक्तेश्वर तो सर्वप्रधान थे ही। सम्भावना ऐसी है कि इस प्रकार काशी में आविर्भूत सभी बाहरी देवस्थानों के प्रबन्ध के लिए मठ-ऐसी कोई अपनी-अपनी संस्थाएँ थीं, जिनकी मुद्राएँ चलती थीं और जिनमें आम्नातकेश्वर की मुद्रा वैशाली में मिली है और देवदेव की राजघाट की खुदाई में।

(ड) **वरणा नदी :** 'काशी का इतिहास' में यह बिलकुल ठीक लिखा है कि वरणा नदी का प्राचीन नाम 'वाराणसी' था, परन्तु इस बात की पुष्टि में जो उद्धरण दिये गये हैं, उनमें बड़ी खींचातानी है।

१. वहाँ लिखा है कि "पद्मपुराणान्तर्गत काशीमाहात्म्य में भी 'वरणासि' एक नदी है। वाराणसी का विस्तार से वर्णन करता हुआ पुराणकार कहता है कि उसके उत्तर और दक्षिण में तो नदियाँ हैं और पूर्व में वरणासि नदी। यहाँ उत्तर-दक्षिण की नदियों के नाम तो नहीं दिये गये हैं, पर इसमें सन्देह नहीं कि यहाँ गंगा और गोमती से तात्पर्य है" (काशी का इतिहास, पृ० ३)।

काश्यां तु परमं क्षेत्रं विशेषफलसाधनम्।
वाराणसीति विख्यातं तन्मानं निगदामि वः॥
दक्षिणोत्तरयोर्नद्यौ वरणासिश्च पूर्वतः।
जाह्नवी पश्चिमेऽत्रापि पाशपाणिर्गणेश्वरः॥ (पद्मपुराण)

ये श्लोक बहुत प्रसिद्ध हैं और मित्र मिश्र के 'तीर्थप्रकाश' (पृ० १७५) तथा 'त्रिस्थलीसेतु' (पृ० १००) में उद्धृत हैं। अब पाठक ही देखें कि इनमें गोमती कहाँ से आ गई और वरणासि नाम कहाँ आया। इसमें तो वाराणसी-क्षेत्र की चौहद्दी बतलाई गई है कि इसके उत्तर-दक्षिण में वरणा तथा असी नदियाँ, पूर्व में गंगा तथा पश्चिम में पाशपाणि गणेश हैं। 'नद्यौ' शब्द द्विवचन होने से वरणासि शब्द को भी दो नदियोंवाला मानना अनिवार्य है (तस्य क्षेत्रस्य दक्षिणोत्तरयोः वरणा असिश्च नद्यौ, पूर्वतः जाह्नवी, पश्चिमे पाशपाणिः गणेश्वरः)।

२. आगे चलकर कहा गया है कि "मत्स्यपुराण से तो यह पूर्णतया सिद्ध हो जाता है कि असि नदी की कल्पना बाद की है। शिव वाराणसी का वर्णन करते हुए कहते हैं :

वाराणस्यां नदी पुण्या सिद्धगन्धर्वसेविता।
प्रविष्टा त्रिपथा गङ्गा तस्मिन् क्षेत्रे मम प्रिये॥

सिद्ध गन्धर्वों से सेवित पुण्य नदी वाराणसी जहाँ गंगा से मिलती है, हे प्रिये, वह क्षेत्र मुझे प्रिय है।" (काशी का इतिहास, पृ० ३)।

यहाँ संस्कृत-व्याकरण को तिलांजलि दे दी गई है और हिन्दी-व्याकरण के अनुसार, इस संस्कृत-श्लोक का अर्थ किया गया है।

इस श्लोक का अर्थ तो इतना सीधा है कि उसमें भ्रम होने का स्थान ही नहीं है। पार्वतीजी ने यह पूछा कि कैलाश, निषध, मेरु आदि रम्य स्थानों को छोड़कर आपकी अविमुक्तक्षेत्र के प्रति इतनी प्रीति क्यों है? इसका उत्तर देते हुए भगवान् सदाशिव कह रहे हैं कि "**हे प्रिये वाराणस्यां सिद्धगन्धर्वसेविता पुण्या त्रिपथागङ्गा प्रविष्टा। तथा तस्मिन क्षेत्रे**

मामेव प्रीतिसम्पुष्टः कृत्तिवासश्च हे सुन्दरि। तथा तत्स्थानं सर्वेषां चैव स्थानानां यथाधिकं तेन कार्येण (हे) सुश्रोणि तस्मिन् स्थाने मम रतिः(अस्ति)।" अर्थात्, वाराणसी में सिद्ध-गन्धर्वसेवित त्रिपथा गंगा प्रविष्ट हैं तथा उस क्षेत्र में हमारी प्रीति से परिपूर्ण कृत्तिवासेश्वर हैं। और, सभी स्थानों से वह स्थान अधिक उत्तम है, इसी कारण से वह हमको प्रिय है। यहाँ वरणा नदी का तो कहीं नाम ही नहीं है।

३. "वाराणसी-क्षेत्र का विस्तार बतलाते हुए मत्स्यपुराण में एक और जगह कहा गया है:

वरणासी नदी यावत् तावत्छुक्लनदी तु वै'
भीष्मचण्डीकमारभ्य पर्वतेश्वर मन्तिके।'' (१८३।६२)।

वरणासी नदी से गंगानदी तक, भीमचण्डी से पर्वतेश्वर तक, काशी का विस्तार है। उक्त श्लोक की वरणासी आधुनिक वरणा है। शुक्ल नदी (सितासिते सरिते यत्र सङ्गते—ऋक्, खिलभाग) गंगा हैं और भीष्मचण्डी आधुनिक भीमचण्डी है, जो आधुनिक पंचकोसी के रास्ते पर पड़ती है। पर्वतेश्वर का ठीक-ठीक पता नहीं, पर शायद वह मन्दिर राजघाट के पास कहीं रहा हो।"(काशी का इतिहास, पृ० ४) ऊपर दिया हुआ वर्णन अधूरा है तथा उसमें कुछ त्रुटियाँ भी हैं। पूरा वर्णन इस प्रकार है:

द्वियोजनं तु तत्क्षेत्रं पूर्वपश्चिमतः स्मृतम्।
अर्द्धयोजनविस्तीर्णं दक्षिणेऽन्तरतः स्थितम्॥
वरणा च नदी यावद्यावच्छुष्क नदी तथा।
भीष्मचण्डीकमारभ्य पर्वतेश्वरमन्तिके॥ (म०पु०, कृ०क०त०, पृ० ३९)

कृत्यकल्पतरु, त्रिस्थलीसेतु तथा तीर्थप्रकाश सभी में पाठ शुष्कनदी है, शुक्ल नदी नहीं। मत्स्यपुराण की मुद्रित प्रति में 'वराणसी नदी या च यावत्छुल्क नदी तु वै' ऐसा पाठ है। इस सम्बन्ध में इस पुस्तक के तीसरे अध्याय में पूरा विवेचन हो चुका है, अतएव उसको यहाँ दुहराना अनावश्यक है। यहाँ केवल इतना ही कहना है कि मत्स्यपुराण की वरणासी नदी वरणा ही है, यह निस्सन्देह है। परन्तु, भीष्मचण्डी आधुनिक भीमचण्डी नहीं है और न पर्वतेश्वर का मन्दिर राजघाट पर है।

'कृत्यकल्पतरु' में भीष्मचण्डी का स्थान स्पष्ट रूप से नगर के उत्तर में शैलेश्वर के दक्षिण बतलाया गया है:

दक्षिणे चापितस्यैव (शैलेश्वरस्य) कोटीश्वरमिति स्थितम्।
यत्र सा दृश्यते देवि विश्रुता भीमचण्डिका॥ (कृ०क०त०,पृ० ५४)

और फिर, नवचण्डी के वर्णन में आगे चलकर कहा गया है:

उत्तरे भीष्मचण्डी च (कृ०क०त०, पृ० १२६)

काशीखण्ड में भी भीष्मचण्डी उत्तर में है, ऐसा ही कहा गया है:

भीष्मचण्ड्युत्तरं द्वारं सदा रक्षेदतन्द्रितः (का० खं०, ७०।७२).

अन्यत्र 'काशी का इतिहास' भी भीष्मचण्डी का स्थान 'शैलेश्वर के दक्षिण-स्थित कोटीश्वर के शिवलिंग के पास ही. भीष्मचण्डिका को श्मशानवासिनी मूर्त्ति होने से बीभत्स थी'—

ऐसा लिखता है (पृ० १७६)। यहाँ भी संस्कृत-व्याकरण की हत्या हुई है। 'वीभत्सविकृते भीमे श्मशाने वसने सदा' का ही यह अनुवाद है।

पर्वतेश्वर का मन्दिर आज भी सेंधिया घाट पर वर्त्तमान है और उनका दर्शन अन्तर्गृह तथा पंचक्रोशी दोनों यात्राओं में किया जाता है।

४. "ब्रह्मपुराण के अनुसार, इस क्षेत्र का प्रमाण पाँच कोस का था, उसके उत्तर में गंगा तथा पूर्व में सरस्वती नदी थी। उत्तर में गंगा दो योजन तक शहर के साथ-साथ बहती थी" (काशी का इतिहास, पृ० ५)।

ब्रह्मपुराण का वर्णन इस प्रकार है:

वरणा चाप्यसिश्चैव द्वे नद्यौ सुरवल्लभे।
अन्तराले तयोः क्षेत्रं भूमावपि विशेषतः॥
पञ्चक्रोश प्रमाणं तु क्षेत्रं दत्तं मया तव।
क्षेत्रमध्ये यदा गङ्गा गमिष्यति सरित्पतिम्॥
तेन सा महती पुण्या पुरी रुद्र भविष्यति।
पुण्या चोदङ्मुखी गङ्गा प्राची चैव सरस्वती।
उदङ्मुखी योजने द्वे गच्छते जाह्नवी नदी॥
(ब्र० पु०, तीर्थ प्रकाश, पृ० १७६; त्रि०से०, पृ० १०१)

यहाँ गंगा के उत्तरवाहिनी होने तथा सरस्वती के पूर्ववाहिनी होने की स्थिति में उनके माहात्म्य की वृद्धि का उल्लेख है। सरस्वती तथा गंगा को वाराणसी की उत्तर तथा पूर्व की सीमाएँ नहीं बतलाया गया है।

(ढ) **कोटितीर्थ** : 'काशी का इतिहास' में पृ० १४० पर लिखा है: "कोटितीर्थ शायद कपिलधारा को ही कहते थे। इसके पास कोटवाँ गाँव में एक मन्दिर भी है। **डॉ० अल्टेकर** ने लिखा है कि इस नाम के बहुत-से तीर्थ हैं, जिनका विवेचन सम्भव नहीं है।

परन्तु, कोटितीर्थ का स्पष्ट स्थान-निर्देश 'कृत्यकल्पतरु' में दिया है, जिसको 'काशी का इतिहास' भी पृ० १७६ पर इस प्रकार देता है: "कोटीश्वरतीर्थ—इसमें स्नान करने से एक करोड़ गोदान का पुण्य मिलता था। कोटीश्वर—शैलेश्वर के दक्षिण में स्थित शिवलिंग।"

कोटितीर्थ कोटीश्वर के समीप ही था—

कोटितीर्थेषु यः स्नात्वा कोटीश्वरमथार्चयेत्। (कृ०क०त०, पृ० ५४)

स्पष्ट ही कोटितीर्थ का कपिलधारा से कोई सम्बन्ध नहीं है।

(ण) **श्मशान-स्तम्भ** : "कुछ अजीब शैव क्रियाओं का भी उल्लेख आया है। कोटीश्वर की आग्नेय दिशा में महाश्मशान-स्तम्भ था, जहाँ मनुष्य अपने दुष्कृत्यों को तज देते थे।" (काशी का इतिहास, पृ० १८५)। 'कृत्यकल्पतरु' में उद्धृत लिंगपुराण के जिस वाक्य का अर्थ किया गया है, वह इस प्रकार है।

कोटीश्वरस्य देवस्य आग्नेय्यां दिशि संस्थितः।
श्मशान स्तम्भ संज्ञेति विख्यातः सुप्रतिष्ठित :॥
मानवास्तत्र पात्यन्ते इह यैर्दुष्कृतं कृतम्।
यत्र स्तम्भे सदा देवि अहं तिष्ठामि भामिनि॥ (कृ० क० त०, पृ० ५४)

इसकी तृतीय पंक्ति का अर्थ 'काशी का इतिहास' ने किया है : 'जहाँ मनुष्य अपने दुष्कृत्यों को तज देते थे।' यथार्थतः श्मशानस्तम्भ भैरवी-यातना का क्षेत्र है, जहाँ काशी की सीमाओं के भीतर किये हुए पातकों के दण्डस्वरूप जीव को भैरवी-यातना भोगनी पड़ती थी। यहाँ भैरव के दण्डनायक-स्वरूप का कार्यकलाप होता था और जीव को तरह-तरह की यातनाएँ भोगनी पड़ती थीं, जिनके लिए 'मानवास्तत्र पात्यन्ते' यह पद आया है। लाटभैरव-स्थित भैरव का यही स्वरूप माना गया है और वहीं पर श्मशानस्तम्भ भी था, जो सन् ११९४ ई० के संहार में नष्ट हो गया और कालान्तर में उसका प्रतीक दण्डपाणि भैरव के नाम से कालभैरव के समीप दण्डपाणि गली में प्रतिष्ठित हुआ।

(त) पंचगंगा की नदियाँ : "पंचगंगा-घाट पर, हिन्दुओं के विश्वास के अनुसार, पाँच नदियाँ, यथा गंगा, धूतपापा, जीर्णनन्दा, किरणा और सरस्वती, आकर मिलती हैं और इसीलिए काशी का यह मुख्य तीर्थ माना जाता है। जैसा हम पहले देख चुके हैं, इस घाट को श्रीपतराव नाम के एक महाराष्ट्री ने बनवाया था।" (काशी का इतिहास, पृ० ३९४)। इन नदियों के नाम उनको कहाँ से मिले, यह उन्होंने नहीं लिखा। इस कारण उस आधार-लेख की समीक्षा नहीं हो सकती, परन्तु प्रचलित पुराणों में इन नदियों में 'जीर्णनन्दा' का नाम अभी तक देखने में नहीं आया। काशीखण्ड में इस सम्बन्ध में निम्नांकित वाक्य हैं :—

किरणा धूतपापा च पुण्यतीर्था सरस्वती।
गङ्गा च यमुना चैव पञ्चनद्यः प्रकीर्त्तिताः॥
अतः पञ्चनदं नाम तीर्थं त्रैलोक्यविश्रुतम्। (का० खं०, त्रि०से०, पृ०१५१)

'पुण्यतीर्था' के स्थान पर 'पुण्यतोया' पद भी मिलता है। पंचनद तीर्थ का वर्त्तमान नाम पंचगंगा घाट है। सबसे पहले सं० १६३७ विक्रमीय, अर्थात् सन् १५८० ई० में रघुनाथ टण्डन ने यह घाट बँधवाया था, ऐसा शिलालेख घाट पर की शेषशायी की मढ़ी में लगा था, ऐसा फुहरर ने लिखा है। श्रीपतराव ने कदाचित् इसका जीर्णोद्धार कराया होगा, परन्तु उसका समय 'काशी का इतिहास' ने नहीं दिया है। (इस सम्बन्ध में परिशिष्ट 'ज' भी कृपया देख लें।)

(थ) अघोरेश्वर का स्थान : डॉ० अल्टेकर ने अपने 'बनारस का इतिहास' के २८वें पृष्ठ पर लिखा है कि अघोरेश्वर का मन्दिर विश्वनाथ-मन्दिर के समीप है। यह उनका भ्रम है। अघोरेश्वर का मन्दिर ओंकारेश्वर-मन्दिर के समीप श्रीमुखी गुहा के द्वार पर था, जो अब लुप्त है।

अघोरेशो गुहाद्वारि कूपस्तस्योत्तरे शुभः। (का०खं० ९७।८६)
तस्याः (श्रीमुखी गुहायाः) द्वारे तु सुश्रोणि सिद्ध अघोरो महामुनिः।
अनेनैव शरीरेण रुद्रत्वं गतवान् मुनिः॥
(लिं०पु०, कृ०क०त०, पृ०६०)

(द) शनैश्चरेश्वर के स्थान पर शनि की मूर्त्ति :— डॉ० अय्यंगर ने लिखा है कि जिन देवताओं ने शिवलिंगों की स्थापना की थी, वहाँ पर कहीं-कहीं शिवलिंग तो न रह गये, वरन् उन देवताओं की ही पूजा होने लगी। उदाहरणस्वरूप, उन्होंने शनैश्चरेश्वर का उल्लेख किया है और कहा है कि विश्वेश्वर के निकट शनैश्चर ने शिवलिंग की स्थापना की थी। अब वहाँ शिवलिंग तो नहीं है, परन्तु

शनैश्चर की पूजा होती है। 'कृत्यकल्पतरु' के शनैश्चरेश्वर तो कहीं अन्यत्र थे, परन्तु काशी-खण्ड के शनैश्चरेश्वर का स्थान विश्वेश्वर के दक्षिण तथा शुक्रेश्वर के उत्तर बतलाया गया है :

विश्वेशाद्दक्षिणे भागे शुक्रेशादुत्तरेण हि।
शनैश्चरेशमभ्यर्च्य लोकेऽत्र परिमोदते॥ (का० खं०, १७।१२८)

शनैश्चर का शिवलिंग आज भी वर्त्तमान विश्वनाथ-मन्दिर के नैऋत्य कोण पर पीतल की जलहरी में स्थित है और उसकी पूजा भी होती है, परन्तु विश्वनाथ-मन्दिर के बाहर, गली की दूसरी ओर, शनिदेव की प्रतिमा भी स्थापित हैं। डॉ० आल्टेकर को इस शनि-प्रतिमा का तो ज्ञान था, परन्तु शनैश्चर के शिवलिंग की उनको जानकारी नहीं थी। इसी अज्ञान से उन्होंने यह बात अपनी पुस्तक में लिख डाली और उनकी बात को डॉ० अय्यंगर ने दुहरा दिया। 'काशी का इतिहास' ने भी यही बात पृ० १७० में कही है।

(ब) विविध शंकाएँ : १. अष्टायतन, षडंग, चतुर्दशायतन तथा अन्य यात्राएँ : "अष्टायतन-लांगलीश, आषाढीश, भारभूत, त्रिपुरान्तक, नकुलीश, त्र्यम्बक, अविमुक्त, देवदेव (काशी का इतिहास, पृ० १८४)"

'काशी का इतिहास' ने इस नामांकन में अग्नीश्वर तथा उर्वशीश्वर के दो नाम छोड़ दिये और उनके स्थान पर 'अविमुक्त' तथा 'देवदेव' अपने मन से निराधार जोड़ दिये और इस जोड़-तोड़ में यह भी भुला दिया कि उसके अपने ही मतानुसार 'अविमुक्त' तथा 'देवदेव' एक ही शिवलिंग के नाम हैं।

अतः परं प्रवक्ष्यामि अष्टायतनमुत्तमम्।
येन क्रमेण कर्त्तव्यं तच्छृणुष्व वरानने॥
अग्नीशाने च कर्त्तव्यं स्नानं वै दीर्घिकाजले।
दृष्ट्वा देवं ततो गच्छेदुर्वशीश्वरमुत्तमम्॥
तं दृष्ट्वा मनुजो देवि लाङ्गलीशं ततो व्रजेत्।
तं दृष्ट्वा तु ततो देवि आषाढीशं ततोऽर्चयेत्॥
दृष्ट्वा चाषाढिनं देवं भारभूतं ततो व्रजेत्।
तं दृष्ट्वा तु ततो देवं गच्छेद्वै त्रिपुरान्तकम्॥
तं दृष्ट्वापि ततो देवि नकुलीशं ततो व्रजेत्।
दक्षिणे नकुलीशस्य त्र्यम्बकं च ततो व्रजेत्॥
अष्टायतनमेवं हि मया ते परिकीर्त्तितम्। (कृ०क०त०, पृ० १२२-१२३)

अब पाठक स्वयं देख लें कि अविमुक्तेश्वर तथा देवदेव इसमें कहाँ से आ गये।

षडंग के विषय में 'काशी का इतिहास' में इतना ही लिखा है कि "ईश्वर के षडंग माने गये हैं।" 'कृत्यकल्पतरु' में लिखा है :

अविमुक्तं च स्वर्लीनमोङ्कारं चण्डमीश्वरम्।
मध्यमं कृत्तिवासं च षडंगमीश्वरं स्मृतम्॥ (कृ०क०त०, पृ० १२४)

अर्थात्, अविमुक्तेश्वर, स्वर्लीनेश्वर, ओंकारेश्वर, चण्डेश्वर, मध्यमेश्वर तथा कृत्तिवासेश्वर की यात्रा षडंगयात्रा कही जाती है।

चतुर्दशायतन-यात्रा के काल-निर्देश के सम्बन्ध में 'काशी का इतिहास' में निम्नांकित लेख है:

"चैत्र मास में कामकुण्ड में स्नान और पूजन, वैशाख मास में विमलेश्वरकुण्ड में स्नान और पूजन, ज्येष्ठ मास में रुद्रवासकुण्ड में स्नान और पूजन, आषाढ मास में श्रीकुण्ड में स्नान और पूजन, श्रावण मास में लक्ष्मीकुण्ड में स्नान और पूजन, आश्विन मास में कपिलह्लद और मार्कण्डेयह्लद में स्नान और पूजन, मार्गशीर्ष में कपालमोचन में स्नान और पूजन, पौष में गुह्यकों की यात्रा, माघ में धनदेश्वरकुण्ड तथा कोटितीर्थ में स्नान और पूजन। फाल्गुन १४ को पिशाची चतुर्दशी पड़ती थी। यात्रा में मिष्टान्न-सहित उदकभाण्ड के दान का आदेश था।" (काशी का इतिहास, पृ० १८४-१८५)

इस वर्णन में कई अशुद्धियाँ हैं। मार्कण्डेयह्लद में स्नान और पूजन कार्त्तिक में (न कि आश्विन में), पौष में धनदेश्वर कुण्ड में, तथा फाल्गुन में गोकर्णकुण्ड में कहा गया है। मिष्टान्न-सहित उदकभाण्ड का दान यात्रा की निष्कृति के रूप में कहा गया है, न कि यात्रा का अंग होकर:

ऋषिभिश्चापि यात्रेयं कार्त्तिके मासि तत्परैः।
मार्कण्डेयह्लदस्थैश्च स्नानपूजनतत्परैः॥
गुह्यकैश्चैव यात्रेयं पुष्यमासे तु तत्परैः।
धनदेश्वरकुण्डस्थैः स्नानपूजनतत्परैः॥
पिशाचैश्चैव यात्रेयं फाल्गुने मासि तत्परैः।
गोकर्णकुण्डसंस्थैश्च स्नानपूजनतत्परैः॥
अतः परं प्रवक्ष्यामि यात्रायां निष्कृतिः परा।
उदकुम्भास्तु दातव्या मिष्टान्नेन समन्विताः॥
तेन देवि तदा प्राप्तं पूर्वोक्तफलमेव च। (कृ०क०त०,पृ० १२५)

२. लोलार्कषष्ठी—'काशी का इतिहास' कहता है: "श्रावण में यहाँ लोलारक-छठ का मेला लगता है (पृ० ४०२)।" परन्तु, यह बात ठीक नहीं है! लोलारक छठ का मेला भाद्रपद शुक्ल ६ को होता है, श्रावण में नहीं।

३. गंगा-वरणासंगम—"श्रावण द्वादशी को यदि बुधवार पड़े, तो संगम पर स्नान तथा श्राद्ध बड़ा ही फलदायक तथा श्राद्ध करनेवाले को विष्णुलोक देनेवाला था (काशी का इतिहास, पृ० १७४)।" यथार्थतः वहाँ श्रावण की द्वादशी का उल्लेख नहीं है। श्रवण-नक्षत्रयुक्ता द्वादशी का विधान है।

'श्रवणद्वादशीयोगो बुधवारे यदा भवेत्। (कृ०क०त०,पृ० ४५)

(न) यक्षपूजा—इस विषय का विस्तृत विवेचन इस पुस्तक के पहले अध्याय में किया जा चुका है, परन्तु तत्सम्बन्धी कुछ भ्रमों का निवारण यहाँ भी अपेक्षित है।

"बौद्ध-साहित्य में शिव की गणना यक्षों में है। उदाहरणार्थ, महामायूरी में बनारस के प्रधान यक्ष को महाकाल कहा गया है। जो भी हो, यक्षपूजा से बनारस का बड़ा प्राचीन सम्बन्ध जान पड़ता है और आज भी बनारस के 'बरम' और 'बीर' में प्राचीन यक्षपूजा के अवशेष बच गये हैं।" (काशी का इतिहास, पृ० ३२)

"मत्स्यपुराण में यक्ष हरिकेश की कहानी से काशी की यक्षपूजा पर काफी प्रकाश पड़ता है और यह भी पता चलता है कि शिवपूजा के आन्दोलन से यक्षपूजा काशी से कैसे हटी।" (काशी का इतिहास, पृ० ३३)

"लगता है कि चौदहवीं शताब्दी में यक्षधर्म की प्राचीन कल्पना करीब-करीब नष्ट हो चुकी थी। पर, बनारस में परम्परा बहुत मुश्किल से मरती है। हजारों वर्ष बीत जाने पर भी हरिकेश यक्ष आज दिन भी बनारस से थोड़ी दूर पर भभुआ में 'हरसूबरम' के नाम से तथाकथित छोटी जातियों द्वारा पूजे जाते हैं।" (काशी का इतिहास, पृ० ३४)

"वाराणसी में यहाँतक शिव का प्रताप बढ़ा कि बिचारे यक्षराज कुबेर भी वाराणसी नगरी में अपना चाल-चलन छोड़कर गणेशत्व को प्राप्त हो गये।" (मत्स्यपुराण १८३।६३–६६; काशी का इतिहास, पृ० ९४)।''

पहली बात तो इस सम्बन्ध में यह कहनी है कि वैदिक अथवा हिन्दू-धर्म के विषय में बौद्ध तथा जैन साक्ष्य सर्वत्र ग्राह्य नहीं होने चाहिए। ये दोनों धर्म तत्कालीन वैदिक धर्म के विरोधी थे, अतएव इनमें वैदिक धर्म के सम्बन्ध में उल्टी-सीधी बातें कहा जाना सम्भव ही नहीं, स्वाभाविक भी था। यक्षों का वर्णन करते हुए वहाँ बनारस के प्रधान यक्ष का नाम महाकाल कहा जाना यक्षपूजन या शिवपूजन से कोई सम्बन्ध नहीं रखता। महाकाल नाम से उस यक्ष का महादेव होना सिद्ध नहीं होता। विशेषतः, जब एक शिवगण का नाम भी महाकाल था, जिसके द्वारा स्थापित महाकालेश्वर का स्थान ज्ञानवापी के दक्षिण में बतलाया गया है (महाकालेश्वरंलिङ्गं महाकालगणार्चितम्—का० खण्ड, ५३।२९)

दूसरी बात यह है कि जिस यक्षपूजा का बनारस से सम्बन्ध स्थापित करने के लिए 'काशी का इतिहास' को बीरों तथा बरमों की सहायता लेनी पड़ी, उस यक्षपूजा से इनका सम्बन्ध प्रमाणों द्वारा सिद्ध करना होगा। केवल कह देने से यह बात स्वीकार नहीं की जा सकती। 'बीरों' के सम्बन्ध में यह प्रसिद्ध है कि बीर बावन हैं, जिनके नाम 'पृथ्वीराजरायसा' में गिनाये भी गये हैं। वहीं यह भी लिखा है कि वे भैरव के अनुयायी हैं। इसके अतिरिक्त, इस समय बहुत-से प्राचीन शिवलिंग, जिनका 'अरघा' नष्ट हो गया है, 'बीर' कहकर पूजे जा रहे हैं। बाघेबीर व्याघ्रेश्वर हैं। इस प्रकार ओंकारेश्वर के उत्तर एक शिवलिंग 'ताड़ेबीर' कहकर पूजा जाता है। इससे भी स्पष्ट है कि बीरों का यक्षों से कोई सम्बन्ध नहीं है। रही बात 'बरमों' की, सो तो यह शब्द ब्रह्मराक्षस का संक्षिप्त अपभ्रंश है और उत्तर भारत में सर्वत्र इस शब्द का यही अर्थ लिया जाता है। आज भी देहातों में जब ब्राह्मण देवता किसी पर अत्यन्त कुपित होते हैं, तब अनशन करके प्राण देने तथा इस प्रकार ब्रह्मराक्षस होकर उसको सताने की धमकी देते हैं और यदा-कदा इस धमकी को पूरा भी कर डालने के समाचार मिलते हैं। ऐसी दशा में 'बरम' शब्द को यक्षों से जोड़ना भ्रमपूर्ण है। ब्रह्मराक्षसों की बात कहते हुए हरसू बरम की बात भी सामने आती है। पूर्वार्जित भ्रमों के कारण ही 'काशी का इतिहास' हरसू बरम को हरिकेश यक्ष बना डालता है और इस प्रक्रिया में हरिकेश के दण्डपाणि तथा वाराणसी-क्षेत्र के क्षेत्रपाल होने की बात भुला देता है। यदि हरिकेश यक्ष दण्डपाणि होकर शिव-वरदान से जरामरण-वर्जित हो गये, तो फिर हरसू बरम के नाम से भभुआ में किस प्रकार पहुँचे?

संयोग से हरसू बरम के विषय में पर्याप्त सामग्री उपलब्ध है। हरसू तिवारी हुमायूँ-शेरशाह के समकालीन चैनपुर के राजा शालिवाहन अथवा शारिवाँ के महामन्त्री थे। कारणवश, वहाँ की महारानी से क्रुद्ध होकर उन्होंने अनशन करके राजद्वार पर प्राण दिये और ब्रह्मराक्षस हुए और किंवदन्ती के अनुसार उनसे त्रस्त होकर राजा शालिवाहन समीपस्थ कुएँ में सकुटुम्ब कूद पड़े और इस प्रकार अपने प्राण दिये। तभी से हरसू बरम की पूजा प्रारम्भ हुई। उनके वंशज अब भी उस क्षेत्र में रहते हैं।

मत्स्यपुराण में दी हुई हरिकेश यक्ष की कथा में यक्षपूजा के समाप्त होने की जो बात ऊपर कही गई है, वह समझ में नहीं आती। मत्स्यपुराण में यक्षों के आचरण पर प्रकाश डाला गया है। यक्षपूजा का तो वहाँ नाम ही नहीं है। क्या यक्ष अपनी ही पूजा करते थे? उस प्रकरण में मनुष्यों द्वारा यक्षों की पूजा की बात तो कहीं है नहीं। हाँ, हरिकेश द्वारा शिवपूजन का वर्णन है और इसी अपराध में उनके घर से निष्कासन की बात कही गई है, तो इसमें यक्षपूजा के हटने की बात कहाँ से उत्पन्न कर ली गई?

पूर्णभद्रसुतः श्रीमानासीद्यक्षः प्रतापवान्।
हरिकेश इति ख्यातो ब्रह्मण्यो धार्मिकश्च ह ॥५॥
तस्य जन्मप्रभृत्येव शर्वे भक्तिरनुत्तमा।
तदासीत् तन्नमस्कारस्तन्निष्ठस्तत्परायणः ॥६॥
आसीनश्च शयानश्च गच्छंस्तिष्ठन्ननुव्रजन्।
भुञ्जानोऽथ पिबन्वापि रुद्रमेवान्वचिन्तयत् ॥७॥
तमेवं युक्तमनसं पूर्णभद्रः पिताब्रवीत्।
न त्वां पुत्रमहं मन्ये दुर्जातो यस्त्वमन्यथा ॥८॥
नहि यक्षकुलीनानामेतद्वृत्तं भवत्युत।
गुह्यका वत् यूयं वै स्वभावात्क्रूरचेतसः ॥९॥
क्रव्यादाश्चैव किंभक्ष्या हिंसाशीलाश्च पुत्रक।
मैवं कार्षीर्न ते वृत्तिरेवं दृष्टा महात्मना ॥१०॥
स्वयम्भुवा यथादिष्टा त्यक्तव्या यदि नो भवेत्।
आश्रमान्तरजं कर्म न कुर्य्युर्गृहिणस्तु तत् ॥११॥
हित्वा मनुष्यभावं च कर्मभिर्विविधैश्चर।
यत्त्वमेवं विमार्गस्थो मनुष्याज्जात एव च ॥१२॥
यथावद्विविधं तेषां कर्म तज्जातिसंश्रयम्।
मयापि विहितं पश्य कर्मैतन्नात्र संशयः ॥१३॥
सूत उवाचः एवमुक्त्वा स तं पुत्रं पूर्णभद्रः प्रतापवान्।
उवाच निष्क्रमन् क्षिप्रं गच्छ पुत्र यथेच्छसि ॥१४॥

इस वर्णन से यह बात तो निकाली जा सकती है कि यक्ष लोग शिव की पूजा नहीं करते थे, परन्तु मनुष्यों द्वारा यक्षों की पूजा की तो यहाँ गन्ध भी नहीं है। यह भी कहा जा सकता है कि यक्षों में शिव-पूजन की परम्परा हरिकेश ने ही चलाई। परन्तु, यक्ष लोग

स्वयं मनुष्यों द्वारा पूजित होते थे, यह कल्पना इस प्रमाण-वाक्य से तो किसी भी तरह निकल नहीं सकती।

'काशी का इतिहास' में अन्यत्र लिखा है कि "इस प्रदेश में यक्षपूजा इतनी प्रबल थी कि स्वयं शिव को यक्षों को स्वीकार करके अपना पार्षद बनाना पड़ा। बनारस के बहुत-से भैरव हमें उन्हीं प्राचीन यक्षों की याद दिलाते हैं।" (काशी का इतिहास, पृ० ३९९)। यह कथन भी कितना विचित्र है, यह उसके प्रथम वाक्य से स्पष्ट हो जाता है। यदि यक्ष-पूजा के प्राबल्य के कारण शिव को यक्षों से दबना पड़ता, तो उनको पार्षद न बनाकर वे स्वयं उनकी पूजा करने लगते। जिससे मनुष्य दबता है, उसको अपना नौकर नहीं बना सकता, यह तो इतनी अनुभवसिद्ध बात है कि इसको सभी स्वीकार करेंगे। यक्ष लोग हरिकेश की परम्परा में अथवा यक्षराज कुबेर के आग्रह से शिवपूजक हुए और इसी भक्ति के कारण शिव के पार्षद् बने। यह भी स्मरण रखना है कि यक्षलोक कैलास के समीप है और इस कारण भी यक्ष लोग शिव-पार्षद बन सकते थे। मनुष्यों द्वारा यक्षपूजा का शिव के ऊपर इतना गहरा प्रभाव समझ में नहीं आया। यदि इस वाक्य का यह अर्थ माना जाय कि यक्षपूजक मनुष्य जब शिवपूजक हुए, तब उन्होंने यक्षों को भी शिव-पार्षद मान लिया, तो इतिहासकार की भाषा अत्यन्त अनुचित है। इस तर्क का उत्तर पहले अध्याय में दिया जा चुका है, अतएव उसको फिर से दुहराने से कोई लाभ नहीं।

शिव की अनार्यता का विषय इस पुस्तक से सम्बन्ध नहीं रखता। अतएव, उसकी मीमांसा यहाँ नहीं की जा रही है, परन्तु वेद के संहिताध्यायों में शिव के सम्बन्ध में इतनी प्रचुर सामग्री है कि अकस्मात् इतिहासकारों के आग्रह से शिव को अनार्य मान लेना कठिन है। डॉ० अल्टेकर प्रभृति लेखकों ने इस सम्बन्ध में जिन पौराणिक कथाओं का उल्लेख किया है, उनसे यह बात सिद्ध नहीं होती। यजुर्वेदीय रुद्राध्याय में शिव के जितने नाम गिनाये गये हैं, उनको ध्यान में रखते हुए बिना अनार्य हुए भी शिव में वे सब गुण-अवगुण तथा लक्षण हो सकते हैं, जिनको दक्ष तथा मैना के मुख में पुराणकार ने रखा है। (डॉ० अल्टेकर की 'हिस्ट्री ऑव बनारस', पृ० ३–४)

'काशी का इतिहास' काशी के भैरवों को भी यक्ष मानता है। इसका कारण तदनुसार वाराणसी में भैरवों का तथाकथित बाहुल्य समझ पड़ता है। परन्तु, ऐसा करने में वाराणसी में शाक्त एवं तान्त्रिक सम्प्रदायों के उत्कर्ष को भुला दिया गया है। वाराणसी की पौराणिक परम्परा में कालभैरव ही अकेले हैं। इनके अतिरिक्त, जिन आठ भैरवों की स्थापना क्षेत्र की रक्षा के लिए हुई है, वे तान्त्रिक परम्परा के प्रसिद्ध आठ भैरव हैं। उनकी वाराणसी में ही प्रधानता नहीं है, अपितु अन्य तन्त्रानुगामी क्षेत्रों में भी। भैरव तथा भैरवी-पूजन उस परम्परा की ही देन है, न कि यक्षपूजा की।

असिताङ्गो रुरुश्चण्डी क्रोध उन्मत्तसंज्ञकः।
कपाली भीषणश्चैव संहारश्चाष्टमः स्मृतः॥

(तन्त्रसार-शब्दकल्पद्रुम, पृ० ५४५)

"मत्स्यपुराण में (१८०।६२) एक जगह यहाँ तक कहा गया है कि महायक्ष कुवेर ने भी वाराणसी में अपना स्वभाव छोड़ दिया और गणेशत्व को प्राप्त हो गये।" (काशी का इतिहास, पृ० ३४)

मत्स्यपुराण के जिस श्लोक का यह अनुवाद हुआ है, वह इस प्रकार है:—

कुवेरस्तुमहायक्षस्तथासर्वार्पितक्रियः।
क्षेत्रसंवसनादेव गणेशत्व मवाप ह॥ ६२॥ (म०पु०, १८०।६२)

'सर्वार्पितक्रियः' पद का अर्थ अपना स्वभाव छोड़ना कैसे हो गया, यह 'काशी के इतिहासकार' ही जानें। मत्स्यपुराण के इसी अध्याय में एक जगह यह पद और प्रयुक्त हुआ है:

मन्मना मम भक्तश्च मयि सर्वार्पितक्रियः।
यथा मोक्षमिहाप्नोति ह्यन्यत्र न तथा क्वचित्॥
(मत्स्यपुराण, १८०।५१-५२)

यहाँ कुवेर के गणेशत्व प्राप्त करने का कारण यह कहा गया है कि अपनी सभी जीवन-क्रियाओं को शिवार्पण करते हुए वाराणसी-क्षेत्र में रहने से ही उन्हें गणेश-पद मिला। यही इस पद का अर्थ है जैसाकि ऊपर दिये हुए दूसरे श्लोक से स्पष्ट हो जाता है। वहाँ कहा गया है कि हमारे भक्त को अपने सभी कर्म हमको अर्पित करने से जिस प्रकार यहाँ मोक्ष मिलता है वैसे अन्यत्र नहीं मिलता। गीता में भगवान् कृष्ण ने इसी बात को इस प्रकार कहा है:—

मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा। (गीता ३।३०)

शरणागति की पराकाष्ठा का संकेत करते हुए इस पद 'सर्वार्पितक्रियः' का किसी प्रकार भी 'अपना स्वभाव छोड़ दिया' यह अर्थ नहीं हो सकता, यह स्पष्ट ही है।

(प) दिवोदास की कथा:

"काशीखण्ड (अध्याय ६२) और अन्य बहुत-से पुराणों में वर्णित दिवोदास की कथा में भी वैदिक धर्म को काशी की प्रजा और राजा दोनों ही द्वारा काशी में प्रवेश न करने देने की प्रवृत्ति के संकेत मिलते हैं। इस कथा के अनुसार राजा दिवोदास ने काशी से शिव को छोड़कर और सब देवताओं को निकाल-बाहर किया।" (काशी का इतिहास, पृ० ३१)

'काशी का इतिहास' के यह कहने का क्या प्रमाण है कि शिव को छोड़कर और सब देवताओं को निकाल-बाहर किया—यह वहाँ स्पष्ट नहीं किया गया है, परन्तु है यह बात नितान्त अनर्गल। यदि शिव को नहीं निकाला गया होता तो फिर इतना प्रपंच ही क्यों रचा जाता? इस कथा का केन्द्र है शिव को काशी से निकालना, उनका मंदराचल में काशी लौटने के लिए दुखी होना तथा इस लौटने के लिए सभी प्रयत्न करना। इस कथा में पग-पग पर यही बात कही गई है। जब ब्रह्माजी ने महादेव जी से वाराणसी छोड़-कर मन्दराचल चले जाने की प्रार्थना की और उसको उन्होंने स्वीकार किया तब चुपचाप विना किसी को बतलाये किसी छिपे स्थान पर शिवलिंग-रूप में अपना प्रतीक छोड़कर

वे वाराणसी से चले गये। ब्रह्मा को भी उन्होंने यह बात नहीं बतलाई। यदि इसी बात का यह रूपान्तर 'काशी का इतिहास' में हुआ है तो भी महादेव के निकालने की बात बनी रहती है। दिवोदास की कथा का अन्त यही होता है कि विष्णु के आग्रह से वह भगवान् महादेव को पुनः काशी में बुलाता है। यदि महादेव के निकालने की बात इस कथा से हटा ली जाय तो इस सम्बन्ध की सारी कथा ही विघटित हो जाती है। उन सब प्रयत्नों की, जो महादेव जी को पुनः वाराणसी लाने के लिए किये गये, आवश्यकता ही नहीं रहती और वे सब निराधार एवं निष्कारण हो जाते हैं।

दिवोदास के सम्बन्ध की एक और बात भी 'काशी का इतिहास' में आई है। वहाँ लिखा है कि "इन कथानकों के अनुसार भीमरथ के पुत्र काशिराज दिवोदास अपनी राजधानी वाराणसी छोड़कर अपने राज्य के ठेठ पूरब गोमती के किनारे एक दूसरा नगर बसाकर रहने लगे।" (काशी का इतिहास, पृ० २३) अन्यत्र वहाँ लिखा है कि "बाद में उनके पुत्र दिवोदास ने दूसरी वाराणसी गंगा के उत्तर-किनारे और गोमती के दक्षिण-किनारे पर बसाई।" (काशी का इतिहास, पृ० १३) इन दोनों उद्धरणों से यह बात स्पष्ट है कि नई वाराणसी गंगा के बायें किनारे पर थी। इस वाराणसी का वर्त्तमान स्थान ढूंढ़ते हुए 'काशी का इतिहास' उसका बैरांट में होना सिद्ध करता है, परन्तु इसमें एक बड़ी भारी कमी यह रह जाती है कि बैरांट के खण्डहर बाणगंगा के दक्षिण किनारे पर हैं, बाएँ पर नहीं। इस प्रकार गोमती और बैरांट के बीच में स्वयं गंगा की धारा बाधक हो जाती है।

बाणगंगा कब से सूख गई अर्थात् गंगा ने अपना प्रवाह बदलकर अपना नया रूप कब धारण किया, इस सम्बन्ध में 'काशी का इतिहास' कहता है कि "ऐसा पता लगता है कि मौर्ययुग तक तो बैरांट का शहर बसा था और शायद गंगा ने तीसरी शताब्दी ईसा-पूर्व के बाद ही अपना रास्ता बदला होगा।" इस परिस्थिति को सिद्ध करने के लिए यह कहा गया है कि बाणगंगा में उस समय गंगा बहती थी और गोमती गंगा के वर्त्तमान कांठे में बहकर सैदपुर के पास गंगा में मिलती थी। अर्थात् उस समय गंगा-गोमती का संगम सैदपुर के समीप था न कि कैथी के समीप। महाभारत के अनुसार गंगा-गोमती के संगम पर मार्कण्डेय तीर्थ था, जो अभी भी कैथी के समीप है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि गंगा-गोमती का सैदपुर के पास का संगम महाभारत के पहले की बात हो सकती है, ईसवी सन् की तीसरी शताब्दी के बाद की नहीं। इस प्रकार बैरांट के दिवोदास की दूसरी वाराणसी होने में दो शंकाएँ हैं, जिनके समाधान के बिना यह बात सिद्ध नहीं होती।

'मार्कण्डेयस्य राजेन्द्रतीर्थमासाद्य दुर्लभम्।
गोमतीगङ्गयोश्चैव सङ्गमे लोकविश्रुते।। (महा०, क्रि०क०त०, पृ० २४१)

हरिकेश यक्ष के दण्डपाणि होने के अवसर पर 'काशी का इतिहास' कहता है कि "शिव ने उसकी इच्छा स्वीकार कर ली और उसे काशी का क्षेत्रपाल नियुक्त किया और उसके सहायक यक्ष, दण्डपाणि, उद्भ्रम और संभ्रम यक्ष नियुक्त किये गये।" (काशी का इतिहास पृ० ३३)। इस वाक्य का आधार मत्स्यपुराण कहा गया है (मत्स्य० १८०।८८। ९९)। वह इस प्रकार है :—

भविष्यसि गणाध्यक्षो धनदः सर्वपूजितः ॥
अजेयश्चापि सर्वेषां योगैश्वर्यसमाश्रितः ।
अन्नदश्चापि लोकेभ्यः क्षेत्रपालो भविष्यसि ॥
महाबलो महासत्त्वो ब्रह्मण्यो मम च प्रियः ।
त्र्यक्षश्च दण्डपाणिश्च महायोगी तथैव च ॥
उद्भ्रमः संभ्रमश्चैव गणौ ते परिचारकौ ।
तवाज्ञया करिष्येते लोकस्योद्भ्रमसम्भ्रमौ ॥ (म० पु०, १८०।९६-९९)

यहाँ हरिकेश को दण्डपाणि तथा त्रिनेत्रधारी होने का वरदान है, न कि दण्डपाणि तथा त्र्यक्ष उसके सहायक बनाये गये हैं। उसके सहायक तो केवल दो—उद्भ्रम तथा संभ्रम हैं। इस सम्बन्ध में सर्वत्र द्विवचन का ही प्रयोग हुआ है—गणौ, परिचारकौ, करिष्येते।

'कृत्यकल्पतरु' के ६९वें पृष्ठ पर पाद-टिप्पणी में डॉ० अय्यंगर ने श्रीकुण्ड का वर्त्तमान नाम लक्ष्मीकुण्ड कहा है। यह उनका भ्रम है। श्रीकुण्ड तथा लक्ष्मीकुण्ड दोनों के नाम 'कृत्यकल्पतरु' में अलग-अलग मिलते हैं, जिससे स्पष्ट है कि ये दोनों कुण्ड अलग-अलग थे। श्रीकुण्ड ओंकारेश्वर के समीप था। अब लुप्त है। लक्ष्मीकुण्ड अपने स्थान पर मिश्र-पोखरा महल्ले में वर्त्तमान है। त्रिस्थली-सेतु के समय तक श्रीकुण्ड का उल्लेख मिलता है, कदाचित् उस समय तक वहाँ यात्रा होती रही हो ।

आषाढ़े चापि गन्धर्वैर्यात्रेयं च कृता मम ।
श्रिया देव्यास्तु कुण्डस्थैः स्नानपूजनतत्परैः ॥
विद्याधरैस्तु यात्रेयं श्रावणे मासि तत्परैः ।
लक्ष्मीकुण्डस्थसंस्थैश्च स्नानपूजनतत्परैः (कृ० क० त० पृ०, १२४)

(फ) 'कृत्यकल्पतरु' के उद्धरणों का अनुवाद :

'काशी का इतिहास' के पृ० १७३ से १८५ तक 'कृत्यकल्पतरु' में बताये गये तीर्थस्थानों तथा देवायतनों का तदनुसार वर्णन हिन्दी में सारानुवाद के रूप में किया गया है। इस अनुवाद में इतनी अशुद्धियाँ हैं कि उन सभी का निराकरण करने में इतना समय तथा स्थान नष्ट होगा कि इस कार्य को आवश्यक मानते हुए भी छोड़ देना पड़ता है। इन अशुद्धियों में जो महत्त्वपूर्ण हैं, केवल उन्हीं के विषय में यहाँ चर्चा की जायगी।

१. "वेदेश्वर : देवेश्वर के ईशान में स्थित चतुर्मुख लिंग, जिसके दर्शन से ब्राह्मण चतुर्वेदी हो जाते थे।" (काशी का इतिहास, पृ० १७३)

यथार्थतः 'कृत्यकल्पतरु में यह कहा गया है कि यह लिंग ईशानाभिमुख था तथा इसके अन्य मुख भी दिशा-कोणों में थे। इसके दर्शन से ब्राह्मण को चारों वेदों का ज्ञान हो जाता था। सामान्यतः मुखलिंगों के मुख चारों दिशाओं में ही होते हैं, कोणों में नहीं।

ईशानाभिमुखं लिङ्गं कोणे तस्य मुखानि वै ।
तेन दृष्टेन सुश्रोणि चतुर्वेदी भवेद् द्विजः ॥ (कृ० क० त०, पृ० ४४)

२. "शांकरी देवी : प्रयागेश्वर के मन्दिर में वटवृक्ष पर शांकरी देवी का आवास था, जो सब तीर्थवासियों को शान्ति प्रदान करती थी।" (काशी का इतिहास, पृ० १७४)

तत्र सा शांकरी देवी ब्रह्मवृक्षेऽवतिष्ठते।
शान्तिं करोति सर्वेषां ये च तीर्थनिवासिनः॥ (कृ०क०त०, पृ० ४५)

पाठभेद में 'ब्रह्मवृक्ष' के स्थान पर 'बिल्ववृक्षे' पाठ भी कहा गया है। ब्रह्मवृक्ष तो पाकड़-वृक्ष का नाम है न कि वटवृक्ष का। वटवृक्ष तो शिव का है, जैसे अश्वत्थ विष्णु का।

३. "हिरण्याक्षेश्वर के दक्षिण में अट्टहास का पश्चिमाभिमुख लिंग था।" (काशी का इतिहास, पृ० १७४)।

तेषां पश्चिमदिग्भागे अट्टहासं स्थितं शुभम्।
मुखलिङ्गं तु तद्देवि पश्चिमाभिमुखं स्थितम्॥ (कृ०क०त०, पृ० ४७)

स्पष्ट ही 'दक्षिण' के स्थान पर 'पश्चिम' होना चाहिए।

४. "मित्रावरुणेश्वर : अट्टहास क पास ही पश्चिम में मित्रावरुण द्वारा स्थापित शिवलिंग के द्वार पर था।" (काशी का इतिहास, पृ० १७४)

इस वाक्य में छापते समय कुछ अंश छूट गया है यह स्पष्ट है, परन्तु शिवलिंग एक नहीं, दो थे और वे वाराणसी-क्षेत्र के पूर्व-द्वार पर स्थित थे। काशीखण्ड में वाराणसी-क्षेत्र की सीमा देते हुए भी यह कहा गया है:

अट्टहाससमीपेन पश्चिमेन यशस्विनि,
मित्रावरुणनामानौ पूर्वद्वारे व्यवस्थितौ। (कृ०क०त०, पृ० ४७)

५. "वासुकीश्वर : शालकटंकटेश्वर के उत्तर चतुर्मुख लिंग।" (काशी का इतिहास, पृ० १७५)

मोक्षेश्वरं तु तत्रैव स्वर्गेश्वरमतःपरम्।
वासुकीश्वरनामानं तयोश्चोत्तरतः शुभम्॥ (कृ०क०त०, पृ० ४८)

शालकटंकटेश्वर से वासुकीश्वर का स्थान-निर्देश ठीक नहीं है। इनका स्थान मोक्षेश्वर तथा स्वर्गेश्वर के उत्तर में था।

६. "वीरेश्वर : नगर के उत्तर में। इसकी स्थापना के सम्बन्ध में एक लम्बी कथा दी गई है।" (काशी का इतिहास, पृ० १७४)

यह शिवलिंग नगर के उत्तर में था। इसका कोई भी उल्लेख 'कृत्यकल्पतरु' में नहीं है।

७. "नन्दीश्वर : मृग्वीश्वर के दक्षिण में नन्दीश्वर का शिवलिंग था। यहीं पर तपस्वी कपिल ने गुहावास करके शिव की एक हजार वर्ष तक पूजा की। वह गुहा कपिलेश्वर के नीचे थी। शायद यहाँ राजघाट के करारे की अनेक गुफाओं में से एक गुफा की ओर संकेत है।" (काशी का इतिहास, पृ० १७७)

ओंकारेश्वर के समीप श्रीमुखी गुफा का वर्णन ही रहा है, जो मत्स्योदरी के उत्तर में है और 'काशी का इतिहास' उस गुफा को राजघाट के करारे पर खींच ले जाता है। क्या इससे बढ़कर मतिभ्रम हो सकता है?

८. "रुद्रमहालय : रुद्र के नैऋर्त्य भाग में। वहाँ स्वयं पार्वती का वास माना जाता था।" (काशी का इतिहास, पृ० १७८)

तत्रस्थाने शुभे रम्ये स्वयं तिष्ठति पार्वती। (क्रु० क० त०, पृ० ६३)

वहाँ पर पार्वती की मूर्त्ति थी न कि उनका वास माना जाता था।

९. "कालेश्वर·······कालेश्वर के पास दक्षिण में मृत्यु द्वारा स्थापित सर्वरोग-विनाशक एक लिंग था तथा कूप से उत्तर भाग में दक्षेश्वर तथा शच्येश्वर के मन्दिर थे।" (काशी का इतिहास, पृ० १७९)

कालेश्वरसमीपे तु दक्षिणे वरवर्णिनि।
मृत्युना स्थापितं लिङ्गं सर्वरोगविनाशनम्॥
कूपस्य चोत्तरे भागे महालिङ्गानि सुव्रते।
एकं दक्षेश्वरं नाम द्वितीयं कश्यपेश्वरम्॥ (क्रु०क०त०, पृ० ७४)

शच्येश्वर का नाम ठीक नहीं। कश्यपेश्वर का शिवलिंग वहाँ था।

१०. "मध्यमेश्वर का वर्णन करने के बाद 'काशी का इतिहास' कहता है कि "उन दोनों के दक्षिण भद्रकाली ह्रद था, जिसके पश्चिम तीर पर शौनक द्वारा स्थापित मतंगेश्वर थे। उसी के वायव्य कोण में मनुष्यों द्वारा स्थापित अनेक लिंग थे तथा दक्षिण में जयंत-द्वारा स्थापित शिवलिंग था।" (काशी का इतिहास, पृ० १८०)

कुण्डस्य पश्चिमे तीरे शौनकेन प्रतिष्ठितम्।
मतङ्गेश्वरनामानं लिङ्गं तत्रैव तिष्ठति।
मतङ्गेश्वरकोणे तु वायव्ये तु यशस्विनि।
प्रतिष्ठितानि लिङ्गानि नरैस्तत्र महात्मभिः।
तस्यैव दक्षिणे भागे जयन्तेन प्रतिष्ठितम्॥ (क्रु०क०त०, पृ० ८७)

ऊपर का अनुवाद तो ठीक हो सकता है यद्यपि वह ठीक नहीं; क्योंकि यहाँ कुण्ड शब्द शौनक-कुण्ड के लिए आया है, भद्रकालीह्रद के लिए नहीं। काशीखण्ड में इस स्थिति का वर्णन इस प्रकार है :

भद्रवा भद्रकाली च तस्य दक्षिणतः शुभा।
भद्रकालह्रदो नाम तत्रातीव शुभप्रदः॥
आपस्तम्बेश्वरं लिङ्गं तत्प्राच्यां ज्ञानदम्परम्।
तदुत्तरे पुण्यकूपस्तत्पश्चाच्छौनको ह्रदः॥
ह्रदपश्चिमतो लिङ्गं शौनकेशं सुधीप्रदम्।
तद्दक्षिणे जम्बुकेशो तिर्यग्योनिनिवारकः॥
तदुत्तरे मतङ्गेशो गानविद्याप्रबोधकः।
मतङ्गेशस्य वायव्ये नाना लिङ्गानि सर्वतः॥ (का०खं०, ९७।१५६–१५९)

अर्थात् भद्रकालीह्रद के पूर्व में आपस्तंबेश्वर तथा उनके उत्तर में पुण्यकूप और उसके पश्चिम शौनककुण्ड। शौनककुण्ड के पश्चिम शौनकेश्वर और उनके दक्षिण जम्बुकेश्वर, जिनके उत्तर में मतंगेश और उनके वायव्य कोण में बहुत-से शिवलिंग। इस प्रकार शौनक ह्रद मन्दाकिनी

से कुछ दूर उत्तर में था और शौनकेश्वर शौनक-ह्रद के पश्चिम तीर पर थे न कि भद्र-काली ह्रद के पश्चिम तीर पर।

११. "चित्रगुप्तेश्वर : कलशेश्वर के उत्तर में चित्रगुप्त द्वारा स्थापित शिवलिंग। उसके पश्चिम में छाया द्वारा तथा विनायक द्वारा स्थापित शिवलिंग थे। विनायक के पूर्व में एक कुण्ड था, जहाँ विरूपाक्ष का पश्चान्मुख लिंग था। उसके दक्षिण में एक कूप था।" (काशी का इतिहास, पृ० १८२)

पश्चिमे चित्रगुप्तस्य अन्यल्लिङ्गं स्थितं शुभे।
छायया स्थापितं लिङ्गं तं दृष्ट्वा नातपं भवेत्॥
विनायकश्च तत्रैव पश्चिमेन यशस्विनि।
तस्य दर्शनमात्रेण विघ्नैर्नैवाभिभूयते॥ (कृ०क०त०, पृ० १०२)

इस वर्णन से स्पष्ट है कि छायेश्वर के पश्चिम में विनायक की मूर्त्ति थी न कि विनायक द्वारा स्थापित शिवलिंग।

१२. "समुद्रेश्वर : महापाशुपतेश्वर के दक्षिण में समुद्र द्वारा स्थापित लिंग। दक्षिण में ईशान, पूर्व में लांगलि थे।" (काशी का इतिहास, पृ० १८३)

तस्यैव (महापाशुपतेश्वरस्य) पश्चिमे देवि समुद्रेण प्रतिष्ठितम्।
तस्यैव दक्षिणे पार्श्वे ईशानं लोकविश्रुतम्॥
तस्यापि देवि पूर्वेण वाराणस्यां तु लाङ्गलिः। (कृ०क०त०, पृ० १०५)

अर्थात् समुद्र द्वारा स्थापित शिवलिंग महापाशुपतेश्वर के पश्चिम में, न कि दक्षिण में था और समुद्रेश्वर के दक्षिण में ईशानेश्वर तथा उनके पूर्व में लांगलीश्वर। 'काशी का इतिहास' द्वारा दिये हुए वर्णन में लांगलि का स्थान समुद्रेश्वर के पूर्व में निकलता है, जो अशुद्ध है।

१३. "रामेश्वर : उसके दक्षिण में त्रिपुरान्तक और दत्तात्रेय द्वारा प्रतिष्ठित लिंग, पश्चिम में हरिकेशेश्वर और गोकर्णेश्वर थे। उत्तर में एक तडाग था, जिसके पश्चिम तट पर देवेश्वर थे और उनके सामने एक कुण्ड।" (काशी का इतिहास, पृ० १८३)

तस्य (रामेश्वरस्य) दक्षिणपार्श्वे तु लिङ्गं पूर्वामुखं स्थितम्।
त्रिपुरान्तकरं नाम सर्वपापप्रणाशनम्॥
तस्यैव दक्षिणे लिङ्गं दत्तात्रेयप्रतिष्ठितम्।
तस्य पश्चिमदिग्भागे हरिकेशेश्वरं शुभम्॥ (कृ०क०त०, पृ० ११३)

अर्थात् दत्तात्रेयेश्वर के पश्चिम में हरिकेशेश्वर थे न कि रामेश्वर के।

१४. "पिशाचेश्वर : देवेश्वर के उत्तर में। उसके आगे ध्रुवेश का मुखलिंग। उसके पश्चिम में एक कुण्ड पर वैद्यनाथ। नैर्ऋत भाग में मनु द्वारा स्थापित एक लिंग, पश्चिम में मुचकुन्देश्वर तथा दक्षिण में गौतमेश और विभाण्डेश्वर।" (काशी का इतिहास, पृ० १८३)

देवेश्वरस्योत्तरेण पिशाचैः स्थापितं पुरा।
पिशाचेश्वरनामानं मोक्षदं सर्वदेहिनाम्॥

ध्रुवेशस्याग्रतो देवि मुखलिङ्गं च तिष्ठति।
पश्चान्मुखं तु तल्लिङ्गं तीरे कुण्डस्य भामिनि॥
वैद्यनाथं तु तं विद्यात् सर्वसौख्यप्रदायकम्।
तस्यैव नैर्ऋते भागे मनुना स्थापितं पुरा॥
पूर्वामुखं तु तल्लिङ्गं तस्य कुण्डस्य दक्षिणे।
वैद्यनाथस्य पूर्वेण लिङ्गं पूर्वामुखं स्थितम्॥
प्रियव्रतस्य तद्देवि सर्वयज्ञफलप्रदम्।
तस्यैव दक्षिणे देवि लिङ्गं पूर्वामुखं स्थितम्॥
मुचुकुन्देश्वरं नाम देवानां तु वरप्रदम्।
सर्वपापप्रशमनं गौतमेशं च नामतः॥ (कृ०क०त०, पृ० ११४-११५)

इस उद्धरण की अन्तिम पंक्तियों को ध्यानपूर्वक देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि एक पंक्ति यहाँ छूट गई है, जिसमें मुचकुन्देश्वर का स्थान-निर्देश था। अस्तु। देवेश्वर के उत्तर में पिशाचेश्वर का शिवलिंग था। ध्रुवेश्वर के आगे एक पश्चिमाभिमुख लिंग कुण्ड के तीर पर था, जिसका नाम वैद्यनाथ था। ध्रुवेश्वर का स्थान-निर्देश यहाँ नहीं है जैसा 'काशी का इतिहास' ने कहा है और न वैद्यनाथ का शिवलिंग ध्रुवेश्वर के पश्चिम में ही था। वैद्यनाथ के नैर्ऋत्य कोण में (देवेश्वर के नहीं) मनु द्वारा स्थापित शिवलिंग। वैद्यनाथ के पूर्व में प्रियव्रतेश्वर तथा उनके दक्षिण में मुचकुन्देश्वर थे। जैसा ऊपर कहा जा चुका है, गौतमेश्वर का स्थान-निर्देश लिपि-प्रमाद से छूट गया है। यहाँ देवेश्वर भी ध्रुवेश्वर के स्थान पर लिपि-प्रमाद है। काशीखण्ड में मुचकुन्देश्वर का स्थान गौतमेश्वर के पास ही था ऐसा लिखा है। विभाण्डेश्वर गौतमेश्वर के दक्षिण में ध्रुवेश्वर के दक्षिण में नहीं थे।

इसके आगे 'काशी का इतिहास' कहता है कि "ऋष्यशृंगेश्वर विभाण्डेश्वर के दक्षिण में, उसके पूर्व में ब्रह्मेश्वर तथा पश्चिम में पर्जन्येश्वर।" (काशी का इतिहास, पृ० १८३)

तस्यैव (ऋष्यशृङ्गेश्वरस्य) पूर्वतो देवि ब्रह्मेश्वरमिति स्मृतम्।
ब्रह्मेश्वराच्च कोणेन पिशाचेश्वर संज्ञितम्।
पश्चिमाभिमुखं देवि पर्जन्येश्वर नामतः॥ (कृ० क० त०, पृ० ११५)

ब्रह्मेश्वर से कोण में पिशाचेश्वर तथा पश्चिमाभिमुख पर्जन्येश्वर। यहाँ कुछ लिपि-प्रमाद हैं। सम्भवतः सम्मितम् अर्थात् 'पिशाचेश्वर के समीप' कोई ऐसा पाठ रहा होगा।

१५. "मुण्डेश: अगस्त्येश्वर के पूर्व में, उसके दक्षिण में दशाश्वमेधिक लिंग और उसके उत्तर में नवमातृकाओं का मन्दिर और कुण्ड।" (काशी का इतिहास, पृ० १८४)।

यहाँ सम्भवतः छपने में कुछ अंश छूट गया है। "अगस्त्येश्वर के पूर्व में। उसके दक्षिण में विधीश्वर तथा विधि। विधीश्वर के दक्षिण में दशाश्वमेधतीर्थ तथा दशाश्वमेधिक लिंग और उसके उत्तर में मातृकाएँ तथा मातृकाकुण्ड।" कुछ इस प्रकार पाठ होना चाहिए:

अगस्त्येश्वरपूर्वेण मुण्डेशो नाम नामतः।
पश्चान्मुखं तु तल्लिङ्गं वीरसिद्धिप्रदम् नृणाम्॥

तस्यैव दक्षिणे देवि विधिस्तिष्ठति पार्वति।
विधिना स्थापितं लिङ्गं पश्चिमाभिमुखं स्थितम् ॥
विधीश्वराद्दक्षिणेन तीर्थं सर्वत्र विश्रुतम्।
दशाश्वमेधिकं नाम्न लिङ्गं तत्र स्वयं स्थितम् ॥
दशाश्वमेधाच्चोत्तरतो मातरस्तत्र संस्थिताः।
तासां मुखे तु तत्कुण्डं तिष्ठते वरवर्णिनि ॥ (कृ०क०त०, पृ० ११६)

१६. "हरिश्चन्द्रेश्वर: पूर्व में नैर्ऋतेश्वर, दक्षिण में अंगिरेश और क्षेमेश्वर, कालंजर और लोलार्क।" (काशी का इतिहास, पृ० १८४)

हरिश्चन्द्रेश्वराद्देवि अन्यलिङ्गं तु पश्चिमे।
पूर्वामुखं तु तं देवि नाम्ना वै नैर्ऋतेश्वरम् ॥
तस्य संदर्शनाद्देवि कैवल्यं ज्ञानमाप्नुयात्।
तस्यैव दक्षिणे लिङ्गं पूर्वामुखमवस्थितम् ॥
नाम्ना ह्याङ्गिरसेशं तद्वैराग्यसुखदायकम्।
तस्यैव दक्षिणे देवि क्षेमेश्वरमनुत्तमम् ॥
तस्य दक्षिणदिग्भागे चित्राङ्गेश्वरसंज्ञितम्।
केदाराद्दक्षिणे चैव लिङ्गं पूर्वामुखं स्थितम् ॥
नीलकण्ठेति नामानं सुरलोकप्रदायकम्।
तस्यैव वायवे कोणे अम्बरीषेश्वरं शुभम् ॥
तस्य दक्षिणदिग्भागे लिङ्गं वै दक्षिणामुखम्।
नाम्ना कालंजरं देवं सर्वपातकनाशनम् ॥
तस्यैव दक्षिणे भागे लोलार्को नाम वै रविः।

अर्थात् हरिश्चन्द्रेश्वर के पश्चिम (पूर्व में नहीं) नैर्ऋतेश्वर, उनके दक्षिण आंगिरसेश्वर, उनके दक्षिण क्षेमेश्वर, उनके दक्षिण चित्रांगेश्वर के शिवलिंग थे। केदार के दक्षिण में नीलकंठ, उनके वायव्य कोण में अम्बरीषेश्वर और उनके दक्षिण में कालंजर। कालंजर के दक्षिण में लोलार्क। इस प्रकार 'काशी का इतिहास' में वर्णन अपूर्ण है।

१६. "माण्डव्येश्वर—शंकुकर्णेश्वर के वायव्य भाग में। उसके उत्तर में छागलेश्वर, पश्चिम में कपर्दीश्वर, पूर्व में हरितेश्वर, दक्षिण में कात्यायनेश्वर तथा अंगारेश्वर थे। अंगारेश्वर पर एक कुंड था और उसके दक्षिण में मुकुरेश्वर। कुंड की बगल में छागलेश्वर का मंदिर था।" (काशी का इतिहास, पृ० १८४)

वायव्ये तु दिशाभागे शङ्कुकर्णेश्वरस्य तु।
माण्डव्येशमितिख्यातं सुरसिद्धैस्तु वन्दितम् ॥
तस्य चैव समीपे तु स्वयं देवश्च तिष्ठति।
गणैः परिवृतो देवः देव्या सह महाप्रभुः ॥
द्वारे स्वे तिष्ठते देवि स्वयं क्षेत्रञ्च रक्षति।
देवस्य चोत्तरेभागे नातिदूरे व्यवस्थितम् ॥

मुखलिङ्गं तु तत्रैव लिङ्गं पूर्वामुखं शुभे।
तस्यैव चोत्तरे पार्श्वे छागलेश्वरसंज्ञितम् ॥
अन्यदायतनं देवि पश्चिमेन यशस्विनि।
कपर्दीश्वरनामानमुत्तमं सर्ववायकम् ॥
तस्य पूर्वेण सुश्रोणि लिङ्गं पूर्वामुखं स्थितम्।
हरितेश्वरनामानं सर्वपापक्षयंकरम् ॥
कात्यायनेश्वरं नाम तस्य दक्षिणतः स्थितम्।
अन्यत्तस्यैव पार्श्वे तु अङ्गारेश्वरसंज्ञितम् ॥
तडागं चापि तत्रस्थमंगारेश्वरसंज्ञितम्।
तस्य दक्षिणदिग्भागे नातिदूरे व्यवस्थितम् ॥
मुकुरेश्वरनामानं सर्वयात्राफलप्रदम्।
पश्चिमाभिमुखं लिङ्गं कुण्डस्य पुरतः स्थितम् ॥
तस्य कुण्डस्य पार्श्वे तु छागलेश्वरसंज्ञितम्। (कृ० क० त०, पृ० १२०)

अर्थात् शंकुकर्णेश्वर के वायव्य कोण में माण्डव्येश्वर तथा उनके समीप गणों से घिरे हुए स्वयं भगवान् सदाशिव तथा पार्वती क्षेत्र के द्वार की रक्षा करते हैं। यहाँ नाम न देते हुए द्वारेश्वर तथा द्वारेश्वरी का उल्लेख हुआ है। द्वारेश्वर के उत्तर में एक मुखलिंग तथा उसके उत्तर में छागलेश्वर। वहीं पर पश्चिम में कपर्दीश्वर तथा उनके पूर्व में हरितेश्वर। उनके दक्षिण में कात्यायनेश्वर और उनके पास ही अंगारेश्वर तथा अंगारेश्वर-तडाग। उसके दक्षिण में मुकुरेश्वर तथा मुकुरेश्वर-कुण्ड और उसी कुण्ड के समीप छागलेश्वर।

यह तो स्पष्ट ही है कि 'काशी का इतिहास' का वर्णन अपूर्ण है।

१७. "क्षेत्ररक्षितचण्डिकाएँ" : (काशी का इतिहास, पृ० १८४) सम्भवतः यह लिपि-प्रमाद है, "क्षेत्ररक्षिका चण्डिकाएँ" ऐसा होना चाहिए।

'अतः परं प्रवक्ष्यामि चण्डिकाः क्षेत्ररक्षिकाः' (कृ०क० त०, पृ० १२६)

१८. "गौरीपूजा : फाल्गुन शुक्ल-पक्ष तृतीया के दिन स्नान के बाद गोप्रेक्ष का दर्शन, उसके बाद कालिकादेवी की पूजा, ज्येष्ठस्थान में गौरी और ललिता की पूजा। ललिता के स्थान में ब्राह्मण-भोजन तथा वस्त्र-दक्षिणा।" (काशी का इतिहास, पृ० १८५)

'कृत्यकल्पतरु' में दिये हुए जिन श्लोकों का यह अनुवाद है, वे इस प्रकार हैं:—

अतः परं प्रवक्ष्यामि यात्रायां च वरानने।
शुक्लपक्षे तृतीयायां तव यात्रा महाफला ॥
यत्र गौरी तु द्रष्टव्या तां च शृणु वरानने।
स्नानं कृत्वा तु गन्तव्यं गोप्रेक्षे तु यशस्विनि ॥
अहनि कालिकादेवी अर्चितव्या प्रयत्नतः।
ज्येष्ठस्थाने ततो गौरी अर्चितव्या प्रयत्नतः ॥

तस्मात्स्थानात्तु गन्तव्यमविमुक्तस्य चोत्तरे।
तत्र देवी सदागौरी पूजितव्या च भक्तितः॥
अन्या वापि परा प्रोक्ता संवर्त्तललिता शुभा।
द्रष्टव्या चापि सा देवी सर्वकामफलप्रदा॥
ततस्तु भोजयेद्विप्रान् शिवभक्तान् शुचिव्रतान्।
वासैः सदक्षिणैश्चैव यथार्हमतिपुष्कलैः॥ (लिङ्गपुराण, कृ०क० त०, पृ० १२५–१२६)

अर्थात् शुक्लपक्ष की तृतीया को (सभी महीनों में केवल फाल्गुन में ही नहीं) गोप्रेक्षेश्वर के समीप 'अहनिकालिका' की पूजा करना। यहाँ पर 'अहनिकालिका' लिपि-प्रमाद है, जैसा त्रिस्थलीसेतु में दिये हुए इन्हीं श्लोकों से प्रकट होता है। वहाँ पर "मुखनिर्मालिकादेवी अर्चितव्या प्रयत्नतः" यह पाठ है। तदनन्तर ज्येष्ठ स्थान में ज्येष्ठागौरी का पूजन करके, अविमुक्तेश्वर के उत्तर सदागौरी की अर्चना करके तदुपरान्त संवर्त्तललिता का दर्शन करना, इत्यादि। 'काशी का इतिहास' के वर्णन में सदागौरी का उल्लेख ही नहीं है और ज्येष्ठागौरी तथा ललिता दोनों ही ज्येष्ठ स्थान में कही गई हैं, जो ठीक नहीं हैं। संवर्त्तललिता या तो मंगलागौरी हैं अन्यथा ललिताघाट की ललिता देवी।

(ब) प्राचीन निबन्धकारों के भ्रम :—'त्रिस्थलीसेतु' (सन् १५८० ई०) तथा वीरमित्रोदय के 'तीर्थप्रकाश' (सन् १६२० ई०) नामक निबन्धों के समय भी कुछ भ्रम उत्पन्न हो चुके थे। उनका निवारण भी आवश्यक हैं:—

(क) पिशंगिलातीर्थ—त्रिस्थलीसेतु में खखोल्कादित्य के स्थान का उल्लेख करते हुए कहा गया है कि **पैशंगिले पिलिप्पिलातीर्थे** (पृ० १९७) यह ठीक नहीं हैं। काशीखण्ड के अनुसार पिशंगिलातीर्थ पिलिप्पिलातीर्थ के ठीक उत्तर-पूर्व में है। दोनों एक नहीं हैं। (काशीखण्ड ८४।३९–४२)

(ख) तृतीया के दिन की यात्राओं का वर्णन करते हुए मुखनिर्मालिका गौरी को मुखप्रेक्षणिका बतलाया गया है। वहाँ लिखा है: **मुखनिर्मालिकां मुखप्रेक्षणिकाम्** (त्रि० से०, पृ० २२२)। संभवतः त्रिस्थलीसेतु के ही प्रमाण पर वीरमित्रोदय के 'तीर्थप्रकाश' में भी यही बात कही गई है (वी० मि०, ती० प्र०, पृ० २८३)। मुखनिर्मालिका का स्थान गोप्रेक्षेश्वर के समीप था और मुखप्रेक्षणिका गभस्तीश्वर के मन्दिर में थीं। मुखनिर्मालिका इस समय गायघाट पर हनुमानजी में हैं। मुखप्रेक्षणिका अपने पुराने स्थान पर ही हैं।

(ग) भद्रदोह (कृ० क० त०) अथवा भद्रह्लद (का० खण्ड) के सम्बन्ध में भी त्रिस्थलीसेतु के समय ही भ्रम उत्पन्न हो चुका था। इससे इतना तो प्रमाणित ही है कि सोलहवीं शताब्दी के पूर्व ही भद्रदोह लुप्त या परित्यक्त हो चुका था। यहाँ तक कि उसका ठीक स्थान भी लोग भूल गये थे। त्रिस्थलीसेतु में भद्रह्लद की यात्रा का विवेचन करते हुए लिखा है कि भद्रह्लदं कपिलाधारातीर्थमेवेति केचित् (त्रि०से०, पृ० २५५)। परन्तु ये दोनों तीर्थ एक नहीं हैं जैसा कृत्यकल्पतरु में उद्धृत लिङ्गपुराण तथा स्कन्दपुराण के

वाक्यों से स्पष्ट है। कपिलाह्रद के सम्बन्ध में स्कन्दपुराण का वाक्य है :

ततस्ता दह्यमानास्तु प्रसवैः सुरभीरपि ।
ह्रदेस्मिन् पेतुरभ्येत्य शान्तास्तोयं पपुस्तदा ।।
कपिलाह्रद इत्येवं ततः प्रभृति कथ्यते । (स्कन्दपुराण,कृ० क०त०,पृ० १३०-१३१)

अर्थात् इस प्रकार दग्ध गौएँ तथा उनके बछड़े इस प्रकार शान्त हुए और उन्होंने उस ह्रद में जल पिया। तभी से इसका नाम कपिलाह्रद हुआ।

इसके आगे भद्रदोह या भद्रह्रद के सम्बन्ध में कहा गया है :

अस्मिन्नपि प्रदेशे तु ता गावो ब्रह्मणा स्वयम् ।
शान्त्यर्थं सर्वलोकानां सर्वा दुग्धाः पयोऽमृतम् ।।
तासां क्षीरेण सञ्जातं ह्रदमेतन्मनोहरम् ।
भद्रदोहमिति ख्यातं पुण्यं देव ह्रदं शुभम् ।। (स्क०पु०,कृ०क०त०,पृ०१३१

अर्थात् यहाँ पर सब लोगों की शान्ति के लिए ब्रह्मा ने स्वयं उन गौओं को दुहा, जिससे यह ह्रद उनके दूध से भर गया। तबसे इसका नाम भद्रदोह हुआ।

कृत्यकल्पतरु में अन्यत्र भद्रदोह के स्थान-निर्देश में कहा गया है कि—

(आशिवनीयेश्वरस्य) तस्यैवोत्तर पार्श्वेतु भद्रदोहमिति स्मृतम् ।
गवां क्षीरेण सञ्जातम् सर्वपातकनाशनम् ।।
ह्रदस्य पश्चिमे तीरे भद्रेश्वरमिति स्थितम् । (लिं०पु०,कृ०क०त०,पृ०५२)

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि कपिलाह्रद वर्तमान कपिलधारा है और भद्रदोह या भद्रह्रद भद्रेश्वर के समीप के ह्रद का नाम है, जो भदऊँ महल्ले में था और सोलहवीं शताब्दी के बहुत पहले से लुप्त अथवा परित्यक्त था। भद्रेश्वर के स्थान पर भदऊँ की मस्जिद है— ऐसी किंवदन्ती है।

नवाँ अध्याय

तीर्थों का स्थानान्तरण

पिछले अध्यायों में प्रसंगवश यह बात बारम्बार कही जा चुकी है कि मुसलमानों के राज्य-काल में काशी के मन्दिरों के कई बार टूटने के फलस्वरूप बहुत-से मन्दिरों तथा तीर्थों को अपने प्राचीन स्थान से हटना पड़ा। यह स्थान-परिवर्त्तन इतना व्यापक रहा है कि उसका गम्भीर अध्ययन आवश्यक है और इस अध्याय में इसी का प्रयत्न किया गया है। कौन-कौन-से देव-मन्दिर अथवा तीर्थ अपने स्थान से हटकर अन्यत्र स्थापित हुए, इसके विवेचन के बिना बहुत-सी बातें समझ में नहीं आतीं; क्योंकि परिस्थितियों के बदलने पर जो नई परम्पराएँ चल पड़ीं, उनके आदिकारण नहीं जान पड़ते।

बहुत-से तीर्थों तथा देवमन्दिरों का सन् ११९४ ई० के पहले का स्थान-निर्देश लक्ष्मी-धर के कृत्यकल्पतरु के तीर्थविवेचन-काण्ड में उद्धृत प्रमाणों से मिल जाता है। परन्तु जैसा पहले कहा जा चुका है, वहाँ केवल सिद्धपीठों का ही उल्लेख है। इतना ही नहीं, बहुत-से सिद्धपीठ भी वहाँ छूट गये हैं, जैसा हम पिछले अध्याय में दिखला चुके हैं। अब प्रश्न यह है कि इन सिद्धपीठों के अतिरिक्त जो सैकड़ों अन्य पीठ काशीखण्ड में बताये गये हैं वे अपने आदिम स्थान पर ही हैं अथवा अन्यत्र स्थानान्तरित हो गये हैं, इसका निर्णय किस प्रकार किया जाय।

इसकी खोज के लिए सामग्री सीमित है। काशीखण्ड का जो वर्त्तमान स्वरूप है, वह सुल्तान-काल में टूटे हुए मन्दिरों के पुनर्निर्माण के बाद का वर्णन करता है और जैसा हम पहले देख चुके हैं, सन् १४४० ई० में इस ग्रन्थ का तैलंग भाषा में अनुवाद हो जाने से यह मानना पड़ता है कि उस समय तक इसकी प्रामाणिकता प्रायः सर्वस्वीकृत हो चुकी थी। इस आधार पर यह भी कहा जा सकता है कि काशीखण्ड अपने वर्त्तमान स्वरूप में चौदहवीं शताब्दी के मध्य भाग में अथवा उसके शीघ्र ही बाद संकलित हुआ। तात्पर्य यह हुआ कि अलाउद्दीन खिलजी के राज्यकाल में जो तोड़-फोड़ हुई, उसके बाद से पुनर्निर्माण होने पर जो तीर्थों तथा मन्दिरों की स्थिति हुई, उसका परिचय हमको उस ग्रन्थ से मिल सकता है, परन्तु इसके बाद भी फिरोज तुगलक, जौनपुर के शरकी बादशाहों तथा सिकन्दर लोदी के शासनकाल में वाराणसी के देव-मन्दिरों की बड़ी दुर्दशा हुई। जो नई परिस्थितियाँ इस कारण उत्पन्न हुईं, उनकी खोज हमको काशीरहस्य, पद्मपुराण, तीर्थचिंतामणि (सन् १४६० ई०), त्रिस्थलीसेतु (सन् १५८० ई०) तथा तीर्थप्रकाश (सन् १६२० ई०) में करनी पड़ेगी। और, अन्ततोगत्वा औरंगजेब की धार्मिक संकीर्णता के परिणाम-स्वरूप मन्दिरों की जो तोड़-फोड़ हुई, उसके प्रभाव का अनुमान लौकिक अनुश्रुतियों तथा तत्कालीन ऐति-हासिक तथ्यों एवं साहित्यिक सामग्री के आधार पर करना पड़ेगा। औरंगजेब की मृत्यु

के बाद के परिवर्त्तन निर्माणोन्मुख ही रहे हैं और इस कारण उनका संकलन उतना कठिन नहीं है।

इस प्रकार हमारे शोध का आधार कृत्यकल्पतरु का तीर्थविवेचनकाण्ड, काशीखण्ड, वाचस्पति मिश्र का तीर्थचिन्तामणि, भट्टनारायण का त्रिस्थलीसेतु, मित्र मिश्र का तीर्थ-प्रकाश तथा सत्रहवीं शताब्दी-सम्बन्धी ऐतिहासिक तथा साहित्यिक सामग्री होती है। इनमें से काशीखण्ड के अतिरिक्त अन्य सभी प्रमाणों का काल-निर्देश असंदिग्ध है। केवल काशीखण्ड की ही समय-सारणी निर्धारित करनी है।

काशीखण्ड को आद्योपान्त ध्यानपूर्वक पढ़ने से यह स्पष्टरूपेण समझ पड़ता है कि उसमें वर्णन की हुई सभी बातें एक समय की नहीं हैं। उदाहरण के लिए ६१वें अध्याय में कालभैरव का स्थाननिर्देश वही है, जो कृत्यकल्पतरु के आधार पर स्थिर होता है, परन्तु ६७वें अध्याय में उनके वर्त्तमान स्थान का संकेत मिलता है। इसी प्रकार तीर्थों का वर्णन करते हुए ६१वें अध्याय में गंगाकेशव-तीर्थ के प्राचीन स्थान का वर्णन है और वर्त्तमान स्थान का दूसरी जगह (७० वें अध्याय में)। इसके अतिरिक्त ९७वें अध्याय का कृत्य-कल्पतरु के तीर्थविवेचनकाण्ड से मिलान करने पर यह स्पष्ट देख पड़ता है कि ये दोनों बहुधा एक ही समय के स्थान-निर्देश करते हैं, यद्यपि यत्र-तत्र उसमें काशीखण्ड के समय की परिस्थिति का दिग्दर्शन भी हो जाता है। इस प्रकार प्रयत्न करने पर काशीखण्ड से भी बहुत-कुछ तुलनात्मक सामग्री मिल सकती है।

१. कालभैरव का प्राचीन स्थान : कपालमोचन के पश्चिम-तट पर :

कपालमोचनं तीर्थं पुरस्कृत्वा तु भैरवः।
तत्रैव तस्थौ भक्तानां भक्षयन्नघ सन्ततिम् ॥
पापभक्षणमासाद्य कृत्वा पापशतान्यपि।
कुतो बिभेति पापेभ्यः कालभैरवसेवकः ॥
आमर्दयति पापानि दुष्टानां च मनोरथान्।
आमर्दक इति ख्यातस्ततोऽसौ कालभैरवः ॥ (का० खं०, ३१।३८–४०)

२. कालभैरव का वर्त्तमान स्थान : रत्नेश्वर के दक्षिण :

शैलराजेन रत्नानि यानि पुंजीकृतान्यहो।
उत्तरे कालराजस्य तानि तस्य गिरेर्वृषात् ॥
सर्वरत्नमयं लिङ्गं जातं तत्सुकृतात्मनः। (का० खं०, ६७।५६)

३. गंगाकेशव का प्राचीन स्थान : अगस्त्यतीर्थ के दक्षिण :

दक्षिणेऽगस्त्यतीर्थाच्च तीर्थमस्त्यतिपावनम् ।
गङ्गाकेशवसंज्ञं च सर्वपातकनाशनम् ॥
तत्र मे शुभदां मूर्त्तिं मुने तत्तीर्थसंज्ञिकाम्। (का० खं०, ६१–१८०)

४. गंगाकेशव का वर्त्तमान स्थान : ललिता-घाट पर :

ततोऽन्यललितातीर्थं गङ्गाकेशवसन्निधौ।
तत्रास्ति ललितादेवी क्षेत्ररक्षाकरी परा ॥ (का० खं०, ७०।१८)

इन्हीं आधारशिलाओं पर हम इस विषय के अनुसन्धान को स्थापित कर रहे हैं। सभी बातें पूर्णतया सिद्ध हो सकेंगी, इसमें बहुत बड़ा सन्देह है, परन्तु यह आशा अवश्य की जा सकती है कि इन अन्वेषणों के निष्कर्षों पर विद्वान् लोग गम्भीरतापूर्वक विचार करेंगे और हमारे नवयुवक अन्वेषक इनकी पुष्टि अथवा निराकरण करने को प्रोत्साहित होंगे।

नगर के महल्लों की वर्त्तमान स्थिति देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि सन् ११९४ ई० में राजघाट के किले के पतन के बाद उसके समीप बसे हुए महल्लों से वहाँ के निवासियों को हटना पड़ा और वे दक्षिण-पश्चिम की ओर नये महल्ले बसाने को बाध्य हुए। उस समय नगर राजघाट के पश्चिम तथा दक्षिण-पश्चिम में ही बसा हुआ था। मत्स्योदरी (वर्त्तमान मछोदरी) के दक्षिण गायघाट के समीप जो फाटक पाटन-दरवाजे के नाम से प्रसिद्ध हैं, वही तत्कालीन पत्तनद्वार था और उसी के पूर्व, ईशानकोण, उत्तर तथा वायव्यकोण में ही नगर था। वर्त्तमान पक्के मोहाल में तीर्थों तथा देवमन्दिरों के आसपास संभवतः कुछ धर्मप्राण लोग रहते थे, परन्तु इसके उत्तर तथा पश्चिम की ओर प्रायः जंगल ही थे। हाँ, यह हो सकता है कि यत्र-तत्र कुछ छोटे महल्ले उस समय के नगर के समीप रहे हों, जिनमें मुसलमान लोग रहते थे। इन मुसलमानों के पूर्वज सन् १०३४-३५ ई० के आसपास सालार मसऊद गाजी के (जो गाजीमियाँ के नाम से प्रसिद्ध हैं और जिनकी मृत्यु बहराइच के समीप युद्ध में हुई थी) सेनापति मलिक अफजल अलवी के नेतृत्व में इस्लाम-धर्म का प्रसार करने आई हुई सेना के अंग होकर बनारस आये थे, परन्तु तत्कालीन हिन्दू-प्रशासन से परास्त होकर इस सेना का अधिकांश नष्ट हो गया और बचे हुए कुछ लोग सामान्य नागरिकों की तरह यहीं बस गये। आगे चलकर इनमें से कुछ काशिराज के यहाँ नौकर भी हो गये और कालान्तर में सन् ११९४ ई० के पहले ही इनके दो प्रमुख महल्ले भी बन गये थे, जिनमें आज भी प्रायः मुसलमान ही बसते हैं। एक तो मदनपुरा महल्ला, जो महाराज मदनपाल के नाम पर बसा, और दूसरा गोविन्दपुरा, जिसे महाराज गोविन्दचन्द्र के समय में दलेल खाँ नामक एक मुसलमान ने बसाया। इनके अतिरिक्त इधर-उधर कुछ और छोटे-मोटे महल्ले भी रहे होंगे। सन् ११९४ ई० के बाद से जब कुतुबुद्दीन ऐबक की सेना ने बनारस को जीत लिया और राजघाट का किला ढाह दिया गया तथा मुसलमानों की राजसत्ता बनारस में स्थापित हुई, हिन्दुओं को मुसलमान बनाने की प्रक्रिया उग्र रूप से चल पड़ी और प्राण-रक्षा के लिए हिन्दुओं की बहुत बड़ी संख्या मुसलमान हो गई और निरन्तर होती रही। इन लोगों ने अपने निवास के लिए जंगलों को काटकर नये महल्ले बसाये, जिनके नाम तत्कालीन शासकों अथवा अन्य प्रसिद्ध मुसलमान नेताओं के नाम पर रखे गये, जो अभी भी चल रहे हैं। इनमें से बहुधा महल्ले तो वर्त्तमान नगर के उत्तरी भाग में हैं, परन्तु प्रारम्भ में कुछ महल्ले पक्के महाल के पूर्व भी बसे और तत्कालीन शासकों का निवास-स्थल भी वहीं पर हुआ। मुकीमगंज तथा हाजीदरस महल्ला (हाजी इदरीस महल्ले का अपभ्रंश) इसके उदाहरण हैं।

गंगा के किनारे के ऊँचे कगार तथा गंगातट पर आदिकेशव से लेकर असी-संगम तक देवमन्दिरों तथा तीर्थों की अविच्छिन्न शृंखला थी और उसके उत्तर तथा उत्तर-पश्चिम तथा पश्चिम में वन थे। कुछ देवमन्दिर तथा तीर्थ इन वनों में भी थे, जहाँ कुछ तपस्वी तथा

साधक रहते थे। इन तपस्वियों का वर्णन काशीखण्ड तथा कृत्यकल्पतरु में कहीं-कहीं पर मिलता है। इन वनों में से कुछ वनखण्डों के नाम भी काशीखण्ड में मिलते हैं। उदाहरण के लिए वृद्धकाल-क्षेत्र में दारुवन, मन्दाकिनी (वर्त्तमान मैदागिन) के दक्षिण अशोक-वन, तथा रामापुरा जंगमबाड़ी-क्षेत्र में हरिकेश-वन के नाम स्पष्ट रूप से मिलते हैं। वनों को काटकर नये महल्ले बसाने की प्रक्रिया का नाम बनारसी बोली में 'बनकटी' है और उस सम्बन्ध की बहुत-सी मनोरंजक अनुश्रुतियाँ भी सुनने को मिलती हैं। काशी के महाराष्ट्र-समाज के एक प्रख्यात कुटुम्ब का नाम ही 'बनकटे' पड़ गया। उस समय के विश्वनाथ-मन्दिर (जहाँ अब रजिया की मस्जिद है) के समीप जो वर्त्तमान कुन्दीगर टोला तथा घुंघरानी गली नामक महल्ले हैं, वहाँ उस समय नट, विट, गणिका तथा कुट्टनी लोगों का निवास था और विश्वनाथ-मन्दिर (जो एक टीले पर बना हुआ था) के आसपास व्यापारियों की दुकानें भी थीं, ऐसा प्राचीन साहित्य (**कुट्टनीमतम्**, नवीं शताब्दी ईसवी) से जान पड़ता है।

वाराणसी-क्षेत्र में बहुत-से छोटे-बड़े गड्ढे थे, जिनके किनारे पर मन्दिर थे और ये गड्ढे तीर्थ माने जाते थे तथा इनके अलग-अलग नाम थे। इन तीर्थों के तट पर तपस्थलियाँ भी थीं, जहाँ तपस्वी लोग रहते थे। सन् ११९४ ई० में इन तपस्थलियों में कितने तपस्वी रहते थे, इसका तो कोई पता नहीं है, परन्तु ये स्थान तपस्या के स्थल स्पष्ट रूप से माने जाते थे और शैवागम के विभिन्न सम्प्रदायों के भक्त लोग यहाँ उस समय भी रहते होंगे, इसमें कोई सन्देह करने का कारण नहीं है। काशीखण्ड के चौंसठवें अध्याय में इनके नाम मिलते हैं, जिनका उल्लेख इस पुस्तक के पाँचवें अध्याय में किया जा चुका है।

वाराणसी के उत्तरी भाग में पश्चिम की ओर दारानगर-क्षेत्र के उत्तर बर्करीकुण्ड अथवा उत्तरार्ककुण्ड (वर्त्तमान बकरिया कुण्ड) से लेकर वरणा नदी तक का क्षेत्र मथुरापुरी का प्रतीक माना जाता था और वहाँ वैष्णव-सम्प्रदाय के विशाल मन्दिर थे, जो अभी भी मस्जिदों, दरगाहों आदि के रूप में वर्त्तमान हैं। यहाँ सुन्दर देवमूर्त्तियाँ विराजमान थीं, जिनका अब अस्तित्व नहीं रह गया, परन्तु उनमें से एक, बकरिया कुण्ड से प्राप्त, गोवर्धन-धारी कृष्ण की गुप्तकालीन विशाल मूर्त्ति काशी-कलाभवन में सुरक्षित हैं, जिससे इन देव-स्थानों के सौन्दर्य का अनुमान किया जा सकता है। मत्स्योदरी (मछोदरी) के उत्तर एक तपस्थली थी तथा वहाँ पर ओंकारेश्वर का प्रसिद्ध मन्दिर था, जिसके आसपास पचासों देवमन्दिर तथा शिवलिंग थे। यहाँ पर कई तीर्थ भी थे, जिनमें से कई प्रिंसेप के नक्शे में भी दिखाये गये हैं, परन्तु अब उनमें से प्रायः सभी पट गये और वहाँ मकान बन गये। इन मन्दिरों का भी अब अस्तित्व नहीं रह गया—केवल ओंकारेश्वर के समीप दो अन्य मन्दिर तत्सम्बन्धी पंचोकार तथा पंचायतन में से बच गये हैं। कपालमोचन-तीर्थ पर रानी भवानी ने घाट बँधवाया था। उसमें भी अब पानी नहीं है और आधे से अधिक तालाब मिट्टी-कूड़े से पट गया है। घाट भी सब टूट गये हैं और आसपास के रहनेवाले उसके पत्थरों से मकान बनवाते हैं।

मन्दाकिनी के उत्तर तथा उत्तर-पश्चिम में भी बहुत-से देवमन्दिर तथा तीर्थ थे, वृद्धकाल के आसपास भी बहुत-से शिवालय थे तथा नागकुआँ के आसपास भी कई तीर्थ तथा

देवायतन थे। इन सबकी कथा आगे कही जायगी—यहाँ इतना ही कहना है कि उनमें से इने-गिने ही अब बचे हैं। इस क्षेत्र में भी कई तपस्थलियाँ थीं, जो अब लुप्त हो गईं।

वाराणसी के तीर्थों तथा देवालयों के विनाश का पर्यालोचन करने पर यह बात निर्विवाद रूप से स्थिर होती है कि सन् ११९४ ई० की तोड़-फोड़ के बाद जिन क्षेत्रों में मुसलमानों का निवास होता गया, वहाँ के मन्दिरों का पुनर्निर्माण कठिन होता गया और तीन-चार बार की तोड़-फोड़ के परिणामस्वरूप उनमें से अधिकांश का अस्तित्व ही न रह गया। इनमें से जो अधिक महत्त्वपूर्ण थे, उनकी अन्यत्र स्थापना हुई, परन्तु बहुसंख्यक देवस्थान लुप्त ही हो गये। परिस्थिति के अनुकूल होने पर किन्हीं-किन्हीं प्राचीन देवस्थानों का पुनर्निर्माण औरंगजेब के मरने के बाद हो पाया, परन्तु इसके उदाहरण बहुत थोड़े ही हैं। मुसलमानों के महल्लों के बाहर जो पुराने देवस्थानों के खण्डहर पड़े थे, उनका जीर्णोद्धार महाराज बलवन्त सिंह तथा चेतसिंह के शासन-काल में तथा उसके बाद भी हुआ और अंग्रेजों के शासन-काल में भी यह प्रक्रिया चलती रही। इन्दौर की महारानी अहल्याबाई तथा बंगाल की रानी भवानी का इसमें बहुत बड़ा हाथ था और महाराष्ट्र के बहुत-से अधिनायकों तथा सामन्तों का भी इसमें बड़ा योगदान रहा है।

तीर्थों तथा देवस्थानों के इस पुनर्निर्माण तथा स्थानान्तरण का विस्तृत विवेचन भौगोलिक आधार पर ही सार्थक हो सकेगा और इसी को दृष्टि में रखकर इस विषय का विकास किया जायगा, परन्तु कुछ बड़े देवायतनों की अपनी महत्ता अथवा अन्य ऐतिहासिक कारणों से उनके सम्बन्ध में स्वतंत्र विचार-विमर्श भी आवश्यक प्रतीत होता है।

वरणा-संगम से प्रारम्भ करके दक्षिण-पश्चिम तथा फिर दक्षिण असी-संगम तक निम्नलिखित भौगोलिक खण्ड इस कार्य के लिए सुविधाजनक समझ पड़ते हैं, जिनके आधार पर अब विषय की विवेचना की जायगी।

(क) आदिकेशव से प्रह्लाद-घाट तक।
(ख) प्रह्लाद-घाट से उत्तर वरणा नदी तक।
(ग) प्रह्लाद-घाट से त्रिलोचन-घाट तक तथा उत्तर में मत्स्योदरी (मछोदरी) तक।
(घ) मत्स्योदरी से उत्तर ग्राण्डट्रंक रोड तक।
(ङ) त्रिलोचनघाट से ब्रह्माघाट तक तथा उत्तर में विश्वेश्वरगंज की सड़क तक।
(च) ब्रह्माघाट से अग्नीश्वरघाट तक और पश्चिम में कालभैरव तथा गोपाल-मन्दिर, और उत्तर में विश्वेश्वरगंज की सड़क तक।
(छ) हनुमान-फाटक रोड से पश्चिम ईश्वरगंगी तक तथा उत्तर में वरणा नदी तक, और दक्षिण में विश्वेश्वरगंज तथा संत कबीर मार्ग तक तथा इस क्षेत्र के और पश्चिम सदर बाजार तक।
(ज) सप्तसागर, काशीपुरा, भूतभैरव तथा राजा दरवाजा और हड़हासराय के महल्ले।
(झ) अग्नीश्वरघाट से दशाश्वमेघघाट तक और पश्चिम में सिगरा की सड़क तथा त्रिपुरान्तकेश्वर तक।
(य) दशाश्वमेध से केदारघाट तक और पश्चिम में रामापुरा की सड़क तक का क्षेत्र।
(ट) केदारघाट से असी-संगम तक तथा पश्चिम में कमच्छा तथा बैजनत्था तक का क्षेत्र।

(क) आदिकेशव से प्रह्लाद-घाट तक

सन् ११९४ ई० के पहले यह क्षेत्र सबसे महत्त्वपूर्ण था; क्योंकि यहीं राजभवन थे और यहीं नगर का मुख्य अंश बसा हुआ था। गंगा-तट पर तीर्थों की प्रचुरता भी यहाँ पर ही थी। दैव-दुर्विपाक से सन् ११९४ ई० में यहाँ की दुर्दशा भी वैसी ही घनघोर हुई। कोट ढह गया, राजप्रासाद भूमिसात् हो गये तथा सभी देवमन्दिर धराशायी हुए। नगर-निवासियों को भी अपने घर छोड़कर भागना पड़ा और गढ़वासी टोले से प्रारम्भ होकर अन्य पक्के महल्ले क्रमशः बसते गये। त्रिलोचनघाट से उत्तर-पूर्व के सभी स्थान उजाड़ हो गये।

इस भूखण्ड के जो देवमन्दिर ध्वस्त हुए, उनका पुनर्निर्माण असम्भव समझा गया और इनमें से कुछ की स्थापना अन्यत्र की गई। बहुत-से तीर्थ तथा देवस्थान लुप्त ही हो गये। यहाँ के तीर्थों तथा देवमन्दिरों का संकेत काशीखण्ड के अठावनवें, एकसठवें तथा चौरासीवें अध्यायों में मिलता है। वरणा-संगम से नैऋत्य एवं दक्षिण के क्रम से इनके नाम इस प्रकार हैं :

१. पादोदक-तीर्थ	:	वरणा-संगम पर संगम में।
२. श्वेतद्वीप-तीर्थ	:	आदिकेशव का देवमन्दिर जिस भू-भाग पर है। वहीं ज्ञानकेशव भी।
३. क्षीराब्धि-तीर्थ	:	पादोदक तीर्थ के दक्षिण।
४. शंखतीर्थ	:	वहीं पर।
५. चक्रतीर्थ	:	वहीं पर।
६. गदातीर्थ	:	वहीं पर।
७. पद्मतीर्थ	:	वहीं पर।
८. महालक्ष्मी-तीर्थ	:	तट पर महालक्ष्मी का मन्दिर।
९. गरुड़तीर्थ	:	तट पर तार्क्ष्यकेशव का मन्दिर।
१०. नारद-तीर्थ	:	तट पर नारदकेशव का मन्दिर।
११. प्रह्लाद-तीर्थ	:	तट पर प्रह्लादकेशव का मन्दिर।
१२. अम्बरीष-तीर्थ १३. आदित्यकेशव-तीर्थ	:	वहीं आदित्यकेशव का देवस्थान।

आदित्यकेशव का स्थान-निर्देश स्पष्ट रूप से मिलता है कि वह मूर्त्ति आदिकेशव के पूर्व में थी। इससे यह सिद्ध होता है कि उपर्युक्त तेरह तीर्थ आदिकेशव के पूर्व तथा उत्तर-पूर्व में थे।

"आदित्यकेशवः पूज्यः आदिकेशवपूर्वतः" ; (का० खं०, ५८।५०)

१४. दत्तात्रेयेश्वर-तीर्थ : तट पर आदिगदाधर का मन्दिर।
१५. भार्गव-तीर्थ : तट पर तीर्थ के पश्चिम भृगुकेशव का मन्दिर।
१६. वामन-तीर्थ : तट पर तीर्थ के पश्चिम वामनकेशव की मूर्त्ति।
१७. नरनारायण-तीर्थ : तट पर नरनारायण की मूर्त्ति।
१८. यज्ञवाराह-तीर्थ : तट पर यज्ञवाराह का मन्दिर।
१९. विदारनरसिंह-तीर्थ : तट पर विदारनरसिंह का देवल।
२०. गोपीगोविन्द-तीर्थ : तट पर गोपीगोविन्द की मूर्त्ति।
२१. लक्ष्मी-नृसिंह तीर्थ : तट पर लक्ष्मी-नृसिंह का मन्दिर।
२२. शेषतीर्थ : तट पर शेषमाधव का देवस्थान।
२३. शंखमाधव-तीर्थ : तट पर शंखमाधव की मूर्त्ति।
२४. हयग्रीव-तीर्थ : तट पर हयग्रीवकेशव की मूर्त्ति।

इस अन्तिम तीर्थ के नाम में कुछ प्रमाद जान पड़ता है; क्योंकि अन्यत्र इसी स्थान पर नीलग्रीव-तीर्थ का उल्लेख है।

> हयग्रीवे महातीर्थे मां हयग्रीवकेशवम्। (का० खं०, ६१।२३)
> तदग्रे च हयग्रीवं तीर्थं परमपावनम्। (का० खं०, ५८।६१)
> शङ्खमाधवतीर्थं च तद्याम्यां दिशि चोत्तमम्।
> ततोपि पावनतरं तीर्थं तत्क्षणसिद्धिदम्॥
> नीलग्रीवाख्यमतुलं तत्स्नायी सर्वदा शुचिः। (का० खं०, ८४।२७—२८)

२५. उद्दालक-तीर्थ
२६. सांख्यतीर्थ : समीप में सांख्येश्वर का शिवालय।
२७. स्वर्लीनतीर्थ : समीप में स्वर्लीनेश्वर।

स्वर्लीनेश्वर के स्थान के विषय में कोई बड़ी शंका नहीं है। प्रह्लादेश्वर के समीप इनका स्थान बतलाया गया है और जैसा हम आगे चलकर देखेंगे, वे अब भी प्रायः अपने प्राचीन स्थान पर ही हैं। स्वर्लीनतीर्थ के दक्षिण महिषासुर-तीर्थ है। भैंसासुर रोड का नाम आज भी हमें इस तीर्थ का स्मरण दिलाता है। इसके बाद के तीर्थों के विषय में कोई विवाद नहीं है।

२८. महिषासुर-तीर्थ
२९. बाणतीर्थ : ऊपर बाणेश्वर का मन्दिर।
३०. गोप्रतारेश्वर-तीर्थ : तट पर गोप्रतारेश्वर।
३१. हिरण्यगर्भ-तीर्थ : ऊपर हिरण्यगर्भेश्वर।
३२. प्रणव-तीर्थ : ऊपर प्रणवविनायक का मन्दिर।
३३. पिशंगिला-तीर्थ : ऊपर षडानन का मन्दिर।
३४. पिलिप्पिला-तीर्थ : यह तीर्थ त्रिलोचन-घाट पर गंगाजी में है और अत्यन्त प्रसिद्ध है।
३५. नागेश्वर-तीर्थ : महथाघाट एवं गायघाट के सामने—गायघाट पर नागेश्वर का विशाल शिवलिंग है। महथाघाट पर नागेश्वर तथा नागेश विनायक की मूर्त्ति है।

३६. कर्णादित्य तीर्थ : शीतलाघाट तथा राजमन्दिर के सामने—ऊपर राजमन्दिर में
: कर्णादित्य की मूर्त्ति है। मकान-नं० के० २०।१४७ में।

३७. भैरवतीर्थ : ब्रह्माघाट पर गंगाजी में।

३८. खर्वनृसिंह-तीर्थ : दुर्गाघाट। ऊपर खर्वनृसिंह का मन्दिर।

३९. मार्कण्डेय-तीर्थ : दुर्गाघाट तथा पंचगंगा-घाट के बीच में।

४०. पंचनद-तीर्थ : पंचगंगाघाट: विशेषतः कोनिया घाट। वहीं मढ़ी में शेषशायी की मूर्त्ति है।

इस प्रकार आदिकेशव से पंचगंगा घाट तक के तीर्थों का पूर्वापरत्व स्थिर हो जाने के बाद अब हमको आदिकेशव से प्रह्लाद-घाट तक के क्षेत्र के देवमन्दिरों पर ध्यान देना है। पुराणों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि सन् ११९४ ई० के पूर्व यहाँ कौन-कौन-से देवमन्दिर थे।

कृत्यकल्पतरु तथा काशीखण्ड के ९७वें अध्याय में जो सिद्धस्थानों की तालिका दी गई है, उसका प्रारम्भ महादेव से ही होता है और उनके चारों ओर के देवताओं का स्थान-निर्देश उन्हीं को केन्द्र मानकर किया गया है। अतएव इस शिवलिंग का स्थान स्थिर करना आवश्यक है। परन्तु यह कार्य कठिन है। स्पष्ट संकेत के अभाव में अनुमान आधार पर ही यह करना पड़ेगा।

महादेव के उत्तर एक कूप का उल्लेख है तथा पूर्व में गोप्रेक्षेश्वर का। गोप्रेक्षेश्वर के उत्तर में आनुसूयेश्वर तथा उनके पूर्व में गणेश्वर (काशीखण्ड में इनको सिद्धविनायक कहा गया है) और गणेश्वर के पश्चिम हिरण्यकशिपु लिंग तथा हिरण्यकशिपु कूप थे। गोप्रेक्षेश्वर के पूर्व बालकेश्वर तथा विज्वरेश्वर और विज्वरेश्वर के पूर्व वेदेश्वर, जिनके उत्तर में आदिकेशव की मूर्त्ति थी। इस वर्णन से इतना तो स्पष्ट ही हो जाता है कि गोप्रेक्षेश्वर आदिकेशव से बहुत समीप थे। राजघाट के किले में जो प्राचीन कुएँ हैं, उनसे इस खोज में सहायता मिल सकती है। किले के भीतर की सड़क के पास ही दो ऐसे कुएँ हैं, जिनमें से एक के ईशान कोण में राजपुत्र विनायक का मन्दिर है। इन आधारों पर यह कल्पना की जा सकती है कि संभवतः इस कुएँ के नैर्ऋत्य कोण में यहीं पर गोप्रेक्षेश्वर का स्थान था। इस कुएँ के पश्चिमवाला कुआँ उस परिस्थिति में महादेव कूप हो सकता है। आदिकेशव तथा स्वर्लीनेश्वर के बीच दोनों को मिलाकर पन्द्रह तीर्थ हैं, जैसा ऊपर की तालिका में स्पष्ट किया जा चुका है, जिनमें आदिकेशव से गोपीगोविन्द-तीर्थ सातवाँ है। यहाँ के देवताओं की पुनःस्थापना के समय गोपीगोविन्द तथा गोप्रेक्षेश्वर की एक ही मन्दिर में स्थापना से यह समझ पड़ता है कि ये दोनों देवमूर्त्तियाँ पहले भी एक ही स्थान पर थीं। इस प्रकार भी गोप्रेक्षेश्वर का अनुमानित स्थान ठीक ही जान पड़ता है।

गोप्रेक्षेश्वर के समीप निम्नलिखित देवपीठ थे:—

१. आनुसूयेश्वर, २. गणेश्वर, ३. हिरण्यकशिपु लिंग, ४. सिद्धेश्वर किंवा मुण्डासुरेश्वर, ५. वृषभेश्वर, ६. दधीचीश्वर, ७. अत्रीश्वर, ८. मधुकैटभ के दो लिंग, ९. बालकेश्वर, १०. विज्वरेश्वर, ११. वेदेश्वर, १२. आदिकेशव, १३. संगमेश्वर, १४.

प्रयाग लिंग तथा १५. शांकरी देवी (काशीखण्ड में इनका नाम शान्तिकरी गौरी है)। इनमें से वेदेश्वर, आदिकेशव, संगमेश्वर तथा प्रयागलिंग, इस समय भी आदिकेशव-मन्दिर के समीप वर्त्तमान हैं। परन्तु मुसलमानों के राज्यकाल में सैकड़ों वर्षों तक इस स्थान पर कोई देवमूर्त्ति नहीं थी। औरंगजेब के मरने के बाद मुसलमानी राज्य अस्त-व्यस्त होने लगा किंवा और भी पीछे जब महाराज बलवन्त सिंह की सत्ता स्थापित हुई, उस समय ही ये देवमूर्त्तियाँ पुनः स्थापित हुईं। हाँ, इतना सम्भव है कि इनमें से कुछ शिवलिंग वहाँ खण्डहरों में दबे पड़े रहने से ध्वस्त होने से बच गये हों, जो मन्दिर के पुनर्निर्माण के समय मलवे के नीचे से सुरक्षित निकल आए हों। परन्तु मुसलमानों के राज्यकाल में इनमें से कुछ की स्थापना अन्यत्र भी हुई, जो अभी भी अपने नये स्थानों में वर्त्तमान हैं। आदिकेशव के चारों मन्दिर सन् १७६८ ई० में सिंधिया महाराज के दीवान ने बनवाये, ऐसा शेरिंग ने लिखा है।

१. गोप्रेक्षेश्वर की स्थापना लालघाट के ऊपर हुई और इस समय मकान-नं० के० ४।२४ में गौरीशंकर महादेव के नाम से वे प्रसिद्ध हैं। गोपीगोविन्द भी इसी मन्दिर में हैं। वेदेश्वर का चतुर्मुख शिवलिंग भी लालघाट पर स्थापित हुआ, जो अभी चार-पाँच महीने पहले लुप्त हो गया।

२. प्रयागलिंग तथा शांकरी देवी की स्थापना वरणा-तट पर ककरहा घाट के पूर्व हुई। प्रयागलिंग की स्थापना किसी समय दशाश्वमेघ-घाट के समीप प्रयाग-घाट पर भी शूल-टंकेश्वर के समीप हुई, जहाँ वे चतुर्मुख रूप से वर्त्तमान हैं और ब्रह्मेश्वर कहे जाते हैं। प्रिंसेप ने उनका नाम प्रयागेश्वर लिखा है।

'महादेव' के समीप के शिवलिंगों का विवरण इस प्रकार है:—
१. स्कन्देश्वर, २. शाखेश्वर, ३. विशाखेश्वर, ४. नैगमेयेश्वर, ५. बलभद्रेश्वर, ६. नन्दीश्वर, ७. शिलाक्षेश्वर, ८. हिरण्याक्षेश्वर, ९. एक अन्य मुखलिंग, १०. अट्टहासेश्वर, ११. मित्रावरुणेश्वर—दो शिवलिंग, १२. वशिष्ठेश्वर (काशीखण्ड में इनको वृद्धवाशिष्ठ लिंग कहा गया है; क्योंकि उसके पूर्व इनकी स्थापना अन्यत्र हो चुकी थी), १३. अरुन्धतीश्वर, १४. कृष्णेश्वर, १५. याज्ञवल्क्येश्वर, १६. मैत्रेयीश्वर, १७. प्रह्लादेश्वर, १८. स्वर्लीनेश्वर, १९. वैरोचनेश्वर, २०. बलीश्वर, २१. बाणेश्वर, २२. शालक-टंकटेश्वर तथा २३. प्रसन्नवदनेश्वर ।

इनमें से स्कन्देश्वर की पिशंगिला तीर्थ के समीप पुनः स्थापना हुई, जैसा काशीखण्ड में अन्यत्र कहा गया है (का० खं० ८४।३९–४१)। 'महादेव' की प्रतिष्ठा भी हिरण्यगर्भतीर्थ के पश्चिम में हुई, ऐसा वाक्य मिलता है (काशीखण्ड ६९।३१) और वहीं पर यह शिवलिंग आदिमहादेव के नाम से अभी भी वर्त्तमान है। स्कन्देश्वर को अब जनमानस भूल गया है, अतएव उनका वर्त्तमान स्थान अज्ञात है। उस स्थान पर स्कन्द की भी मूर्त्ति थी। महथा-घाट के समीप से प्राप्त जो स्कन्द की गुप्तकालीन मूर्त्ति भारत-कलाभवन में है, वह सम्भवतः इसी मन्दिर की रही होगी। वशिष्ठेश्वर की स्थापना संकठा जी के समीप हुई और अट्टहासेश्वर तथा मित्रावरुणेश्वर उनके ईशानकोण में पुनः स्थापित हुए, यद्यपि इनका

स्पष्ट नामांकन इस समय लोग नहीं कर पा रहे हैं। काशीखण्ड तथा त्रिस्थलीसेतु में उनका उपर्युक्त स्थान-निर्देश मिलता है। अरुन्धतीश्वर संकठा जी के समीप वशिष्ठवामदेव के मन्दिर में हैं। समीप में ही याज्ञवल्क्येश्वर भी कहे जाते हैं। मैत्रेयीश्वर का ठीक पता नहीं लग रहा है, परन्तु कृष्णेश्वर समीप में ही हैं। प्रह्लादेश्वर तथा स्वर्लीनेश्वर सम्भवतः अपने पुराने स्थान पर ही हैं। स्वर्लीनेश्वर का आधुनिक नाम 'नया महादेव' हैं। इससे समझ पड़ता है कि इनकी पुनः स्थापना महाराज बलवन्त सिंह के शासनकाल में हुई अथवा उस समय ये मलवे के नीचे से खोदकर निकाले गये। जिस महल्ले में यह मन्दिर है, उसका नाम भी 'नया महादेव' ही है। विशाखेश्वर, शाखेश्वर, नैगमेयेश्वर, बलभद्रेश्वर, नन्दीश्वर, शिलाक्षेश्वर, हिरण्याक्षेश्वर, मुखलिंग, वैरोचनेश्वर, बलीश्वर, प्रसन्नवदनेश्वर तथा शालकटंकटेश्वर लुप्त ही हो गये। बलराम की प्राचीन मूर्त्ति राजघाट-कोट से मिली है। इससे कुछ संकेत मिलता है कि बलभद्रेश्वर वहीं थे। शालकटंकटेश्वर, अरुन्धतीश्वर तथा मैत्रेयीश्वर के नाम काशीखण्ड की सूची में नहीं हैं। इससे यह भी सम्भव है कि इनकी स्थापना पुनः हुई ही नहीं। बाणेश्वर का स्थान बाणतीर्थ के समीप होना चाहिए, जो महिषासुर-तीर्थ के दक्षिण-पश्चिम प्रह्लाद-घाट के निकट है। बाणेश्वर उसी स्थान पर हैं, ऐसा भी पुराने लोग कहते हैं, जिन्होंने पचास वर्ष पूर्व उनके दर्शन किये थे, परन्तु अब लोग उनका नाम भूल गये हैं।

शिवलिंगों के अतिरिक्त महादेव के समीप वाराणसी देवी की मूर्त्ति थी। किसी समय सम्भवतः इनकी पुनःस्थापना ललिताघाट पर भी हुई थी, जहाँ ये काशीदेवी के नाम से प्रसिद्ध हैं। इनका नाम काशीखण्ड में नहीं है, परन्तु ब्रह्मवैवर्त्तपुराण के काशी-रहस्य में है। अब वह त्रिलोचन महादेव के घेरे में हैं। इसी प्रकार गोप्रेक्षेश्वर के निकट मुखनिर्मालिका गौरी का स्थान था। वे अब गायघाट के ऊपर हनुमानजी में हैं। महालक्ष्मी-तीर्थ के पास महालक्ष्मी की मूर्त्ति थी, वह अब केदारेश्वर के निकट वर्त्तमान है। आदिकेशव के अतिरिक्त विष्णुतीर्थों से सम्बन्धित निम्नांकित १५ विष्णुमूर्त्तियाँ इस क्षेत्र में थीं :

१. तार्क्ष्यकेशव, २. नारदकेशव, ३. प्रह्लादकेशव, ४. आदित्यकेशव, ५. आदिगदाधर, ६. भृगुकेशव, ७. वामनकेशव, ८. नरनारायण, ९. यज्ञवाराह, १०. विदारनरसिंह, ११. गोपीगोविन्द, १२. लक्ष्मीनृसिंह, १३. शेषमाधव, १४. शंखमाधव, १५. हयग्रीव-केशव। इनमें से नारदकेशव तथा प्रह्लादकेशव की मूर्त्तियाँ प्रह्लादघाट के ऊपर के क्षेत्र में अब स्थापित हैं, यद्यपि नारदकेशव की मूर्त्ति अभी कुछ वर्षों पूर्व लुप्त हो गई है। भृगुकेशव गोलाघाट के ऊपर और नरनारायण महथाघाट के ऊपर हैं। वामनकेशव त्रिलोचन के पश्चिम मधुसूदन नाम से प्रसिद्ध हैं। इनकी एक मूर्त्ति इस समय आदिकेशव के पूर्व में भी है। यज्ञवाराह की मूर्त्ति स्वर्लीनेश्वर के समीप है। यह उनका प्राचीन स्थान है। उनकी पुनःस्थापित मूर्त्ति मीर घाट पर हनुमानजी में मीर है। विदारनरसिंह प्रह्लादघाट पर हैं, गोपीगोविन्द लालघाट पर, लक्ष्मीनृसिंह तथा शेषमाधव राजमन्दिर में और शंखमाधव शीतलाघाट पर मढ़ी में हैं। हयग्रीवकेशव का मन्दिर भदैनी महल्ले में है। आदिगदाधर तथा तार्क्ष्यकेशव के वर्त्तमान स्थान का ठीक पता नहीं है।

स्कन्देश्वर के सहारे से कुछ अन्य देवायतनों के स्थानों का पता चलता है, जिनमें मार्कण्डेय-ह्रद तथा मार्कण्डेयेश्वर मुख्य हैं। महादेव तथा स्कन्देश्वर के बीच में मार्कण्डेय-ह्रद तथा उसके पूर्व में मार्कण्डेयेश्वर थे, जिनके उत्तर में कूप (सम्भवतः महादेव-कूप) और कूप के उत्तर एक कुण्ड (सम्भवतः मार्कण्डेय-ह्रद ही), जिसके बीच में कुण्डेश्वर तथा कुण्ड के पश्चिम-तट पर स्कन्देश्वर तथा उनके दक्षिण भद्रेश्वर के शिवलिंग थे। इन भद्रेश्वर का उल्लेख आगे चलकर पुनः किया जायगा।

विनायकों में खर्वविनायक तथा राजपुत्र-विनायक राजघाट किले में और वरद विनायक प्रह्लाद-घाट के पूर्व अपने स्थान पर पुनः वर्त्तमान हैं। केशवादित्य भी आदिकेशव के समीप अपने स्थान पर हैं। अरुणादित्य का स्थान 'महादेव' के उत्तर में था, परन्तु अब वे त्रिलोचन के मन्दिर में हैं। संहारभैरव का पुराना स्थान आदिकेशव के समीप खर्वविनायक के पूर्व में था, परन्तु अब उनकी मूर्त्ति पाटन दरवाजे के समीप है। देवियों में तालजंघेश्वरी संगमेश्वर के दक्षिण में तथा यमदंष्ट्रा उद्दालकेश्वर के दक्षिण में थीं, परन्तु ये अब लुप्त हैं।

(ख) प्रह्लादघाट से उत्तर वरणा नदी तक का क्षेत्र

कृत्यकल्पतरु में कुछ देवस्थानों का उल्लेख इस प्रकार हुआ है कि स्वर्लीनेश्वर के उत्तर से प्रारम्भ होकर उत्तर में उनकी शृंखला वरणा नदी के तट तक पहुँच जाती है। यह क्षेत्र है तो बहुत बड़ा, परन्तु इसमें देवालयों की संख्या उतनी बड़ी नहीं है। ओंकारेश्वर के समीप के देववृन्द का इसमें समावेश नहीं है। इससे ऐसा समझ पड़ता है कि ये सभी देवस्थान ओंकारेश्वर तथा मत्स्योदरी के पूर्व ही थे। इन देवालयों का केन्द्र वहाँ वीरेश्वर (वर्त्तमान आत्मावीरेश्वर) को स्थिर किया गया है। अतएव सबसे पहले वीरेश्वर का स्थान-निर्धारण होना चाहिए। वीरेश्वर का स्पष्ट स्थान-निर्देश कृत्यकल्पतरु में नहीं है, किन्तु काशीखण्ड के ९७वें अध्याय में उनको चन्द्रेश्वर के आग्नेय कोण में बतलाया गया है, परन्तु यह पुनः स्थापना के बाद का स्थान-निर्देश है; जैसाकि अभी स्पष्ट हो जायगा। कृत्यकल्पतरु में लिखा है कि स्वर्लीनेश्वर के उत्तर में मातृपीठ था, जिसमें नियुक्ति नामक राजा की रानी ने अपने पुत्र को धाय के हाथ से मातृकाओं के चरणों में समर्पित किया था।

"स्वर्लीनस्योत्तरे पार्श्वे मातृभ्यश्च समर्पितम्। (कृ० क० त०, पृ० ४९)

बाद में योगपीठ का दर्शन करने के उपरान्त तथा आकाश-स्थित मातृकाओं द्वारा आशीर्वाद पाने पर उस बालक को पुनः मातृपीठ में लाया गया। उसी समय से पञ्चमुद्रा मातृका का नाम-विकटा मातृका हुआ (विपद्भिर्याऽगता यस्माद्विकटा प्रोच्यते बुधैः (कृ० क० त०, पृ० ५१)। काशीखण्ड में भी प्रायः यही बात कही गई है।

पञ्चमुद्रे महापीठे विकटा नाम मातृका।
तदग्रे स्थापयित्वाऽमुम्बालं धात्रेयिके व्रज॥ (का० खं० ८३।२६-२७)

ब्रह्माणी, वैष्णवी, रौद्री, वाराही, नारसिंहिका, कौमारी, माहेन्द्री, चामुण्डा तथा चण्डिका—इन नव मातृकाओं ने शिशु को आशीर्वाद देने के बाद योगिनियों से कहा कि इसको पञ्चमुद्रादेवी के पीठ को ले जाओ।

पुनस्तत्रैव नेतव्यो योगिन्यस्त्वविलम्बितम्।
पञ्चमुद्रा महादेवी तिष्ठते यत्र काम्यदा॥ (का० खं०, ८३।३६-३७)

तदुपरान्त बालक ने तप किया, जिसके परिणामस्वरूप स्वयंम्भू शिवलिंग का प्रादुर्भाव हुआ और उसका नाम वीरेश्वर हुआ। '**बालो वीरत्वमापन्नो मत्प्रसादाद्यशस्विनि**'। (कृ० क० त०, पृ० ५१)

कृत्यकल्पतरु तथा काशीखण्ड के वर्णनों के समन्वय से यह बात सिद्ध होती है कि पञ्चमुद्रा महापीठ में ही यह सब हुआ ("**सम्प्राप्य तन्महापीठं स्वर्गलोकादिहागतः। आनन्द कानने दिव्यं तताप विपुलं तपः।**"—का० खं० ८३।४१-४२) और पञ्चमुद्रा महापीठ, जैसा हम पहले देख चुके हैं, स्वर्लीन के उत्तर पार्श्व में था। स्वर्लीनेश्वर प्रायः अपने प्राचीन स्थान पर ही हैं। इस प्रकार आत्मावीरेश्वर का आदिम स्थान स्वर्लीनेश्वर के उत्तर में होना स्थिर होता है। उनका वर्त्तमान स्थान तो संकठाजी के समीप प्रसिद्ध है ही। विकटामातृका कात्यायिनी के नाम से अब उसी मन्दिर में हैं, परन्तु संभवतः यह स्थापना सबके पीछे हुई। पहले तथा दूसरे विध्वंस के बाद वर्त्तमान संकठा देवी की ही विकटा नाम से स्थापना हुई थी जैसा देवीपीठों के वर्णन में पहले कहा जा चुका है। पद्मपुराण के अनुसार संकठाजी का एक नाम कात्यायिनी भी है और संकठाजी के तथा आत्मा-वीरेश्वर के मन्दिर के बीच में केवल एक गली हो है, दोनों इतने निकट हैं। पन्द्रहवीं शताब्दी में इसी क्षेत्र को पञ्चमुद्रा पीठ कहते थे, ऐसा एकनाथी गीता से स्पष्ट है (एक-नाथी गीता, ३१।५३३)।

वीरेश्वर के वायव्यकोण में सगरेश्वर, उनके ईशानकोण में बालीश्वर, उनके उत्तर में सुग्रीवेश्वर तथा हनुमदीश्वर थे। सगरेश्वर के पश्चिम में आश्विनेयेश्वर, उनके उत्तर में भद्रदोह नामक ह्रद तथा उसके पश्चिम तीर पर भद्रेश्वर तथा उनके नैर्ऋत्यकोण में उप-शान्तशिव। उपशान्तशिव के उत्तर में चक्रेश्वर तथा चक्रह्रद, उनके पश्चिम में शूलेश्वर तथा शूलेश्वर-ह्रद तथा इनके पूर्व में नारदेश्वर और नारद-कुण्ड। नारदेश्वर के पूर्व में धर्मेश्वर तथा धर्मेश्वर-कुण्ड और उसके वायव्यकोण में विनायक तथा विनायक-कुण्ड, जिनसे संलग्न उत्तर की ओर अमरक ह्रद तथा अमरकेश्वर थे। अमरकेश्वर से निकट ही वरणा-तट पर वरणेश्वर, उनके पश्चिम शैलेश्वर और उनके दक्षिण कोटीश्वर तथा कोटितीर्थ थे। वहीं पर श्मशानवासिनी भीष्मचण्डी तथा कोटीश्वर के पूर्व ऋषिसंघेश्वर थे। इस प्रकार इन देवायतनों का स्थान-निर्देश कृत्यकल्पतरु में किया गया है।

इनके स्थानों को स्थिर करने में भद्रेश्वर तथा अमरकेश्वर से सहायता मिलती है। भद्रेश्वर के स्थान का विचार करने के समय भाद्र्य नामक महल्ले को भी ध्यान में रखना चाहिए, जिसका वर्त्तमान नाम भदऊँ है और जिसका भाद्र्य नाम महाराज गोविन्दचन्द्र के एक दानपत्र में मिलता है। इस प्रकार भद्रेश्वर भदऊँ में थे, जहाँ पर उनके पूर्व में भद्रदोह नामक ह्रद था। चक्रेश्वर, शैलेश्वर, धर्मेश्वर तथा नारदेश्वर के विषय में कोई स्थिर मत नहीं बन पाता; क्योंकि इनके सम्बन्ध में कोई स्पष्ट सामग्री नहीं है, परन्तु अमर-केश्वर तथा अमरकह्रद का स्थान निश्चित है; क्योंकि अमरक ह्रद अमरैया ताल के नाम से सभी नक्शों में मिलता है और रेल की पटरी के समीप अभी भी है। उसके दक्षिण का विनायक-कुण्ड सन् १८६३ ई० तक तालाब के रूप में था, परन्तु अब लुप्त है।

अमरक ह्रद के उत्तर में वरणेश्वर का शिवलिंग वरणा के तट पर था। शैलेश्वर तो अपने स्थान पर अभी भी हैं, यद्यपि उनकी ख्याति शैलेश्वरी देवी के वहाँ होने के कारण विशेष है; क्योंकि चैत्र तथा आश्विन के नवरात्रों में पहले दिन का पूजन उन्हीं का, शैलपुत्री दुर्गा नाम से होता है। यह स्थान मढियाघाट पर है। कोटीश्वर तथा कोटितीर्थ अपने समय में बहुत ही प्रसिद्ध होने पर भी अब भूले हुए हैं और भीष्मचण्डी का भी यही हाल है। कोटितीर्थ सूख गया है और इस रूप में अभी भी है, परन्तु कोटीश्वर तथा भीष्मचण्डी लुप्त हो गये हैं। ऋषिसंघेश्वर का भी अब पता नहीं रह गया। भीष्मचण्डी के स्थान के सम्बन्ध में पन्द्रहवीं शताब्दी में वाचस्पति मिश्र ने अपने तीर्थचिन्तामणि में लिखा है कि उनका स्थान विश्वेश्वर के वायव्य कोण में तथा वरणा के पूर्व में है। संभवतः यह पुनःस्थापना के बाद की तत्कालीन स्थिति का वर्णन है और सदर बाजार में स्थित चण्डी देवी की ओर संकेत है:

विश्वनाथायतन वायव्ये वरणापूर्वे भीष्मचण्डिकास्ति। (ती० चि०, पृ० ३५२)

काशी के बाहर के शैवक्षेत्रों के प्रतीक शिवलिंगों में से विमलेश्वर का शिवलिंग इसी क्षेत्र में है और नीलकण्ठ नाम से इस समय प्रसिद्ध है।

भद्रेश्वर का आधुनिक स्थान उपशान्तेश्वर के मन्दिर में है तथा नारदेश्वर केदारेश्वर के उत्तर नारदघाट पर हैं। एक भद्रेश्वर लोलार्क के समीप भी हैं। वहीं भद्रविनायक तथा भद्रकाली भी हैं। सगरेश्वर अब संकठाजी के घेरे में हैं। कृत्यकल्पतरु में वर्त्तमान धर्मेश्वर तथा धर्मकूप का नाम नहीं है, यद्यपि उनके निकटवर्त्ती इन्द्रेश्वर का नाम वहाँ मिलता है। संभव है कि कृत्यकल्पतरु के धर्मेश्वर की पुनः स्थापना यहाँ हुई हो और धर्मेश्वर-कुण्ड का प्रतीक धर्मकूप हो, परन्तु इसको मानने के लिए कोई स्पष्ट आधार नहीं मिलता। अतएव यह संभावना भी है कि कृत्यकल्पतरु की दृष्टि में इन धर्मेश्वर का इतना माहात्म्य न रहा हो कि इनका नाम वहाँ गिनाया जाता। जो हो, काशीखण्ड के समय तो धर्मेश्वर तथा धर्मकूप का बड़ा माहात्म्य था। कृत्यकल्पतरु में धर्मेश्वर का कोई ऐसा माहात्म्य नहीं कहा गया है। भद्रेश्वर के स्थान के सम्बन्ध में ईसवी सन् की सोलहवीं शताब्दी में भी सन्देह उत्पन्न हो चुका था; क्योंकि भद्रेश्वर-ह्रद (जिसको कृत्यकल्पतरु में भद्रदोह कहा गया है) के विषय में त्रिस्थलीसेतु में यह संकेत है कि कुछ लोग इसको कपिलधारा समझते हैं (भद्रह्रदः कपिलधारा तीर्थमेवेति केचित्—त्रि० से०, पृ० २५५) चक्रेश्वर तथा शूलेश्वर को लुप्त ही मानना पड़ता है। हनुमदीश्वर अब हनुमान-घाट पर हैं और आश्विनेयेश्वर गंगामहल-घाट पर मकान-नं० सी० के० २।२६ में। काशीखण्ड में भी उनका स्थान 'गङ्गायाःपश्चिमेतटे' ऐसा ही कहा गया है। इस प्रकार उपशान्तेश्वर, भद्रेश्वर, आश्विनेयेश्वर तथा सगरेश्वर इस समय भी आत्मावीरेश्वर के निकट ही वर्त्तमान हैं और यही स्थिति चन्द्रेश्वर तथा विघ्नेश्वर की भी है। सुग्रीवेश्वर तथा वालीश्वर से सम्बद्ध वालि तथा सुग्रीव की प्राचीन मूर्त्तियाँ ओंकारेश्वर के मकारेश्वर मन्दिर में हैं। वहाँ दो शिवलिंग भी हैं, परन्तु उनके नाम कोई नहीं जानता। इसलिए सुग्रीवेश्वर तथा वालीश्वर को भी लुप्त ही मानना पड़ता है।

कोटीश्वर की दो बार पुनःस्थापना हुई—एक बार त्रिलोचन-मन्दिर में और दूसरी

वार साक्षी विनायक के समीप। इस समय दोनों ही वर्त्तमान हैं, परन्तु उनके पूजन का माहात्म्य भूला जा चुका है।

यहाँ पर अग्नीश्वर का उल्लेख भी आवश्यक है। इनका स्थान-निर्देश काशीखण्ड में वीरेश्वर के पूर्व और गंगा के पश्चिम-तट पर किया गया है। स्वर्लीनक्षेत्र में वीरेश्वर का स्थान ठीक किस जगह पर था, यह अभी निश्चित नहीं हो सका है, परन्तु अग्नीश्वर वहाँ अभी भी अपने स्थान पर वर्त्तमान हैं (मकान-नं० ए० १२।२ से लगे हुए)। इस आधार पर वीरेश्वर का स्थान स्थिर करने का प्रयत्न होना चाहिए। आशा है, कोई यत्नशील अनुसन्धायक यह कार्य करेंगे। कृत्यकल्पतरु में अग्नीश्वर कामेश्वर के नैर्ऋत्य कोण में कहे गये हैं। स्वर्लीनक्षेत्र के अग्नीश्वर पुनः स्थापित थे, यह इससे स्पष्ट ही है। वर्त्तमान अग्नीश्वर वर्त्तमान वीरेश्वर से प्रायः उत्तर में हैं।

(ग) प्रह्लादघाट से त्रिलोचन-घाट तक तथा मत्स्योदरी (मछोदरी) तक का क्षेत्र

भौगोलिक दृष्टि से छोटा होते हुए भी यह क्षेत्र महत्त्वपूर्ण है; क्योंकि सन् ११९४ ई० के बाद जो मुसलमान शासक बनारस में रहे, उन्होंने इसी क्षेत्र में अपना निवास-स्थान बनाया। इसका परिणाम यह हुआ कि इस स्थान के बहुत-से देवस्थान लुप्त हो गये और कुछ की अन्यत्र स्थापना करनी पड़ी।

कामेश्वर महादेव को ही केन्द्र मानकर कृत्यकल्पतरु तथा काशीखण्ड इस क्षेत्र के देवताओं का स्थान-निर्देश करते हैं और सौभाग्य से उनका स्थान सुनिश्चित है। इससे औरों का स्थान-निर्धारण सुगम हो जाता है।

प्रह्लादघाट के समीप ही पूर्व में महिषासुर-तीर्थ का स्थान प्रायः निश्चित है और उसके बाद दक्षिण की ओर बाणतीर्थ, गोप्रतारतीर्थ, हिरण्यगर्भतीर्थ, प्रणवतीर्थ, पिशंगिलातीर्थ तथा पिलिप्पिलातीर्थ क्रमशः पड़ते हैं। पिलिप्पिलातीर्थ का स्थान त्रिलोचनघाट पर निश्चित है। अतएव प्रह्लादघाट तथा त्रिलोचनघाट के बीच के स्थान में पाँच तीर्थ हैं, जिनका स्थान अनुमान से स्थिर किया जा सकता है। मोदकप्रिय विनायक का स्थान वीरमित्रोदय के अनुसार पिशंगिलातीर्थे गंगातीरे था (वी० मि० तीर्थप्रकाश, पृ० २१०)। वे प्रायः अपने ही स्थान पर आदिमहादेव के वर्त्तमान मन्दिर में हैं। इससे पिशंगिलातीर्थ का स्थान प्रायः निश्चित हो जाता है। त्रिस्थलीसेतु ने पिशंगिला तथा पिलिप्पिलातीर्थ को एक ही माना है, परन्तु यह उसका भ्रम है। ये तीर्थ स्पष्ट रूप से अलग-अलग कहे गये हैं। पिशंगिलातीर्थ के पूर्वोत्तर में प्रणवतीर्थ तथा तदुपरान्त हिरण्यगर्भ तीर्थ पड़ते हैं और बाद में गोप्रतारतीर्थ तथा बाणतीर्थ। प्रिंसेप के नक्शे में प्रह्लादघाट के समीप पश्चिम-दक्षिण की ओर एक घाट का नाम फटेश्वर या फूटेश्वर घाट दिया है, जो अब नया घाट कहलाता है। यह सम्भवतः गोप्रतारेश्वरतीर्थ से सम्बन्ध रखता है। प्रह्लादघाट स्वयं प्रायः बाणतीर्थ के सामने है। गोलाघाट हिरण्यगर्भतीर्थ है और गोलाघाट की मस्जिद संभवतः हिरण्यगर्भ के मन्दिर के स्थान पर है। परन्तु इन सभी तीर्थों का स्पष्ट सीमांकन हमारे वर्त्तमान कार्य के लिए अनावश्यक है।

स्वर्लीनेश्वर के समीप के देवालयों का वर्णन करते हुए हम बाणेश्वर का स्थान-निर्देश कर चुके हैं। कृत्यकल्पतरु के अनुसार उनसे थोड़ी ही दूर पर हिरण्यगर्भेश्वर का स्थान था और उन्हीं के समीप मोक्षेश्वर और स्वर्गेश्वर तथा उनके उत्तर में वासुकीश्वर एवं वासुकीश्वर के पूर्व में वासुकितीर्थ थे। वासुकितीर्थ के समीप ही चन्द्रेश्वर तथा, उनके पूर्व में विद्येश्वर के शिवलिंग थे और उसी क्रम में निकट ही वीरेश्वर का स्थान था, जैसा हम ऊपर स्थिर कर चुके हैं। गोलाघाट तथा स्वर्लीनेश्वर के बीच में ये सब देवायतन ऊपर कगार पर थे, ऐसा सिद्ध होता है। इनमें से हिरण्यगर्भेश्वर अब त्रिलोचनघाट पर ऊपर मढ़ी में हैं। वहीं प्रणव विनायक हैं। मोक्षेश्वर तथा स्वर्गेश्वर को मोक्षद्वारेश्वर तथा स्वर्गद्वारेश्वर नाम से त्रिस्थलीसेतु ने स्वीकार किया है, ऐसा समझ पड़ता है; क्योंकि वहाँ हरिश्चन्द्रेश्वर से थोड़ी दूर पर उनकी स्थिति मानी गई है और उन दोनों के उत्तर में वासुकीश्वर की। उस समय तक (सन् १५८० ई०) लिङ्गपुराण में इस तात्पर्य का परिवर्त्तन हो चुका था और नीचे लिखे हुए श्लोक कृत्यकल्पतरु में दिये हुए अपने स्थान से हटाये जा चुके थे :

अन्यदायतनं पुण्यं तस्मिन् स्थाने यशस्विनि।
हिरण्यगर्भविख्यातं पुण्यं तस्यापि दर्शनम्॥
मोक्षेश्वर तु तत्रैव स्वर्गेश्वरमतः परम्।
एतौ दृष्ट्वा सुरेशानि स्वर्गं मोक्षं च विन्दति॥
वासुकीश्वरनामानं तयोश्चोत्तरतः शुभम्।
तस्यैव पूर्वखण्डे तु वासुकेस्तीर्थमुत्तमम्॥
तस्यैव च समीपे तु चन्द्रेण स्थापितं शुभम्॥
चन्द्रेश्वरस्य पूर्वेण लिङ्गं विद्येश्वरं शुभम्॥ (कृ०क०त०, पृ० ४८-४९)

(अन्यच्चैव प्रवक्ष्यामि हरिश्चन्द्रेश्वरं शुभम्।)
यत्र सिद्धो महात्मा वै हरिश्चन्द्रो महाबलः॥
पूर्वामुखं तु तल्लिङ्गं स्वर्गलोकप्रदायकम्।
मोक्षेश्वरं च तत्रैव स्वर्गेश्वरमतःपरम्॥
एतौ दृष्ट्वा सुरेशानि स्वर्गमोक्षं च विन्दति।
वासुकीश्वरनामानं तयोश्चोत्तरतः शुभम्॥ (त्रि०से०, पृ० १५६)

इन उद्धरणों के देखने से स्पष्ट है कि 'मोक्षेश्वरंशुभम्' तक की तीन पंक्तियाँ अपने पुराने स्थान से हटाकर हरिश्चन्द्रेश्वर के साथ जोड़ दी गई थीं। यह परिवर्त्तन इन तीर्थों की तत्कालीन स्थिति को सार्थक करने की दृष्टि से हुआ था और वही स्थिति इस समय भी है। संकठाघाट के ऊपर अब हरिश्चन्द्रेश्वर हैं और उनके दक्षिण कुछ दूरी पर स्वर्गद्वारेश्वर तथा मोक्षेश्वर। वासुकीश्वर आत्मावीरेश्वर के समीप हैं।

इस पृष्ठभूमि में अब हम कामेश्वर को केन्द्र मानकर वर्णन किये हुए शिवायतनों के विषय में विचार करेंगे।

कामेश्वर का स्थान कृत्यकल्पतरु में रुद्रवास के दक्षिण बतलाया है और उनके दक्षिण में कामेश्वर-कुण्ड का। यही स्थान-निर्देश काशीखण्ड के ९७वें अध्याय में भी मिलता है। रुद्रवास मत्स्योदरी के उत्तर में था और रुद्रवास-कुण्ड का वर्त्तमान नाम सुग्गी गड़ही है। अब यह पट रही है। इसके दक्षिण में मत्स्योदरी तथा उसके दक्षिण में कामेश्वर का प्राचीन मन्दिर था और अब पुनः है। प्रिंसेप के नक्शे में इसका स्पष्ट अंकन है और शेरिंग की पुस्तक में विस्तृत वर्णन।

कामेश्वर के पूर्व में पंचालकेश्वर (नलकूबर द्वारा स्थापित होने के कारण काशीखण्ड में इनका नाम नलकूबरेश्वर कहा गया है) तथा उनके समीप में एक कूप था। यह कूप प्रिंसेप के नक्शे में दिखलाया गया है और अभी भी वर्त्तमान है। यहाँ पर अघोरेशी नाम का एक देवीपीठ भी था। कृत्यकल्पतरु में 'अघोरेशेति नामतः' यह पाठ है, परन्तु वर्णन देवीपीठ का है :

> तस्मिन् स्थाने स्थिता देवि अघोरेशेति नामतः।
> मानवानां हितार्थाय स्वयम् तत्र व्यवस्थिता॥ (कृ० क० त०, पृ० ६५)

जान पड़ता है कि 'अघोरेशीति' पाठ था, जो विकृत हो गया है। काशीखण्ड में इनका नामोल्लेख नहीं है। इनकी मूर्त्ति भी अभी वर्त्तमान है। कामेश्वर के समीप मकान-नं० ए०, २।२१ के सामने पेड़ के नीचे एक छोटी-सी मढ़ी में दो शिवलिंगों के साथ यह स्थापित है।

पंचालकेश्वर के पूर्व दिवाकरेश्वर तथा निशाकरेश्वर (काशीखण्ड में इनका नाम सूर्याचन्द्रमसेश्वरौ है) और उनके दक्षिण में अन्धकेश्वर थे (काशीखण्ड में अध्वकेश नाम दिया है)। उनके पश्चिम में देवेश्वर का शिवलिंग था, जो कामकुण्ड के दक्षिण में पड़ता था। वहीं पर भीमेश्वर, सिद्धेश्वर (काशीखण्ड में सिद्धीश्वर), गंगेश्वर, यमुनेश्वर, मण्डलेश्वर तथा उर्वशीलिंग थे। महात्माओं द्वारा स्थापित और बहुत-से शिवलिंग भी वह थे। मण्डलेश्वर के समीप शान्तेश्वर तथा वहीं सन्निकट द्रोणेश्वर और उनके वायव्यकोण में वालखिल्येश्वर थे, जो कामकुण्ड के पश्चिम में पड़ते थे। उनके सामने वाल्मीकेश्वर थे और कामकुण्ड के तट पर वनेश्वर थे। वालखिल्येश्वर के दक्षिण में वातेश्वर थे और वहीं पर अग्नीश्वर, भरतेश्वर तथा वरुणेश्वर थे।

सनकेश्वर का स्पष्ट स्थान-निर्देश कृत्यकल्पतरु में नहीं है, परन्तु उनके दक्षिण में धर्मेश्वर थे, ऐसा कहा गया। यदि ये धर्मेश्वर वहीं थे, जिनका उल्लेख 'ख' नामक क्षेत्र में ऊपर हो चुका है तो सनकेश्वर का स्थान उसी क्षेत्र में चला जायगा, परन्तु यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। काशीखण्ड में सनकेश्वर को च्यवनेश्वर के समीप बतलाया गया है।

सनकेश्वर के उत्तर में गरुडेश्वर तथा समीप में सनत्कुमारेश्वर और उनके उत्तर सनन्दनेश्वर थे। इनके दक्षिण आसुरीश्वर (अथवा अवरीश्वर, जिनको काशीखण्ड में आहुतीश्वर कहा गया है) तथा पंचशिखीश्वर और उनके दक्षिण में शनैश्चरेश्वर के शिवलिंग थे। शनैश्चरेश्वर का यह स्थान सोलहवीं शताब्दी के पहले ही लुप्त हो चुका था, जिससे यह अनुमान हो सकता है कि इस स्थान के सभी देवता उसके साथ ही लुप्त हो चुके थे और वहाँ वर्त्तमान देवस्थानों की स्थापना अठारहवीं शताब्दी में पुनः हुई।

काशीखण्ड के ९७वें अध्याय में देवेश्वर, भीष्मेश्वर, गंगेश्वर, यमुनेश्वर, उर्वशीलिंग, शान्तेश्वर, द्रोणेश्वर, बालखिल्येश्वर, वाल्मीकेश्वर, अग्नीश्वर, भरतेश्वर तथा वरुणेश्वर के नाम नहीं दिये गये हैं, परन्तु ७५वें अध्याय में शान्तन्वीश्वर, भीष्मेश्वर, द्रोणेश्वर, बालखिल्येश्वर, वाल्मीकेश्वर तथा यमुनेश्वर का स्थान-निर्देश किया गया है, जो प्रायः ठीक ही समझ पड़ता है। इनके अतिरिक्त वहाँ अश्वत्थामेश्वर का भी नाम है। नर्मदेश्वर त्रिलोचन के समीप में हैं और शान्तन्वीश्वर तथा भीष्मेश्वर त्रिलोचन-घाट पर हैं। सरस्वतीश्वर हिरण्यगर्भ के समीप हैं।

इस वर्णन में त्रिलोचन का नामांकन कृत्यकल्पतरु में नहीं हुआ है। इसका यह कारण हो सकता है कि एक-दो को छोड़कर वाराणसी के बाहर के शैवतीर्थों के प्रतीकात्मक शिवलिंगों का उल्लेख लिङ्गपुराण ने नहीं किया है। जो कुछ भी हो, त्रिलोचन का प्रसिद्ध एवं महत्त्वपूर्ण शिवलिंग भी इसी क्षेत्र में पड़ता है। समीप में ही पादोदक तीर्थ नामक कूप है, जो अब 'पिलपिला का कुआँ' कहलाता है।

उपर्युक्त शिवलिंगों में से दो प्रधान माने गये, ऐसा समझ पड़ता है; क्योंकि कामेश्वर की स्थापना पुनः अन्यत्र की गई (घासीटोले की गली के मोड़ पर मकान-नं० के०, ३०११ में) और पंचालकेश्वर की नलकूबरेश्वर के नाम से समीप में ही (मकान-नं० के०, ३०१६ में)। गंगातीर के त्रिलोचनादि शिवलिंग पुनः अपने ही स्थानों पर प्रतिष्ठित हुए होंगे, परन्तु कामेश्वर के समीप मुसलमानी अधिकारियों का निवास-स्थान था, इसलिए उनकी प्रतिष्ठा अन्यत्र हुई, जैसा ऊपर कहा जा चुका है। अग्नीश्वर की प्रतिष्ठा पहले स्वर्लीनक्षेत्र में हुई—**वीरेश्वरस्य पूर्वेण गङ्गायाः पश्चिमे तटे**। वहाँ वे अब पुनः विद्यमान हैं। बाद में मकान-नं० सी-के, २।३ में संकठाजी के निकट पुनः स्थापना हुई और उनके नाम पर अग्नीश्वर-घाट प्रसिद्ध हुआ।

काशी के बाहर से आए हुए शिवलिंगों में महानादेश्वर (आदिमहादेव के वर्त्तमान घेरे में) तथा महोल्कटेश्वर (कामेश्वर के प्राचीन मन्दिर के घेरे में) अब भी हैं और शिवगणों द्वारा स्थापित पंचाक्षेश्वर तथा सुमुखेश्वर भी समीप में ही अभी भी वर्त्तमान हैं। पंचाक्षेश्वर का नाम इस समय रुद्राक्षेश्वर है। त्र्यक्षेश्वर लुप्त हैं।

इसके उत्तर-पूर्व के क्षेत्रों के जो देवता इस क्षेत्र में अब हैं, उनका नामांकन उन क्षेत्रों के वर्णन के समय किया जा चुका है, अतएव उसकी पुनरावृत्ति अनावश्यक है।

विनायकों में पिचिंडिल विनायक अपने प्राचीन स्थान पर ही प्रह्लादघाट पर हैं और मोदकप्रिय विनायक आदिमहादेव के घेरे में तथा उद्दण्डमुण्डविनायक त्रिलोचन-मन्दिर में वाराणसी देवी के समीप। खखोल्कादित्य पिशंगिलातीर्थ से कुछ हटकर कामेश्वर महादेव के फाटक पर हैं, परन्तु गरुडेश्वर अब देवनाथपुरा में वर्त्तमान हैं। विनतेश्वर तथा गरुडेश्वर का पुराना स्थान खखोल्कादित्य के पास ही था और उनके वर्त्तमान मन्दिर में ये दोनों शिवलिंग अभी भी हैं।

रुद्रकुण्ड के समीप की रुद्रस्थली की पार्वती देवी अब आदिमहादेव के मन्दिर में हैं। वहीं पार्वतीश्वर भी हैं।

(घ) मत्स्योदरी (मछोदरी) से उत्तर ग्रांडट्रंक रोड तक का क्षेत्र

यह क्षेत्र, जिसको संक्षेप में ओंकार-क्षेत्र भी कहा जा सकता है, पुराणकाल में देवायतनों में अत्यन्त समृद्ध था। उनकी संख्या भी बहुत बड़ी थी और उनका माहात्म्य भी बहुत बड़ा था। ओंकारेश्वर स्वयं अमरकंटक से वाराणसी आये थे, परन्तु यहाँ वे विश्वेश्वर तथा केदारेश्वर के समकक्ष होकर आराधित हुए। वाराणसी में दो अन्तर्गृहों का उल्लेख हम यात्रा-प्रकरण में कर चुके हैं। उन्हीं के साथ-साथ ओंकारेश्वर के अन्तर्गृह का उल्लेख भी पुराण-साहित्य में मिलता है, ऐसी किंवदन्ती है; परन्तु तत्सम्बन्धी विस्तार अभी तक देखने में नहीं आया। यह क्षेत्र पूर्णतया मुसलमानों के महल्लों में पड़ गया और इसका परिणाम यह हुआ कि अब केवल तीन या चार मन्दिरों को छोड़कर वहाँ के सभी तीर्थ तथा देवालय लुप्त हो गये हैं। कुछ बड़े-बड़े देवस्थानों की पुनः अन्यत्र स्थापना हुई, परन्तु अधिकांश का लोप ही हो गया।

इस क्षेत्र का वर्णन कृत्यकल्पतरु में कपालमोचन-सरोवर से प्रारम्भ होता है और जैसा इस पुस्तक के चौथे अध्याय में कहा जा चुका है, कम-से-कम डेढ़ सौ वर्षों से अधिक समय से इस तीर्थ की पुनः प्रतिष्ठित स्थान पर ही यात्रा होती है, जो लाटभैरव के समीप है। इस विषय का पूर्ण विवेचन हम चौथे अध्याय में कर चुके हैं, अतएव यहाँ केवल इतना ही कहना पर्याप्त है कि ओंकारेश्वर के टीले से सटा हुआ पश्चिम की ओर का पक्का तालाब, जो अब अत्यन्त दयनीय दशा में है, और जिसमें अब पानी नहीं रहा गया है, जिसका नाम प्रिंसेप के नक्शे में 'रानी भवानी का तालाब' और वैक्स के नक्शे में 'मछोदरी-संगम' दिया गया है, वही यथार्थतः कपालमोचन-तीर्थ है।

इस तीर्थ के तट पर कपालेश्वर का शिवलिंग था और वहीं पर कालभैरव का आदिम स्थान तथा मूर्त्ति थी। कपालमोचन के उत्तर थोड़ी ही दूर पर ऋणमोचन-तीर्थ है, जिसका आधुनिक नाम 'लड्डू गड़हा' है। यहीं पर अंगारककुण्ड भी था, जिसके दक्षिण में अंगारेश्वर, उसके समीप ही उत्तर में विश्वकर्मेश्वर तथा वहीं पर बुधेश्वर के शिवलिंग थे। बुधेश्वर के दक्षिण महामुण्डेश्वर का चतुर्मुख लिंग था और वहीं पर एक पुण्यकूप भी, जिसके समीप महामुण्डा देवी की मूर्त्ति थी। पास में ही खटांगेश्वर थे तथा भुवनेश्वर-कुण्ड के तट पर भुवनेश्वर और उनके दक्षिण में विमलेश्वर तथा विमलकुण्ड थे। विमलेश्वर का परमसिद्ध शिवलिंग था, जिसकी आराधना से त्र्यम्बक पाशुपत को सदेह रुद्रलोक प्राप्त हुआ था। अंगारक कुंड के पश्चिम भृगु ऋषि द्वारा स्थापित महान् शिवायतन था, जिसके दक्षिण में नन्दीशेश्वर का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण शिवलिंग था। यही नन्दीशेश्वर कपिलेश्वर तथा ओंकारेश्वर नाम से प्रख्यात थे। कपिलेश्वर के नीचे एक गुफा थी, जिसका नाम श्रीमुखी गुफा था। ओंकारेश्वर के अंग-स्वरूप तीन शिवलिंग थे—अकार, जिसमें विष्णु का वास था; उसके दक्षिण में उकार, जो ब्रह्मा का रूप था और इसके उत्तर में नन्दीशेश्वर थे। इस प्रकार ओंकार का त्रिभेद-स्वरूप था। सम्भवतः बिन्दु तथा नाद का भी प्रतिनिधित्व किसी रूप में था। इस प्रकार यह पञ्चोंकार कहलाता था, जैसा महाराज गोविन्दचन्द्र के एक दानपत्र में लिखा है। अनेक महात्मा इस लिंग की आराधना से

सिद्धि को प्राप्त हुए थे। प्राचीन काल में मत्स्योदरी का विस्तार ओंकारेश्वर के समीप तक था और यह देवस्थान उसके उत्तर-तट पर स्थित था। ओंकारेश्वर के समीप उत्तर में उद्दालकेश्वर तथा उनके उत्तर में पाराशर्येश्वर, वाष्कलीश्वर तथा भाववृत्तीश्वर थे। उनके पश्चिम में अरुणीश्वर और उनके पश्चिम में योगसिद्धीश्वर और वहीं दक्षिण में कौस्तुभेश्वर, जिनके दक्षिण में सावर्णेश्वर तथा शंकुकर्णीश्वर (काशीखण्ड में इनका नाम है, कृत्यकल्पतरु में नहीं है) थे। श्रीमुखी गुहा के मुख पर अघोरेश्वर थे और उनके उत्तर में अघोरोद कूप। कपिलेश्वर के दक्षिण श्रीकंठलिंग और उसके समीप जाबालीश्वर तथा उनके दक्षिण में ओंकारेश्वर एवं कालिकवृक्षियेश्वर और उनके भी दक्षिण गार्ग्येश्वर का शिवलिंग था। इन्हीं पाँचों शिवलिंगों को पंचायतन अथवा पंचब्रह्म कहा जाता था। पंचायतन के समीप एक पुण्यकूप था, जिसके दक्षिण में रुद्रवास-क्षेत्र था, जहाँ रुद्र नामक शिवलिंग था। रुद्र के उत्तर तथा पंचायतन के दक्षिण एक बहुत बड़ा कुण्ड था, जिसका नाम रुद्रावासकुण्ड था (आधुनिक नाम सुग्गी गड़ही) और इस स्थान में ऋषियों द्वारा स्थापित बहुत-से शिवलिंग थे। रुद्र के नैर्ऋत्य-कोण में महालय था और वहीं पर पार्वतीजी की मूर्त्ति थी तथा समीप में पितृकूप था। यहीं पर वैतरणी नाम की बावली अथवा झील थी। महालय के उत्तर में देवताओं तथा पुण्यात्माओं द्वारा स्थापित बहुत-से शिवलिंग थे। रुद्रकुण्ड के पश्चिम में बृस्पतीश्वर थे और पित्रीश्वर का शिवलिंग पितृकूप के निकट था। इस स्थान पर बृहस्पतीश्वर की आराधना सोलहवीं शताब्दी तक होती थी; क्योंकि त्रिस्थलीसेतु में इसका स्पष्ट उल्लेख है। यद्यपि वहीं इनके नए स्थान का भी वर्णन मिलता है :

(१) **चन्द्रेश्वराद्दक्षिणतो वीरेशान्नैर्ऋते स्थितम्** (ब्र० वै० पु०, त्रि०से०, पृ० १५७)

(२) **बृहस्पतीश्वरं लिङ्गं रुद्रकुण्डाच्च पश्चिमे।**
गुरुपुष्यसमायोगे दृष्ट्वा दिव्यां लभेद्गिराम्।
गुरुपुष्यसमायोगे लिङ्गमेतत्समर्च्य च।
यत्करिष्यति मनुजस्तत्सिद्धि मधियास्यति ।। (त्रि०से०, पृ० २६०)

ये वाक्य किस पुराण के हैं, यह वहाँ नहीं लिखा है, परन्तु इस स्थान की यात्रा उस समय भी होती थी, ऐसा समझ पड़ता है। इससे एक बात और भी जान पड़ती है कि हर बार मन्दिरों की तोड़-फोड़ के बाद कुछ देवस्थान लुप्त हो जाते थे। ब्रह्मवैवर्त्तपुराण में लिखा है : **बृहस्पतीश्वरं लिङ्गं मया गोप्यं कलौ युगे** (त्रि०से०, पृ० १५६)। यह इसी ओर संकेत करता है। गार्ग्येश्वर के समीप दमनेश्वर नामक एक शिवलिंग का नामांकन भी काशीखण्ड में हुआ है।

कपालमोचन के तट पर स्थित कपालेश्वर के दक्षिण में श्रीकुण्ड था। वहीं पर श्रीदेवी (महालक्ष्मी—का० खं०) की मूर्त्ति थी तथा कुण्ड के बीच में कुण्डेश्वरी देवी थीं। कपालेश्वर के दक्षिण तथा श्रीदेवी के उत्तर में महालक्ष्मीश्वर नामक शिवलिंग था। महालक्ष्मी के पश्चिम में दधीचीश्वर, उनके दक्षिण में गायत्रीश्वर तथा उनके भी दक्षिण में सावित्रीश्वर थे। इनके पूर्व में मत्स्योदरी के तट पर सत्पतयेश्वर (काशीखण्ड में इनका नाम सत्यवतीश्वर है) और महालक्ष्मीश्वर के पूर्व में उग्रेश्वर थे, जो कनखल के उग्रेश्वर के काशी में प्रतीक-रूप से थे। इनके दक्षिण में उग्रेश्वर-कुण्ड था, जिसमें स्नान करने से कनखल-स्नान का फल मिलता था।

विवरण : मानचित्र—४ख

१. गोप्रतारेश्वर
२. नारदकेशव (लुप्त)
३. ईशानेश्वर (वर्त्तमान नाम दानेश्वर)
४. मातृपीठ की देवियों की पुनः स्थापना
५. पिचिण्डिल विनायक
६. प्रह्लादकेशव
७ प्रह्लादेश्वर
८. विदार नरसिंह
९. विमलेश्वर (वर्त्तमान नाम नीलकण्ठ)
१०. वरद विनायक
११. स्वर्लीनेश्वर
१२. यज्ञवाराह
१३. शिवदूती
१४. नृसिंह
१५. प्राचीन मातृपीठ के समीप वहाँ की देवियाँ पुनः स्थापित ।
१६. अग्नीश्वर (काशीखण्डोक्त स्थान पर पुनः स्थापना)

मानचित्र सं० ४ ख
काशी स्टेशन मार्ग
गंगा जी
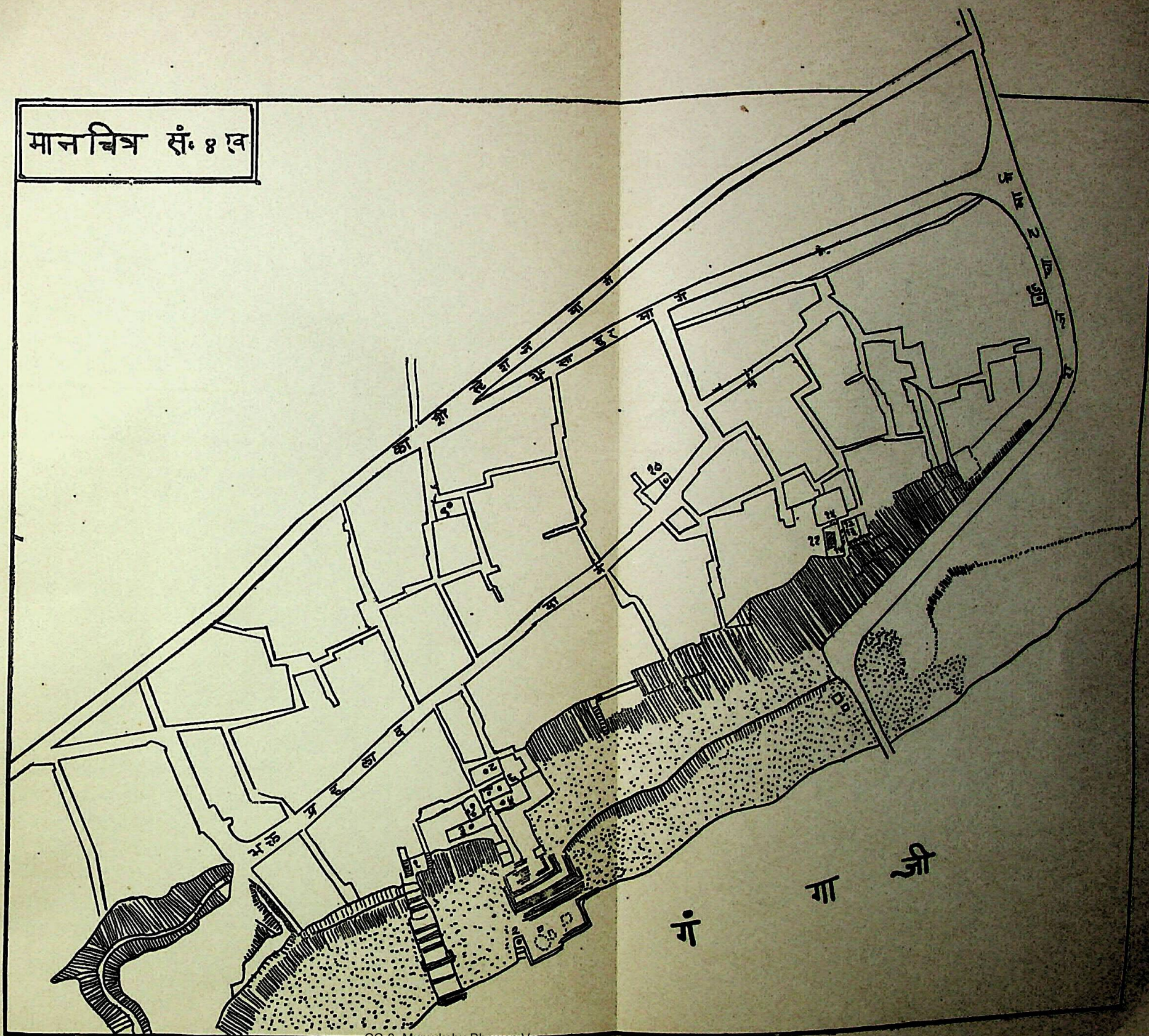
मुसलमानों द्वारा इन मन्दिरों का नाश होने पर इनमें से कुछ देवताओं की अन्यत्र स्थापना हुई, परन्तु वहुधा तीर्थ लुप्त हो गये और इस प्रकार इनकी संख्या निरन्तर घटती गई। यहाँ तक कि अव इस क्षेत्र में केवल तीन शिवालय वचे हैं और उनपर भी लोगों की वक्रदृष्टि आज भी लगी है। अंगारेश्वर नाम के तीन शिवलिंग थे, इससे इस क्षेत्र के अंगारेश्वर की स्थापना पुनः नहीं हुई। यही वात वुधेश्वर के सम्वन्ध में भी हुई। उनका भी एक शिवलिंग संकठाजी के समीप वर्त्तमान था। वृहस्पतीश्वर का शिवलिंग अपने पुराने स्थान पर सोलहवीं शताब्दी तक पुनः स्थापित था, जैसा ऊपर कहा जा चुका है; परन्तु औरंगजेव के समय में टूटने के वाद उसकी वहाँ की स्थिति समाप्त हो गई और आत्मा-वीरेश्वर के मन्दिर के समीप का शिवलिंग ही रह गया। विश्वकर्मेश्वर के भी दो शिव-लिंग थे, इसलिए तत्काल उनकी पुनः स्थापना की आवश्यकता नहीं थी। परन्तु आगे चलकर उनकी स्थापना स्ट्रीथफील्ड रोड पर, मकान-नं० ए ३४।६१ में पुनः हुई। यह स्थापना अठारहवीं शताब्दी में हुई होगी; क्योंकि इसके पूर्व वृहस्पतीश्वर के वर्त्तमान मन्दिर में ही उनकी आराधना होती थी। उद्दालकेश्वर तथा पाराशर्येश्वर की स्थापना लोलार्क के समीप हुई। महामुण्डा देवी की स्थापना तक्षककुण्ड के उत्तर तथा चतुःसमुद्र-वापी के पूर्व हुई, जो कालान्तर में कुछ इधर-उधर हटती-वढ़ती जैतपुरा में वागेश्वरी नाम से पूजी जाती है। महामुण्डेश्वर की पुनः स्थापना का स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता, पर संभावना यही है कि महामुण्डा के साथ-साथ उनकी भी प्रतिष्ठा हुई होगी और वागीश्वरी के समीप महा-मुण्डेश्वर इस समय हैं भी, जो वागीश्वर कहे जाते हैं। शंकुकर्णेश्वर की स्थापना शंकुकर्ण-गण के स्थान पर शंखूधारा में हुई। श्रीकंठलिंग श्रीकुण्ड के समीप से हटकर लक्ष्मीकुण्ड के निकट मण्डविनायक के उत्तर स्थापित हुआ। वहीं समीप में श्रीदेवी भी स्थापित हुईं, जो अव आदिलक्ष्मी कही जाती हैं। रुद्र की पुनःस्थापना त्रिपुरेश्वर के समीप हुई। पार्वती की स्थापना आदिमहादेव के वर्त्तमान मन्दिर में हुई, परन्तु तदुपरान्त फिर भी टूटती-फूटती रही और सवके पीछे प्रायः सौ वर्ष पूर्व गौड़जी के प्रयत्न से वहीं पुनः स्थापित हुईं। दधीचीश्वर की स्थापना केदार-मन्दिर के समीप हुई। विमलकुण्ड नौगि-श्वरी गड़ही नाम से कुछ समय पहले तक था। श्रीकुण्ड सम्भवतः दरसू-गड़हे के नाम से प्रिंसेप के समय तक था, परन्तु इसका प्रमाण नहीं मिलता।

इस क्षेत्र में अव ओंकारेश्वर के तीन मन्दिर तथा विश्वकर्मेश्वर का स्ट्रीथफील्ड रोड पर का मन्दिर, वस केवल इतने ही प्राचीन स्थान वचे हैं। इनके अतिरिक्त और सभी लुप्त हो गए। हनुमान-फाटक पर कालीजी तथा सुमन्तीश्वर एवं सुमन्त्वादित्य के स्थान अभी भी वर्त्तमान हैं। सम्भव है कि ये कालीजी पुरानी महामुण्डा की पुनः स्थापना हों। कपालमोचन सरोवर दयनीय दशा में हैं। न उसमें जल है और न किसी को उसकी कोई चिन्ता है। घाट टूट-फूट गए हैं और उनके पत्थर आसपास के रहनेवाले अपने घरों में लगाने को उखाड़ ले जाते हैं। आस-पासवाले उसमें कूड़ा भी फेंकते रहते हैं। यही स्थिति रही तो पचास वर्ष में वह भी लुप्त हो जायगा।

वैतरणी नामक दीर्घिका लुप्त हो गई, परन्तु लाटभैरव के पूर्व थोड़ी दूर पर एक ह्रद वैतरणी नाम से प्रतिष्ठित हो गया, जिसकी यात्रा भी होती है। उसीके समीप एक और

कुण्ड है, जिसका नाम ऐतरणी हैं, इन दोनों का वर्णन पुराणों में नहीं है, परन्तु धर्मेश्वर-कुण्ड का प्रायः यही स्थान था और इनमें से एक धर्मेश्वर-कुण्ड हो सकता हैं। सम्भवतः यही ऐतरणी है और पास के दूसरे कुण्ड में वैतरणी की प्रतिष्ठा की गई।

(ङ) त्रिलोचनघाट से ब्रह्माघाट तक तथा उत्तर में विश्वेश्वरगंज की सड़क तक का क्षेत्र :

पुराणकाल में इस क्षेत्र में अधिक देवस्थान नहीं थे, परन्तु आधुनिक समय में उत्तर-पूर्व के बहुत-से देवताओं की इस स्थान में स्थापना हुई है, जैसा पहले कहा जा चुका है। पिलिप्पिला-तीर्थ के दक्षिण नागेश्वरतीर्थ और तदनन्तर कर्णादित्यतीर्थ और फिर भैरवतीर्थ हैं। इनमें नागेश्वर-तीर्थ महथाघाट तथा गायघाट के सामने हैं और महथाघाट के ऊपर तथा गायघाट पर ही नागेश्वर का विशाल शिवलिंग है, जो उस क्षेत्र के निरक्षर निवासियों में नागा बाबा के नाम से विख्यात है। कर्णादित्यतीर्थ के ऊपर शीतलाघाट पर शीतला जी का मन्दिर है, जो सम्भवतः पुराणोक्त नारायणी पीठ हैं और राजमन्दिर में कर्णादित्य की मूर्त्ति है। ब्रह्माघाट के सामने भैरव-तीर्थ होना चाहिए। इसमें स्नान करके कालभैरव-दर्शन की पौराणिक परम्परा थी। त्रिस्थलीसेतु में तो स्पष्ट लिखा है कि **गंगास्थे भैरव-तीर्थे स्नात्वा तत्समीपस्थभैरवं पूजयेत्** (त्रिस्थलीसेतु, पृ० २३५)।

> **"ततो भैरवतीर्थं च महाघौघक्षयप्रदम्।**
> **चतुर्वर्गोदयकरं सर्वविघ्ननिवारणम्॥**
> **भौमाष्टम्यां तत्र नरः स्नात्वा संतर्पयेत् पितॄन्।**
> **दृष्ट्वा च भैरवंकालं कलिं कालं च संजयेत्॥ (का० खं०,८४।४६-४७)**

नागेश्वर के प्राचीन मन्दिर के, जो गायघाट अथवा महथाघाट के ऊपर था, टूटने पर नागेश्वर की स्थापना भोंसलाघाट पर मकान-नं० सी० के० १।२१ के पास हुई, जहाँ वह अभी भी है। वहीं पर अब नागेश विनायक भी हैं। कालान्तर में महथाघाट के ऊपर और गायघाट पर, गंगातट पर ही, नागेश्वर की स्थापना हुई, जैसा ऊपर कहा जा चुका है। महथाघाट पर, नागेश विनायक भी हैं। नागेश्वर के प्राचीन मन्दिर में सम्भवतः नागेश्वरी देवी भी थीं। इनका पुराणों में उल्लेख नहीं है, परन्तु गायघाट के ऊपर इनकी बड़ी सुन्दर मध्ययुगीन मूर्त्ति अब भी बच रही है, जो शीतला नाम से पूजी जाती है। नागेश्वर तथा नागेश विनायक के पुराने स्थान को लोग भूल गये हैं। इस कारण इनकी यात्रा भोंसलाघाट के मन्दिर में ही अब होती है।

इस क्षेत्र के अपने इतने ही देवता थे, परन्तु आगे चलकर दूसरे क्षेत्रों के बहुत-से देवता इस क्षेत्र में आ गये। लक्ष्मीनृसिंह तथा शेषमाधव के यहाँ राजमन्दिर में तथा शंखमाधव के शीतलाघाट पर पुनः स्थापित होने का उल्लेख तो हो ही चुका है, किन्तु इनके अतिरिक्त अन्नपूर्णा तथा विश्वनाथ की स्थापना भी यहाँ हुई और कहा जाता है कि बनकटी के पूरे समय तक इनकी आराधना होती रही। समझ पड़ता है कि जब विश्वनाथ जी का पहला मन्दिर सन् ११९४ ई० में टूटा तब उनकी पुनः स्थापना वहाँ असम्भव जानकर चुपचाप यहाँ पर कर ली गई और कालान्तर में अविमुक्तेश्वर के प्रांगण में पुनः स्थापना

हुई। अविमुक्तेश्वर के प्रांगण तक पहुँचने में जंगलों से होकर जाना पड़ता था, इस कारण कभी-कभी जब दस-बीस मनुष्य एकत्र हुए, तो वहाँ विश्वनाथ का पूजन करने जाते थे, अन्यथा राजमन्दिर के विश्वनाथ का ही पूजन होता था, ऐसी किंवदन्ती है, जिसकी सत्यता सत्रहवीं शताब्दी के **बरदराज** की **गीर्वाणमञ्जरी** (१६००–१६५० ई०) से प्रमाणित होती है, जहाँ इन विश्वेश्वर का 'आदिविश्वेश्वर' नाम से उल्लेख है। लालघाट पर गोपी-गोविन्द, गोप्रेक्षेश्वर तथा वेदेश्वर की पुनः स्थापना की बात पहले ही कही जा चुकी है।

कुछ लोगों का कहना है कि धनेसरा के समीप के धनदेश्वर की स्थापना बीबीहटियो में हुई, जो अब धनधान्येश्वर कहे जाते हैं, परन्तु इसमें कितना तथ्य है, नहीं कहा जा सकता। महथाघाट पर नरनारायण की पुनः स्थापना हुई, जो 'बदरी नारायण' नाम से प्रसिद्ध हैं। धनदेश्वर अपने स्थान पर बाबा नरसिंहदास के कक्ष में भी पुनः प्रतिष्ठित हुए। जैसा पहले कहा जा चुका है, पिशंगिलातीर्थ के स्कन्द की गुप्तकालीन (पाँचवीं शताब्दी) मूर्त्ति कुछ दिन हुए महथाघाट के समीप मिली और अब भारत-कला-भवन में रखी है। वामनकेशव भी मधुसूदन नाम से इसी क्षेत्र में अब हैं। संहारभैरव भी राजघाट के किले से यहीं आ गये हैं। बिन्दुमाधव का मन्दिर औरंगजेब द्वारा तोड़े जाने पर उनकी पुनः स्थापना भी बुचई टोले में हुई, जहाँ वे अभी भी हैं।

(च) ब्रह्माघाट से अग्नीश्वरघाट तक, पश्चिम में गोपाल-मंदिर तथा कालभैरव और उत्तर में विश्वेश्वरगंज की सड़क तक का क्षेत्र :

यह क्षेत्र वाराणसी के गंगातट का प्रायः मध्य भाग है और यहाँ बहुत-से देवालयों के होने का वर्णन पुराण-साहित्य में मिलता है।

ब्रह्माघाट के सामने भैरवतीर्थ होने का उल्लेख पहले किया जा चुका है। अब उसके दक्षिण के तीर्थों के सम्बन्ध में विचार होना है। ब्रह्माघाट तथा अग्नीश्वर-घाट के बीच में निम्नलिखित सोलह तीर्थों का नामांकन काशीखण्ड में मिलता है :—

१. भैरवतीर्थ : वर्त्तमान ब्रह्माघाट।

२. खर्वनृसिंहतीर्थ : वर्त्तमान दुर्गाघाट—ऊपर खर्वनृसिंह की मूर्त्ति। अपने स्थान पर विद्यमान।

३. मार्कण्डेयतीर्थ

४. पंचनदतीर्थ : वर्त्तमान पंचगंगा घाट, विशेषतः कोनियाघाट के समीप का स्थान। कोनियाघाट के समीप मढ़ी में शेषशायी की मूर्त्ति है तथा इसी मढ़ी में पहले पंचगंगाघाट के निर्माण का सं० १६३७ का शिलालेख था, जो अब नहीं रह गया। परन्तु, फुहरर ने उसका उल्लेख किया है।

५. ज्ञानह्रदतीर्थ : ऊपर ज्ञानेश्वर का मन्दिर, जो अब लुप्त है।

६. मंगलतीर्थ : ऊपर मंगलागौरी का प्राचीन स्थान।

७. मयूखार्कतीर्थ : ऊपर गभस्तीश्वर तथा मयूखार्क की मूर्त्ति।

८. मखतीर्थ : ऊपर मखेश्वर का शिवालय। लुप्त।

९. बिन्दुतीर्थ	: ऊपर बिन्दुमाधव का प्राचीन मन्दिर, जिसे तोड़कर मस्जिद बनी।
१०. पिप्पलादतीर्थ	: ऊपर पिप्पलादेश्वर का शिवायतन तथा पिप्पल वृक्ष। लुप्त।
११. ताम्रवाराहतीर्थ	: संभवतः घाट के ऊपर ताम्रवाराह की मूर्त्ति थी, जो अब नीलकंठ के समीप है।
१२. कालगंगातीर्थ	: ऊपर कालविनायक। ये अपने स्थान पर अभी भी हैं।
१३. इन्द्रद्युम्नतीर्थ	: ऊपर इन्द्रद्युम्नेश्वर का शिवलिंग।
१४. रामतीर्थ	: वहीं वीररामेश्वर का मन्दिर, रामघाट पर वर्त्तमान।
१५. इक्ष्वाकुतीर्थ	
१६. मरुततीर्थ	: ऊपर मरुतेश्वर का शिवालय। लुप्त।
१७. मैत्रावरुणतीर्थ	: ऊपर मित्रावरुणेश्वर का शिवलिंग। लुप्त।
१८. अग्नितीर्थ	: ऊपर अग्नीश्वर का मंदिर। मकान-नं० सी० के० २।३ में वर्त्तमान।

इनमें से खर्वनृसिंहतीर्थ, मार्कण्डेयतीर्थ तथा पंचनद तीर्थ प्रायः एक में मिल गये हैं। दुर्गाघाट का स्थान तो स्पष्ट जान पड़ता है, परन्तु मार्कण्डेयतीर्थ तथा पंचनदतीर्थ वर्त्तमान समय में पंचगंगाघाट के अन्तर्गत हैं। लक्ष्मणवाला-घाट के सामने मंगलतीर्थ है तथा इसीके समीप मयूखार्कतीर्थ होगा। मखतीर्थ, बिन्दुतीर्थ, पिप्पलादतीर्थ, ताम्रवाराहतीर्थ, कालगंगा-तीर्थ, तथा इन्द्रद्युम्नतीर्थ—इनकी स्थिति इसी क्रम से होगी, परन्तु इनका स्पष्ट नामांकन वर्त्तमान काल में नहीं मिलता। वर्त्तमान मंगलागौरीघाट अपने स्थान से कुछ दक्षिण है; क्योंकि उनकी प्राचीन मूर्त्ति बिन्दुमाधव के घेरे में थी। कालविनायक की मूर्त्ति रामघाट पर अभी भी हैं, जो कालगंगा-तीर्थ की ओर संकेत करती हैं। मखेश्वर, ताम्रवाराह तथा इन्द्रद्युम्नेश्वर के स्थान भी अब स्पष्ट रूप से पहचाने नहीं जाते। पंचगंगा घाट के समीप लक्ष्मणवाला-घाट नया बना हैं। बहुत-से पुराने तीर्थ इसके सामने होंगे। कुछ देवस्थान भी इसी के आसपास अथवा इसी के अन्तर्गत हो सकते हैं। रामतीर्थ का स्थान सुनिश्चित है और वीररामेश्वर-घाट पर ही मढ़ी में वर्त्तमान है। इक्ष्वाकुतीर्थ, मरुततीर्थ तथा मैत्रा-वरुणतीर्थ भी क्रमशः रामघाट के बाद होंगे। इन्हीं तीर्थों के ऊपर श्रीवल्लभराम शालग्राम का रामघाटवाला अस्पताल हैं और गंगातट पर नया तथा सुन्दर घाट भी बना है। इनके बाद अग्नीश्वरघाट है, जो अब नयाघाट कहलाता हैं। घाट के ऊपर थोड़ा हटकर अग्नीश्वर का शिवायतन एक गृहस्थ के घर मे है, जिसका नम्बर सी० के० २।३ है। पिप्पला-देश्वर बिन्दुमाधव के वर्त्तमान मन्दिर के चबूतरे पर थे, परन्तु अब लुप्त हैं।

इस क्षेत्र में प्राचीनकाल में (तथा वर्तमान समय में भी) बहुसंख्य देवालय थे, जिनमें बहुतों के नाम अब भूल गये हैं। कृत्यकल्पतरु में यहाँ के देवालयों का वर्णन गभस्तीश्वर को केन्द्र मानकर किया गया हैं, जिनकी स्थापना सूर्य ने मयूखादित्य-रूप में की थी। ये अपने स्थान से कुछ दक्षिण हटकर पुनः स्थापित हुए हैं। इनके दक्षिण में दधिकर्ण-ह्रद (काशी-खण्ड में दधिकल्पह्रद नाम है, जो सम्भवतः लिपि-प्रमाद के कारण है तथा उत्तर में दधिकर्णकूप और दधिकर्णेश्वर थे। गभस्तीश्वर के दक्षिण-पश्चिम मंगलागौरी की मूर्त्ति थी, जिनका पुराना नाम ललिता था। कृत्यकल्पतरु में भी इनका बड़ा माहात्म्य कहा गया है। इनके समीप ही

मुखप्रेक्षणी देवी की मूर्त्ति थी और उनके दक्षिण में मुखप्रेक्षणेश्वर अथवा वदनप्रेक्षणेश्वर (काशीखण्ड में इनका नाम वदनप्रेक्षणा देवी कहा गया हैं) तथा उत्तर में वृत्रेश्वर तथा त्वाष्ट्रेश्वर के शिवलिंग थे, जिनका भी वड़ा माहात्म्य था। मंगलागौरी के उत्तर चर्चिका की मूर्त्ति थी और उनके सम्मुख रेवतेश्वर अथवा रेवतेश्वर तथा समीप में ही पंचनंदीश्वर (काशीखण्ड में पंचनदेश्वर) थे। मंगलागौरी के पूर्व में मंगलोद कूप था (काशीखण्ड में इसका स्थान मंगलागौरी के पश्चिम कहा गया है, जो सम्भवतः मंगलागौरी के स्थान-परिवर्त्तन की ओर संकेत करता हैं) तथा दक्षिण में उपमन्यु द्वारा स्थापित शिवलिंग (काशीखण्ड में इसका स्थान मंगलागौरी के पश्चिम में कहा गया हैं) और उसके पश्चिम में समीप ही व्याघ्रपादेश्वर थे। गभस्तीश्वर के नैर्ऋत्यकोण में शशांकेश्वर तथा उनके पश्चिम में चित्ररथेश्वर और उनके पश्चिम में जैमिनीश्वर (काशीखण्ड में इनका स्थान रेवतेश्वर के पश्चिम कहा गया है। यह सम्भवतः इनके स्थान-परिवर्त्तन को लक्षित करता हैं।) तथा वहीं पर सुमन्त्वीश्वर के शिवलिंग थे, जो अब हनुमान-फाटक पर हैं। इस स्थान पर वहुत-से ऋषियों द्वारा स्थापित लिंग भी थे, जिनके दक्षिण में वुधेश्वर तथा उनके वायव्यकोण में रावणेश्वर और उनके दक्षिण में वराहेश तथा उनके भी दक्षिण माण्डव्येश और उनके भी दक्षिण गालवेश्वर तथा समीप में पश्चिम ओर अयोगसिद्धीश्वर (काशी-खण्ड में योगेश कहा गया है) तथा प्रचण्डेश्वर थे। इनके दक्षिण में वातेश्वर (काशीखण्ड में इनका नाम धातेश हैं) तथा उनके आगे सोमेश्वर और उनके नैर्ऋत्यकोण में अंगारेश्वर तथा उनके पूर्व में कुक्कुटेश्वर के शिवलिंग थे। त्वाष्ट्रेश्वर का ही विश्वकर्मेश्वर नाम भी था और कालान्तर में वे अंगारेश्वर के उत्तर पुनः स्थापित हुए। अब वे बृहस्पतीश्वर के मन्दिर में हैं। काशीखण्ड में इस स्थान पर वुधेश्वर का नाम नहीं दिया गया है। शिवा-यतनों का ऊपर कहा हुआ क्रम दक्षिण में कहाँ तक पहुँचता है, यह निश्चयात्मक रूप से नहीं कहा जा सकता, परन्तु वुधेश्वर का स्थान त्रिस्थलीसेतु में चन्द्रेश्वर के पूर्व-भाग में लिखा है। इससे यह माना जा सकता हैं कि सुमन्त्वीश्वर के वाद के सभी शिवलिंग हमारे इस क्षेत्र के दक्षिणवाले क्षेत्र में थे, जिनका उल्लेख वहाँ पर होना चाहिए। इस प्रकार इस क्षेत्र में मयूखादित्य, गभस्तीश्वर, मंगलागौरी (प्राचीन नाम ललिता), दधिकर्णेश्वर, मुखप्रेक्षणी देवी, वृत्रेश्वर, त्वाष्ट्रेश्वर (इनको विश्वकर्मेश्वर भी कहा गया हैं), चर्चिकादेवी, रेवतेश्वर, पंचनदेश्वर, उपमन्यु द्वारा स्थापित शिवलिंग, व्याघ्रपादेश्वर, शशांकेश्वर, चित्ररथेश्वर, जैमिनीश्वर तथा सुमन्त्वीश्वर—ये देवता थे। इनमें से गभस्तीश्वर की वर्त्तमान स्थापना अपने पुराने स्थान के पश्चिम में अत्यन्त निकट ही हुई। मंगलागौरी का स्थान भी कुछ वदला। सोलहवीं शताब्दी में विन्दुमाधव के मन्दिर के प्राचीर के अन्तर्गत ही मंगलागौरी का मन्दिर था—ऐसी फ्रांस के पर्यटक टेवर्नियर के वर्णन से ध्वनि निकलती है; क्योंकि कंगनवाली हवेली के राम-मन्दिर के पास ही मंगलागौरी की तत्कालीन प्रतिमा थी, यह वात वहाँ स्पष्ट रूप से कही गई है। एक बात और भी है। कृत्यकल्पतरु में मंगलागौरी के दक्षिण में पंचनद तीर्थ वतलाया गया हैं, जो अब इनके ईशानकोण अथवा पूर्व में पड़ता है। इससे भी इनका प्राचीन स्थान विन्दुमाधव के अत्यन्त निकट निकलता है। जो कुछ भी हो, मंगलागौरी की आदिम मूर्त्ति उत्तराभिमुखी थी (आराधयन्ति देवित्वामुत्तराभि-

मुखी स्थिताम्—कृ० क० त०, पृ० ९५), जो अब पूर्वाभिमुखी हो गई है। गभस्तीश्वर पश्चिमाभिमुख हैं, परन्तु वर्त्तमान काल में उनका पूजन पूर्वाभिमुख रूप में प्रायः होने लगा है। इस समय मुखप्रेक्षणी देवी गभस्तीश्वर के नैर्ऋत्यकोण में पास ही स्थापित हैं, परन्तु उनका नाम तथा माहात्म्य लोग भूलने लगे हैं। चर्चिकादेवी वहाँ से थोड़ी दूर उत्तर चलने पर मकान-नं० के० २३।७२ में स्थापित हैं। पंचनदेश्वर पंचगंगेश्वर नाम से प्रसिद्ध हैं और मकान-नं० के० २२।११ में सम्भवतः अपने स्थान से कुछ पश्चिम हटकर स्थापित हैं। मयूखादित्य की मूर्त्ति गभस्तीश्वर के ईशानकोण में खम्भे के पास आले में है। इतने देवस्थानों को छोड़कर ऊपर कहे हुए अन्य शिवलिंगों का स्पष्ट नामांकन अब जनमानस को विस्मृत हो गया है। यहाँ पर एक ह्रद (दधिकर्णह्रद) तथा दो कुँओं का भी उल्लेख है—एक तो दधिकर्ण-कूप का, जो गभस्तीश्वर के उत्तर में था और दूसरा मंगलोद-कूप का, जो मंगलागौरी के पूर्व में था। इनमें से पहले का तो अब ठीक-ठीक पता नहीं चलता, परन्तु दूसरा समीप की गली में मकान-नं० के० २३।८९ में है, ऐसा कहा जाता है। यहाँ पर एक बात ध्यान में रखनी है कि सूर्यनारायण ने ही गभस्तीश्वर तथा मंगलागौरी दोनों की स्थापना एक साथ ही अपनी तपस्या के लिए की थी, ऐसा वर्णन पुराणों में है। गभस्तीश्वर के पश्चिम बैठकर यह तपस्या हुई होगी और उस स्थिति में उत्तराभिमुखी मंगलागौरी उनके दाहिने हाथ की ओर रही होंगी, तभी दोनों देवताओं का सान्निध्य सम्भव था। अतएव जब हम मंगलागौरी के प्रथम स्थान का अनुसंधान करें तो गभस्तीश्वर का वहीं पर होना भी ध्यान में रखना होगा। बाद की स्थापनाओं में यह तथ्य चाहे विस्मृत हो गया हो; क्योंकि पुनः स्थापनाएँ सदैव ही आपत्कालीन परिस्थितियों में ही होती रही हैं जब अन्य बहुत-सी बाधाएँ भी उपस्थित रहती थीं, जिस कारण सभी तत्त्वों का परिपालन नहीं हो पाता था।

इस क्षेत्र के पश्चिमीय भाग के दो शिवलिंगों का उल्लेख पुराणों में है—एक तो शिवेश्वर का, जो शिवतड़ाग के तट पर थे और दूसरा जमदग्नीश्वर का, जो उनके दक्षिण में थे। शिवतड़ाग को पाटकर विश्वेश्वरगंज का बाजार बसा है और शिवेश्वर का मन्दिर इस समय विश्वेश्वरगंज की सड़क और भैरवनाथ की गली के संगम पर मकान-नं० के० ४४।३३ में है। जमदग्नीश्वर का मन्दिर मकान-नं० के० ३२।५७ में है।

यह तो हुई इस क्षेत्र के प्राचीन देवस्थानों की बात; परन्तु अन्यत्र से आये हुए देवताओं में यहाँ ब्रह्मेश्वर का उल्लेख आवश्यक तथा महत्त्वपूर्ण है। ब्रह्मेश्वर का प्रथम स्थान बंगाली टोला में बालमुकुन्द के चौहट्टे में था, जहाँ वे अब एक मकान के अन्दर गर्त्त में हैं (मकान नं० डी० ३३।६७)। वहाँ पर ब्रह्माजी की मूर्त्ति भी थी। बाद में उस स्थान को अरक्षित समझकर ब्रह्माघाट पर उनकी स्थापना हुई। परन्तु बाद में सम्भवतः पुनः इनकी तोड़-फोड़ हुई और समीप ही में फिर यह शिवलिंग स्थापित हुआ। कालान्तर में इस दूसरे स्थान पर भी पुनः स्थापना हो गई। इस प्रकार ब्रह्माघाट पर ही ब्रह्मेश्वर के दो शिवलिंग हैं। एक मकान-नं० के० २२।८२ में तथा दूसरा के० २२।८९ में। जैसा पहले कहा जा चुका है, ब्रह्माघाट के ऊपर दालान में ब्रह्माजी की तेरहवीं या चौदहवीं शताब्दी की मूर्त्ति है और इसी कारण इस घाट का नाम ब्रह्माघाट पड़ा।

कालभैरव भी इस क्षेत्र में ओंकारेश्वर के समीप से आये हैं। इसकी समीक्षा भी कालभैरव शीर्षक में बाद में मिलेगी।

कामेश्वर तथा पांचालकेश्वर (काशीखण्ड के नलकूबरेश्वर) के इस क्षेत्र में पुनः स्थापित होने का उल्लेख पहले हो चुका है। ये शिवलिंग क्रमशः मकान-नं० के० ३०।१ तथा के० ३०।६ में हैं। श्मशान-स्तम्भ दण्डपाणिभैरव के नाम से दण्डपाणि-गली में मकान-न० के० ३१।४९ में स्थापित हुआ है और वहीं पर कालेश्वर की स्थापना हुई, जिनका पुराना स्थान दारानगर में था और जो अब वृद्धकालेश्वर नाम से प्रख्यात हैं। समीप में ही कालभैरव-मन्दिर के पूर्व की दीवाल से लगे हुए मकान-न० के० ३२।२४ में महाकालेश्वर की तथा कालभैरव-मन्दिर के आग्नेय कोण में नागेश्वर की स्थापना हुई, जो अब कालभैरव-मन्दिर की दीवाल के कोने में बाहर की ओर हैं। थोड़ी दूर दक्षिण पापभक्षणेश्वर मकान-नं० के० ३२।३६ तथा आमर्दकेश्वर मकान-न० के० ३०।४ के देव-मन्दिर हैं। कालमाधव आमर्दकेश्वर के मन्दिर में ही हैं। समीप में ही कालमर्दनेश्वर हैं, जो आमर्दकेश्वर के ही परिवर्तित रूप हैं, और वर्त्तमान आमर्दकपीठ के पहले का स्थान था, जो मिट्टी में दबा था और मकान के अन्दर खोदाई होने पर निकला है। कालभैरव के पिछवाड़े थोड़ी दूर पर भाट की गली में (मकान-न० के० ३३।१८) विन्दुमाधव की पुनः स्थापना प्राचीन काल में हुई थी। वे वहाँ अभी भी हैं। वृन्दावन के गोपाल लाल जी, जो सत्रहवीं शताब्दी में कंगनवाली हवेली के सामने रणछोड़जी के मन्दिर में थे, अब सैकड़ों वर्षों से अपने प्रसिद्ध मन्दिर गोपाल-मन्दिर में विराजमान हैं। वृद्धकाल-क्षेत्र के दक्षेश्वर की भी किसी समय इस क्षेत्र में गंगा-तट पर पुनः स्थापना हुई थी, जैसा **वरदराज के गीर्वाणपदमञ्जरी** (सन् १६०० –१६५०) तथा **सौरपुराण** में उल्लिखित है, परन्तु अब उनका पता-ठिकाना भूल गया है।

(छ) हनुमान-फाटक रोड से पश्चिम ईश्वरगंगी तक तथा उत्तर में वरणा नदी और दक्षिण में विश्वेश्वरगंज की सड़क तथा संतकबीर मार्ग तक का क्षेत्र एवं इस क्षेत्र के और पश्चिम सदर बाजार तक का क्षेत्र :

पुराण-काल में इस क्षेत्र में बहुसंख्य देवस्थान थे, जिनमें से बहुत-से लुप्त हो गए और कुछ की अन्यत्र स्थापना हुई। इस क्षेत्र के उत्तरी अंचल में प्रायः पूर्णतया मुसलमानों के निवास-स्थान हैं। अतएव यहाँ की यात्रा मुसलमानी राज्यकाल में असम्भव थी। और, यही कारण था कि यहाँ के मुख्य देवताओं की स्थापना हिन्दुओं के महल्लों में की गई। बाद में महाराज बलवंत सिंह के तथा अँगेरजों के शासनकाल में कुछ पुराने स्थानों का भी जीर्णोद्धार हुआ और इस प्रकार वहाँ के देवता पुनः अपने स्थान पर भी प्रतिष्ठित हुए। इस परिस्थिति का उल्लेख कामेश्वर के सम्बन्ध में पहले भी किया जा चुका है।

इस क्षेत्र का विस्तार बहुत बड़ा है, अतएव इसका अध्ययन कई छोटे-छोटे भागों में करने में सुविधा होगी। कृत्यकल्पतरु में इस क्षेत्र का वर्णन धनदेश्वर को केन्द्र मानकर प्रारम्भ हुआ है और फिर बीच के तीर्थों को छोड़कर कर्कोटकवापी को केन्द्र मानकर नागकुआँ के समीप के तीर्थों का वर्णन करते हुए पुनः पूर्व को लौटकर वृद्धकाल के निकट के तीर्थों का नामांकन किया गया है। मध्यमेश्वर, ज्येष्ठस्थान और सिद्धकूट के इनके बीच में पड़ते हुए भी उनपर अलग से

विचार हुआ है। परन्तु, यहाँ भौगोलिक स्थिति के अनुसार ही इस क्षेत्र के भिन्न-भिन्न अंचलों की विवेचना की जायगी।

१. कर्कोटकवापी (नागकुआँ) के समीप का क्षेत्र।
२. वृद्धकाल-क्षेत्र।
३. मध्यमेश्वर-क्षेत्र तथा सिद्धकूट।
४. ज्येष्ठस्थान।
५. ईश्वरगंगी के पश्चिम का क्षेत्र।

१. कर्कोटकवापी-क्षेत्र :

इन्द्रेश्वर के समीप इन्द्रेश्वर-कुण्ड तथा उनके दक्षिण में कर्कोटकवापी तथा पूर्व में मारीचेश्वर तथा मारीचेश्वर-कुण्ड थे। मारीचेश्वर के आग्नेयकोण में करवीर नामक लिंग तथा उसके पूर्व में धनदेश्वर का शिवायतन एवं धनदेश्वर-कुण्ड थे (धनदेश्वर का नाम काशीखण्ड में कहीं भी नहीं है, यद्यपि धनदेश्वर-कुण्ड आज भी धनेसरा तलाब नाम से वर्त्तमान है)। कर्कोटकवापी के समीप कर्कोटक नाग की मूर्त्ति तथा कर्कोटकेश्वर नामक शिवलिंग थे। कर्कोटकवापी के दक्षिण थोड़ी ही दूर पर दृमिचण्डेश्वर तथा उनके दक्षिण में दृमिचण्डेश्वर-कुण्ड (काशीखण्ड में कर्कोटक के पश्चिम दृमिचण्डेश्वर का स्थान बतलाया गया है) और दृमिचण्डेश्वर के पूर्व दीर्घिका के तट पर अग्नीश्वर का शिवलिंग थे (काशीखण्ड में अग्नीश्वर का स्थान अग्नीश्वर-कुण्ड के पश्चिम तट पर दृमिचण्डेश्वर के पश्चिम कहा गया है)। उनके पूर्व में आम्नातकेश्वर तथा उनके दक्षिण थोड़ी ही दूर पर उर्वशीश्वर तथा उर्वशी-कुण्ड और उस कुण्ड के आग्नेयकोण में तालकर्णेश्वर अथवा चण्डेश्वर थे, जिनके पूर्व में एक महान् कूप था। (तालकर्णेश्वर का नाम काशीखण्ड में वालचन्द्रेश्वर कहा गया है, जो भेद सम्भवतः लिपि-प्रमाद के कारण हुआ है।) इन देवताओं में से कर्कोटकवापी तथा तत्सम्बन्धी कर्कोटक नाग और कर्कोटकेश्वर तो अब भी वर्तमान हैं, परन्तु इन्द्रेश्वर तथा मारीचेश्वर लुप्त हो गए। मारीचेश्वरकुण्ड 'चोरुआ गड़हा' नाम से वर्त्तमान है। करवीर नामक शिवलिंग लुप्त हो गया, परन्तु धनदेश्वर अब बाबा नरसिंह दास के मठ में हैं। दृमिचण्डेश्वर के सम्बन्ध में कुछ कठिनाई है। कृत्यकल्पतरु में दृमिचण्डेश्वर का स्थान कर्कोटकवापी के दक्षिण में कहा गया है, परन्तु काशीखण्ड में पश्चिम में। इसी प्रकार अग्नीश्वर का स्थान कृत्यकल्पतरु में दृमिचण्डेश्वर के पूर्व में दीर्घिका के तट पर कहा गया है। दीर्घिका लम्बी झील को कहते हैं। काशीखण्ड में अग्नीश्वर का स्थान कुण्ड के तट पर दृमिचण्डेश्वर के पश्चिम बतलाया गया है। बहुत सम्भव है कि काशीखण्ड के समय में दृमिचण्डेश्वर की पुनः स्थापना कर्कोटकवापी के पश्चिम में हुई हो और अग्नीश्वर की उनके भी पश्चिम में और सम्भवतः इसी आधार पर ईश्वरगंगी-तालाब को अग्नीश्वर-कुण्ड तथा योगेश्वर को अग्नीश्वर माना जाता हैं, यद्यपि योगेश्वर ईश्वरगंगी से आग्नेयकोण में है, पश्चिम में नहीं और ईश्वरगंगी का तालाब भी कर्कोटकवापी के पश्चिम में नहीं वरन् नैर्ऋत्य कोण में है। इस असंगति का सद्यः समाधान यही हो सकता है कि काशीखण्ड के बाद के विनाश तथा पुनःस्थापना के क्रम में अग्नीश्वर अपने वर्त्तमान स्थान पर आ गये हैं यद्यपि उनका नाम बदलकर योगेश्वर हो गया है। अग्नीश्वर का दूसरा नाम आग्नीध्रेश्वर काशीखण्ड में ही मिलता है।

प्राथमिक स्थिति में, जिसका वर्णन कृत्यकल्पतरु में हैं, अग्नीश्वर-कुण्ड दृमिचण्डेश्वर के पूर्व में था और उसको 'अग्नीश्वर-दीर्घिका' कहते थे। दीर्घिका शब्द विगड़कर दिघिया या डिघिया हो गया, जो एक लम्बी झील के रूप में अभी कुछ दिनों पहले तक थी और जिसका थोड़ा अंश अभी भी है तथा जिसके नाम पर डिघिया महल्ला बसा है। यही प्राचीन अग्नीश्वर-कुण्ड था और इसके तट पर अग्नीश्वर तथा उनके पूर्व में आम्नात-केश्वर के शिवलिंग थे। इनके दक्षिण में उर्वशीश्वर तथा उर्वशी-कुण्ड वतलाये गये हैं। उर्वशीश्वर अभी भी अपने इसी स्थान पर वाबू शिवनारायण सिंह के मन्दिर के घेरे में हैं। कुण्ड तो कभी पट गया। इनके आग्नेयकोण में तालकर्णेश्वर का शिवलिंग था, जो अव औसानगंज के महलों में हैं और उसके समीप कूप भी है। दृमिचण्डेश्वर अभी भी मल्लू हलवाई के मन्दिर में विराजमान हैं।

सोलहवीं शताब्दी में कर्कोटकवापी के समीप ही वासुकिकुण्ड, वासुकीश्वर तथा वासुकि की मूर्त्ति थी। इस कुण्ड में स्नान तथा वासुकि का पूजन नागपंचमी को होता था (**कर्कोटकवापी समीपस्थ वासुकिकुण्डे स्नात्वा वासुकिं पूजयेत्**—त्रि० से० २३२)। काशीखण्ड में इस क्षेत्र का विस्तृत वर्णन ६६ वें अध्याय में मिलता है, जिसका आवश्यक अंश इस प्रकार है: वासुकिकुण्ड अभी कुछ दिनों पहले तक नागकुआँ के पश्चिम थोड़ी दूर पर था, परन्तु वासुकीश्वर लुप्त हैं।

कर्कोटकवापी के पश्चिम गन्धर्वकुण्ड तथा उसके पश्चिम-तट पर गंधर्वेश्वर और कर्कोटकेश्वर के पश्चिम धुन्धुमारीश्वर एवं उनके उत्तर पुरूरवेश्वर थे, जिनके पूर्व में सुप्रतीकेश्वर तथा सुप्रतीक-सरोवर। वहीं पर विजयभैरवी गौरी भी थीं। **प्रिंसेप** के नक्शे में गन्धर्वकुण्ड दिखलाया गया है और सन् १९२८ ई० के सर्वे-मैप में भी वह है। उसका नाम इन दोनों में से किसी में नहीं है। परन्तु **वैक्स** के नक्शे में उसका नाम मीरन सागर है। सुप्रतीक-सरोवर **प्रिंसेप** के नक्शे में कमाल गड़हे के नाम से दिखलाया गया हैं, परन्तु सुप्रतीकेश्वर लुप्त हैं।

योगेश्वर के दक्षिण-मठ में (मकान-नं० जे० ६६।३) जैगीषव्येश्वर तथा जैगीषव्य-गुहा है। इनकी पुनःस्थापना भूतभैरव के समीप हुई थी, जहाँ ये अभी भी हैं। चित्रकूट-तालाव पर विघ्नराज विनायक हैं। धूपचण्डी के मन्दिर में (मकान-नं० जे० १२।१३४) पीछे की ओर विकटद्विज विनायक तथा उनके सम्मुख सूक्ष्मेश्वर हैं। इन देवताओं के ये अपने ही स्थान हैं। विजयभैरवी गौरी सम्भवतः कर्णघंटा के समीप में ज्येष्ठेश्वर के दक्षिण काशीदेवी के नाम से प्रसिद्ध हैं अथवा धूपचण्डी-मन्दिर में पार्वती-रूप में हैं। महामुण्डा-चण्डी स्वयं धूपचण्डी भी हो सकती हैं।

२. वृद्धकाल-क्षेत्र:

औसानगंज के महलों में स्थित जिस कूप का उल्लेख ऊपर किया गया है, उस कूप के पूर्व में चित्रेश्वर का शिवलिंग था (काशीखण्ड में इसका नाम विश्वेश्वर दिया हैं, जो स्पष्ट ही लिपि-प्रमाद हैं) और उसके समीप ही कालेश्वर का महान् शिवायतन था। काशीखण्ड में इनका नाम वृद्धकालेश्वर है, जो नाम आज भी प्रचलित हैं। इनके सम्मुख

कालोदककूप नामक कुआँ और दक्षिण में मृत्यु द्वारा स्थापित शिवलिंग थे। कालोदककूप के उत्तर में दो शिवलिंग थे—एक पश्चिमाभिमुख दक्षेश्वर और दूसरा पूर्वाभिमुख कश्यपेश्वर। दक्षेश्वर के पूर्व में महाकालकुण्ड तथा महाकालेश्वर थे, जिनके दक्षिण हस्तिपालेश्वर-कुण्ड के तट पर अन्तकेश्वर और उनके समीप में दक्षिण दिशा में शक्रेश्वर (काशीखण्ड में इनका नाम ऐरावतेश्वर है और इनके पास ऐरावत-कुण्ड भी बतलाया गया है) तथा हस्तिपालेश्वर थे। शक्रेश्वर के दक्षिण में मातलीश्वर (काशीखण्ड में मालतीश्वर, जो लिपि-प्रमाद से हुआ जान पड़ता है; कारण, कृत्यकल्पतरु में स्पष्ट कहा गया है कि इन्द्र के सारथि मातलि द्वारा स्थापित) तथा मातलीश्वर-कुण्ड और हस्तिपालेश्वर के पूर्व में विजयेश्वर तथा उत्तर में जयन्तेश्वर थे (विजयेश्वर का नाम काशीखण्ड में नहीं है और जयन्तेश्वर का नाम इस प्रसंग में कृत्यकल्पतरु में नहीं है)। महाकालकुण्ड के उत्तर में वलीश्वर तथा उसके पश्चिम में वलिकुण्ड थे, जिनको काशीखण्ड में वन्दीश्वर तथा वन्दिकुण्ड कहा गया है। वलिकुण्ड सन् १८२२ ई० तक था। उस समय उसका नाम मोहम्मद शहीद गड़ही था, परन्तु अब वह लुप्त है।

समीप में ही कृत्तिवासेश्वर का शिवायतन था, जिनकी अर्चना का अत्यधिक माहात्म्य था और आज भी है। कृत्तिवासेश्वर का नाम इस प्रसंग में काशीखण्ड में नहीं है, यद्यपि अन्यत्र (६८वें अध्याय में) उसका विस्तृत विवरण दिया गया है। कृत्यकल्पतरु में कृत्तिवास की स्थिति बताते हुए कहा गया है कि उनके पश्चिम में समीप ही अन्तकेश्वर, उत्तर में शक्रेश्वर अथवा ऐरावतेश्वर तथा दक्षिण में मातलीश्वर तथा पूर्व में एक कूप और हंसतीर्थ (वर्त्तमान नाम हरतीरथ का पोखरा) थे। अन्तकेश्वर के उत्तर में सिद्धेश्वर थे। काशीखण्ड के ६८वें अध्याय में कृत्तिवासेश्वर के समीप के लिंगों का कुछ दूसरा ही क्रम है, जो सम्भवतः इन देवताओं के पुनः स्थापित होने के बाद की स्थिति का वर्णन है। वहाँ कहा गया है कि कृत्तिवासेश्वर के पश्चिम में लोमशेश्वर, उत्तर में मालतीश्वर तथा ईशानकोण में अन्तकेश्वर थे। **तीर्थचिन्तामणि** (सन् १४६० ई०) में इस सम्बन्ध में लिखा है : **अन्तकेश्वर पूर्वे, सर्वेश्वर दक्षिणे मालतीश्वरोत्तरे कृत्तिवासेश्वरं लिङ्गम्**, अर्थात् अन्तकेश्वर के पूर्व, सर्वेश्वर के दक्षिण तथा मालतीश्वर के उत्तर में कृत्तिवासेश्वर का शिवलिंग है, जो कृत्यकल्पतरु के वर्णन से मेल खाता है। ऐसा समझ पड़ता है कि कृत्तिवास का प्रथम स्थान मस्जिद से कुछ उत्तर-पूर्व की ओर था और उस समय मालतीश्वर उनके दक्षिण में पड़ते थे। आगे चलकर उनकी पुनः स्थापना मस्जिद के स्थान पर हुई, जब मालतीश्वर उनके उत्तर पड़ गये। अन्तकेश्वर अपने स्थान पर ही रहे। वे अब ईशानकोण में पड़ते हैं। **तीर्थचिन्तामणि** के लेखक ने कृत्यकल्पतरु की ही स्थिति का उसी आधार पर वर्णन किया। उसमें तत्कालीन स्थिति का विवरण नहीं है, ऐसा जान पड़ता है। कृत्तिवासेश्वर के प्रथम स्थान पर अन्यत्र विचार किया जायगा।

कृत्तिवासेश्वर के समीप एक स्वयम्भूत विनायक का भी कृत्यकल्पतरु में उल्लेख है, परन्तु काशीखण्ड में इनका नाम नहीं है, यद्यपि वृद्धकाल के आँगन में ये अभी भी हैं। इस क्षेत्र के अन्य देवताओं का वर्णन काशीखण्ड में विस्तारपूर्वक हुआ है, जिसके अनुसार

तत्कालीन अन्तकेश्वर के समीप जनकेश्वर थे, जिनके उत्तर में असितांग भैरव का स्थान था। वहीं पर शुष्कोदरी देवी कृत्तिवासेश्वर के उत्तर में थीं, जिनके नर्ऋत्यकोण में अग्नि-जिह्व, वेताल तथा वेतालकुण्ड थे। और, दो भुजा, चार पैर तथा पाँच शिरोंवाले एक शिवगण का स्थान भी वहीं पर था। उसके उत्तर में वृषरुद्र की मूर्त्ति थी, जिसके उत्तर में मणिप्रदीप नाग तथा मणिकुण्ड थे।

इसी क्षेत्र में धन्वन्तरि द्वारा स्थापित शिवलिंग था, जिसका नाम कृत्यकल्पतरु में भृंगीशेश्वर दिया हैं, परन्तु आगे चलकर वहीं इसका नाम तुंगेश्वर कहा गया हैं, जो काशी-खण्ड में भी मिलता है। इसके पश्चिम में एक कूप था, जिसमें सभी अमृतसम्भव औषधियाँ पड़ी थीं, ऐसा कृत्यकल्पतरु कहता है; परन्तु काशीखण्ड में वहाँ पर वैद्यनाथ नामक कुण्ड वतलाया गया हैं, जिसमें सभी औषधियाँ डाली गई थीं। वैद्यनाथकुण्ड के उत्तर (कूप के उत्तर—कृ० क० त०) हलीशेश्वर (हरिकेश्वर तथा पाठभेद में हरीशेश्वर—कृ०क० त०) तथा तुंगेश्वर के समीप दक्षिण में शैवतड़ाग तथा उसके पश्चिम तट पर शिवेश्वर नामक शिवलिंग थे, जिनके दक्षिण में थोड़ी ही दूर पर जमदग्नीश्वर थे, जिनका वर्णन 'च' क्षेत्र में किया जा चुका है।

चित्रेश्वर प्रायः अपने ही स्थान पर मकान-नं० के० ५४।१३३ में हैं। मृत्युवीश्वर, जिनका नाम सोलहवीं-सत्रहवीं शताव्दी में अपमृत्युहरेश्वर था, अव मृत्युञ्जय नाम से अत्यन्त प्रसिद्ध हैं और वृद्धकाल के नैर्ऋत्यकोण में अपने स्थान पर विराजमान हैं। वृद्धकाल के घेरे में इस समय ३२ शिवलिंग हैं, परन्तु उन सभी के नाम स्पष्ट रूप से विदित नहीं हैं। शेरिंग के अनुसार यह मन्दिर अपने प्राचीन स्थान पर ही हैं, यद्यपि इसका जो अंश ध्वस्त होता गया, उसपर मकान वनते गये। इसके दक्षिण में हिन्दू रहते हैं और इसके पिछवाड़े उत्तर में मुसलमानों की वस्ती हैं। इस समय इस घेरे में जो शिवलिंग हैं, उनमें से कुछ तो इसी स्थान के हैं और कुछ इसके पूर्व तथा ईशान एवं आग्नेय कोण के हैं, जिनकी पुनः स्थापना यहाँ पर हुई हैं। जैसा ब्रह्मवैवर्त्त पुराण में कहा गया है, वृद्धकाल के पूर्व में उज्जयिनी का प्रतीकात्मक स्थान था, जो दक्षिण में कृत्तिवासेश्वर तक फैली थी। इस तीर्थ से सम्वन्धित महाकालेश्वर तथा महाकालेश्वर-कुण्ड यहीं पर थे। महाकालेश्वर-कुण्ड इस समय दुद्धी गड़ही नाम से प्रसिद्ध हैं। कृत्तिवास के आसपास भी कई शिवलिंग ऊपर वताये जा चुके हैं। कृत्तिवासेश्वर स्वयं दारुवन में बतलाये गये हैं (**एतद्दारुवनं स्थानं कलौदेवस्य गीयते**—कृ० क० त०, पृ० ७९) और दारुवन में नागेश्वर का स्थान भी था (**नागेशं दारुकावने**), जो यहाँ भी स्थापित हुए। इस प्रकार आस-पड़ोस के बहुत-से शिवलिंग, जो मन्दिरों की तोड़-फोड़ में ध्वस्त हो चुके थे और जिनका अपने पुराने स्थानों पर पुनः स्थापित होना असम्भव समझ पड़ा, वे सभी इस वृद्धकाल के घेरे में पुनः स्थापित हुए। यह वात भी ध्यान में रखनी है कि काशीखण्ड में जिस पुनर्निर्माण के वाद का स्वरूप हैं, उसके वाद भी दो या तीन वार इस देवालय का विध्वंस हुआ है। यह भी सम्भव है कि सैकड़ों वर्षों तक यह खण्डहर के रूप में ही रहा हो; क्योंकि यह ऐसी जगह पर है, जो मुसलमानों के अधिकार में थी। इसी कारण इस मन्दिर के अपने देवता भी अपने स्थानों से इधर-

उधर हटकर पुनः स्थापित हुए हैं। यहाँ तक कि वृद्धकाल का अपना स्थान भी वदल गया है। इसका प्रमाण यह है कि वृद्धकालेश्वर के सामने कालोदक कूप का होना कहा गया है (**तस्य देवस्य चाग्रे तु कूपस्तिष्ठति वैशुभः**—कृ० क० त० पृ० ७३), परन्तु इस समय वह कूप वृद्धकाल के ईशान कोण में थोड़ी दूर पर है। इस मन्दिर के वर्त्तमान देवताओं की स्थापना मुगल-राज्य के अस्त-व्यस्त होने पर ही हुई होगी; क्योंकि उसके पहले तो यह सम्भव ही न रहा होगा। कृत्तिवासेश्वर का मन्दिर सन् १६५९ ई० में औरंगजेब की आज्ञा से तोड़ा गया था। अतएव यह निश्चित है कि वृद्धकाल का समीपस्थ मन्दिर न बचा होगा। सम्भावना तो यह है कि उस समय वह पहले से ही ध्वस्त ही पड़ा रहा हो। यह अनुमान इस कारण करना पड़ता है कि यदि यह मन्दिर उस समय रहा होता और अपने माहात्म्य के अनुरूप यदि इसका तात्कालिक महत्त्व होता तो सम्भवतः यहाँ भी मस्जिद वन गई होती। यह प्रक्रिया फीरोज तुगलक के समय में ही हो जाती; क्योंकि उस समय बहुत-से मन्दिरों के स्थान पर मस्जिदें बनी थीं। एक बात और भी थी—कृत्यकल्पतरु में इस शिवलिंग का नाम कालेश्वर है और कालेश्वर की स्थापना काशीखण्ड के पूर्व ही अन्यत्र हो चुकी थी। तभी तो इनका नाम वहाँ वृद्धकालेश्वर कहा गया है और दसवें अध्याय में कालेश्वर तथा वृद्धकालेश्वर दोनों के नाम गिनाये गये हैं (**कालेशं, वृद्धकालेशं कलशेश्वरमेव च**—का० खण्ड १०।८६)। ऐसी स्थिति में जब वृद्धकाल का मन्दिर पुनः टूटा होगा तब उसका पुनर्निर्माण फिर न हुआ हो तो कोई आश्चर्य नहीं।

इस घेरे में निम्नलिखित देवताओं की मूर्त्तियाँ तथा शिवलिंग इस समय वर्त्तमान हैं, जिनके स्थान परिशिष्ट में दिए हुए मानचित्र में स्पष्ट रूप से दिखलाये गये हैं: मृत्युवीश (वर्त्तमान नाम मृत्युञ्जय), मातलीश्वर (काशीखण्ड में मालतीश्वर), महाकालेश्वर, वृद्ध-कालेश्वर, भीष्मकेशव, नागेश्वर, चतुर्मुखेश्वर, अन्तकेश्वर, शक्रेश्वर, जनकेश्वर, वैद्यनाथकुण्ड, सर्वेश्वर, असितांगभैरव, तुंगेश्वर (धन्वन्तरीश्वर), लोमशेश्वर, दक्षेश्वर, हस्तिपालेश्वर, कश्यपेश्वर तथा काकोदकूप। **शेरिंग** के अनुसार सन् १८६३ ई० में यहाँ मार्कण्डेयेश्वर भी थे, परन्तु अब उनका नाम यहाँ कोई नहीं जानता। शक्रेश्वर इस समय देवराजेश्वर कहे जाते हैं और अन्तकेश्वर अनतीश्वर। त्रिभुवनकेशव की मूर्त्ति भी यहाँ है, जो अन्यत्र से आये हैं। शङ्कोदरी देवी लुप्त हो गईं। अग्निजिह्व वेताल वेतालेश्वर के नाम से मकान-नं० के० ५३।३२ में हैं। वृषरुद्र की मूर्त्ति हरतीरथ तालाब के पश्चिम मढ़ी (मकान-नं० के० ४६।१४७) में दीवार से लगाकर रखी है। वहाँ पर दो शिवलिंग भी हैं, जिनके नाम अब भूल गये हैं। मणिकुण्ड सन् १८२२ ई० तक था, परन्तु स्ट्रीथफील्ड रोड में पड़कर लुप्त हो गया। वहीं पर मणिप्रदीप नाग की मूर्त्ति थी, जो अब लुप्त है। यहाँ एक बात उल्लेख-नीय है कि **प्रिंसेप** के नक्शे में मणिप्रदीप नाग के महल्ले का नाम नागनाथ-महल्ला था। द्विभुजगण भी अब लुप्त हैं। दक्षेश्वर का पुनः प्रतिष्ठापित लिंग सत्रहवीं शताब्दी के पूर्व पंचगंगा-घाट के ऊपर कहीं पर था, ऐसा **वरदराज** की **गीर्वाणपदमञ्जरी** से जान पड़ता है। **सौरपुराण** में भी यही वर्णन है।

कृत्तिवासेश्वर के मन्दिर के स्थान पर सन् १६५९ ई० में औरंगजेब की आज्ञा से

एक मस्जिद का निर्माण हुआ, जो आलमगीरी मस्जिद कहलाती है और जिसमें शिवरात्रि के दिन आज भी सैकड़ों हिन्दू कृत्तिवासेश्वर का स्थान-पूजन करते हैं। कृत्तिवासेश्वर की पुनः स्थापना प्राचीन काल में अन्यत्र नहीं हुई थी। राजा पटनीमल ने अपने समीपस्थ बगीचे में पुराने स्थान के दक्षिण इनकी स्थापना की, परन्तु शिवरात्रि के दिन उस मन्दिर में इतने भक्त नहीं जाते जितने मस्जिद में जाकर स्थान-पूजन करते हैं।

वृद्धकालेश्वर के दक्षिण सड़क के बीच में रत्नेश्वर का मन्दिर है। उसके पूर्व मकान-नं० के० ४६।३२ में दाक्षायिणीश्वर हैं, जो आजकल सतीश्वर कहे जाते हैं। रत्नेश्वर के पश्चिम मकान-नं० के० ५३।३८ में अम्बिकेश्वर हैं, जो इस समय मानकेश्वर कहे जाते हैं। प्राचीन काल में यहीं पर अम्बिकागौरी की तथा स्वामिकार्त्तिक की भी मूर्त्तियाँ थीं। स्वामिकार्त्तिक की मध्ययुगीन खण्डित मूर्त्ति इस समय कालभैरव के मन्दिर में रखी है। सम्भवतः वह यहीं से उठकर वहाँ गई हैं। अम्बिकागौरी भग्न होकर लुप्त हो गई। ऐरावतकुण्ड भी सन् १८२२ ई० तक था, परन्तु अब लुप्त हो गया है। धन्वन्तरी-कूप वृद्धकाल के द्वार पर सड़क की पूर्व पटरी पर है।

३. मध्यमेश्वर-क्षेत्र तथा सिद्धकूट :

यह स्थान काशीक्षेत्र का केन्द्र माना गया है और मध्यमेश्वर को केन्द्र तथा देहली विनायक तक की दूरी को अर्धव्यास मानकर जो वृत्ताकार क्षेत्र बनता है, वही काशीक्षेत्र का विस्तार कहा गया है। इस विषय की पूर्ण विवेचना चौथे अध्याय में की जा चकी है, अतएव उसकी पुनरुक्ति यहाँ अनावश्यक है।

इस क्षेत्र का मुख्य शिवायतन मध्यमेश्वर के स्वयम्भूलिंग का था। मध्यमेश्वर के दक्षिण तथा मन्दाकिनी (वर्त्तमान मैंदागिन का पोखरा) के उत्तर दो शिवलिंग थे—विश्वदेवेश्वर तथा वीरभद्रेश्वर। इनके दक्षिण में भद्रकाली-ह्लद था तथा भद्रकाली की मूर्त्ति थी, जिनके पूर्व में आपस्तम्बेश्वर थे और उनके उत्तर में पुण्यकूप तथा उसके पश्चिम में शौनकह्लद थे। इस ह्लद के पश्चिम-तट पर शौनकेश्वर और उनके दक्षिण में जम्बुकेश्वर थे। जम्बुकेश्वर के उत्तर मतंगेश्वर थे, जिनके वायव्य कोण में बहुत-से शिवलिंग थे और उनके दक्षिण जयन्तेश्वर तथा उनके समीप ब्रह्मतारेश्वर (काशीखण्ड में ब्रह्मरातेश्वर) थे, जिनके पास ही आज्यपेश्वर तथा पितरों द्वारा स्थापित अनेक लिंग थे। (कृत्यकल्पतरु में आज्यपेश्वर के स्थान पर याज्ञवल्क्येश्वर हैं।)

मन्दाकिनी के पश्चिम सिद्धयष्टकेश्वर तथा सिद्धयष्टकेश्वर-कुण्ड थे। वहीं पर महाराज विनायक थे। आज्यपेश्वर के दक्षिण में एक विस्तृत ऊँचा स्थान था, जिसको सिद्धकूट कहते थे। यहाँ पर पाशुपत लोगों की तपस्थली थी तथा वहीं पर उनके द्वारा स्थापित सिद्धेश्वर का शिवलिंग था, जिसके पश्चिम में सिद्धवापी थी।

(क) **मध्यमेश्वर**—मध्यमेश्वर का वर्त्तमान मन्दिर अपने प्राचीन स्थान से पर्याप्त दक्षिण हटकर बना है; क्योंकि ऐरावतेश्वर उसके पूर्व में कहे गए हैं (का० खं० ६७।११९), जो कृत्तिवासेश्वर के उत्तर में थे। उसके दक्षिण के क्षेत्र में ही मध्यमेश्वर महल्ला, राजा शिवप्रसाद की बारहदरी का अहाता तथा पेशवा का बगीचा पहले था, जो नायक के बाग

के नाम से प्रसिद्ध था, यद्यपि था वह बाजीराव पेशवा का, जिनके स्थानीय कार्यकर्त्ता नायक जी थे। कहा जाता है कि मध्यमेश्वर का वर्त्तमान मन्दिर भी पहले राजा शिवप्रसाद के अहाते में ही था। विश्वेदेवेश्वर तथा वीरभद्रेश्वर का नाम अब लोग भूल गये हैं, परन्तु सम्भवतः उनमें से एक मकान-नं० के० ५३।११९ में है। मध्यमेश्वर के समीप ही एक अन्य मन्दिर भी है, जिसमें तीन शिवलिंग प्रतिष्ठित हैं। ये इन्हीं तीनों की पुनः स्थापना हैं। मध्यमेश्वर के उत्तर में एक प्राचीन शिवलिंग स्थापित है, जिसका नया मकान बन गया है (मकान-नं० के० ५३।११६ के सामने)। इस समय इनको लोग बूढ़े बाबा के नाम से पुकारते हैं। इस आधार पर भी मध्यमेश्वर का प्राचीन स्थान इनसे उत्तर होना समझ पड़ता है। भद्रकाली का वर्त्तमान मन्दिर मकान-नं० के० ५३।१०७ में है, परन्तु भद्रकाली-ह्रद पट गया है। मंदागिन बगीचे की उत्तरी सीमा पर एक देवी का मन्दिर अब भी है। इनको लोग आशापुरी देवी समझते हैं। काशीखण्ड में जिस स्थान पर इन देवी का वर्णन है, वहाँ दिशा का स्पष्ट नामांकन नहीं हुआ है, केवल **मन्दाकिन्यास्तटेशुभे** यही लिखा है। प्राचीन मन्दाकिनी के दक्षिण-तट पर सिद्धमाता का स्थान अभी भी है। यह भी सम्भव है कि वे ही आशापुरी देवी हों। उस दशा में मन्दाकिनी के उत्तर की देवी भद्रकाली हो सकती हैं और तब वर्त्तमान ऋणहरण महादेव आपस्तम्बेश्वर हैं, ऐसा कहा जा सकता है। यदि भद्रकाली और उत्तर में थीं, जैसा उनके वर्त्तमान मन्दिर से जान पड़ता है, तो बूढ़े बाबा ही आपस्तम्बेश्वर होंगे। इनके उत्तर में भी दो कुएँ हैं—एक मकान-नं० के० ५३।१३७ के सामने तथा दूसरा मकान-नं० के० ५३।१६१ के सामने। ये **प्रिंसेप** के नक्शे में भी दिखलाये गये हैं। इनके पश्चिम में और बड़े गणेश के उत्तर में एक कुण्ड भी प्रिंसेप के नक्शे में है, जो शौनक-कुण्ड था। यह कुण्ड १८६३ ई० में बने **बेक्स** के नक्शे में भी सिकुड़ता हुआ दिखलाया गया है। इसको पाटकर नई बस्ती का महल्ला बसा है। जहाँ पर कुण्ड था, वहाँ कुम्हारों की बस्ती है। शौनकेश्वर अब लुप्त हैं, परन्तु जम्बुकेश्वर का मन्दिर बड़े गणेश के द्वार पर है। वहीं पर सिद्धयष्टकेश्वर हैं, परन्तु उनका कुण्ड अब नहीं रह गया। महाराज विनायक ही अब बड़े गणेश नाम से विख्यात हैं। मतंगेश्वर, जयन्तेश्वर तथा ब्रह्मरातेश्वर का अब पता नहीं है। यहाँ पर यह स्मरण रखना है कि वाराणसी में एक अन्य जयन्तेश्वर भी हैं, जो मधुकेश्वर-क्षेत्र से यहाँ आये हैं। उनका स्थान केदार के दक्षिण लालीघाट पर काशीखण्ड में कहा गया है और वे वहीं पर अभी भी हैं। आज्यपेश्वर आदि सभी लिंग अब लुप्त अथवा विस्मृत हैं।

सिद्धकूट—सिद्धकूट के स्थान के सम्बन्ध में यह निर्देश मिलता है कि जैगीषव्येश्वर-गुहा के पश्चिम देवलेश्वर थे और सिद्धकूट उनके उत्तर में था। जैगीषव्येश्वर-गुहा का स्थान सुनिश्चित है और उसके उत्तर में बाबू शिवनारायण सिंह का मन्दिर ऊँचे धरातल पर बना है। यही प्राचीन सिद्धकूट का अंश है। इससे थोड़ी दूर उत्तर तथा दूर तक पूर्व में भी यह ऊँचाई वागेश्वरी के मन्दिर तक चली जाती है। इसी सिद्धकूट पर सिद्धेश्वर का मन्दिर था, जो अभी भी वागेश्वरी देवी के दक्षिण ऊँचे धरातल पर विद्यमान है। इस स्थान पर दो और शिवलिंग हैं—एक ज्वरहरेश्वर का तथा दूसरा आम्नातकेश्वर का। सम्भव है, ये ज्वरहरेश्वर पुराने अग्नीश्वर हों; क्योंकि ज्वरहरेश्वर का नाम पुराणों में नहीं है,

परन्तु इसका कोई प्रमाण नहीं हैं। चतुः सागरवापी लुप्त है और सिद्धेश्वर के पश्चिम की सिद्धवापी भी लुप्त हो गई है। सम्भावना यह भी है कि सिद्धेश्वर अब अपने प्राचीन स्थान से इधर-उधर हटकर स्थापित हुए हों; क्योंकि यह स्थापना अठारहवीं शताब्दी के अन्तिम चरण की होगी। वागीश्वरी के मन्दिर में दो देवियाँ हैं—एक बड़ी मूर्त्ति हैं, जो स्कन्दमाता दुर्गा के नाम से पूजी जाती हैं और नीचे कोठरी में दूसरी छोटी मूर्त्ति है, जो सरस्वती जी या वागीश्वरी कहलाती है। कुछ लोगों का मत है कि ये महामुण्डा चण्डी हैं, जिनका उल्लेख कृत्यकल्पतरु में ऋणमोचन के समीप तथा काशीखण्ड में कर्कोटकवापी के समीप हुआ है और यहाँ भी कर्कोटकवापी-क्षेत्र में पहले किया जा चुका है। इस क्षेत्र में उर्वशीश्वर अथवा अन्य कोई शिवलिंग चतुर्मुख था, जिसका स्पष्ट नामांकन नहीं हो पाता। वर्त्तमान उर्वशीश्वर के द्वार पर यह प्राचीन शिवलिंग बिना अपने अर्घे के पड़ा है और जैगीषव्येश्वर के पश्चिम इसकी पुनः स्थापना भी हुई है। भूतभैरव में भी जैगीषव्येश्वर के समीप इसकी पुनः स्थापना हुई थी, जहाँ अभी भी यह वर्त्तमान है।

४. ज्येष्ठस्थान :

यह बहुत विस्तृत क्षेत्र है, जो पूर्व-पश्चिम हनुमान-फाटक से ईश्वरगंगी तक फैला हुआ है। कर्कोटकवापी-क्षेत्र, मध्यमेश्वर-क्षेत्र, वृद्धकाल-क्षेत्र तथा सिद्धकूट क्षेत्र—सभी इसके अन्तर्गत हैं और उनके दक्षिण का क्षेत्र भी इसकी परिसीमा में आ जाता है। यदि वर्त्तमान परि-स्थिति की समीक्षा की जाय तो काशीपुरा, दीना गोलानाथ, सप्तसागर इत्यादि महल्ले भी इसमें आ जायेंगे। इस वर्णन में हम इस क्षेत्र की दक्षिणी सीमा संतकबीर मार्ग तथा विश्वेश्वरगंज की सड़क ही मान रहे हैं। इनके दक्षिण के भाग की अन्यत्र चर्चा होगी।

इस क्षेत्र का केन्द्र ज्येष्ठेश्वर का स्वयम्भू लिंग मानकर पुराणकारों ने इसके तीर्थों का उल्लेख किया है और तदनुसार ही इसकी विवेचना की जा रही है।

सिद्धेश्वर तथा सिद्धकूट का स्थान-निर्देश ऊपर हो चुका है। उसके पूर्व में व्याघ्रेश्वर थे, जिनके बहुत दूर पर दक्षिण में ज्येष्ठावापी थी तथा ज्येष्ठेश्वर का स्वयम्भू लिंग। व्याघ्रेश्वर इस समय 'बाघेवीर' नाम से प्रसिद्ध है। ज्येष्ठेश्वर के दक्षिण में प्रहसितेश्वर और उनके उत्तर में निवासेश्वर तथा उनके समीप में ही चतुःमुमद्र कूप थे, जिनके चारों ओर चार लिंग थे। वहीं पर ज्येष्ठागौरी का स्थान था। इस कूप के उत्तर तथा व्याघ्रे-श्वर के दक्षिण दण्डखात सरोवर था तथा दण्डीश्वर का शिवलिंग। थोड़ी ही दूर पर पश्चिम में जैगीषव्यगुहा तथा जैगीषव्येश्वर थे, जिनके भी पश्चिम में तथा सिद्धकूट के दक्षिण में देवलेश्वर तथा निकट में ही शतकाल थे। समीप में ही दक्षिण में शतातपेश्वर और उनके पश्चिम हेतुकेश्वर थे, जिनके दक्षिण में क्षपादेश्वर, कणादेश्वर तथा कणाद-कूप थे।

तीर्थों की यह स्थिति कृत्यकल्पतरु में तथा काशीखण्ड के ९७वें अध्याय के अनुसार है, जो सन् ११९४ ई० के पूर्व की है। काशीखण्ड में अन्यत्र भी ६३वें तथा ६५वें अध्याय में इस क्षेत्र का वर्णन मिलता है। ६५वें अध्याय में उस क्षेत्र के ४५ शिवलिंगों का नामांकन हुआ है, जिनके नाम नीचे दिये जाते हैं। इनके अतिरिक्त कन्दुकेश्वर तथा उटजेश्वर के नाम भी वहाँ बतलाये गये हैं।

ज्येष्ठेश्वर के उत्तर में पाराशरेश्वर तथा वहीं पर माण्डव्येश्वर, शंकरेश्वर, जाबालीश्वर, उपजंघनेश्वर, भारद्वाजेश्वर तथा माद्रीश्वर (एक ही स्थान में), असणीश्वर, वाजसनेयेश्वर, कण्वेश्वर, शालंकायनेश्वर, कलिन्दमेश्वर, अक्रोधनेश्वर, कपोतवृत्तीश्वर, कंकेश्वर, कुन्तलेश्वर, कंठेश्वर, कहोलेश्वर, तुम्बुरीश्वर, मतंगेश्वर, मरुतेश्वर, मगधेयेश्वर, जातुकर्णेश्वर, जम्बुकेश्वर, जारुधीश्वर, जलेश्वर, जाल्मेश्वर तथा जालकेश्वर थे। कात्यायनेश्वर, वामदेवेश्वर, औतथ्येश्वर, हारीतेश्वर, गालवेश्वर, कुम्भेश्वर, कौसुमेश्वर, अग्निवर्णेश्वर, नैध्रुवेश्वर, वत्सेश्वर, पर्णादेश्वर, सक्तुप्रस्थेश्वर, कणादेश्वर, माण्डूकायेश्वर, वाभ्रवेयेश्वर, शिलावृत्तीश्वर तथा च्यवनेश्वर भी ज्येष्ठस्थान में ही थे। इनके अतिरिक्त मृगुनारायण, सुमन्त्वादित्य तथा भीषणा भैरवी के स्थान भी वहीं थे।

इनमें से कात्यायनेश्वर से लेकर च्यवनेश्वर तक के १७ शिवलिंग हंसतीर्थ (हरतीरथ तालाव) के चारों ओर थे (का० खण्ड ६८।६६)। इसीके तारतम्य में कृत्तिवासेश्वर के काशीखण्ड के समय के स्थान का वर्णन है, जो पहले दिया जा चुका है। इससे ऐसा जान पड़ता है कि ये १७ शिवलिंग उस समय भी हंसतीर्थ के चारों ओर थे। परन्तु इनमें से कणादेश्वर तथा च्यवनेश्वर के स्थान कृत्यकल्पतरु में तथा काशीखण्ड के ९७वें अध्याय में अन्यत्र दिये गये हैं। इससे यह सम्भावना भी हो सकती है कि यह उनकी पुनः स्थापना रही हो। जम्बुकेश्वर तथा मतंगेश्वर के स्थान मध्यमेश्वर-क्षेत्र में थे, यह पहले कहा जा चुका है। पाराशरेश्वर की पुनः स्थापना व्यासेश्वर के समीप कर्णघंटा-तालाब के समीप हुई।

ऊपर की सभी बातों का विचार करने से इतना तो स्पष्ट ही है कि ज्येष्ठ स्थान के देवायतनों में पर्याप्त स्थान-परिवर्त्तन हुए।

ज्येष्ठेश्वर का आदिम स्थान कहाँ पर था, यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता, परन्तु अनुमान यही होता है कि वह उनके वर्त्तमान स्थान के समीप ही था; क्योंकि उनकी पूजा के पहले पंचचूडाह्रद में स्नान करने का आदेश है, जो कर्णघंटा-तालाब के समीप उत्तर में ही था। व्याघ्रेश्वर सिद्धेश्वर के पूर्व में थे और उनके दक्षिण में दण्डखात तथा उसके भी दक्षिण में ज्येष्ठेश्वर थे। सम्भावना यह है कि जो कुण्ड कुछ दिनों पहले तक वर्त्तमान था और जिसको पियालाशहीद का गड़हा कहा जाता था, वही पुराना दण्डखात-सरोवर था और व्याघ्रेश्वर इत्यादि के देवालय वहीं आसपास रहे होंगे। इस स्थान के समीप दो वापी तथा एक कूप होने चाहिए, परन्तु उन वापियों का अब पता नहीं चलता, इससे कुछ भी निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। ज्येष्ठेश्वर की पुनः स्थापना किसी समय केदारेश्वर के दक्षिण लालीघाट पर जयन्तेश्वर के समीप भी हुई थी। वह शिवलिंग तो हाल में ही गंगाजी में चला गया, परन्तु ज्येष्ठविनायक अभी भी वहाँ घाट पर बैठे हैं। शतकालेश्वर अब ठठेरीबाजार में गली के धरातल से नीचे पीतल के मन्दिर में हैं। ज्येष्ठावापी का तो पता नहीं रह गया, परन्तु ज्येष्ठेश्वर के समीप ही ज्येष्ठागौरी मकान-नं० के० ६३।२४ में हैं। निवासेश्वर (मकान-नं० के० ६३।४६) के सामने परन्तु लुप्त, व्याघ्रेश्वर (मकान-नं० के० ६३।१६) तथा कन्दुकेश्वर (मकान-न० के० ६६।२९) के शिवलिंग समीप में ही हैं। उटजेश्वर दीनानाथ के गोला में हैं। कहोलेश्वर का मुख-

लिंग मकान-नं० के० ६३।२२ में वर्त्तमान हैं यद्यपि अन्यत्र भी इनके दो मन्दिर हैं—एक कमच्छा में और दूसरा डेवढियाबीर पर। हंसतीर्थ (हरतीरथ) के दक्षिण दो शिवलिंग एक ही मन्दिर में हैं, परन्तु इनके नामों का ठीक-ठीक पता नहीं है। हरतीरथ के पश्चिम-तट पर भी कृत्तिवासेश्वर के पुराने स्थान के समीप दो शिवलिंग एक ही मढ़ी में हैं। इनके नाम भी नहीं मालूम, परन्तु उसी मन्दिर में वृषरुद्र के होने से यह सम्भावना दृढ़ होती है कि ये कृत्तिवास-क्षेत्र से सम्बद्ध रहे होंगे, परन्तु हंसतीर्थ के समीप तो ये हैं ही। उस क्रम के भी हो सकते हैं।

सुमन्त्वादित्य हनुमान-फाटक के पास हैं (मकान-नं० ए० ३१।९१), वहीं पर सुमन्त्वीश्वर भी हैं यद्यपि उनका नाम पंचगंगा-क्षेत्र में है। भूतभैरव महल्ले में भीषणभैरव भूतभैरव नाम से हैं, परन्तु भीषणा भैरवी का पता नहीं चलता। भृगुनारायण पवनेश्वर के मन्दिर में हैं (मकान-नं० के० ६३।१४)।

ज्येष्ठेश्वर के सम्बन्ध के कुछ देवताओं का उल्लेख काशीखण्ड के ६८वें अध्याय में भी मिलता हैं, परन्तु यह नहीं स्पष्ट होता कि ये किस स्थान पर थे। वहाँ कहा गया है कि ज्येष्ठेश्वर के दक्षिण अप्सरसेश्वर तथा सौभाग्योदक कूप थे। वहीं पर ज्येष्ठ.वापी के समीप कुक्कुटेश्वर तथा पितामहेश्वर थे, जिनके नैर्ऋत्यकोण में गदाधरेश्वर थे। इनके उत्तर में वासुकीश्वर तथा वासुकिकुण्ड थे, जिनके पश्चिम में तक्षकेश्वर थे और उनके उत्तर में तक्षक-कुण्ड था। इस कुण्ड के उत्तर में कपाली भैरव का स्थान था और वहीं पर महामुण्डा चण्डी की मूर्त्ति थी, जिसके पश्चिम में चतुःसागरवापी थी और उसके चारों ओर चार लिंग थे। इस वापी के उत्तर में वृषभेश्वर थे, जिनके उत्तर में गन्धर्वेश्वर थे, जिनका स्थान-निर्देश कर्कोटकवापी-क्षेत्र में किया जा चुका है।

काशीखण्ड के ९७वें अध्याय में वर्त्तमान ज्येष्ठेश्वर के दक्षिण के तीर्थों का कर्णघंटा-सरोवर के समीप के तीर्थों में उल्लेख हुआ है। वहाँ पर पंचचूडाह्रद तथा पंचचूडेश्वर का नामांकन किया गया हैं। इनके उत्तर में गौरीकूप का भी नाम हैं। **घण्टाकर्ण समीपे तु पञ्चचूडाप्सरः सरः।** सम्भवतः ऊपर के अप्सरसेश्वर तथा सौभाग्योदक कूप इन्हीं के नामान्तर हैं। सौभाग्योदक कूप या गौरीकूप तो अभी भी काशी देवी के प्रसिद्ध मन्दिर के पास वर्त्तमान है, परन्तु काशी देवी कौन हैं, इसका सद्यः पता नहीं लगता; क्योंकि पुराणों में कहीं भी इस स्थान पर उनका वर्णन नहीं मिलता। गौरीकूप के निकट होने के कारण इनका गौरी होना तो प्रायः निश्चित है और इस आधार पर इनका विजयभैरवी गौरी होना, सम्भावित अवश्य हैं। वासुकिकुण्ड के विषय में पहले कहा जा चुका है कि सन् १८२२ ई० तक वह कर्कोटक वापी के समीप विद्यमान था और नागपंचमी को वहाँ की यात्रा होती थी। तक्षककुण्ड भी वहीं पर रहा होगा। कपालीभैरव तथा महामुण्डा का भी अब वहाँ पता नहीं है। तक्षकेश्वर अब औघड़नाथ की तकिया के पास हैं। यहाँ यह बात ध्यान में रखनी है कि महामुण्डा चण्डी का प्रथम स्थान ऋणमोचन-तीर्थ के दक्षिण में था और वे वाराणसी-क्षेत्र की ईशान कोण में रक्षा करती थीं। सम्भवतः वहाँ से हटने पर उनकी स्थापना तक्षक कुण्ड के उत्तर में हुई और वहाँ से भी हटने पर

वागेश्वरी के मन्दिर में हुई। इस समय इस मन्दिर में तीन देवी-मूर्त्तियाँ हैं। एक तो अश्वारूढ़ा आँगन की दीवार में आले पर हैं, दूसरी स्कन्दमाता की विशाल मूर्त्ति है, जो स्कन्दमाता दुर्गा के नाम से विख्यात है और तीसरी नीचे के कक्ष में वागेश्वरी (वागीश्वरी) की मूर्त्ति है। किंवदन्ती के अनुसार वागीश्वरी ही महामुण्डा चण्डी हैं।

चतुःसागर-कूप का उल्लेख ऊपर निवासेश्वर के निकट हो चुका है और उसके समीप ही ज्येष्ठागौरी का स्थान कहा जा चुका है। ये दोनों देवता अब भूतभैरव महल्ले में हैं, परन्तु चतुःसमुद्र-कूप का अब पता नहीं है। जिस चतुःसमुद्र-कूप का यहाँ उल्लेख हुआ है, वह सम्भवतः मूल कूप की पुनः स्थापना थी, जो फिर भी अस्त-व्यस्त हो गई। काशीपुरा की सड़क पर नखास के पास एक कुआँ है, जो अब नखास बाबा का कुआँ कहलाता है। यह चतुःसमुद्र-कूप है, जो निवासेश्वर से सम्बद्ध है। सिद्धेश्वर के पश्चिम में जो सिद्धवापी थी, वह भी लुप्त है। ज्येष्ठावापी का भी अस्तित्व अब मिट चुका है। इसी प्रकार एक तीर्थ के बाद दूसरा लुप्त होता जाता है और इस प्रकार मनुष्यों को उनके दर्शन, पूजन अथवा स्नान से सहायता नहीं मिल पाती। भगवत्कृपा के ये साधन उनको अलभ्य होते जाते हैं। यही कलियुग में धर्म के घटने का क्रम है—मुसलमानों के आक्रमण, मन्दिरों की तोड़-फोड़, वर्त्तमान भौतिकवाद तथा धार्मिक अविश्वास केवल निमित्त-मात्र हैं।

आदित्यों में से उत्तरार्क इसी क्षेत्र में थे और उनके समीप ही उत्तरार्क-कुण्ड था। उसका एक नाम बर्करी कुण्ड भी था, जो अब बकरिया कुण्ड कहलाता है। परन्तु उत्तरार्क अब लुप्त है। वाराणसी में स्थित उज्जयिनी, दारुवन तथा मथुरा के प्रतीक इसी क्षेत्र में थे। उज्जयिनी महाकाल के समीप वृद्धकाल के पूर्व तथा कृत्तिवासेश्वर के उत्तर में थी। दारुवन कृत्तिवासेश्वर के चारों ओर था। उत्तरार्क से उत्तर वरणा नदी तक मथुरा थी। इन तीनों तीर्थों के अपने-अपने देवायतन भी वहाँ थे। उज्जयिनी के महाकाल का तो नामोल्लेख स्पष्ट ही हो चुका है। वे इस समय वृद्धकाल के घेरे में हैं। दारुवन के नागेश्वर भी यहाँ थे। वे भी वृद्धकाल के मन्दिर में हैं। मथुरा के बहुत-से सुन्दर तथा विशाल देवमन्दिर बकरिया कुण्ड के आसपास थे, जिनके विकृत रूप आज भी वर्त्तमान हैं और उस समय के वहाँ के वैभव के साक्षी हैं। इन्हीं में से किसी एक में गोवर्धनधारी कृष्ण की गुप्तकालीन वह सुन्दर मूर्त्ति स्थापित रही होगी, जो अब भारत-कलाभवन की शोभा तथा भारतवर्ष की मूर्त्तिकला का गौरव बढ़ाती है। मुसलमानों द्वारा यहाँ की तोड़-फोड़ के समय इसको बकरिया कुण्ड में छिपा दिया गया था, जहाँ से निकालकर वह कलाभवन में गई है।

इस विस्तृत क्षेत्र के पश्चिम कुछ दूर पर पाशपाणिगणेश हैं (वर्त्तमान सदर बाजार में), जो उनका प्रथम स्थान नहीं हो सकता; क्योंकि वे क्षेत्र के उत्तर के देवता हैं। यहाँ उनकी पुनः स्थापना हुई। ये पद्मपुराण में वाराणसी-क्षेत्र की पश्चिमी सीमा पर कहे गये हैं। कृत्यकल्पतरु में तथा काशीखण्ड में उनका नाम इस रूप में नहीं मिलता, यही इसका प्रमाण है। काशीखण्ड में चण्डीदेवी का नाम कहीं नहीं मिलता, किन्तु मरुजांगल-

क्षत्र से आये हुए चण्डीश का स्थान पाशपाणि गणेश के समीप बतलाया गया हैं। इससे दो बातें निकलती हैं। एक तो यह कि पाशपाणिगणेश तथा चण्डीश की पुनः स्थापना उनके वर्त्तमान स्थान पर काशीखण्ड के समय के पूर्व हुई। दूसरी यह कि चण्डीदेवी किसी अन्य देवी की पुनः स्थापना के रूप में हो सकती हैं। **तीर्थचिन्तामणि** (सन् १४६० ई०) में भीष्मचण्डी का जो स्थान बतलाया गया हैं, वह इस समस्या पर प्रकाश डालता है। वहाँ कहा गया है कि **विश्वेद्वायव्ये वरणा पूर्वे भीष्मचण्डिकास्ति** (ती० चि०, पृ० ३५२)। इससे जान पड़ता है कि ये चण्डी देवी भीष्मचण्डी की ही पुनः स्थापना हों। धूपचण्डी भी विश्वनाथ के वायव्य कोण में हैं, परन्तु वे वरणा के पूर्व नहीं हैं। इस तर्क से चण्डी देवी को ही भीष्मचण्डी की पुनः स्थापना मानना पड़ता है।

चण्डी देवी का मन्दिर सदर बाजार में है। वहीं पाशपाणि विनायक हैं। वायव्यकोण के मुण्डविनायक भी चण्डी देवी के मन्दिर में हैं। इससे भी स्पष्ट है कि उत्तर के पाश-पाणि विनायक का वहाँ स्थान नहीं हो सकता। चिन्तामणि विनायक यागेश्वर के मन्दिर में ईश्वरगंगी पर हैं। ज्येष्ठ विनायक ज्येष्ठेश्वर में तथा लालीघाट पर हैं। विघ्नराज विनायक तथा उनका कुण्ड, जो अब चित्रकूट का तालाब कहलाता है, चित्रकूट महल्ले में हैं। दन्तहस्तविनायक बड़े गणेश के समीप हैं। बड़े गणेश स्वयं महाराज विनायक हैं। विकटद्विजविनायक अथवा विकटदन्त विनायक मकान-नं० जे० १२।१३४ में धूपचण्डी के मन्दिर में पिछवाड़े की ओर हैं। उन्हीं के सम्मुख आम्नतकेश्वर-क्षेत्र से आये हुए सूक्ष्मेश्वर हैं।

ध्रुवचण्डी (वर्त्तमान धूपचण्डी) का नाम पुराणों में नहीं मिलता। इसी प्रकार महाराज काशिराज की नदेसर कोठी में स्थित नादेश्वरी देवी का भी वहाँ उल्लेख नहीं है। परन्तु यह सम्भावना है कि नादेश्वर (ओंकारेश्वर) तथा समीपस्थ पार्वती देवी की पुनः स्थापना यहाँ हुई हो।

(ज) सप्तसागर, काशीपुरा, भूतभैरव तथा राजादरवाजा और हड़हासराय के महल्ले :

यह क्षेत्र पूर्व में कालभैरव तथा गोपाल-मन्दिर तक पश्चिम में चेतगंज की सड़क तक उत्तर में कबीरचौरा की सड़क तक, और दक्षिण में चौक थाना तथा दालमण्डी की सड़क तक फैला हुआ है और वर्त्तमान काल में यहाँ बहुत-से देव-मन्दिर हैं, जिनमें से बहुत-से अन्य क्षेत्रों से आये हुए हैं।

प्राचीनकाल के मन्दिरों के नामांकन में यहाँ भैरवेश्वर को मुख्य मानकर चलने में सुविधा होगी। जमदग्नीश्वर के पश्चिम में भैरवेश्वर तथा उसी मन्दिर में नृत्यमाना दुर्गा, उनके उत्तर में भैरवकूप और उसके पश्चिम में शुकेश्वर तथा शक्रेश्वर तड़ाग थे। शुकेश्वर के नैर्ऋत्यकोण में व्यासेश्वर तथा व्यासकुण्ड (काशीखण्ड में व्यासकूप) और उसके पश्चिम घण्टाकर्णेश्वर तथा घण्टाकर्ण-ह्लद थे। इस ह्लद के उत्तर में पंचचूड़ाह्लद तथा पंचचूडेश्वर और उनके दक्षिण में गौरीकूप थे। पंचचूडाह्लद के उत्तर में अशोकवन था, जिसमें विलोककुण्ड था। इसके उत्तर में मन्दाकिनी थी। कणादेश्वर का नामांकन ज्येष्ठ

स्थान के शीर्षक के अन्तर्गत हो चुका है। उनके दक्षिण में भूतीश्वर तथा उनके पश्चिम में आषाढीश्वर का चतुर्मुख लिंग और उसके पूर्व में दैत्येश्वर (काशीखण्ड में दुर्वासेश्वर) एवं इनके दक्षिण में भारभूतेश्वर थे। व्यासेश्वर के पूर्व में पाराशरेश्वर तथा समीप में ही अत्रीश्वर तथा वहीं पर शंखेश्वर तथा लिखितेश्वर थे। चित्रगुप्तेश्वर, चित्रघण्टादेवी, तथा चित्रघण्ट-विनायक का स्पष्ट स्थान-निर्देश नहीं मिलता, परन्तु ये तीनों देवता भारभूतेश्वर के समीप में ही थे। अस्थिक्षेप-तड़ाग तथा कीकसेश्वर भी वहीं थे। किरातेश्वर का शिवलिंग भी निकट में ही था।

भैरवेश्वर अभी भी अपने पुराने स्थान पर हैं। मन्दिर छोटा-सा तथा टूटा-फूटा पड़ा है (मकान-नं० के० ३२।७)। इनका नाम लोग भूल गये हैं, परन्तु इनके उत्तर में भैरव बावली सर्वविदित हैं; क्योंकि उस नाम से वहाँ का महल्ला ही प्रख्यात है। इस मन्दिर के ही एक भाग में देवी का मन्दिर है, जो अब शीतला जी के नाम से विख्यात हैं। इसकी बगल के मकान में एक दुर्गाजी की नाचती हुई मूर्त्ति थी, जो अब कालभैरव के मन्दिर के दालान में रखी है और इस मन्दिर का एक गुप्तकालीन खम्भा मन्दिर के सामने रखा है और गजलक्ष्मी तथा सूर्य की गुप्तकालीन मूर्त्तियाँ दीवाल में लगी हुई हैं। इन्हीं आधारों पर इनकी पहचान हो सकी। भैरवेश्वर के इस स्थान पर होने के कारण ही तेरहवीं शताब्दी में कालभैरव की पुनःस्थापना इस स्थान पर हुई और बहुत-से शिवलिंगों की पुनः स्थापना का यह केन्द्र हो गया, जैसा आगे चलकर दिखलाया जायगा। भैरवकूप बावली के रूप में साठ-सत्तर वर्ष पहले तक था, परन्तु अब पाट दिया गया है और वह स्थान काशी गोशाला के प्रांगण में है (मकान-नं० के० ४०।२०)। शुकेश्वर गोशाला के पश्चिम-फाटक के समीप कोठरी में हैं। जान पड़ता है कि शुकेश्वर तड़ाग को पाटकर ही गोशाला का प्रांगण बना है। व्यासेश्वर तो घण्टाकर्णह्रद (कर्णघंटा तालाब) के तट पर प्रसिद्ध ही हैं। पहले उनके दर्शन होते थे, परन्तु सन् १९३४ ई० के भूचाल के फलस्वरूप इस तालाब का पानी इतना बढ़ गया है कि मन्दिर के छज्जे तक सदैव पानी रहता है और इस प्रकार व्यासेश्वर के शिखर-मात्र के दर्शन होते हैं। समीप में ही व्यासकूप है। घण्टाकर्णेश्वर भी कण्ठेश्वर नाम से वहीं पर हैं। पंचचूडाह्रद पटकर लुप्त हो गया और पंचचूडेश्वर का भी अब पता नहीं है। सम्भवतः सप्तसागर का महल्ला इसी को पाटकर बसा है। विलोक कुण्ड ने धीरे-धीरे नाले का रूप धारण किया और बुलानाला नाम से प्रसिद्ध होकर लुप्त हो गया, परन्तु महल्ले के नाम में वह अभी भी प्रख्यात है। आषाढी-श्वर के दो स्थान कहे जाते हैं—एक प्राचीन तथा एक अपेक्षाकृत नवीन। प्राचीन स्थान भारभूतेश्वर के वायव्य कोण में राजादरवाजे महल्ले में है (मकान-नं० सी० के० ५४।२४) और दूसरा काशीपुरा में, रानी बेतिया के मन्दिर के समीप। इसी मन्दिर में दुर्वासेश्वर तथा भूतीश्वर भी हैं। भारभूतेश्वर का प्रसिद्ध मन्दिर राजादरवाजे में है और वहीं पर गजविनायक भी हैं। आषाढीश्वर के प्राचीन स्थान से पश्चिम सड़क पार करने पर किरातेश्वर का मन्दिर (मकान-नं० सी० के० ५२।१५) मिलता है और उसके आगे वायव्य कोण में थोड़ी दूर पर कीकसेश्वर हैं। इनके और पश्चिम बेनिया का तालाब है,

जिसका एक भाग पहले अस्थिक्षेप तड़ाग कहलाता था, जिसका लौकिक रूप हड़हा ताल था, जिसको पाटकर ही हड़हा सराय का महल्ला बसा है। यह कृष्णवेणी तीर्थ था, जो प्रयाग की त्रिवेणी के समान ही पुनीत मानी जानेवाली कृष्णानदी का प्रतीक था और इसी कारण चिता के भस्मावशेष उसमें डाले जाते थे। यहाँ यह बात भी ध्यान में रखनी है कि वाराणसी में यह प्रख्यात जनश्रुति है कि पुराने समय मे चौक थाने के समीप मुर्दे जलाये जाते थे। इसका समाधान कुछ लोगों ने यह किया है कि मणिकर्णिका का श्मशान ही यहाँ तक फैला हुआ था। परन्तु सम्भावना यह भी है कि अस्थिक्षेप तड़ाग अर्थात् वेणीतीर्थ के समीप का यह स्थान श्मशान था, जो नैर्ऋत्य कोण में लक्ष्मीकुण्ड के समीप तक फैला था; क्योंकि काशीखण्ड में यह स्पष्ट लिखा है कि कूणिताक्ष विनायक, जिनका स्थान लक्ष्मीकुण्ड पर है, श्मशान को पवित्र करते हैं।

कूणिताक्षो गणाध्यक्षस्त्रितुण्डादीश दिक्स्थितः।
महाश्मशानं सततं पायाद्दुष्टकुदृष्टितः॥ (का० खं० ५७।९१)

पुरानी गुदड़ी में हाटकेश्वर का मन्दिर है, जो काशीखण्ड के अनुसार अपने स्थान पर ही है और नई चौक के उत्तर में असीम हाटकेश्वर का, परन्तु इनके विषय में कुछ कहा नहीं जा सकता। काशीखण्ड के अनुसार हाटकेश्वर का एक स्थान प्रह्लादघाट के समीप था और दूसरा अस्थि-क्षेप तड़ाग के समीप। यह सम्भव है कि प्रह्लादघाटवाले हाटकेश्वर की पुनः स्थापना होने पर उनका नाम असीम हाटकेश्वर हो गया हो, परन्तु यह कल्पना-मात्र हो सकती है, इससे अधिक कुछ नहीं।

प्राचीनकाल में इस क्षेत्र में बस इतने ही देवायतन तथा तीर्थ थे, परन्तु मन्दिरों की तोड़-फोड़ के उपरान्त कालान्तर में यहाँ बहुत-से देवता अन्य क्षेत्रों से आकर पुनः स्थापित हुए। इनमें कालभैरव प्रधान हैं।

कालभैरव के समीप—जैसा ऊपर कहा जा चुका है, भैरवेश्वर का प्राचीन मन्दिर यहीं पर था और उसी को केन्द्र मानकर कालभैरव की स्थापना यहाँ हुई। यह बात काशीखण्ड के पहले की है; क्योंकि काशीखण्ड में उनके इस नये स्थान का उल्लेख है। उस समय से लेकर प्रायः छह सौ वर्षों तक कालभैरव का मन्दिर बहुत छोटा खपड़ों से ढका हुआ था। उसमें शिखर इत्यादि का कोई बाह्याडम्बर नहीं था, जिससे इसके कोई महत्त्वपूर्ण शिवालय होने का संदेह मुसलमान शासकों को हो सकता और बाद की तोड़-फोड़ में यह इसी कारण बचता गया। बाजीराव पेशवा के सेनाध्यक्ष महाराष्ट्र के सरदार विंचूरकर ने वर्त्तमान मन्दिर बनवाया। इस मन्दिर के चारों तरफ बहुत-से मन्दिर इस बीच में बन गये थे। इसी कारण यहाँ पर स्थान-संकोच था और परिणामतः मन्दिर बहुत बड़ा नहीं बन सका। भैरवेश्वर का नाम ही भूल गया, इस कारण उसका छोटा स्वरूप ही बना रह गया और आज भी वह मकान-नं० के० ३२।७ में जीर्ण-शीर्ण दशा में ही है, यद्यपि उसके ही एक भाग में शीतलाजी के नाम से पूजी जानेवाली दुर्गा जी का मन्दिर नया बन गया, जो छोटा होते हुए भी सुन्दर है।

कालभैरव से थोड़ी ही दूर पर दण्डपाणि गली में कालेश्वर के तथा दण्डपाणि भैरव के नाम से श्मशान-स्तम्भ के पुनः स्थापित होने का उल्लेख इस क्षेत्र के पूर्व के विवरण में किया जा चुका

हैं। कालभैरव-मन्दिर से पूर्व की ओर सटे हुए मकान-नं० के० ३२।२४ में वृद्धकाल-क्षेत्र से आये हुए महाकाल का शिवलिंग है और दक्षिण की ओर कालभैरव-मन्दिर के पिछवाड़े मकान-नं० के० ३२।२६ की दीवाल में नवों-दसवीं शताब्दी की दण्डपाणि की प्राचीन मूर्त्ति है, जो सन् ११९४ ई० की तोड़-फोड़ के समय अविमुक्तेश्वर के अथवा विश्वेश्वर के तत्कालीन मन्दिर से निकाल ली गई थी और कालान्तर में यहाँ स्थापित हुई। मूर्त्ति का एक कोना टूटा हुआ है, जिससे इस कथन की पुष्टि होती है। इस समय ये क्षेत्रपाल के नाम से पूजे जाते हैं और इनका यह नाम पन्द्रहवीं शताब्दी में भी था—यह तत्कालीन मराठी पुस्तक गुरुचरित्र से प्रमाणित होता है। दण्डपाणि का ही नाम क्षेत्रपाल है, यह तो सर्वविदित है।

ज्येष्ठेश्वर के समीप—ज्येष्ठेश्वर अपने प्राचीन स्थान के आसपास ही हैं, ऐसा समझ पड़ता है। उनके वर्त्तमान मन्दिर का नम्बर के० ६२।१४४ है। ज्येष्ठविनायक भी वहीं हैं। समीप में भूतभैरव नाम के एक भैरव की मूर्त्ति भी है, जिसके नाम पर यह महल्ला ही प्रख्यात है। ये ही भीषण भैरव माने जाते हैं। यह इनका प्राचीन नाम हो सकता है, परन्तु इसका कोई स्पष्ट प्रमाण नहीं है। एक शंका यह भी है कि भीषण भैरव से वदलकर इनका नाम भूतभैरव कैसे हो गया। सम्भावना यह भी है कि जव इस स्थान के उत्तर के देवता यहाँ आये, उस समय कपाली भैरव भी, जिनका स्थान कर्कोटकवापी (नागकुआँ) के समीप था, यहाँ पर पुनः स्थापित हुए। भूतीश्वर का प्राचीन शिवलिंग यहीं पर था, जिसके संयोग से ये भूतीश्वरवाले भैरव और कालान्तर में भूत-भैरव हो गये। परन्तु यह कल्पना-मात्र है, इसका कोई दृढ़ आधार नहीं है।

इसी स्थान पर काशीदेवी का एक मन्दिर भी है, जिसका उल्लेख ऊपर हो चुका है, परन्तु उनके सम्बन्ध में पुराणों में कोई सामग्री नहीं है। कृत्यकल्पतरु में वाराणसी देवी का नाम है, परन्तु वे अपने स्थान के निकट ही त्रिलोचन में अभी भी हैं। **ब्रह्मवैवर्त्तपुराण** में काशीदेवी का नाम मिलता है, परन्तु उनका स्थान गंगातट पर अविमुक्तेश्वर के पूर्व में बतलाया गया है और ललिताघाट पर उनकी मूर्त्ति इस समय भी वर्त्तमान है।

> **आरभ्यतद्दिनं देवी गङ्गाकेशवसन्निधौ ।**
> **अविमुक्तेश्वरन्ध्यायन्पश्चिमाभिमुखीस्थिता ॥**
>
> **(ब्रह्मवैवर्त्तपुराण, काशीरहस्य, १७।१६)**

ज्येष्ठेश्वर के समीप की इन काशीदेवी के नाम पर महल्ला भी काशीपुरा कहलाता है। इनके निकट एक प्राचीन कुआँ है, जो गौरीकूप है (का०खं० ९७।१४७) यद्यपि अन्यत्र (का०खं० ६६।२) वहीं पर सौभाग्योदक नाम के अप्सरसकूप का उल्लेख भी है। सम्भवतः ये दोनों एक ही कूप के नाम हैं। गौरीकूप से किसी निकटवर्त्ती गौरी का संकेत माना जा सकता है—ज्येष्ठागौरी तो अन्यत्र हैं ही। कर्कोटकवापी के वायव्यकोण में विजयभैरवी महागौरी का उल्लेख है (का० खं० ६६।३०)। कौन जाने उनकी पुनः प्रतिष्ठा इस स्थान पर हुई हो। परन्तु यह सब निरी कल्पना ही है। इस स्थान के कुछ देवताओं के स्थानों का विवेचन ज्येष्ठस्थान शीर्षक में पहले हो चुका है। अतएव कुछ-न-कुछ पिष्टपेषण अनिवार्य हो जाता है

तक्षकेश्वर इस समय औघड़नाथ की तकिया के पास हैं। उटजेश्वर दीनानाथ के गोला में हैं। घण्टाकर्णेश्वर के पश्चिम में महोदेरेश्वर का शिवलिंग था, परन्तु अब उसका पता नहीं लगता।

चित्रगुप्तेश्वर तथा चित्रकूप अपने स्थान पर ही हैं। चित्रघण्टा देवी अब लक्खी-चौतरा के पास चन्दू नाऊ की गली में मकान-नं० सी० के० ३१।३४ में हैं। चित्रघण्ट-विनायक की अब दो मूर्त्तियाँ हैं—एक तो रानीकुआँ की सड़क पर संगमरमर के छोटे मन्दिर में और दूसरी, जगन्नाथदास वलभद्रदास की दूकान के चबूतरे पर बड़ी सड़क पर। इन दोनों स्थानों पर उनकी दो बार पुनः स्थापना हुई होगी। अतएव इसमें कोई विवाद की आवश्यकता नहीं है।

परशुरामेश्वर का मन्दिर भी इसी क्षेत्र में पड़ता है। उनके दो स्थान कहे जाते हैं—एक तो नन्दनसाहू की गली के सिरे पर (मकान-नं० सी० के० १४।१६) और दूसरा, उसके पूर्व कश्मीरीमल की हवेली के पिछवाड़े। काशीखण्ड में परशुराम-तीर्थ का उल्लेख है, परन्तु परशुरामेश्वर का नाम नहीं है, किन्तु इसमें शंका की कोई बात नहीं है। सभी शिवलिंगों के नाम काशीखण्ड में भी नहीं मिलते। किंवदन्ती के अनुसार किसी समय यह मन्दिर बड़ा वैभवशाली था। मन्दिर के समीप ही मकान-नं० सी० के० १४।५३ में परशुराम विनायक की विलक्षण मूर्त्ति है।

(झ) अग्नीश्वरघाट से दशाश्वमेघघाट तक और पश्चिम में सूर्यकुण्ड, लक्ष्मीकुण्ड, सिगरा की सड़क तथा त्रिपुरान्तकेश्वर तक का क्षेत्र:

यह क्षेत्र बहुत बड़ा है, अतएव इसका विवेचन कई छोटे-छोटे टुकड़ों में करने में सुविधा होगी।

१. संकठाजी तथा आत्मावीरेश्वर का मण्डल पश्चिम में पशुपतीश्वर तक।
२. मणिकर्णिका तथा ब्रह्मनाल-क्षेत्र पश्चिम में कचौड़ी गली तक।
३. मणिकर्णिका के दक्षिण से दशाश्वमेघ तक तथा पश्चिम में त्रिपुराभैरवी की गली तक।
४. विश्वनाथ, अन्नपूर्णा तथा साक्षीविनायक के क्षेत्र आदिविश्वेश्वर तथा गोदौलिया तक।
५. कोदई की चौकी, लक्ष्मीकुण्ड, मिसिरपोखरा, सूर्यकुण्ड तथा त्रिपुरान्तकेश्वर।

अग्नीश्वरघाट के उत्तर के तीर्थों का विवेचन पहले हो चूका है। उसके दक्षिण के तीर्थों का विवेचन अभी अपेक्षित है; क्योंकि उनकी सहायता से देवताओं के स्थान स्थिर करने में सहायता मिलती हैं। अग्नीश्वरघाट से मणिकर्णिकाघाट तक में निम्नलिखित तीर्थ क्रमशः पड़ते हैं:—

१. अग्नितीर्थ : अग्नीश्वरघाट।
२. अंगारतीर्थ : ऊपर अंगारेश्वर का मन्दिर। अब आत्मावीरेश्वर के घेरे में।
३. कलतीर्थ : कलशेश्वर के समीप। कलशेश्वर का पुराना स्थान।
४. चन्द्रतीर्थ : चन्द्रेश्वर के सामने।

५. वीरतीर्थ : वीरेश्वर के प्राचीन स्थान के निकट।
६. विघ्नेशतीर्थ : ऊपर विनायक तथा विरूपाक्ष।
७. हरिश्चन्द्र-तीर्थ : ऊपर हरिश्चन्द्र-मण्डप। मकान-नं० सी० के० ७।१६६ में।
८. पर्वततीर्थ : ऊपर पर्वतेश्वर का शिवालय। मकान-नं० सी० के० ७।१५० में वर्त्तमान।
९. कम्बलाश्वतरतीर्थ : ऊपर कम्बलाश्वतरेश्वर का शिवायतन।
१०. सारस्वत-तीर्थ : मकान-नं० सी० के० ७।१०९ में गोमठ के पास सरस्वती जी की मूर्त्ति है। उसी के सामने यह तीर्थ है।
११. उमातीर्थ : ऊपर उमा की मूर्त्ति, जो इस समय अम्वाजी के नाम से प्रसिद्ध है। मकान-नं० सी० के० ७।१०२।
१२. मणिकर्णिका अथवा चक्रपुष्करिणी तीर्थ। प्रसिद्ध।
इसके बाद थोड़ी ही दूर में वहुत-से तीर्थ हैं, जिनके नाम हैं:—
१३. पशुपति-तीर्थ
१४. रुद्रवास-तीर्थ : वहीं रुद्रवासेश्वर।
१५. विश्वतीर्थ : वहीं विश्वागौरी।
१६. मुक्तितीर्थ : समीप में मोक्षेश्वर। लुप्त।
१७. अविमुक्तेश्वर-तीर्थ
१८. तारकतीर्थ : वहीं पर तारकेश्वर। तारकेश्वर का मन्दिर प्रसिद्ध है।
१९. स्कन्दतीर्थ : समीप में तारकेश्वर के पूर्व षडानन की मूर्त्ति। लुप्त।
२०. ढुंढितीर्थ
२१. भवानीतीर्थ
२२. ईशानतीर्थ
२३. ज्ञानतीर्थ : वहीं ज्ञानेश्वर लुप्त। अब लाहौरी टोले में मकान-नं० डी० १।३२ में
२४. शैलादतीर्थ
२५. विष्णुतीर्थ
२६. पितामह-तीर्थ अथवा ब्रह्मनाल-तीर्थ—प्रसिद्ध।
२७. भागीरथी तीर्थ : सरस्वती फाटक से गंगाजी जाने पर सामने। ललिताघाट के उत्तर मिला हुआ।

इन तीर्थों में सं० १३, २०, २१ तथा २३ अन्यत्र ह्रदों के रूप में भी थे। सं० २२ ज्ञानवापी था और उनके प्रतीक गंगाजी में भी माने जाते थे, ऐसा प्रतीत होता है। अब हम इस क्षेत्र के देवस्थानों पर विचार करेंगे।

१. संकठाजी तथा आत्मावीरेश्वर का मण्डल पश्चिम में पशुपतीश्वर तक :

इस क्षेत्र के प्राचीन देवता बुधेश्वर, रावणेश्वर, वराहेश्वर, अयोगसिद्धीश्वर (काशीखण्ड में योगेश्वर), माण्डव्येश, गालवेश्वर, प्रचण्डेश्वर, वातेश्वर (काशीखण्ड में घातेश्वर), सोमेश्वर, अंगारेश्वर तथा कुक्कुटेश्वर थे। पुराणकाल में पाण्डवेश्वर के पाँच शिवलिंग, संवर्त्तेश्वर तथा

श्वेतेश्वर भी यहीं थे और उनके पश्चिम में कलशेश्वर, जिनके उत्तर में चित्रगुप्तेश्वर और उनके पश्चिम यदृच्छेश्वर, दृढेश्वर, छायेश्वर तथा विनायक, एवं विरूपाक्षकुण्ड, विरूपाक्ष तथा विरूपाक्ष-कूप थे। कलशेश्वर के दक्षिण में गुह्येश्वर (काशीखण्ड में ग्रहेश्वर) और उनके दक्षिण में उत्तथ्येश्वर तथा वामदेवेश्वर तथा उनके पश्चिम में (काशीखण्ड दक्षिण में) कम्बलाश्वतरेश्वर और नलकूवरेश्वर थे, जिनके दक्षिण में मणिकर्णी देवी तथा मणिकर्णीश्वर थे। मणिकर्णीश्वर के उत्तर में परिमेश्वर (काशीखण्ड में पलितेश्वर) तथा पापनाशन लिंग और उनके पश्चिम में निर्जरेश्वर तथा इनके नैर्ऋत्यकोण में पितामहेश्वर थे। विश्वेश्वर के तत्कालीन शिवायतन के ईशान-कोण में अवधूततीर्थ नामक बड़ा ह्रद था, जिसके पूर्व में तट पर ही पशुपतीश्वर तथा अवधूतेश्वर थे, जिनके दक्षिण में गोमिलेश्वर और उनके पश्चिम में जीमूतवाहनेश्वर थे।

इन देवताओं में बहुत थोड़े ऐसे हैं, जिनका अब पता रह गया है और इनमें से भी कई अपने प्राचीन स्थान से हटकर अन्यत्र स्थापित हुए हैं। यहाँ पर यह भी ध्यान में रखना है कि मुसलमानों के आने के पहले यहाँ पर बस्ती नहीं थी। कुछ तपस्वी लोग अवश्य इन देवालयों तथा तीर्थों के आश्रय से उनके आसपास रहते थे। मणिकर्णीश्वर, मणिकर्णी देवी और कम्बलाश्वतरेश्वर एवं नलकूवरेश्वर अपने स्थान पर अब भी हैं। पशुपतीश्वर तथा अवधूतेश्वर भी प्रायः अपने ही स्थान पर हैं, यद्यपि अवधूतेश्वर थोड़ा-सा हटे हैं। इनके अतिरिक्त अन्य देवता या तो अपने पुराने स्थान से हटकर अन्यत्र स्थापित हुए हैं या लुप्त हो गये हैं। कुछ सम्भवतः ऐसे भी होंगे, जिनके नाम भूल गये हैं। प्राचीन काल में (सन् १५८० ई०) बुधेश्वर चन्द्रेश्वर के पूर्व में और अंगारेश्वर कम्बलाश्वतरेश्वर के उत्तर में संकठाजी के समीप थे। अब बुधेश्वर तथा अंगारेश्वर दोनों ही आत्मावीरेश्वर के घेरे में दालान में हैं। इस प्रकार, अंगारेश्वर अपने स्थान से कुछ दक्षिण हटे हैं (पाञ्च मुद्रे महास्थाने कम्बलाश्वत्तरोत्तरे—का० खण्ड १७।१२)। सोमेश्वर के कई स्थान-परिवर्त्तन हुए। ब्रह्मवैवर्तपुराण के काशीरहस्य के समय में उनका स्थान पाण्डेघाट के समीप सोमेश्वर घाट पर था, जहाँ अभी भी उनका मन्दिर है। बाद में मानमन्दिर-घाट के समीप स्थान-परिवर्त्तर हुआ, जहाँ वह अब भी है। यह परिवर्त्तन वरदराज (सन् १६००—१६५०ई०) के पूर्व हो चुका था; क्योंकि गीर्वाणपदमंजरी में सोमेश्वर का यही स्थान बतलाया गया है। पाण्डवेश्वर, संवर्त्तेश्वर, तथा श्वेतेश्वर अब ज्ञानवापी के उत्तर-फाटक के समीप हैं। कलशेश्वर अब कश्मीरीमल की हवेली के पीछे मकान-नं० सी० के० ७/१०६ में पितामहेश्वर तथा मणिकर्णिकेश्वर के बीच में हैं। यही उनका काशीखण्डोक्त स्थान है; परन्तु यह उनकी पुनःस्थापना ही है; क्योंकि उनका प्रथम स्थान हरिश्चन्द्रतीर्थ के उत्तर में था। इन शिवायतनों का प्राचीन स्थान ठीक कहाँ पर था; यह निश्चय करने की सामग्री उपलब्ध नहीं है, परन्तु कलशेश्वर, कम्बलाश्वतरेश्वर तथा नलकूवरेश्वर के ईशानकोण में थे और पाण्डवेश्वर थे कलशेश्वर के पूर्व और अंगारेश्वर के ईशानकोण में। ऊपर दिये हुए तीर्थों को देखने से भी यही निष्कर्ष निकलता है; क्योंकि अंगारतीर्थ, कलतीर्थ, चन्द्रतीर्थ, वीरतीर्थ तथा विघ्नेश तीर्थ सभी हरिश्चन्द्रतीर्थ के उत्तर में हैं। विघ्नेशतीर्थ के

विघ्नेश की मूर्त्ति संकठाजी के मन्दिर के दक्षिण में है। विरूपाक्ष अब विश्वनाथ-मन्दिर में शनैश्चरेश्वर के पूर्व में हैं। पितामहेश्वर तथा प्रपितामहेश्वर अपने ही स्थान पर शीतला गली में कश्मीरीमल की हवेली के दक्षिण में हैं (मकान-नं० सी० के० ७९/२)। इस क्षेत्र में नृसिंह की कई मूर्त्तियाँ हैं। दो या तीन देवी-मूर्त्तियाँ भी हैं, जो शीतला नाम से प्रसिद्ध हैं, परन्तु उनके पुराने नाम कुछ और ही थे। प्रपितामहेश्वर का नाम काशीखण्ड में अन्यत्र नहीं हैं, परन्तु कुब्जा देवी के स्थान-निर्देश में कहा गया हैं: **प्रपितामहपश्चिमे।** शीतलागली में पितामहेश्वर के गह्वर में जो देवी शीतला नाम से पूजी जाती हैं, वे ही कुब्जा हैं और उनके ही मन्दिर के बाहर जो शीतलाजी की दूसरी मूर्त्ति है, वह त्रिलोक सुन्दरी हैं। पहले यह मूर्त्ति भी मन्दिर के भीतर थी। कुछ ही दिन पूर्व बाहर रख दी गई हैं-जिससे भक्त लोगों को सुविधा रहे। कुक्कुटेश्वर अब दुर्गाजी के मन्दिर में दुर्गाकुण्ड पर हैं। रावणेश्वर, माण्डव्येश्वर, गालवेश्वर, अयोगसिद्धीश्वर, प्रचण्डेश्वर, वातेश्वर, चित्रगुप्तेश्वर' यदृच्छेश्वर, छायेश्वर, दृढेश्वर, गुहेश्वर, परिमेश्वर, पापनाशन लिंग तथा निर्जरेश्वर का अब पता नहीं चलता। गोमिलेश्वर तथा जीमूतवाहनेश्वर भी अब लुप्त हैं। एक वराहेश्वर अपने स्थान के समीप सिद्धेश्वरी मन्दिर में हैं। वहीं कोकावराह हैं। एक वराहेश्वर दशाश्वमेघघाट पर भी हैं।

इस क्षेत्र में बाहर से आये हुए देवताओं की संख्या बहुत बड़ी है और उनमें महत्त्वपूर्ण देवता भी कई हैं। संकठाजी (प्राचीन नाम विकटा मातृका) की दो मूर्त्तियाँ हैं। एक तो संकठाजी (मकान-नं० सी० के० ७/१५९) के नाम से प्रसिद्ध हैं और दूसरी कात्यायिनी दुर्गा के नाम से आत्मावीरेश्वर के मन्दिर में हैं। आत्मावीरेश्वर भी, स्वर्लीनक्षेत्र से विकटा मातृका तथा पंचमुद्रापीठ-समेत यहाँ पधारे हैं और इस क्षेत्र में भी इनका स्थान बदला जा चुका है। पंचमुद्रापीठ सन् १५७३ ई० के पहले से ही संकठाजी के मन्दिर में माना जाता है (एकनाथी गीता, ३१।५३३)। वहीं पर सगरेश्वर हैं। अग्नीश्वर भी कामेश्वर-क्षेत्र तथा बाद में स्वर्लीन-क्षेत्र से आकर अब मकान-नं० सी० के० २/३ में हैं। इसके पहले के अपने स्थान पर भी अग्नीश्वर स्वर्लीनेश्वर के पास मकान-नं० ए० १२/२ में हैं। यही बात उपशान्तेश्वर के तथा भद्रेश्वर के सम्बन्ध में भी है, जो अब मकान-नं० सी० के० २/४ में हैं। ये दोनों भदऊँ महल्ले के आसपास के देवता हैं, वर्त्तमान भद्रेश्वर-कुण्ड, जो पुराने भद्रदोह का प्रतीक हैं, नीचे गंगातट पर पक्का है, परन्तु बालू में दबा हुआ ही रहता हैं। केवल एक बार कुछ भक्तों ने उसको खोदकर निकाला था। अश्विनीकुमारेश्वर का प्राचीन स्थान राजघाट के उत्तर में कहीं पर था, परन्तु काशीखण्ड के समय वे अपने वर्त्तमान स्थान पर मकान-नं० सी० के० २/२६ में 'गङ्गायाः पश्चिमे तटे' आ गये थे। नागेश्वर गायघाट से हटकर काशीखण्ड के ८४वें अध्याय के वर्णन के बाद भोंसलाघाट के समीप मकान-नं० सी० के १/२१ से सटे हुए अपने वर्त्तमान स्थान पर स्थापित हुए। उनके इस स्थान का वर्णन भी काशीखण्ड में १००वें अध्याय में मिलता हैं। कालान्तर में गायघाट तथा महथाघाट पर पुनः उनकी स्थापना हो गई। नागेश-विनायक भी इन्हीं के साथ-साथ रहे और हैं। हरिश्चन्द्रेश्वर के प्राचीन स्थान पुष्पदन्तेश्वर

के आग्नयकोण में था। इस समय वे संकठाघाट पर मकान-नं० सी० के० ७/१६६ में हैं। समीप में हरिश्चन्द्र-विनायक मकान-नं० सी० के० ७/१६५ में हैं। नीचे हरिश्चन्द्र-तीर्थ है। प्राचीन काल में यहाँ पर केवल हरिश्चन्द्र-मण्डप था, जिसमें कालान्तर में हरिचन्द्रेश्वर की स्थापना हुई। यह मण्डप सम्भवतः उस स्थान का स्मारक था, जहाँ महाराज हरिश्चन्द्र को धर्मराज का आशीर्वाद मिला था और रोहिताश्व पुनः जीवित हुआ था। ऐसा कहने का कारण यह हैं कि काशीखण्ड में मणिकर्णिका की सीमा बतलाते हुए 'हरिश्चन्द्र-मण्डप' पद आया है, हरिश्चन्द्रेश्वर नहीं कहा गया हैं। 'आहरिश्चन्द्रमण्डपात्' ऐसा वाक्य है। त्रिस्थलीसेतु में हरिश्चन्द्रेश्वर का यही स्थान बताया गया, जिससे जान पड़ता है कि हरिश्चन्द्रेश्वर की पुनः स्थापना यहाँ हुई और स्वर्गेश्वर तथा मोक्षेश्वर एवं वासुकीश्वर से सम्वद्ध लिंगपुराण के वाक्य जो अन्यत्र थे, वे भी इनके इसी स्थान पर जुड़ गये। इससे यह स्पष्ट हैं कि तत्कालीन लिंगपुराण में यह परिवर्त्तन हो चुका था। सीमाविनायक, जो मणिकर्णिका की सीमा पर हैं, वे भी अपने स्थान पर ही हैं, ऐसा मानना पड़ता हैं; परन्तु सेनाविनायक, जो उन्हीं के पास हैं, यहीं थे अथवा कहीं से आये, यह स्पष्ट नहीं होता; क्योंकि उनका स्थान-निर्देश काशीखण्ड में इसी स्थान पर हैं। यही बात चिन्तामणिविनायक की भी हैं, जो वशिष्ठवामदेव के मन्दिर के द्वार पर हैं। वशिष्ठेश्वर की पुनःस्थापना वरणा-पार से आकर यहाँ हुई। वामदेवेश्वर या तो स्वक्षेत्री हैं या हंसतीर्थ के समीप से आये। यह भी सम्भव हैं कि उत्तथ्यवामदेव का प्राचीन स्थान यही रहा हो। इस स्थान पर वशिष्ठ तथा वामदेव ऋषियों की मूर्त्ति का ही वर्णन काशीखण्ड में हैं, (**वशिष्ठवामदेवौच मूर्त्तिरूपधरावुभौ—का० खण्ड १००।८७**) उनके द्वारा स्थापित शिवलिंग का नहीं। परन्तु, इस समय वशिष्ठेश्वर तथा वामदेवेश्वर का ही वहाँ पूजन होता हैं। एक ऋषि-मूर्त्ति भी वहाँ है, जो सम्भवतः वशिष्ठ की है, परन्तु अव उसको याज्ञवल्क्य ऋषि कहा जाता है। वशिष्ठेश्वर के समीप अरुन्धती की मूर्त्ति हैं। भीतर विश्वामित्रेश्वर तथा भारद्वाजेश्वर हैं, जो अन्यत्र से आये हैं। ऋषि की मूर्त्ति के समीप एक शिवलिंग है, जिसको लोग याज्ञवल्क्येश्वर जनकेश्वर कहते हैं। सेनाविनायक तथा सीमा-विनायक की मढ़ी में जो शिवलिंग है, उसको याज्ञवल्क्येश्वर कहते हैं। समीप में ही कृष्णेश्वर हरिश्चन्द्र-मण्डप के ठीक सामने संकठा-मन्दिर की दीवार में हैं।

आत्मावीरेश्वर के घेरे में अंगारेश्वर तथा बुधेश्वर हैं। बाहर दीवार के आले में वीरमाधव हैं। मन्दिर के सामने बृहस्पतीश्वर का मन्दिर हैं, जिसमें उनके अतिरिक्त केदारेश्वर तथा विश्वकर्मेश्वर भी हैं। केदारेश्वर की पुनःस्थापना किसी समय यहाँ भी हुई होगी, ऐसा मानना पड़ता हैं। विश्वकर्मेश्वर गभस्तीश्वर के समीप थे, वहाँ से इस स्थान पर आये हैं। समीप में ही वासुकीश्वर हैं, जो स्वर्लीनक्षेत्र से आये हैं। उनके प्राचीन स्थान के दक्षिण में मोक्षेश्वर तथा स्वर्गेश्वर थे। 'त्रिस्थलीसेतु' के इस सम्बन्ध के उद्धरण से ऐसी ध्वनि निकलती है कि उस समय भी ये वासुकीश्वर के वर्त्तमान स्थान से दक्षिण थे, जिससे यह सम्भावना होती है कि स्वर्गद्वारेश्वर तथा मोक्षद्वारेश्वर इन पुराने शिवलिंगों के पुनः स्थापित लिंगों के नये नाम थे, परन्तु यह अनुमान-मात्र हैं।

वीरेश्वरघाट (संधियाघाट) के ऊपर पर्वतेश्वर (मकान-नं० सी० के० ७/१५०) तथा

संकठाघाट के पास जालीमठ के नीचे यमादित्य और गंगातट पर यमेश्वर के मन्दिर हैं। ये सभी सम्भवतः अपने ही स्थान पर हैं।

काशीखण्ड के समय में इस क्षेत्र में देवी के कई स्थान थे :

१–२. सिद्धलक्ष्मी तथा विश्वा : सिद्धिविनायक के पिछवाड़े जो तीन देवी-मूर्त्तियाँ हैं, उनमें से एक है। मकान-नं० सी० के० ९/१।

३. कुब्जा : नलकूबरेश्वर के पूर्व तथा प्रपितामहेश्वर के पश्चिम। शीतला गली में पितामहेश्वर के गह्वर में स्थित देवी-मूर्त्ति, जो इस समय शीतलाजी कहकर पूजी जाती है।

४. त्रिलोकसुन्दरी गौरी : नलकूवरेश्वर के पश्चिम कुब्जावरेश्वर के समीप—पिता महेश्वर के द्वार पर बाहर गली में। पहले ये मन्दिर के भीतर थीं।

५. मणिकर्णी देवी : मणिकर्णिका-कुण्ड में—अपने स्थान पर वर्त्तमान। प्रसिद्ध।

६. सिद्धयोगेश्वरी : सिद्धेश्वरी नाम से प्रसिद्ध। मकान-नं० सी० के० ७/१२४।

७. हरसिद्धि देवी : सिद्धिविनायक के मन्दिर के सामने हैं। यह भी सम्भव है कि ये सिद्धलक्ष्मी हों।

विष्णुपीठों में नृसिंह के तीन स्थान इस क्षेत्र में थे तथा माधव के भी दो मन्दिर थ, जिनमें वीरमाधव का पहले उल्लेख हो चुका है।

१. निर्वाणनरसिंह : पुलस्तीश्वर के दक्षिण अज्ञात।

२. महाभयहर नृसिंह : पितामहेश्वर के गह्वर में शीतलागली में। मकान-नं० सी० के० ७/९२।

३. अत्युग्र नरसिंह : कलशेश्वर के पश्चिम—गोमठ में मकान-नं० सी० के० ८/२१।

४. वैकुण्ठमाधव : सीमाविनायक के दक्षिण तथा वैरोचनेश्वर के पूर्व। मकान-नं० सी० के० ७/१६५।

५. वीरमाधव : आत्मावीरेश्वर के घेरे की बाहरी दीवार में मुख्य द्वार के समीप आले में।

कोलाहल नृसिंह भी इसी क्षेत्र में मकान-नं० सी० के० ८/१८९ में हैं।

विनायकों में निम्नांकित विनायक यहाँ हैं:

१. नागेशविनायक : गायघाट से आये हुए—मकान-नं० सी० के० १/२१ से सटे हुए नागेश्वर-मन्दिर में।

२. मणिकर्णिविनायक : सतुआ बावा के मठ के पास। मकान-नं० सी० के० १०/४९ के सामने।

३. सिद्धिविनायक : मणिकर्णिका पर। मकान-नं० सी० के० ९/१।

४. मित्रविनायक : आत्मावीरेश्वर के घेरे में।

भैरवों में रुरुभैरव गोमठ में हैं। सम्भवतः, हनुमानघाट के रुरुभैरव की पुनःस्थापना यहाँ कभी हुई थी, जैसा ऊपर कहा जा चुका है। कंकालभैरव समीप में ही मकान-नं० सी० के० ८/१८० में गली पर ही हैं। उनपर अब पीतल का पत्र चढ़ा हुआ है, जिसमें

भैरवमूर्त्ति खचित है। वैरोचनेश्वर संकठाजी के दक्षिण की गली में हैं। समीप में ही पाण्डवेश्वर हैं। एकदन्तविनायक की पुनःस्थापना भी कदाचित् यहाँ हुई थी; क्योंकि यहाँ के एक गणेश इस नाम से विख्यात हैं।

२. मणिकर्णिका तथा ब्रह्मनाल-क्षेत्र—पश्चिम में कचौड़ीगली तक :

यह क्षेत्र अपने पहले के क्षेत्र से इस प्रकार गुँथा हुआ है कि इन दोनों के देवस्थानों के पार्थक्य का सभी जगह निर्वाह होना कठिन है। फिर भी, सुविधा की दृष्टि से इसका वर्णन अलग किया गया है।

पितामहेश्वर के दक्षिण वारुणेश्वर और उनके दक्षिण वाणेश्वर और उनके भी दक्षिण कूष्माण्डेश्वर तथा इनके पूर्व राक्षसेश्वर और उनके दक्षिण गंगेश्वर थे, जिनके उत्तर में निम्नगेश्वर गंगातट पर थे। वहीं पर वैवस्वतेश्वर और उनके पश्चिम में क्रमशः आदित्येश्वर (काशीखण्ड में अदितीश्वर), वज्रेश्वर (काशीखण्ड में चक्रेश्वर), कनकेश्वर (काशीखण्ड में कालकेश्वर) तथा तारकेश्वर और वहीं समीप में स्वर्णभारदेश्वर (**अपरं कनकेश्वरः।** —कृत्यकल्पतरु) थे, जिनके उत्तर में मनुजेश्वर (काशीखण्ड में मरुत्तेश्वर) और समीप में इन्द्रेश्वर (काशीखण्ड में शक्रेश्वर, परन्तु वर्त्तमान काल में इन्द्रेश्वर नाम से ही प्रसिद्ध) थे। इनके दक्षिण रम्भेश्वर तथा उत्तर में शचीश्वर और आगे लोकपालेश्वर। इन्द्रेश्वर के दक्षिण फाल्गुनेश्वर और उनके दक्षिण महापाशुपतेश्वर तथा इनके पश्चिम समुद्रेश्वर और उनके उत्तर (कृत्यकल्पतरु में दक्षिण) ईशानेश्वर थे।

इनमें से महापाशुपतेश्वर, समुद्रेश्वर तथा ईशानेश्वर इस क्षेत्र में नहीं हैं। उनके स्थानों का विवेचन अगले क्षेत्र में किया जायगा। इन्द्रेश्वर तारकेश्वर के पश्चिम में थे और शचीश्वर उनके दक्षिण में, ऐसा काशीखण्ड में कहा गया है (का० खण्ड ८१।४२), परन्तु कृत्यकल्पतरु में शचीश्वर को इन्द्रेश्वर के उत्तर बतलाया गया है। सम्भवतः, यह बात पुनःस्थापना की ओर संकेत करती है।

वर्त्तमान काल में पितामहेश्वर अपने स्थान पर हैं। कूष्माण्डेश्वर की भी सम्भवतः यही स्थिति है। गंगेश्वर के दो स्थान हैं—एक तो राक्षसेश्वर के दक्षिण, जैसा ऊपर कहा गया है (कृ० क० त०, पृ० १०३-१०४, का० खण्ड ९७।२०७) और दूसरा केवल काशीखण्ड में कहा हुआ विश्वेश्वर के पूर्व (का० खण्ड ९१।४)। इस समय गंगेश्वर का एक मन्दिर पशुपतीश्वर के निकट मकान-नं० सी० के० १३/७९ में है और दूसरा शिवलिंग ललिताघाट पर गंगाकेशव के सामने मकान-नं० डी० १/६७ में है। इनमें से पहला स्थान कृत्यकल्पतरु में वर्णित गंगेश्वर की पुनः स्थापना का समझ पड़ता है और ललिता-घाटवाला गंगाकेशव से सम्बद्ध हो सकता है। **तीर्थचिन्तामणि** में प्रथम गंगेश्वर का स्थान मणिकर्णीश्वर के दक्षिण पार्श्व में बतलाया गया हैं। (ती० चि०, पृ० ३५७), जिससे यह सिद्ध होता है कि पन्द्रहवीं शताब्दी तक गंगेश्वर अपने स्थान पर ही थे। तारकेश्वर तथा इन्द्रेश्वर प्रायः अपने ही स्थान पर हैं। वारुणेश्वर, राक्षसेश्वर, निम्नगेश्वर, वैवस्वतेश्वर, आदित्येश्वर, वज्रेश्वर, कनकेश्वर, स्वर्णभारदेश्वर, मनुजेश्वर, रम्भेश्वर, शचीश्वर तथा लोकपालेश्वर का अब पता नहीं लगता। इस क्षेत्र में असंख्य शिवलिंग हैं और सम्भव है

कि उपर्युक्त शिवलिंग अब भी वर्त्तमान हों, परन्तु जनमानस उनके नाम भूल गया हैं। बाणेश्वर इस समय सुखलाल शाह के फाटक के भीतर मकान-नं० सी० के० १३/१० में हैं, वहीं बाणासुर की हजार हाथोंवाली मूर्त्ति भी हैं।

स्वर्गद्वार का प्राचीन स्थान मत्स्योदरी-क्षेत्र में श्रीकुण्ड के दक्षिण में था, ऐसा कृत्य-कल्पतरु में कहा गया है। काशीखण्ड के ९७वें अध्याय में भी यह बात स्पष्ट रूप से कही गई है (का० खण्ड ९७।१११), परन्तु उस स्थान के नष्ट हो जाने पर स्वर्गद्वारेश्वर की स्थापना जिस स्थान पर हुई, वही स्वर्गद्वार माना गया। यह बात काशीखण्ड के वर्त्तमान स्वरूप प्राप्त होने के पहले ही हुई; क्योंकि स्वर्गद्वारेश्वर का नाम चतुर्दशलिंगों में आया है और स्वर्गद्वार तथा मोक्षद्वार के मध्य में विश्वेश्वर का राजप्रासाद कहा गया है (त्रि० से०, पृ० १४४)। द्वितीय चतुर्दशलिंग-यात्रा के कई देवता इस क्षेत्र में हैं। अमृतेश्वर मकान-नं० सी० के० ३३/२८ में, तथा ज्योतिरूपेश्वर सिद्धविनायक के समीप काकाराम की गली में सी० के० ८/१० में स्वामी बलजीत परमार्थ-भवन के भीतर हैं। स्वर्गद्वारेश्वर मकान-नं० सी० के० १०/१६ में गर्त्त के भीतर हैं। पुलहेश्वर इसी मकान के चौतरे पर तथा राजराजेश्वर उसी चौतरे के नीचे हैं। हरिकेशवन (जंगमवाड़ी महल्ला) से आए हुए पुलस्त्येश्वर मकान-नं० सी० के० ३३/४३ में तथा भगीरथीश्वर मकान-नं० सी० के० ११/११ में हैं। ये भी प्रायः पन्द्रह फुट गहरे गर्त्त में हैं। ब्रह्मनाल महल्ले में नीलकण्ठ मकान-नं० सी० के० ३३/२३ में गली से कुछ नीचे हैं। ताम्रवाराह भी वहीं समीप में मकान-नं० सी० के० ३३/५७ में हैं। अंगिरसेश्वर स्वर्गद्वारीश्वर के समीप हैं। रुद्रावासेश्वर मणिकर्णिका-कुण्ड से मिले हुए हैं, परन्तु ये बहुधा बालू में ही दबे रहते हैं। यदा-कदा ही इनके दर्शन होते हैं। वारुणेश्वर काकाराम की गली में मकान-नं० सी० के० ८/८ में हैं।

इस क्षेत्र के विनायकों (मणिकर्णिविनायक तथा सिद्धविनायक) का वर्णन इसके पहले के क्षेत्र में किया जा चुका है; क्योंकि ये दोनों क्षेत्र इस प्रकार एक में मिले हुए हैं कि इनको पृथक् करना सम्भव नहीं हैं। देवियों में यहाँ अमृतेश्वरी देवी अमृतेश्वर में मकान-नं० सी० के० ३३/२८ में कुएँ के ऊपर की दीवार में हैं। मणिकर्णी देवी का उल्लेख भी पहले हो चुका हैं। विश्वगौरी का स्थान मणिकर्णिकेश्वर के दक्षिण तथा तारकेश्वर के उत्तर कहा गया हैं। ये वाराणसी की प्रधान देवियों में एक थीं, परन्तु अब इनका स्थान अज्ञात है। सम्भवतः, ये सिद्धविनायक के पिछवाड़े की देवियों में हैं।

३. मणिकर्णिका के दक्षिण से दशाश्वमेध घाट तक तथा पश्चिम में त्रिपुराभैरवी की गली तक :

इस क्षेत्र के स्वक्षेत्री देवता कितने हैं और आगन्तुक कितने हैं, इसका स्पष्ट निर्धारण कठिन है; क्योंकि काशीखण्ड में वर्णित बहुत-से ऐसे देवता हैं, जिनका कृत्यकल्पतरु में नाम नहीं है और न काशीखण्ड के ९७वें अध्याय में ही। परन्तु, फाल्गुनेश्वर, महापाशुपतेश्वर, पर्जन्येश्वर, नहुषेश्वर, विशालाक्षी, विशालाक्षीश्वर, जरासन्धेश्वर, ललिता देवी, हिरण्याक्षेश्वर, भगीरथलिंग, आशाविनायक, स्थूलदन्त विनायक, वृद्धादित्य तथा श्वेतमाधव,

सम्भवतः स्वक्षेत्री ही हैं। यद्यपि इनका भी न्यूनाधिक स्थानान्तरण क्षेत्र के अन्तर्गत ही असम्भव नहीं है। उदाहरण के लिए, ललितादेवी पहले विशालाक्षी के दक्षिण में जरासन्धेश्वर के भी दक्षिण में भोगललिता नाम से थीं, जो अब ललिताघाट पर विशालाक्षी के भी उत्तर में हैं। जरासन्धेश्वर मीरघाट के प्रधान देवता थे और उस घाट का नाम ही 'जरासन्धघट्ट' था (गीर्वाणपदमञ्जरी, काशी का इतिहास, पृ० २१)। इसके अतिरिक्त बाजीराव प्रथम पेशवा के वाराणसी में कार्यकर्त्ता नायक ने एक पत्र में मीरघाट बनने का उल्लेख करते हुए उसको 'जरासन्ध-घाट' कहा है (पेशवा-दफ्तर ४३, २)। विश्वभुजा अथवा विश्ववाहुका देवी तथा तत्त्वेश, धरिणश, वैराग्येश, ज्ञानेश्वर एवं ऐश्वर्येश जिनको धर्मेश्वर के पंचवक्त्र कहा जाता हैं, ये सभी स्वक्षेत्री ही हैं। धर्मेश्वर के विषय में निश्चयपूर्वक कोई बात नहीं कही जा सकती। धर्मेश्वर नाम के दो शिवलिंगों का उल्लेख कृत्यकल्पतरु में मिलता है, परन्तु वे मत्स्योदरी-क्षेत्र में थे और उनके साथ धर्मेश्वर-कुण्ड का उल्लेख है, कूप का नहीं। इस क्षेत्र के धर्मेश्वर का कृत्यकल्पतरु में नाम नहीं है। यद्यपि इन्द्रेश्वर तथा शचीश्वर का वहाँ उल्लेख है और इनकी स्थापना धर्मेश्वर के ही कारण हुई, ऐसा काशीखण्ड में कहा गया हैं। वहीं पर धर्मकूप का बड़ा माहात्म्य बतलाया गया हैं, जो कृत्यकल्पतरु के धर्मेश्वरकुण्ड के सम्बन्ध में नहीं मिलता। इस प्रकार, यह भी सम्भव है कि धर्मेश्वर स्थानान्तरित होकर यहाँ आये हों और कुण्ड के स्थान पर कूप का निर्देश इस स्थान पर हुआ हो और यह भी सम्भव है कि ये धर्मेश्वर स्वतन्त्र रूप से यहाँ स्थापित हुए हों, जिनका माहात्म्य लिंगपुराण के अनुसार इतना अधिक न रहा हो कि उनका उल्लेख वहाँ होता, जैसाकि त्रिसन्ध्येश्वर के सम्बन्ध में स्पष्ट है। मत्स्यपुराण में उनका नाम आदरपूर्वक लिया गया है, परन्तु कृत्यकल्पतरु में उनका नाम नहीं हैं। मोक्षद्वारेश्वर के विषय में इसके पहले के क्षेत्र में कहा जा चुका है कि या तो वे कृत्यकल्पतरु के मोक्षेश्वर हैं अन्यथा स्वतन्त्र देवता, जिनका काशीखण्ड में ही उल्लेख हुआ, यद्यपि त्रिस्थलीसेतु उनको उन मोक्षेश्वर से ही सम्बद्ध करता हैं, जैसा पहले दिखलाया जा चुका है। काशीखण्ड में त्रिसन्ध्यतीर्थ योगिनी-तीर्थ के उत्तर कहा गया है, जिससे यह जान पड़ता है कि वह दशाश्वमेघ घाट के दक्षिण में था। वहीं पर त्रिसन्ध्येश्वर का स्थान भी बतलाया गया है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि त्रिसन्ध्येश्वर की ललिताघाट पर पुनः स्थापना हुई (काशीखण्ड ६१।१७३–१७६)। करुणेश्वर अपने स्थान पर ही मोक्षद्वारेश्वर के समीप मकान-नं० सी० के० ३४/१० में हैं। इनका नाम कृत्यकल्पतरु में नहीं है। (काशीखण्ड ८४।२०)।

गंगाकेशव निश्चितरूपेण दूसरे क्षेत्र से आये हैं। गंगाकेशवतीर्थ का प्राचीन स्थान काशीखण्ड में अगस्त्यतीर्थ के दक्षिण लिखा है और अगस्त्यतीर्थ योगिनी-तीर्थ के दक्षिण में कहा गया है। इस प्रकार, चौसट्ठी घाट के दक्षिण अगस्त्यतीर्थ और उसके दक्षिण गंगाकेशवतीर्थ सिद्ध होता है। आज भी उस स्थान का नाम गंगामहल है, जिसके नाम का कोई अन्य स्पष्ट कारण नहीं मिलता। वही गंगाकेशवतीर्थ तथा गंगाकेशव के देवायतन का प्राचीन स्थान है। ललिताघाट पर भागीरथी देवी का स्थान-निर्देश स्पष्ट है कि वह

ब्रह्मनालतीर्थ के दक्षिण है, अतएव भागीरथी देवी प्रायः अपने ही स्थान पर हैं। भगीरथ-विनायक त्रिसन्ध्येश्वर के समीप हैं।

प्रयागमाधव का स्थान प्रयागतीर्थ के समीप कहा गया है। **उदग्दशाश्वमेधाणां प्रयागाख्यं च माधवम्**, अर्थात् दशाश्वमेध के उत्तर प्रयागमाधव का स्थान है और दशाश्वमेध-तीर्थ के उत्तर में मकान-नं० डी० १७/१११ में प्रयागमाधव की मूर्त्ति इस समय भी है। समीप में ही क्षोणीवाराह अपने ही स्थान पर हैं। वाराह की मूर्त्ति वहाँ लुप्त हो गई है, केवल आदिवाराहेश्वर ही हैं, जिनकी पूजा होती है।

फाल्गुनेश, पर्जन्येश, नहुषेश, हिरण्याक्षेश्वर तथा वैराग्येश्वर का अब पता नहीं लगता। महापाशुपतेश्वर ललिताघाट पर नेपाल पशुपति के नाम से प्रसिद्ध हैं। वहीं पर आचार्य लकुलीश्वर की आधुनिक मूर्त्ति भी है। इनका प्राचीन स्थान राजघाट अथवा प्रह्लादघाट-क्षेत्र में था (काशीखण्ड, ६९।११६)। विशालाक्षी धर्मकूप के समीप मकान-नं० डी० ३/८५ में हैं। वहीं पर विशालाक्षीश्वर भी हैं। विश्वभुजा गौरी तथा दिवोदासेश्वर मकान-नं० डी० २/१३ में धर्मकूप के सामने हैं। जरासन्धेश्वर लुप्त हैं। इनका भी मीरघाट के सामने गंगाजी में पूजन होता है। मकान-नं० डी० ३/७९ में भी एक शिवलिंग है, जो जरासन्धेश्वर कहा जाता है। ललितादेवी ललिताघाट पर है। भगीरथलिंग श्मशानघाट पर बाबू विश्वनाथ सिंह के लकड़ी के अड़ार में है। आशा-विनायक तथा श्वेतमाधव मीरघाट पर हनुमान्‌जी के मन्दिर में (मकान-नं० डी० ३/७९) हैं। वृद्धादित्य मकान-नं० डी० ३/१५ में हैं। गंगाकेशव अब ललिताघाट पर हैं। मोक्षेश्वर मोक्षद्वारेश्वर के नाम से सी० के० ३४/१० में तथा त्रिसन्ध्येश्वर डी० १/४० में सरस्वती-फाटक से ललिताघाट जानेवाली गली पर हैं। ज्ञानेश्वर धनीराम खत्री के मकान-नं० डी० १/३२ में लाहौरीटोला में वहीं पर हैं। ऐश्वर्येश्वर मकान-नं० सी० के० ३४/६० में दुर्मुख विनायक के सामने तथा मदालसेश्वर मकान-नं० डी० ५/१३३ में हैं। मदा-लसेश्वर के समीप में अलर्केश्वर (अनर्केश्वर, कृ० क० त०) तथा पूर्व में गणेश्वर (गणेश्वरेश्वर, काशीखण्ड) थे, जिनका अब पता नहीं चलता।

राजराजेश्वरी का पुराणों में वर्णन नहीं हैं, परन्तु उनके पूजन का माहात्म्य सर्व-स्वीकृत है। सम्भवतः, राजराजेश्वरी दशमहाविद्याओं का अंग हैं, परन्तु राजराजेश्वर का उल्लेख काशीखण्ड के १००वें अध्याय में अन्तर्गृहयात्रा में मिलता है। इससे सम्भावना यह भी है कि ये उन्हीं के मन्दिर की देवी हैं। दाल्भ्येश्वर पंचक्रोशी के देवता हैं, परन्तु उनका पूजन अब अन्तर्गृह-यात्रा में भी होता है। वाराही देवी भी इस क्षेत्र में मकान-नं० डी० १६/८४ में हैं, जो स्वर्लीन-क्षेत्र से यहाँ आई हैं। समीप में ही हनुमान्‌जी के मन्दिर में (मकान-नं० डी० ३/७९) यज्ञवाराह की पुनः स्थापित मूर्त्ति है। ये भी स्वर्लीन-क्षेत्र में पुनः स्थापित होने तथा पुनः खण्डित होने पर यहाँ आये। इनका प्रथम स्थान भी राज-घाट के ईशानकोण में था। कृत्यकल्पतरु तथा काशीखण्ड दोनों में इस क्षेत्र में या समीपस्थ साक्षीविनायक-क्षेत्र में एक रामेश्वर का उल्लेख है, जो त्रिपुराभैरवी के या त्रिपुरान्तकेश्वर के उत्तर बतलाये गये हैं। उनके पुराने स्थान का पता नहीं है, परन्तु वे अब सोमेश्वर के

विवरण : मानचित्र–४घ

१. प्रणव विनायक
२. हिरण्यगर्भ लिंग
३. सरस्वतीश्वर
४. शान्तनवीश्वर (शान्तेश्वर)
५. भीष्मेश्वर
६. नागेश विनायक
७. नागेश्वर
८. नरनारायण केशव (बदरी नारायण)
९. नागेश्वर
१०. मुख-निर्मालिका गौरी
११. नागेश्वरी (शीतला नाम से विख्यात)
१२. गोप्रेक्षेश्वर
१३. गोपी गोविन्द
१४. विन्दुमाधव (द्वितीय स्थान)
१५. नारायणी देवी (शीतला नाम से प्रसिद्ध)
१६. शंखमाधव (शीतला-घाट की मढ़ी में)
१७. लक्ष्मीनृसिंह
१८. कर्णादित्य
१९. शेषमाधव
२०. ब्रह्माजी की मूर्त्ति
२१. ब्रह्मेश्वर (पुनः स्थापित)
२२. ब्रह्मेश्वर (पुनः स्थापित)
२३. खर्वनृसिंह
२४. ब्रह्मचारिणी दुर्गा
२५. खर्वनृसिंह (पुनः स्थापित)
२६. धौतपापेश्वर
२७. पञ्चनदेश्वर (पञ्चगङ्गेश्वर)
२८. बिन्दुमाधव
२९. रेवन्तेश्वर
३०. बिन्दुमाधव-मस्जिद
३१. कंगनवाली हवेली (राम-मन्दिर)
३२. गभस्तीश्वर का घेरा : विस्तार सामने देखिए —

३३. मंगलोद कूप
३४. चर्चिका
३५. रामेश्वर
३६. कालविनायक
३७. कपिलेश्वर (पुनः स्थापित)
३८. धनधान्येश्वर
३९. कामेश्वर (पुनः स्थापित)
४०. नलकूवरेश्वर (पुनः स्थापित)
४१. आमर्दकेश्वर
४२. कालमाधव
४३. कालमर्दनेश्वर
४४. पापभक्षणेश्वर
४५. नागेश्वर (वृद्धकाल-क्षेत्र के — पुन. स्थापना)
४६. दण्डपाणि प्राचीन (क्षेत्रपाल)
४७. नृत्यशालिनी दुर्गा
४८. कालभैरव
४९. भैरवेश्वर
५०. महाकालेश्वर (वृद्धकाल-क्षेत्र के—पुनः स्थापना)
५१. महाश्मशान-स्तम्भ का शीर्षक
५२. जमदग्नीश्वर
५३. बिन्दुमाधव—तीसरा स्थान
५४. पाण्डवेश्वर
५५. कालेश्वर (वृद्धकाल की पुनः स्थापना)
५६. महाश्मशान-स्तम्भ (दण्डपाणि भैरव)
५७. शुकेश्वर
५८. सिद्धमाता

*क *ख *ङ *ग घ*

क — मङ्गलागौरी
ख — मुखप्रेक्षणिका
ग — गभस्तीश्वर
घ — मयूखार्क
ङ — मङ्गल विनायक

नचित्र सं. ४ घ
ब्रह्म घाट
दुर्गा घाट
पंचगंगा घाट
राम घाट
अग्नीश्वर घाट

वर्त्तमान मन्दिर के समीप हैं। त्रिपुरान्तकेश्वर के दक्षिण (अथवा पश्चिम काशीखण्ड) दत्तात्रेयेश्वर का नामांकन है, जिनके पश्चिम में हरिकेशेश्वर तथा उनके पश्चिम में गोकर्ण थे। गोकर्ण के विषय में तो स्पष्ट है कि वे अपने स्थान पर ही हैं, परन्तु दत्तात्रेयेश्वर तथा हरिकेशेश्वर समस्यापूर्ण हैं। इस विषय का विवेचन गोकर्ण के क्षेत्र में किया जायगा।

स्थूलदन्त विनायक भी इसी क्षेत्र में सोमेश्वर-मन्दिर (मकान-न० डी० १६।१४) के समीप में हैं। दत्तात्रेयेश्वर का वर्त्तमान स्थान दत्तात्रेय-मठ में (मकान-न० सी० के० ३४।३६) में है। बारहघाट पर भी एक दत्तात्रेय-मठ तथा दत्तात्रेयेश्वर हैं। भूतधात्रीश्वर की भूतेश्वर नाम से, जो दशाश्वमेध के दक्षिण मकान-न० डी० १७।५० में हैं, कभी पुनः स्थापना सुखलालसाह महल्ले में मकान-न० सी० के० १३।१५ में हुई थी, जहाँ वे अभी भी हैं।

४. विश्वनाथ, अन्नपूर्णा तथा साक्षीविनायक के क्षेत्र—आदिविश्वेश्वर तथा गोदौलिया तक :

इस क्षेत्र में बड़े-बड़े परिवर्त्तन हुए हैं; क्योंकि यहाँ पर विश्वनाथजी के होने के कारण आततायियों की क्रूर दृष्टि इस स्थान पर सदैव ही पड़ती रही है।

विश्वेश्वर स्वयं इस क्षेत्र के ही देवता हैं, यद्यपि उनका स्थान दो बार बदला। सबसे पहले वे आदिविश्वेश्वर से सटे हुए टीले के ऊपर थे, जहाँ अब रजिया की मस्जिद है (मकान-न० सी० के० ३८।५)। यहाँ उनके समीप दुकानें थीं और वेश्याओं तथा नटों के आवास भी निकट में ही थे। आज भी कुन्दीगर टोला और दालमंडी में ऐसे लोग रहते हैं। उस स्थान पर मस्जिद बन जाने से जब उनकी पुनः स्थापना हुई तब अविमुक्तेश्वर के प्रांगण में उनको जाना पड़ा और जहाँ पर अब ज्ञानवापी की मस्जिद है, वहाँ उनका मन्दिर बना। परन्तु इसके बाद के तोड़-फोड़ में अविमुक्तेश्वर का मन्दिर अपने स्थान से कुछ उत्तर हट गया और छोटा होते-होते उसका अस्तित्व ही भ्रम में पड़ गया। यहाँ तक कि पन्द्रहवीं शताब्दी में वाराणसी का जन-मानस यही मानने लगा कि अविमुक्तेश्वर तथा विश्वेश्वर एक ही हैं (तीर्थचिन्तामणि, १४६० ई०)। यही विश्वास सोलहवीं शताब्दी तक चलता रहा और अन्त में मित्रमिश्र ने इसके अनौचित्य को सन् १६२०ई० में स्पष्ट रूप से प्रमाणित किया। सन् १५८५ ई० के आसपास जब भट्ट नारायण के प्रयत्न से राजा टोडरमल ने विश्वेश्वर का मन्दिर बनवाया और उसमें स्थापना हुई तब जन-मानस में यही विश्वास था (अविमुक्तेश्वरो विश्वेश्वरः—त्रिस्थलीसेतु)। सन् १६६९ ई० में विश्वेश्वर का मन्दिर तोड़कर वहाँ मस्जिद बन जाने से भविष्य में उनकी स्थापना वहाँ नहीं हो सकी और कुछ दक्षिण हटकर वर्त्तमान स्थान पर उनकी प्रतिष्ठा हुई। अविमुक्तेश्वर की स्थापना भी उसी समय मस्जिद के उत्तर में हुई, जहाँ वह आज भी हैं। परन्तु जब महारानी अहल्याबाई ने विश्वेश्वर का वर्त्तमान मन्दिर बनवाया तब वहाँ भी अविमुक्तेश्वर की स्थापना आग्नेय कोण में पुनः हुई, जहाँ वे इस समय भी वर्त्तमान हैं। इस प्रकार अविमुक्तेश्वर के दो शिवलिंग इस समय हैं, ऐसी जनश्रुति हैं।

इस क्षेत्र के अन्य देवताओं में से बहुत-से यहाँ से हटकर अन्यत्र प्रतिष्ठित हुए, परन्तु उनके पुराने स्थान इस समय भी पूजे जाते हैं। इस प्रकार महाकालेश्वर, तारकेश्वर, नन्दिकेश्वर, महेश्वर तथा दण्डपाणि के स्थानों की अर्चना आज भी होती है। वीरभद्रेश्वर तथा भद्रकाली मध्यमेश्वर क्षेत्र से यहाँ आये थे, परन्तु उनका अब लोप ही हो गया। अब तो उनके स्थान पर फूल चढ़ाने की प्रथा भी भूली जा रही हैं। कुछ वर्षों पहले तक उस स्थान पर एक वृक्ष था, जो अब नहीं रह गया।

इस क्रम में ज्ञानवापी के उत्तर में नन्दिकेश्वर, पश्चिम में दण्डपाणि, पूर्व में तारकेश्वर, आग्नेय कोण के पीपल के नीचे महाकालेश्वर, नैर्ऋत्यकोण के पीपल के नीचे महेश्वर तथा मस्जिद के वायव्य कोण में वीरभद्रेश्वर के स्थान थे। मन्दिर के पश्चिम-द्वार के समीप कालभैरव की मूर्त्ति सोलहवीं शताब्दी तक थी। वर्त्तमान मन्दिर के पश्चिम-द्वार पर आज भी कालभैरव की मूर्त्ति है। तारकेश्वर का स्थान बड़े नन्दी के समीप की गौरीशंकर की मूर्त्ति के नीचे माना जाता है। विश्वनाथजी के घेरे में पश्चिम की ओर के मन्दिर में दण्डपाणि (सम्भवतः दण्डपाणीश्वर) हैं तथा वहीं महाकालेश्वर का शिवलिंग पुनः स्थापित हैं। इस मन्दिर के नैर्ऋत्य कोण में वाहर दीवाल से सटे हुए शनैश्चरेश्वर का शिवलिंग है। काशीखण्ड के समय के पूर्व ये मत्स्योदरीक्षेत्र में थे। शनैश्चरेश्वर के पूर्व में विरूपाक्ष हैं, जो पहले कलशेश्वर के निकटवर्त्ती थे। समीप में ही छोटे मन्दिर में विरूपाक्षी गौरी हैं। ये अपने स्थान पर हैं और इसी मन्दिर में विष्णु भगवान् तथा अविमुक्त विनायक की मूर्त्तियाँ रखी हुई हैं। किंवदन्ती है कि यह विष्णु-मूर्त्ति वही है, जो ज्ञानवापी मस्जिदवाले विश्वेश्वर-मन्दिर के मुक्ति-मण्डप में थी। यही बात अविमुक्त विनायक के विषय में भी कही जाती है। विश्वनाथ-मन्दिर के वायव्यकोण के छोटे मन्दिर में, कोने के गर्त्त में निकुम्भेश्वर हैं। उनके पश्चिम में विघ्न-नायक गणेश की मूर्त्ति थी, जिसके खण्डित होने पर नई संगमरमर की मूर्त्ति अब स्थापित है। निकुम्भेश्वर के पूर्व मन्दिर की गच के नीचे विजयलिंग हैं और दक्षिण में वहीं गच के नीचे कपिलेश्वर हैं, जो पुनः स्थापित हैं। इन दोनों के दर्शन-पूजन कदाचित् ही कोई करते हैं; क्योंकि ये दृष्टि के वाहर हैं। विश्वनाथजी के गर्भगृह के उत्तर व्यासेश्वर तथा कुवेरेश्वर हैं (विश्वेशाद्दक्षिणे भागे—काशीखण्ड, १३।१६३)। इस स्थान पर व्यासजी के तप करने का उल्लेख सौरपुराण में है : **देवस्य दक्षिणा भूतावुपविश्य महामुनिः। पश्यन्विश्वेश्वरं लिङ्गं जपन्वै शतरुद्रियम्॥** (सौरपु० ५।१२) कुछ लोगों का यह भी कहना है कि कुवेरेश्वर अन्नपूर्णाजी के मन्दिर में कोने में हैं, परन्तु वह सम्भवतः शुक्रेश्वर का प्राचीन स्थान है; क्योंकि सौरपुराण में लिखा है कि शुक्रकूप शुक्रेश्वर के आग्नेयकोण में था। **देवस्य वह्निदिग्भागे कूपस्तिष्ठतिशोभनः**(सौरपुराण, ६।१२)। कुवेरेश्वर निश्चय ही विश्वनाथ के घेरे में हैं; क्योंकि निकुम्भ को इनके निकट काशीखण्ड में बतलाया गया है। अन्नपूर्णा-मन्दिर के कुवेरेश्वर बहुत दूर पड़ते हैं। एक ज्ञानेश्वर ज्ञानवापी के समीप पन्द्रहवीं शताब्दी में थे। लाहौरी टोले में धर्मेश्वर के पंचवक्त्र के ज्ञानेश्वर दूसरे हैं। पुराणकाल में अविमुक्तेश्वर के सम्मुख पश्चिम की ओर प्रीतिकेश्वर थे। सोलहवीं शताब्दी में इनका स्थान नकुलीश्वर के समीप था, परन्तु किस स्थान पर, यह नहीं मालूम (**प्रीतिकेशो नकुलीश समीपे**—त्रि० से०, पृ० २५२)। अविमुक्तेश्वर के उत्तर में मोक्षकेश्वर तथा उनके उत्तर में वरुणेश्वर (काशीखण्ड में लिपि-प्रमाद के कारण करुणेश्वर हैं) और उनसे सटे हुए सुवर्णाक्षेश्वर थे, जिनके उत्तर में सौभाग्यगौरी का मन्दिर था। वरुणेश्वर इस समय मकान-नं० सी० के० ३६।१० के भीतर हैं और सुवर्णाक्षेश्वर उससे सटे हुए उसी मकान में दण्डपाणि के मन्दिर में। सौभाग्यगौरी आदिविश्वेश्वर के घेरे में पुनः स्थापित हैं। शुक्रेश्वर कालिका गली में हैं (मकान-नं० डी० ८।३०) और वहीं पर कचेश्वर तथा शुक्र-कूप भी हैं। परन्तु ये भी अपने स्थान से कुछ हटे हैं; क्योंकि सौर-पुराण में शुक्रकूप इनके आग्नेयकोण में था। शुक्रेश्वर के उत्तर देवयानीश्वर का पश्चिमाभिमुख

शिवलिंग होना चाहिए। यह मुखलिंग था और इसके समीप ही विरूपाक्षी गौरी थीं (ततो गौरीं विरूपाक्षीं देवयान्या उदग्दिशि—का० खण्ड ७०।३६)। वर्त्तमान समय में जो शिवलिंग नकुलीश्वर कहकर पूजा जाता है, वही सम्भवतः देवयानीश्वर है और समीप में विश्वनाथजी के घेरे की दीवाल के उस पार छोटे मन्दिर में विरूपाक्षी गौरी हैं, जैसा ऊपर कहा जा चुका है। देवयानी की मूर्त्ति अब लुप्त है। इस शिवलिंग को नकुलीश्वर न मानने का एक प्रबल कारण यह है कि नकुलीश्वर का शिवलिंग पूर्वाभिमुख होना चाहिए और उसपर चारों ओर चार पुरुष होने चाहिए। यह मान लेने पर भी कि पुराना नकुलीश्वर लिंग नष्ट होने पर दूसरा पुनः स्थापित हुआ तो भी उसका मुख तो पूर्व दिशा में होना ही चाहिए न कि पश्चिम में, जैसा इस शिवलिंग का है। वह शिवलिंग पुरातत्त्व की दृष्टि से प्राचीन है और इतने बड़े वृक्ष के तने में दृढ़ रूप से जकड़ा हुआ है कि इसको अपने स्थान पर ही स्थित मानना पड़ेगा। नकुलीश्वर के सम्बन्ध में और भी बहुत-सी बातें विचारणीय हैं, जिनका विवेचन शीघ्र ही किया जायगा। यहीं पर द्रुपदादित्य हैं तथा द्रौपदी का पूजन नटराज की मूर्त्ति में किया जाता है। शुक्रकूप के पश्चिम में भवानी तथा भवानीश्वर थे। ये दोनों अभी भी अपने स्थान पर हैं। पहले ये दोनों एक छोटे-से मकान में थे, परन्तु अब वह मकान नहीं रह गया और भवानी तथा भवानीश्वर, दोनों ही अन्नपूर्णाजी के पास के राम-मन्दिर में हैं। कालीजी और जगन्नाथजी के मध्य में इनका दर्शन होता है—चबूतरे पर भवानीश्वर हैं और दीवाल में भवानी की संगमरमर की मूर्त्ति है। भवानीतीर्थ का प्रतीक एक पक्का कुण्ड कालीजी के सामने के दालान में फर्श के नीचे दबा पड़ा है। ये भवानी ही प्राचीन अन्नपूर्णा हैं जैसाकि त्रिस्थलीसेतु तथा ब्रह्मवैवर्तपुराण के काशीरहस्य से स्पष्ट है। इस सम्बन्ध में इस पुस्तक के पाँचवें अध्याय में 'भवानीगौरी' शीर्षक द्रष्टव्य है। शुक्रेश्वर के पूर्व में अलर्केश्वर (काशीखण्ड में अलर्केश्वर) तथा उनके समीप मदालसेश्वर और उनके पूर्व में गणेश्वर (गणेश्वरेश्वर—काशीखण्ड) थे। अलर्केश्वर, गणेश्वर तथा मदालसेश्वर का वर्णन पिछले क्षेत्र में हो चुका है।

महेश्वर, जिनका स्थान ज्ञानवापी के नैर्ऋत्यकोण के पीपल के नीचे था, प्रयागराज से आये थे (**प्रयागात्तीर्थराजाच्च शूलटंको महेश्वरः। निर्वाणमण्डपाद्रम्याद्याम्यामतिनिर्मलः**—का० खण्ड ६९।३९-४०) उनकी पुनः स्थापना दशाश्वमेध पर प्रयागतीर्थ के समीप शूलटंकेश्वर नाम से हुई, परन्तु उनके समीप की माहेश्वरी देवी अभी भी विश्वनाथ की कचहरी के गलियारे में दीवाल में हैं। (**महेश्वराद्दक्षिणतो देवी माहेश्वरी**—काशीखण्ड ७०।३०)। यह स्थापना ब्रह्मवैवर्त्तपुराण के पूर्व ही हुई। मणिकर्णिकाघाट पर भी एक महेश्वर हैं। मणिकर्णिकाघाट पर एक तारकेश्वर हैं। ज्ञानवापी के तारकेश्वर की पुनःस्थापना रानी भवानी ने मकान-नं० सी० के० ३५।१७ में किया, जहाँ वे अभी भी वर्त्तमान हैं, परन्तु उनकी अर्चना को बहुत ही कम लोग जाते हैं। ज्ञानवापी के पूर्व के तारकेश्वर नक्षत्रलोक से आये हैं और मणिकर्णिकावाले तारकेश्वर तारकगण द्वारा स्थापित हुए हैं। ये दोनों स्वतन्त्र लिंग हैं। इनका स्थानान्तरण से कोई सम्बन्ध नहीं है।

विनायकों का आठवाँ आवरण इसी क्षेत्र में पड़ता है। उनमें से गणनाथ विनायक ज्ञानवापी के पश्चिम में अपने स्थान पर ढुँढिराज-गली में मकान-नं० सी० के० ३७।१ में गली के किनारे हैं। द्वारविनायक पाण्डवेश्वर मन्दिर में ज्ञानवापी के उत्तर फाटक के सामने मकान नं० सी० के० २८।१० में हैं। दुर्मुख विनायक कचौड़ी गली पर मकान नं० सी० के० ३४।६० में, सुमुख विनायक वहीं गली में मकान-नं० सी० के० ३५।८ में, प्रमोद विनायक समीप में मकान-नं० सी० के० ३१।१६ में तथा मोदविनायक काशीकरवत में मकान-नं० सी० के० ३१।१२ में इस समय हैं। इनके पुराने स्थानों का स्पष्ट निर्देश नहीं मिलता। अविमुक्तविनायक के विषय में पहले कहा जा चुका है कि वे विश्वनाथजी के घेरे में विरूपाक्षी गौरी के मन्दिर में हैं। ज्ञानविनायक लांगलीश्वर-मन्दिर में कहे जाते हैं। एक गणेश जी ज्ञानवापी के समीप भी बैठे हैं और उनके पास 'गणनाथ' का नाम अभी कुछ दिनों पहले संगमरमर पत्थर पर लिखकर लगा दिया गया है, जो प्रत्यक्ष ही अनधिकृत है। मित्रमिश्र के तीर्थ-प्रकाश में (सन् १६२० ई०) यह लिखा है कि **मोदप्रमोद सुमुख दुर्मुख गणनाथद्वाराविमुक्तविनायका अष्टौ प्रागादिक्रमेण सप्तमावरणे** (ती० प्र० वी० मि०, पृ० २११)। ढुंढिराज प्रायः अपने ही स्थान पर हैं, परन्तु इनकी पुनः स्थापना भी इधर-उधर हटकर एक से अधिक बार हुई है, जिसका विवेचन 'ढुंढिराज'-शीर्षक में आगे चलकर किया जायगा।

नकुलीश्वर के वर्त्तमान शिवलिंग को ऊपर देवयानीश्वर बतलाया गया है। तब प्रश्न यह उठता है कि फिर नकुलीश्वर कहाँ थे। उनके जो स्थान-निर्देश मिलते हैं, वे इस प्रकार हैं:

१. लांगलीश का माहात्म्य कहते हुए कहा गया है कि—
'नाम्नातु नकुलीशेति तस्मिन्स्थाने स्थितोह्यहम्।
नकुलीशाख्यदेवस्य लिङ्गं पूर्वामुखम् स्थितम्'॥
चतुर्भिः पुरुषैर्युक्तं तल्लिङ्गं तत्र संस्थितम्। (कृ०क०त०, पृ० १०७)

२. **'प्रीतकेशो नकुलीश समीपे'** (त्रिस्थलीसेतु, पृ० २५२)

३. **'अविमुक्तस्य चाग्रेतु लिङ्गं प्रत्यान्मुखम् स्थितम्।**
प्रीतिकेश्वर नामानं प्रीतिं यच्छति शाश्वतीम्॥ (कृ०क०त०, पृ० १११)

४. **(महापाशुपतेश्वरस्य) तत्पश्चिमे समुद्रेश ईशानेशस्तदुत्तरे।**
तत्पूर्वे लाङ्गलीशश्च सर्वसिद्धिसमर्थकः॥
तत्रैव नकुलीशश्च कपिलेशश्च तत्रवै।
तत्सन्निधौ प्रीतिकेशस्तत्र प्रीतिर्मम प्रिये॥' (का० खं० ९७।१४–१८)

५. **'लाङ्गलीश्वरमालोक्य लिङ्गं लाङ्गलिनार्चितम्।**
विश्वेशादुत्तरे भागे न नरो रोगभाग्भवेत्॥' (का०खं० ५५।२०)

६. **'नकुलीशात्पुरोभागे दृष्ट्वाभीमेश्वरं विभुम्।'** (का० खं० ६६।१२०)

समुद्रेश्वर अपने ही स्थान पर बाँसफाटक की सड़क पर हैं (मकान-नं० सी० के० ३७।३२ में

सड़क की पटरी पर छोटे मन्दिर में)। ईशानेश्वर उनके प्रायः उत्तर में बाँसफाटक सिनेमा-हाल के पीछे गली में मकान-नं० सी० के० ३७।४३ में हैं। परन्तु वर्त्तमान लाङ्गलीश्वर उनके पूर्व में नहीं हैं, वरन् ईशान कोण में दूर पर हैं। इस स्थान पर नकुलीश्वर का होना संभव नहीं जान पड़ता। प्रीतिकेश्वर अविमुक्तेश्वर के पश्चिम में अत्यन्त निकट थे, अतएव नकुलीश्वर भी अविमुक्तेश्वर से समीप ही थे। इस आधार पर ऐसा समझ पड़ता है कि लाङ्गलीश्वर का वर्त्तमान स्थान उनका आदिम स्थान नहीं है, वरन् पुनः स्थापना का स्थान है। काशीखण्ड के सौवें अध्याय में अन्तर्गृह-यात्रा का जो क्रम दिया गया, उसमें इस विषय का कुछ संकेत मिलता है। वहाँ कहा गया है कि—

'ढुंढि प्रणम्य च ततो राजराजेशमर्चयेत्॥
लाङ्गलीशस्ततोभ्यर्च्यस्ततोस्तु नकुलीश्वरः।
परान्नेशमथो नत्वा परद्रव्येश्वरं ततः।
प्रतिग्रहेश्वरं चापि निष्कलंकेशमेव च॥
मार्कण्डेयेशमभ्यर्च्य तत अप्सरसेश्वरम्॥
गङ्गेशोर्च्यस्ततो ज्ञानवाप्यां स्नानं समाचरेत्।' (का०खं०१००।६०–६३)

इस यात्राक्रम से स्पष्ट है कि ढुंढिराज से राजराजेश्वर, फिर लांगलीश तथा तदनन्तर नकुलीश्वर के दर्शन करने के वाद प्रतिग्रहेश्वर, परान्नेश्वर, परद्रव्येश्वर, निष्कलंकेश्वर, मार्कण्डेयेश्वर तथा अप्सरसेश्वर का पूजन क्रमशः होता था और तव यात्री गंगेश्वर होता हुआ ज्ञानवापी पहुँचता था। राजराजेश्वर मकान-नं० सी० के० ३५।३३ में हैं। ज्ञानवापी-मस्जिद की दीवार (जो यथार्थतः विश्वेश्वर के मन्दिर की दीवार है) सन् १५८५ ई० के पूर्व नहीं थी और न लाजपतराय रोड ही। वर्त्तमान दण्डपाणि-मन्दिर के समीप से ही उस टीले का प्रारम्भ हो जाता था, जिस पर विश्वेश्वर का आदिम मन्दिर (वर्त्तमान रजिया की मस्जिद तथा आदिविश्वेश्वर) था। ऐसी स्थिति में लांगलीश्वर तथा नकुलीश्वर के शिव-लिंग वर्त्तमान दण्डपाणि के पूर्व समीप में रहे होंगे, यह कल्पना की जा सकती है। प्रति-ग्रहेश्वर इत्यादि चार शिवलिंग भी उसके आगे रहे होंगे और फिर मार्कण्डेयेश्वर तथा अप्सरसेश्वर। गंगेश्वर का स्थान मस्जिद के पूर्व के पीपल के नीचे निश्चित रूप से था। मार्कण्डेयेश्वर का स्थान उसके उत्तर अर्थात् मस्जिद के ईशान कोण में था। अप्सरसेश्वर का शिवलिंग इस समय मस्जिद के उत्तर में खिड़की में अविमुक्तेश्वर के पास है। इस प्रांगण में प्रवेश प्रायः उसी स्थान से होता था, जहाँ वर्त्तमान उत्तर-फाटक है। सम्भवतः ये सभी मन्दिर वर्त्तमान प्राचीर के भीतर के स्थान में थे, यद्यपि इसका स्पष्ट प्रमाण नहीं उप-लब्ध है। इन सभी बातों पर विचार करने से ऐसा समझ पड़ता है कि नकुलीश्वर तथा प्रीतिकेश्वर ज्ञानवापी के वायव्यकोण में वीरभद्रेश्वर के स्थान के पूर्व समीप में ही कहीं पर थे और लांगलीश्वर भी सन्निकट ही उनके पूर्व तथा विश्वेश्वर के उत्तर में। भीमे-श्वर के पश्चिम और ईशानेश्वर के ठीक पूर्व भी यही स्थान पड़ता है। जैसा पहले कहा जा चुका है, लांगलीश्वर के वर्त्तमान स्थान पर उनकी पुनः स्थापना ही हुई थी, जो सम्भवतः तेरहवीं शताब्दी में हुई। मकान के अन्दर पड़ जाने से और मन्दिर न होने से

बाद के तोड़-फोड़ में यह शिवलिंग इसी कारण बच गया, ऐसा समझ पड़ता है। रामनगर में बड़े वेदव्यास नाम से प्रसिद्ध व्यासेश्वर का शिवलिंग भी इसी आकार-प्रकार का है और वह भी इसी प्रकार गाँव में होने से बच गया होगा, ऐसा अनुमान होता है। कपिलेश्वर भी कदाचित् वहीं नकुलीश्वर के समीप थे, जहाँ से हटकर वे निकुम्भ के समीप पुनः स्थापित हुए। प्रीतिकेश्वर की पुनः स्थापना साक्षीविनायक के पीछे मकान-नं० डी० १०।८ में हुई, जहाँ वे अभी भी मकान गिर जाने से बड़ी दुर्दशा में हैं।

वर्त्तमान अन्नपूर्णाजी का पुराण-साहित्य में उल्लेख नहीं है, यद्यपि यह सम्भव है कि अन्नपूर्णा भवानी की पुनः स्थापना किसी समय यहाँ हुई हो, परन्तु इसका कोई प्रमाण नहीं मिलता। नाम की समानता एवं स्थान की निकटता ही इनकी महत्ता के कारण समझ पड़ते हैं। इस स्थान पर कदाचित् भुवनेश्वरी का प्राचीन मन्दिर था और अन्नपूर्णा भी उन्हीं का एक ध्यान है।

अन्नपूर्णाजी के पिछवाड़े कालिका गली है, जिस पर सृष्टिविनायक (मकान-नं० डी० ८।३ की दीवाल में) शुक्रेश्वर के दक्षिण में हैं। इसी गली के पूर्वीय सिरे के समीप मकान-नं० डी० ७।१७ में कालीजी का मन्दिर है, जिनकी नवरात्र में कालरात्रिदुर्गा के नाम से आराधना होती है। समीप में ही तारादेवी का मन्दिर है, परन्तु इसका पुराणों में उल्लेख नहीं है। पास में मकान-नं० डी० ८।२७ में चण्डीचण्डीश्वर की मानुषी विग्रह-मूर्त्ति है। नई तथा पुरानी खण्डित मूर्त्ति भी वहीं पर हैं। यह स्थान भी इनका प्रथम स्थान नहीं है, ऐसा जान पड़ता है; क्योंकि यात्रा-क्रम में इनका दर्शन ईशानेश्वर से आते हुए भवानी के पहले आता है। परन्तु वह स्थान कहाँ पर था, यह नहीं कहा जा सकता। चण्डी की बात तो ठीक है, परन्तु चण्डीश्वर की मनुष्य-विग्रह-मूर्त्ति कुछ समझ में नहीं आती और न चण्डी का पार्वती का ध्यान ही ठीक है।

ढुंढिराज से थोड़ा पश्चिम हटकर जो गली दक्षिण को जाती है, उसी पर साक्षीविनायक का मन्दिर है (मकान-नं० डी० १०।७)।

इस गली का नाम विश्वनाथ गली है और इसपर कई देवायतन हैं, जिनमें मनःप्रकामेश्वर तथा कलिप्रियविनायक मकान-नं० डी० १०।५० में हैं। इनके पिछवाड़े सकरकन्द गली में ब्राह्मीश्वर (मकान-नं० डी० ७।६ में) तथा चतुर्वक्त्रेश्वर (मकान-नं० डी० ७।१९ में) हैं। ये सभी अंतर्गृह-यात्रा के देवता हैं। मनःप्रकामेश्वर के दक्षिण थोड़ी दूर पर गली में ही एक शिवलिंग है, जो कोटीश्वर के नाम से प्रसिद्ध है। कोटीश्वर का आदिम स्थान शैलेश्वरी के समीप था। त्रिलोचन-मन्दिर में भी एक कोटीश्वर हैं। ये दोनों ही इनकी पुनःस्थापना के स्थान हैं।

साक्षीविनायक स्वयं समस्यापूर्ण हैं; क्योंकि काशीखण्ड अथवा अन्य पुराणों में इनका नाम कहीं नहीं मिलता। परन्तु सभी यात्राओं की परिसमाप्ति में इनका दर्शन अवश्य किया जाता है। यह रूढ़ि कब से चली, यह कहते नहीं बनता; क्योंकि पुराणों में इसका प्रमाण नहीं है। समझ ऐसा पड़ता है कि ये पुराणोक्त यक्षविनायक हैं, जो नाम बदलते-

बदलते साक्षीविनायक हो गया। बीस-पच्चीस वर्ष पहले तक नैऋत्यकोण के देवता यक्ष-विनायक की पूजा कोतवालपुरा में बाबूरुद्रप्रसाद के मन्दिर में होती थी। परन्तु उनका वह स्थान गणनाथविनायक तथा ईशानेश्वर के बहुत सन्निकट था, जो नहीं होना चाहिए; क्योंकि ईशानेश्वर में गजकर्णविनायक पश्चिम दिशा के देवता हैं। इसके अतिरिक्त छठे आवरण के गणेश विश्वनाथ-मन्दिर से जितनी दूर होने चाहिए, उतनी दूर भी वे नहीं हैं। यह सम्भव है कि यक्षविनायक का पहला स्थान वहाँ रहा हो, जहाँ साक्षीविनायक हैं और बाबू रुद्रप्रसाद के मन्दिर में उनकी पुनः स्थापना हुई हो और बाद में यक्षविनायक अपने प्राचीन स्थान पर साक्षीविनायक नाम से स्थापित हुए हों। परन्तु यह कल्पना-मात्र है।

विश्वेश्वर के आदिम स्थान का विवेचन पहले हो चुका है, अतएव उसकी पुनरावृत्ति अनावश्यक है। उस स्थान के स्मारक के रूप में आदिविश्वेश्वर की स्थापना महाराज सवाई जयसिंह ने अठारहवीं शताब्दी में की थी, जिसके सम्बन्ध में किंवदन्ती है कि उनका अर्घा ज्ञानवापी के विश्वेश्वर का प्राचीन अर्घा है, जो बादशाह के कृपपात्र होने के कारण महाराज सवाई जयसिंह को किसी प्रकार प्राप्त हो सका।

इसी मन्दिर के घेरे में सौभाग्यगौरी की मूर्त्ति भी है, परन्तु अब लोग उनको भूलने लगे हैं। सौभाग्यगौरी का ठीक स्थान कहाँ था, यह कहीं स्पष्ट रूप से नहीं मिलता, परन्तु वे विश्वेश्वर के आदिम स्थान के समीप थीं और आदिविश्वेश्वर में उनकी स्थापना इसी कारण की गई। पुराणों के आधार पर इतना ही कहा जा सकता है कि वे ज्ञान-वापी से बहुत दूर नहीं थीं और अविमुक्तेश्वर के उत्तर में थीं। सम्भावना यह भी है कि वे विश्वेश्वर-मन्दिर की गौरी थीं।

वर्त्तमान लाजपत रोड पर आदिविश्वेश्वर से थोड़ी दूर दक्षिण की गली में ईशानेश्वर का मन्दिर है (मकान-नं० सी० के० ३७।४३)। उसी में गजकर्ण विनायक भी हैं। कुछ और दक्षिण चलने पर सड़क की पूर्व की पटरी पर मकान-नं० सी० के० ३७।३२ में सड़क की पटरी पर ही समुद्रेश्वर का छोटा-सा शिवालय है। और, आगे चलकर गोदौ-लिया की चौमुहानी से कुछ पहले महाराज काशिराज के मन्दिर के घेरे में गौतमेश्वर हैं। प्रायः उन्हीं के सामने पश्चिम की पटरी पर मुचकुन्देश्वर हैं, जो बड़ेदेव के नाम से प्रसिद्ध हैं। इनके पश्चिम गोकर्ण के दक्षिण में वैद्यनाथ हैं, जिनका नाम अगले क्षेत्र में पुनः आयगा और उत्तर की ओर की गली में त्र्यम्बक हैं, जो अब त्रिलोकनाथ कहे जाते हैं। उसी मन्दिर में पुरुषोत्तम भगवान् हैं, जो पुराणोक्त नहीं जान पड़ते।

पुराणकाल में, हरिकेशेश्वर इसी क्षेत्र में थे; क्योंकि उनका स्थान गोकर्ण के पूर्व बतलाया गया है, परन्तु अब वह स्थान लुप्त है और हरिकेशेश्वर जंगमबाड़ी में मकान-नं० डी० २५।२७३ के दक्षिण में हैं। गोकर्ण के विषय में अगले क्षेत्र में विचार किया जायगा।

जैसा पहले कहा जा चुका है, वर्त्तमान विश्वनाथ-मन्दिर के पश्चिम मकान-नं० सी० के० ३५।२० में द्रुपदादित्य तथा द्रौपदी का स्थान है। वहाँ द्रुपदादित्य की मूर्त्ति है और समीप में नटराज की मूर्त्ति द्रौपदी नाम से पूजी जाती है। दत्तात्रेयेश्वर या तो इसी क्षेत्र में

हरिकेशेश्वर के पूर्व में थे, अन्यथा व साक्षीविनायक-क्षेत्र में रहे होंगे। एक दत्तात्रेयेश्वर मणिकर्णिका पर हैं। सम्भव है, यह पुनः स्थापित दत्तोत्रेयेश्वर हों। इस समय दत्तात्रेयेश्वर मकान-नं० सी० के० ३४।३६ में हैं। वहीं दत्तात्रेय-मठ भी है। नारद-घाट पर भी एक दत्तात्रेय-मठ तथा दत्तात्रेयेश्वर हैं। राजराजेश्वर का एक छोटा-सा मन्दिर घुंघरानी गली में रजिया की मस्जिद के उत्तर सड़क के बीच में हैं। इसका मकान-नं० सी० के० ३९।५७ है। यही सम्भवतः उनका प्रथम स्थान है। बाद में ढुंढिराज-गली में उनकी दूसरी स्थापना हुई होगी और स्वर्गद्वारी के समीप सम्भवतः तीसरी।

५. कोदई की चौकी, सूर्यकुण्ड, पिशाचमोचन, पितृकुण्ड, मिसरिपोखरा, लक्ष्मीकुण्ड तथा सिगरा और त्रिपुरान्तकेश्वर का क्षेत्र :

यह क्षेत्र विस्तार में तो बहुत बड़ा है, परन्तु इसमें देवायतनों की संख्या अपेक्षाकृत कम है। सबसे पहले गोकर्ण के स्थान पर विचार करने से यह स्पष्ट है कि ये अपने स्थान पर ही हैं। पुराणों के अनुसार इनके पश्चिम में ध्रुवेश्वर तथा ध्रुवेश्वरकुण्ड और उनके पूर्व में वैद्यनाथ तथा उनके उत्तर में पिशाचेश्वर थे। वैद्यनाथ के पूर्व में प्रियव्रतेश्वर तथा इनके दक्षिण में मुचकुन्देश्वर थे, जिनके समीप में गौतमेश्वर का शिवलिंग था। ये सभी देवता आज भी अपने इसी पारस्परिक स्थान-सम्बन्ध में स्थित हैं, जिससे स्पष्ट है कि ये सभी प्रायः अपने प्राचीन स्थान पर ही हैं। इनमें से गोकर्ण मुसलमानी मुहल्ले में पड़ गये हैं। पचास-साठ वर्ष पहले इनके नाम पर मुहल्ले का नाम भी था, परन्तु अब उसका नाम काजीपुरा हो गया है। गोकर्ण-सरोवर तो पट गया, परन्तु एक कूप वहाँ पर है। गोकर्ण-सरोवर के पश्चिम-तट पर अत्रीश्वर थे। अब उनका स्थान-पूजन ही यहाँ होता है। गोकर्ण काजीपुरा मुहल्ले में मकान-नं० डी० ५०।३४ ए के दक्षिण हैं। अत्रीश्वर यहाँ लुप्त हैं, परन्तु उनकी स्थापना पुनः नारदघाट पर हुई, जहाँ वे मकान-नं० डी० २५।११ में हैं। वैद्यनाथ मकान-नं० डी० ५०।२० में तथा ध्रुवेश्वर सनातनधर्म इण्टर कॉलेज के निकट अपने नाम के ही महल्ले में हैं। ध्रुवेश्वर-कुण्ड पट चुका है। पिशाचेश्वर पिशाच-मोचन पर हैं। उनके दक्षिण में पित्रीश्वर पितरकुण्डा (पितृकुण्ड) के समीप हैं। वहीं पर छागलेश्वर भी हैं।

पिछले पृष्ठ पर गौतमेश्वर का उल्लेख हो चुका है। उनके पश्चिम में विभाण्डेश्वर (कांशीखण्ड में भद्रेश्वर) तथा उनके दक्षिण में ऋष्यशृङ्गेश्वर थे। पाठभेद से विभाण्डेश्वर का स्थान गौतमेश्वर के दक्षिण में कहा गया है। ऋष्यशृंङ्गेश्वर लक्ष्मीकुण्ड के समीप कालीमठ में थे। अब वे लुप्त हैं, परन्तु शृङ्गीऋषि की मूर्त्ति अभी भी वहाँ वर्त्तमान है और इसी नाम से प्रख्यात है। इसलिए विभाण्डेश्वर के सम्बन्ध का 'पश्चिम' पाठ ही अधिक सम्भाव्य है। अब तो विभाण्डेश्वर के सम्बन्ध का 'पश्चिम' पाठ ही अधिक सम्भाव्य है। अब तो विभाण्डेश्वर कोलुआ-क्षेत्र में हैं, जो सम्भवतः उनकी पुनः स्थापना है।

ध्रुवेश्वर के उत्तर में सूर्यकुण्ड मुहल्ले में साम्बादित्य का स्थान था और अभी भी है। वहीं पर साम्बादित्य-कुण्ड है, जो अब सूर्यकुण्ड नाम से प्रसिद्ध है। यहीं पर दीप्ताशक्ति

की और द्विमुख विनायक की मूर्त्तियाँ हैं। ध्रुवेश्वर के समीप ही चतुर्दन्त विनायक हैं। क्षिप्रप्रसादनविनायक मकान-नं० सी० १८।४७ में पितृकुण्ड (पितरकुण्डा) पर हैं। कपर्दीश्वर तथा विमलेश्वर पिशाचमोचन पर हैं। विमलकुण्ड पिशाचमोचन-तालाब के नाम से प्रसिद्ध है। हेरम्बविनायक पिशाचमोचन के समीप वाल्मीकि के टीले पर हैं, और उनके निकट ही वाल्मीकीश्वर हैं, जो वाल्मीकि नामक पाशुपत द्वारा स्थापित हुए हैं। इनका वाल्मीकि ऋषि से कोई सम्बन्ध नहीं है। पिशाचमोचन के निकट ही पंचास्य विनायक हैं और समीप में ही पिंगलेश्वर। पितृकुण्ड के समीप पश्चिम में मातृकुण्ड है। त्रिस्थलीसेतु ने इसको प्रामाणिक नहीं माना; क्योंकि पितरों के अन्तर्गत ही मातृपरम्परा आ जाती है (त्रि० से०, पृ० २५७), परन्तु सम्भव है कि यह विन्दुसरोवर का प्रतीक हो, जहाँ आज भी मातृगया होती है। यह तीर्थ सिद्धपुर (सौराष्ट्र) में है, जहाँ कपिल ने अपनी माता को सांख्य का उपदेश दिया था। वहाँ पिता, पितामहादि पुरुष पितरों का श्राद्ध नहीं होता, केवल माता, पितामही आदि का गया-श्राद्ध होता है। शिष्टाचार के बल पर त्रिस्थलीसेतु ने भी मातृकुण्ड की यात्रा बताई है।

ध्रुवेश्वर के पश्चिम लक्ष्मीकुण्ड नाम का महल्ला है, जहाँ महालक्ष्मीकुण्ड तथा उसके समीप बहुत-से देवता हैं। महालक्ष्मी तो मकान-नं० डी० ५२।४० में प्रसिद्ध ही हैं। इस कुण्ड का प्राचीन नाम महालक्ष्मीकुण्ड था, परन्तु अब इसको लक्ष्मीकुण्ड कहते हैं। एक दूसरा श्रीकुण्ड मत्स्योदरी-क्षेत्र में था, जो अब लुप्त हो गया और उसके साथ-ही-साथ उससे सम्बन्धित देवस्थान भी नष्ट हो गये। परन्तु, वहाँ की श्रीदेवी तथा महालक्ष्मीश्वर यहाँ पुनः स्थापित हुए और वहाँ के श्रीकण्ठ नामक शिवलिंग की पुनः स्थापना भी वर्त्तमान लक्ष्मीकुण्ड पर हुई। यह मण्डलेश्वर-क्षेत्र के श्रीकण्ठ का प्रतीक था। इसका स्थान काशी-खण्ड में मण्डविनायक के उत्तर बतलाया गया है (का० खं० ६९।६५)। वर्त्तमान काल में यह मकान-नं० डी० ५२।३८ में है। महालक्ष्मी के उत्तर में हयकण्ठी देवी और दक्षिण में कौर्मीशक्ति तथा वायव्यकोण में शिखिचण्डी के स्थान थे। हयकण्ठी कालीमठ में खिन्नी के पेड़ के नीचे हैं (मकान-नं० डी० ५२।३५), शिखिचण्डी लक्ष्मीजी के वर्त्तमान मन्दिर में (मकान-नं० डी० ५२।४०) दक्षिणाभिमुखी हैं। कूणिनाक्षविनायक आदिलक्ष्मी के मन्दिर में हैं। लक्ष्मीकुण्ड से सम्बद्ध लक्ष्मीश्वर सोरहियानाथ नाम से पूजे जाते हैं (मकान-नं० डी० ५२।५४)। श्रीकण्ठलिंग तथा मण्डविनायक मकान-नं० डी० ५२।३८ में हैं। ओंकार-क्षेत्र के श्रीकुण्ड की श्रीदेवी आदिलक्ष्मी नाम से पूजी जाती हैं। करवीरेश्वर (मकान-नं० डी० ५२।४१) तथा उग्रलिंग भी समीप में ही हैं। कौर्मीशक्ति का अब पता नहीं लगता।

लक्ष्मीकुण्ड के समीप में ही रामकुण्ड है। पहले यहाँ सीताकुण्ड भी था, जो अब पट गया है। किसी समय इस स्थान का बड़ा नाम था और इसी आधार पर इस क्षेत्र के मुहल्लों के नाम पड़े थे—रामापुरा, लक्ष्मणपुरा तथा लवकुशपुरा (जो अब विकृत होकर लक्सा रह गया है)। इन मुहल्लों के ये नाम इस स्थान पर वर्त्तमान रामेश्वर, लक्ष्मणेश्वर, सीतेश्वर, लवेश्वर, कुशेश्वर आदि शिवायतनों के कारण ही पड़े थे। परन्तु अब इन नामों का इतिहास भूलता जा रहा है। इस स्थान पर इन शिवलिंगों की पुनः

स्थापना काशीखण्ड के परवर्त्ती काल में हुई थी। इस कारण काशीखण्ड में इनका नाम इस स्थान पर नहीं मिलता, परन्तु ब्रह्मवैवर्त्तपुराण के काशीरहस्य में इनका स्पष्ट उल्लेख है, यद्यपि रामकुण्ड का नाम वहाँ नहीं दिया गया है। उसके अनुसार यहाँ विभीषणादि तथा वानरों ने भी शिवलिंग स्थापित किये थे।

अयोध्या वायुकोणेतु सोमेश्वरसमीपतः।
यत्ररामेश्वरम् लिङ्गं वसेत्सीतापतिः स्वयम्॥
विभीषणादिभिर्यत्र राक्षसैर्वानरैरपि।
स्थापितान्ययुतंसार्धं लिङ्गानि परितः पृथक्॥
(ब्र० वै० पु०, का० खं० १३।३१-३२)

यहाँ पर सोमेश्वर का स्थान पाण्डेघाट के समीप सोमेश्वर घाट-पर माना गया है। ऐसा समझ पड़ता है कि यहाँ के देवायतनों के नष्ट होने पर उनकी पुनः स्थापना हनुमानघाट पर हुई। यह बात पन्द्रहवीं शताब्दी के पहले ही हुई; क्योंकि गुरुचरित्र में हनुमानघाट पर हनुमन्तेश्वर तथा रामेश्वर के दर्शनों का उल्लेख है। इस स्थान के देवताओं के पृथक पृथक् दो या तीन आदिम स्थान रहे हैं, जहाँ से आकर वे इस जगह एकत्र हुए हैं। रामेश्वर तो त्रिपुराभैरवी के उत्तर से, हनुमदीश्वर स्वर्लीन क्षेत्र से तथा भरतेश्वर मत्स्योदरी-क्षेत्र से आये हैं। लवेश्वर, कुशेश्वर तथा सीतेश्वर इसी क्षेत्र के हैं; क्योंकि इनका अन्यत्र उल्लेख नहीं मिलता। रामकुण्ड से पश्चिम प्रायः आधे मील पर एक टीला है, जिसपर त्रिपुरान्तकेश्वर का शिवायतन है। समीप में पहले एक ह्रद भी था। इस टीले का नाम शिवगिरि था और यही मुहल्ले का भी नाम था, जो बिगड़कर, 'सिगरा' हो गया है। यह श्रीशैल का प्रतीक और दक्षिण के श्रीशैल से आये हुए त्रिपुरान्तकेश्वर का स्थान है। (मकान-नं० डी० ५९।९५)।

प्रादुश्चकार देवेशः श्रीशैलात्त्रिपुरान्तकः।
श्रीशैलशिखरं दृष्ट्वा यत्फलं समुदीरितम्॥
त्रिपुरान्तकमालोक्य तत्फलं हेलयाप्यते।
विश्वेशात्पश्चिमे भागे त्रिपुरान्तकमीश्वरम्॥
सम्पूज्य परया भक्त्या न नरो गर्भमाविशेत्। (का० खं० ६९।७३-७५)

इसी स्थान पर त्रिमुख विनायक की भी मूर्त्ति है।

काशी भयहरोनित्यमैश्यां शालकटंकटात्।
त्रिमुखोनाम विघ्नेशः कपिसिंहद्विपाननः॥ (का० खं० ५७।८२)

इस स्थान से नैर्ऋत्यकोण में प्रायः एक मील की दूरी पर शालकटंकट विनायक हैं, जो दूसरे आवरण के देवता हैं, और उनके नैर्ऋत्यकोण में पंचक्रोशी मार्ग पर भीमचण्डविनायक पहले आवरण में पड़ते हैं।

भीमचण्डगणाध्यक्षात् किंचिदीशान दिग्गतः।
क्षेत्ररक्षो गणाध्यक्षः पूज्यः शालकटंकटः॥ (का० खं० ५७।७१)

(ञ) दशाश्वमेध से केदारघाट तक तथा पश्चिम में रामापुरा की सड़क तक का क्षेत्र

यह क्षेत्र आकार में तो बड़ा है, परन्तु यहाँ के स्वक्षेत्री देवताओं की संख्या तदनुरूप नहीं है। इनमें से अधिकतर देवता दशाश्वमेध तथा शीतलाघाट के समीप हैं और कुछ वहाँ से दक्षिण।

गौतमेश्वर के स्थान का विवेचन पहले हो चुका है। उनके दक्षिण अथवा पश्चिम में विभाण्डेश्वर थे, जिनका वर्त्तमान स्थान कोलुआ में हैं। उनके दक्षिण, परन्तु ब्रह्मेश्वर के पश्चिम ऋष्यशृङ्गेश्वर थे, जो अपने ही स्थान पर लक्ष्मीकुण्ड पर मकान-नं० डी० ५२।३५ में अव लुप्त हैं। ब्रह्मेश्वर अपने स्थान पर मकान-नं० डी० ३२।६६-६७ में हैं। ब्रह्मेश्वर के पूर्व ययातीश्वर थे। इनका स्थान-निर्देश कृत्यकल्पतरु में हिरण्याक्षेश्वर के दक्षिण में कहा गया है, परन्तु काशीखण्ड में पश्चिम बतलाया गया है और वहाँ इनके पश्चिम में भगीरथलिंग का वर्णन है और उसी के पास दिलीपेश्वर का, जो ब्रह्मेश्वर के पश्चिम में कहे गये हैं। इस सब पर विचार करने से यही निष्कर्ष निकलता है कि ययातीश्वर हिरण्याक्षेश्वर के दक्षिण में ही थे; क्योंकि हिरण्याक्षेश्वर जरासन्धेश्वर के समीप थे। ययातीश्वर का नाम काशीखण्ड में गयाधीश है, जो स्पष्ट ही लिपिप्रमाद है। भगीरथलिंग का नाम कृत्यकल्पतरु में नहीं है, परन्तु वर्णन है। इस प्रकार यह शिवलिंग ब्रह्मेश्वर के समीप था और उसके पश्चिम में दिलीपेश्वर थे। ययातीश्वर, भगीरथलिंग तथा दिलीपेश्वर का अपने स्थान पर अब पता नहीं है, परन्तु भगीरथ लिंग इस समय मणिकर्णिका-श्मशान के ऊपर बाबू विश्वनाथ सिंह के लकड़ी के अड़ार में है।

ब्रह्मेश्वर के पश्चिम अगस्त्येश्वर तथा अगस्त्यकुण्ड थे। ये दोनों अपने स्थान पर ही प्रसिद्ध हैं। कुण्ड तो पट गया और उसपर अगस्त्यकुण्डा नाम का महल्ला बस गया, परन्तु अगस्त्येश्वर वर्त्तमान हैं। इनके समीप में ही विश्वावसु गन्धर्व द्वारा स्थापित मुखलिंग था। वह इसी मन्दिर में अपने स्थान पर ही है और अब सुतीक्ष्णऋषि कहा जाता है। अगस्त्येश्वर के पूर्व मुण्डेश्वर थे, जिनके दक्षिण में विधीश्वर तथा विधिदेवी की मूर्त्ति थी और उनके दक्षिण में दशाश्वमेध-तीर्थ एवं दशाश्वमेधेश्वर थे। इस विषय पर आगे चलकर दशाश्वमेध एवं मणिकर्णिका-शीर्षक में विस्तारपूर्वक विचार किया जायगा। दशाश्वमेधतीर्थ के उत्तर मातृकाओं का स्थान था, जिनके सम्मुख एक कुण्ड था। अगस्त्येश्वर के दक्षिण पुलस्त्येश्वर तथा उनके दक्षिण में पुष्पदन्तेश्वर थे। पुलस्त्येश्वर की पुनः स्थापना स्वर्गद्वार के समीप हुई, जहाँ वे अद्यापि वर्त्तमान हैं। पुष्पदन्तेश्वर अपने ही स्थान पर हैं। उनके दक्षिण अथवा आग्नेय कोण में सिद्धेश्वर (काशीखण्ड में सिद्धीश्वर) थे। पुष्पदन्तेश्वर के समीप ही नैर्ऋतयेश्वर तथा जटी देव के शिवलिंग हैं, जो मकान-नं० डी० ३२।११७ के द्वार पर हैं और जटीपातालेश्वर नाम से प्रसिद्ध हैं। इनके पास ही हरिश्चन्द्रेश्वर हैं। इनके निकट हरेश्वर थे, जो अब लुप्त हैं। नैर्ऋतेश्वर के दक्षिण अंगिरसेश्वर थे, जो अब मकान-नं० डी० ३५।७७ में पुनः स्थापित हैं। अंगिरसेश्वर के दक्षिण क्षेमेश्वर थे और उनके दक्षिण में चित्रांगदेश्वर। क्षेमेश्वर अब क्षेमेश्वर-घाट के ऊपर मकान-नं० बी०

१४।१२ में हैं। चित्रांगदेश्वर मकान-नं० बी० १४।११८ में हैं। वहीं चित्रग्रीवा की भग्न मूर्त्ति भी है। उनके दक्षिण केदारेश्वर थे और अभी भी हैं, परन्तु अपने प्राचीन स्थान से थोड़ा-सा उत्तर हटकर। इसका प्रमाण यह है कि पन्द्रहवीं शताब्दी के यात्राक्रम में केदारेश्वर तथा गौरीकुण्ड के बाद और हनुमान-घाट के रामेश्वर के पहले वृद्धकेदार के दर्शन का उल्लेख है। हरिश्चन्द्र-घाट के ऊपर का प्राचीन शिवायतन ही वृद्धकेदार हैं। यह इस जनश्रुति पर आधारित है कि वर्त्तमान हरिश्चन्द्र-घाट ही काशीकेदार-माहात्म्य की आदिमणिकर्णिका का स्थान है। केदारेश्वर के दक्षिण पास ही में नीलकण्ठ का प्रथम स्थान (मकान-नं० बी० ६।९९ में) था और अभी भी वहाँ इनकी पूजा होती है। परन्तु इनकी पुनःस्थापना ब्रह्मनाल-क्षेत्र में काशीखण्ड के समय के बाद हुई है, जहाँ वे मकान-नं० सी० के० ३३।२३ में वर्त्तमान हैं। केदारेश्वर के वायव्यकोण में अम्बरीषेश्वर तथा इन्द्रद्युम्नेश्वर और उनके दक्षिण कालंजरेश्वर थे। इनकी पुनः स्थापना केदार-मन्दिर में हुई थी, परन्तु वे शिवलिंग अब लुप्त हो गये हैं।

इस क्षेत्र में विनायकों की कई मूर्त्तियाँ हैं। अभयदविनायक दशाश्वमेध घाट पर शूलटंकेश्वर में, वक्रतुण्डविनायक, जो सरस्वतीविनायक के नाम से प्रसिद्ध हैं, मकान-नं० डी० २०।४ राणामहल में, लम्बोदरविनायक केदार के थोड़ा दक्षिण कालीघाट के ऊपर सोनारपुरा की सड़क पर, कूटदन्त विनायक कृमिकुण्ड पर, एकदन्त विनायक पुष्पदन्तेश्वर के समीप तथा सिंहतुण्डविनायक ब्रह्मेश्वर के पास मकान-नं० डी० ३३।६६-६७ में हैं।

विष्णु भगवान् के भी कई पीठ इस क्षेत्र में पड़ते हैं। त्रिभुवन केशव बन्दी देवी के मन्दिर में मकान-नं० डी० १७।१०० में, विटंकनरसिंह केदारेश्वर मन्दिर में (मकान-नं० बी० ६।१०२) तथा क्षोणीवाराह या धरणीवाराह प्रयागेश्वर के पास मकान-नं० डी० १७।१११ में हैं। प्रयागमाधव मकान-नं० डी० १७।१११ में हैं।

देवियों में बन्दी देवी, जिनका नाम निगड़भंजनी भी है, मकान-नं० डी० १७।१११ में तथा ब्राह्मी ब्रह्मेश्वर में मकान-नं० डी० ३३।६६-६७ में हैं। विधिदेवी का वर्त्तमान स्थान अज्ञात है, परन्तु विधीश्वर अगस्त्येश्वर के पूर्व गली के कोने के मकान में कुँए के पास हैं। शूलटंकेश्वर के समीप एक चतुर्मुखी शिवलिंग है। यह आदिकेशव के निकट के प्रयागलिंग की पुनः स्थापना है, परन्तु अब ब्रह्मेश्वर नाम से प्रसिद्ध है। प्रिन्सेप के नक्शे में इसको प्रयागेश्वर कहा गया है। वरणा-संगम के समीप से महालक्ष्मी भी यहाँ आई हैं, वे नीलकण्ठ के समीप मकान-नं० बी० ६।९९ में हैं। केदार-मन्दिर में गौरीकुण्ड (हिमालय) की गौरी भी हैं और अन्नपूर्णा भी। इनके अतिरिक्त ६४ योगिनियाँ भी इसी क्षेत्र में हैं। उनके नाम पर ही चौसट्ठी घाट प्रसिद्ध है, परन्तु अब वहाँ केवल ६ या ७ मूर्त्तियाँ बची हैं। सभी योगिनियाँ इसी स्थान पर हैं, ऐसा पुराणवाक्य है, परन्तु इस समय ऐसा कहा जाता है कि केवल ६१ योगिनियाँ इस स्थान पर हैं, अन्य तीन अन्यत्र हैं, अर्थात् वाराही मानमन्दिर-घाट पर, मयूरी लक्ष्मीकुण्ड पर, कामाक्षा कमच्छा पर, परन्तु यह बात भ्रम पर आधारित है। नामसाम्य के कारण यह भ्रम हुआ है, ऐसा समझ पड़ता है; क्योंकि वाराही नवमातृकाओं में से हैं, जिनका स्थान अलग बतलाया गया है, मयूरी शिखिचण्डी

के भ्रम से वहाँ मानी जाती हैं और कामाक्षा देवी प्राग्ज्योतिष देश से आई हुई हैं। कामाक्षा योगिनी तथा कामाक्षा देवी एक नहीं हैं।

'अग्रेकृत्वा स्थिताः सर्वास्ताः (योगिन्यः) काश्यां मणिकर्णिकाम्।'

(का० खं० ४५।५४)

केदारेश्वर के पूर्व में घाट पर ही गौरीकुण्ड का प्रतीक है। गौरीकुण्ड गंगाजी के प्रवाह में केदारघाट के अथवा वृद्धकेदार के नीचे हैं। इसको हरपाप-तीर्थ भी कहते हैं और हिमालय-केदार के गौरीकुण्ड, हंसतीर्थ तथा मधुस्रवा गंगा—तीनों ही की इस कुण्ड में प्रतीकात्मक स्थिति मानी जाती है। प्राचीन मानसरोवर-तीर्थ भी समीप में तालाब के रूप में था, परन्तु अब लुप्त हो गया है। गौरीकुण्ड को अथवा उसके पूर्ववर्त्ती स्थान हरिश्चन्द्रघाट की गंगा को ब्रह्मवैवर्त्तपुराण के काशी-केदार-माहात्म्य में आदि मणि-कर्णिका कहा गया है।

वरणा-संगम तथा राजघाट-क्षेत्र के आनुसूयेश्वर और गोकर्ण के पश्चिम के अत्रीश्वर भी नारदघाट के ऊपर मकान-नं० डी० २५।११ में यहीं हैं। कामेश्वर-क्षेत्र से आये हुए गरुड़े-श्वर भी मदनपुरा में मकान-नं० डी० ३१।३९ ए० में हैं। गभस्तीश्वर के समीप के सोमेश्वर पाण्डेघाट के ऊपर हैं। इन्हीं के नाम से उस घाट का नाम सोमेश्वर-घाट था, परन्तु अब इस नाम को लोग भूल रहे हैं। इन्हीं सोमेश्वर का उल्लेख ब्रह्मवैवर्त्तपुराण के काशी-रहस्य में अयोध्या के स्थान-निर्देश में किया गया है। **अयोध्या वायुकोणे तु सोमेश्वर समी-पतः**, जो रामापुरा, लक्ष्मणपुरा तथा लक्सा महल्लों के आदिम इतिहास को परिलक्षित करता है और रामकुण्ड के रामेश्वर की ओर संकेत करता है। राजघाट-क्षेत्र के नारदेश्वर अब नारदघाट पर मकन-नं० डी० २५।१२ में हैं। बालखिल्येश्वर तथा सनत्कुमारेश्वर भी कामेश्वर-क्षेत्र से यहाँ आए थे, परन्तु अब वे लुप्त हैं।

ब्रह्मवैवर्त्तपुराण के काशी-केदार-माहात्म्य में केदार के उत्तर में इन्द्रद्युम्नेश्वर, अघीश्वर, निषधेश्वर, गणेश्वर, क्षेमेश्वर, बालखिल्येश्वर, नारदेश्वर, सखीश्वर, अक्रूरेश्वर, कबन्धेश्वर, पाण्ड्येश्वर, क्षालनेश्वर, दशाश्वमेधेश्वर, कुलेश्वर तथा कुण्डलीश्वर के तथा पश्चिम में वैप्रचित्तेश्वर, कालकेयेश्वर, निवातकवचेश्वर, वैरोचनेश्वर, वाल्मीकेश्वर, तिलभाण्डेश्वर, बालकेश्वर, कुण्डेश्वर, कुठारेश्वर, पारिभद्रेश्वर, शुम्भेश्वर, निशुम्भेश्वर, कालीश्वर तथा प्रथमेश्वर के नाम दिये गये हैं। इनमें से इन्द्रद्युम्नेश्वर, क्षेमेश्वर, बाल-खिल्येश्वर, नारदेश्वर, दशाश्वमेधेश्वर, वैरोचनेश्वर, वाल्मीकेश्वर और कुण्डेश्वर के नाम काशी-खण्ड में मिलते हैं, परन्तु इनमें से क्षेमेश्वर, इन्द्रद्युम्नेश्वर तथा दशाश्वमेधेश्वर तो तदनुसार अपने स्थान पर हैं, अन्य सभी दूसरे क्षेत्रों के निवासी थे, जो काशी-केदारखण्ड-काल में इस क्षेत्र में आ गये थे, परन्तु अब उनमें से किसी का यहाँ पर पता नहीं रह गया है। जिन शिवलिंगों के काशीखण्ड में नाम नहीं हैं, उनमें से अक्रूरेश्वर अब मदैनी में हैं तथा तिल-भाण्डेश्वर अपने ही स्थान पर हैं। औरों का पता नहीं है। इस पुराण के अनुसार केदार के पूर्व में गंगातट पर गौरीश्वर, लक्ष्मीश्वर, व्यासेश्वर, भार्गवेश्वर तथा त्रिनदीश्वर थे, परन्तु इनका भी अब वहाँ पता नहीं है। सम्भावना यह भी है कि ब्रह्मवैवर्त्तपुराणान्तर्गत

काशी-केदार-माहात्म्य के वर्त्तमान स्वरूप पाने के समय भी इनमें बहुतों का लोप हो गया था; क्योंकि वहाँ लिखा है कि—

कालेन कानि नष्टानि भग्नानि शिथिलान्यपि।
भूमौ कानि विलीनानि प्रकाशन्त्यपि कानिचित् ।।

अर्थात् काल के प्रवाह से कुछ तो नष्ट हो गये, कुछ भग्न हो गये, कुछ घिस-पिस गये, कुछ पृथ्वी में दब गये और कोई-कोई प्रकाशमान भी हैं (काशीकेदार-माहात्म्य २२।८६–९९)।

(ट) केदार-घाट से असी-संगम तक तथा पश्चिम में कमच्छा तथा बैजनत्था तक का क्षेत्र :

यह क्षेत्र भी विस्तार में बहुत बड़ा है, परन्तु देवायतन बहुधा इसके पूर्वीय अंचल में ही हैं। पश्चिम के भाग में इने-गिने ही देवस्थान हैं, जो कमच्छा महल्ले में हैं।

नीलकण्ठ यथार्थतः इसी क्षेत्र में हैं, परन्तु केदारेश्वर के अत्यन्त समीप होने के कारण उनका उल्लेख वहीं पर किया जा चुका है। कालंजर का नामोल्लेख भी उसी क्षेत्र में किया जा चुका है, परन्तु सम्भवतः वे भी इसी क्षेत्र के हैं। भदैनी महल्ले में लोलार्क का प्रसिद्ध स्थान है। यहाँ पर लोलार्क की सूर्य-प्रतिमा है। इनका वर्णन **वामनपुराण** में आया है, जहाँ वाराणसी के केवल तीन देवताओं के नाम लिये गये हैं—अविमुक्तेश्वर, केशव तथा लोलार्क के—इससे ही इनकी महत्ता स्पष्ट हो जाती है। वहीं लोलार्क-कुण्ड है। प्राचीन काल में किसी प्रकार इस कुण्ड के जल का गंगाजल से संगम होता था, परन्तु अब यह केवल वर्षाऋतु में एक सुरंग के द्वारा होता है। यह अपने ही स्थान पर है। असीघाट पर कुण्डोदरेश्वर हैं। ये भी अपने ही स्थान पर हैं, परन्तु दस या पन्द्रह फुट बालू के नीचे दबे पड़े हैं। इनके पश्चिम असी नदी के किनारे मयूरेश्वर थे और उनके पश्चिम बाणेश्वर। मयूरेश्वर इस समय मकान-नं० बी० १।१७४ में संगमेश्वर नाम से प्रसिद्ध हैं तथा बाणेश्वर मकान-नं० बी० १।१७७ में असी-संगमेश्वर-मन्दिर में हैं। गंगासागर से आये हुए अमरेश्वर भी यहीं पर मकान-नं० बी० २।२० में हैं। इनका स्थान-निर्देश काशीखण्ड में नहीं दिया है, परन्तु हैं ये प्रसिद्ध। लोलार्क के पश्चिम दुर्गा देवी का प्रसिद्ध स्थान है, और वहीं पर दुर्गाकुण्ड है। समीप में ही कुरुक्षेत्र का तालाब तथा सोन-हटिया गड़ही है, जो सन्निहाया के प्रतीक हैं तथा स्थाणु का शिवलिंग है। दुर्गाजी के घेरे में तिलपर्णेश्वर हैं। इनका ठीक स्थान काशीखण्ड में नहीं दिया है, परन्तु यह मन्दिर प्रसिद्ध है। इसी मन्दिर के सामने बलि चढ़ती है। वहीं पर कुक्कुटेश्वर हैं। ये ज्येष्ठस्थान क्षेत्र से आये हैं। इनके विषय में एक वाक्य अत्यन्त प्रसिद्ध है—

वाराणस्यां दक्षिणे भागे कुक्कुटो नाम वै द्विजः।
तस्य स्मरणमात्रेण चौरो गच्छति निष्फलः ।।

यह वाक्य कहाँ का है, नहीं मालूम है, परन्तु है प्रसिद्ध, यद्यपि इसके चतुर्थ चरण के कई पाठभेद हैं। यहीं पर चण्डभैरव तथा दुर्गविनायक हैं। ललीघाट पर जयन्तेश्वर हैं, जो मधुकेश्वर-क्षेत्र से आये हैं। समीप में किरातेश्वर हैं, जो शिवगण द्वारा स्थापित हुए थे। भद्रेश्वर भदऊँ से यहाँ

आये हैं। उनका वृहदाकार लिंग लोलार्क कुण्ड के समीप हैं। वहीं भद्रकाली तथा भद्रविनायक भी हैं, जिनके नाम पुराणों में नहीं मिलते। पाराशर्येश्वर ओंकारेश्वर के समीप से कर्णघण्टा के व्यासेश्वर के समीप आये और पुनः लोलार्क के समीप, जहाँ वे अब मकान-न० बी० २।२१ में हैं।

दुर्गाजी के पश्चिम असितेश्वर थे और उनके आग्नेयकोण में शुष्केश्वर और उनके पश्चिम में जनकेश्वर और जनकेश्वर के समीप ही उत्तर में शंकुकर्णेश्वर थे। शंकुकर्ण का स्थान क्षेत्र के नैर्ऋत्यकोण में होने से कालांतर में शंकुकर्णेश्वर की पुनः स्थापना वहीं शंखधारा के पास हुई (का० खं० ७४।५२)। शुष्केश्वर के के उत्तर में सिद्धेश्वर, जिनको काशीखण्ड में महासिद्धीश्वर कहा गया है और सिद्धेश्वर कुण्ड (महासिद्धीश्वर कुण्ड थे)। कालान्तर में जब ओंकार-क्षेत्र के अयोगन्धेश्वर की पुनः स्थापना यहाँ पर हुई तब उनके समीप का पुष्करतीर्थ भी सिद्धेश्वर-कुण्ड में आया और तभी से इसका नाम 'पुष्कर' हुआ। कुछ लोग कृमिकुण्ड को तथा भवनिया गड़ही को महासिद्धीश्वर-कुण्ड कहते हैं। शंकुकर्णेश्वर के वायव्य कोण में माण्डव्येश (काशीखण्ड में वाड़व्य लिंग) और उनके समीप में द्वारेश्वर तथा द्वारेश्वरी देवी तथा द्वारेश्वर के उत्तर में एक मुखलिंग (सम्भवतः कहोलेश्वर) और उनके उत्तर में छागलेश्वर (का० खं० में जांगलेश्वर) थे। समीप में ही पश्चिम में कपर्दीश्वर, उनके पूर्व में हरितेश्वर (काशीखण्ड में हरिदीश्वर) और उनके दक्षिण में कात्यायनेश्वर थे। वहीं पर निकट में अंगारेश्वर अंगारेश्वर-तड़ाग था, जिसके दक्षिण अथवा पश्चिम-तट पर मुकुरेश्वर (काशीखण्ड में मुकुटेश्वर) थे। ऊपर कहे हुए छागलेश्वर अथवा जांगलेश्वर भी वहीं पर थे। काशीखण्ड में अंगारेश्वर तड़ाग का नाम मुकुट-कुण्ड कहा गया है और कहोलेश्वर तथा विभाण्डेश्वर भी द्वारेश्वर के समीप बतलाये गये हैं। एक कहोलेश्वर जेयेष्ठ स्थानमें भी बतलाये गये हैं, जहाँ वे अभी भी हैं। परन्तु, सम्भवतः ये दूसरे हैं, जिनको कृत्यकल्पतरु में मुखलिंग कहा गया है। विभाण्डेश्वर की तो पुनः स्थापना ही यहाँ हुई होगी। इस समय दुर्गाजी के पश्चिम थोड़ी ही दूर पर गोआबाई का कुण्ड है, जो नवाबगंज में स्थित है और अब मुकुटकुण्ड कहलाता है। शुष्केश्वर का ठीक स्थान अब नहीं मालूम है, परन्तु उनके बाद के जिन-जिन देवताओं का वर्णन अभी ऊपर हुआ है, उनके प्रथम स्थान वे नहीं हो सकते, जहाँ वे इस समय हैं। इस सम्बन्ध में इस अनुच्छेद के अन्त में विचार किया जायगा।

देवियों में चामुण्डा, चर्ममुण्डा तथा महारुण्डा—तीनों देवियाँ इसी क्षेत्र में कही जाती हैं। दुर्गाजी चित्रग्रीवा द्वारेश्वरी तथा स्वप्नेश्वरी भी यहीं हैं। मुकुटकुण्ड के समीप पुनः स्थापित अंगारेश्वर थे और क्षेत्र की पश्चिम दिशा से रक्षा करनेवाली चण्डी अंगारेशी भी इन्हीं अंगारेश्वर के साथ रही होंगी। नैर्ऋत्यकोण की चण्डी उत्तरेश्वरी तथा आग्नेयकोण की चण्डी अधःकेशी भी इसी क्षेत्र में होंगी, परन्तु उनका कोई भी स्थान-निर्देश न होने से उनकी वर्त्तमान स्थिति के विषय में कुछ नहीं कहा जा सकता। भग्न चित्रग्रीवा केदारजी के समीप मकान-नं० बी० १४।११८ में हैं। दुर्गाजी के घेरे में शिवलिंग-रूप से द्वारेश्वर दुर्गाजी के पीछे हैं, जहाँ द्वारेश्वरी जलसेश्वरी नाम से प्रसिद्ध हैं। दुर्गाजी स्वयं भी अपने स्थान से कुछ पश्चिम हटकर हैं। तथ्य तो यह है कि दुर्गाजी के मन्दिर में इधर सैंकड़ों वर्षों से कोई मूर्त्ति है ही नहीं। किसी समय तोड़फोड़ के अवसर पर उनकी मूर्त्ति उखाड़कर पण्डाजी के घर में

मकान-नं० बी० २।६२ में सुरक्षित रखी गई थी, जहाँ वह अभी भी हैं और उसके बाद फिर स्थापना ही नहीं की गई, वरन् दुर्गायन्त्र को ही वहाँ पर प्रतिष्ठित किया गया। वही बात आज भी है। दुर्गाजी के पूर्व में जो टीला है, जिसपर दुर्ग विनायक अभी भी हैं, वहीं उनका प्राचीन स्थान था; क्योंकि कृत्यकल्पतरु में स्पष्ट लिखा है कि वे टीले के ऊपर थीं——**लोलार्कात् पश्चिमे भागे दुर्गादेवी च तिष्ठति, मानवानां हितार्थाय कूटे क्षेत्रस्य दक्षिणे** (कृ० क० त०, पृ० ११८)। स्वप्नेश्वरी कुछ समय पहले तक बादशाहगंज के शिवालय में थीं, परन्तु अब लुप्त हो गईं। शिवालाघाट पर मकान-नं० बी० ३।१५० में भी वे कही जाती हैं। ये उनके दूसरे तथा तीसरे स्थान रहे होंगे। उनका पहला स्थान तो लोलार्क के उत्तर में समीप में ही था और अभी भी वहाँ पर महिषमर्दिनी नाम से उनकी पूजा होती है। त्रिस्थलीसेतु के समय तक स्वप्नेश्वरी अपने प्राचीन स्थान पर ही थीं **'असिसंगमस्था स्वप्नेश्वरी'** (त्रि० से०, पृ० २३७)। इस दृष्टि से महारुण्डा भी वहीं कहीं थीं। कुछ लोगों का कहना है कि काली के ध्यान की महारुण्डा मकान-नं० बी० २।१७ के समीप पचास वर्ष पहले तक थीं। वहाँ जब उनकी स्थिति ठीक न रह गई तब वह मूर्त्ति दुर्गाजी के घेरे में स्थापित की गई, जहाँ आज भी कालीजी के नाम से उनकी पूजा होती है। चामुण्डा का स्थान उनके उत्तर में था और अभी भी अर्कविनायक के मन्दिर में उनकी पूजा होती है—**चामुण्डा मुण्डरूपिणी**। चर्ममुण्डा उनके भी उत्तर में थीं, परन्तु महारुण्डा की भाँति ही उनका भी अब ठीक पता नहीं लगता। इस सम्बन्ध में कहा जाता है कि वाटर वर्क्स के हाते में जो राम-मन्दिर है, उसमें उनकी मूर्त्ति पहले थी। सम्भव है कि वराटिका या पंचकौड़ी देवी नैर्ऋत्यकोण की चण्डी उत्तरेश्वरी हों, परन्तु अंगारेश्वरी की पुनः स्थापना भी हो सकती है; क्योंकि उनके सामने कपर्दीश्वर थे, जो अब लुप्त हैं।

विष्णु-मूर्त्तियों में हयग्रीवकेशव इस समय शिवालाघाट के समीप माँ आनन्दमयी के अस्पताल के पास तथा निर्वाण केशव लोलार्क के समीप हैं। एक मूर्त्ति यहाँ त्रिविक्रम की भी है, परन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि यहाँ त्रिलोचन-क्षेत्र के त्रिविक्रम की पुनः स्थापना हुई अथवा यह स्वतंत्र नामधारी मूर्त्ति है। यदि ऐसा है तो पुराणोक्त पीठ नहीं है। यही बात असिमाधव के विषय में भी है। पुराणों में उनका वर्णन नहीं मिलता। प्रचण्ड नरसिंह दुर्गाजी के घेरे में थे, परन्तु खण्डित होते-होते अब ये लुप्त हो गये हैं। स्थान-पूजन होता है, परन्तु इनका स्थान तथा नाम जन-मानस भूलने लगा है और असी-संगम के पास के जगन्नाथ-मन्दिर में इनकी पूजा होने लगी है। जैसा पहले कहा गया है, विनायकों में अर्कविनायक लोलार्क के समीप तथा दुर्गविनायक दुर्गाजी के पूर्व टीले पर हैं। कूटदन्त विनायक कृमिकुण्ड पर हैं, शालकटंकट मड़ुआडीह में तथा त्रिमुखविनायक सिगरा में त्रिपुरान्तक के टीले पर हैं।

भैरवों में रुरुभैरव हनुमानघाट पर, चण्डभैरव दुर्गाजी के मन्दिर में तथा क्रोधन भैरव कमच्छा पर कामाक्षादेवी के मन्दिर में हैं। उग्रलिंग कनखल-क्षेत्र से आकर ओंकार क्षेत्र में था, परन्तु उसकी पहली पुनः स्थापना अर्कविनायक के पूर्व में हुई। अक्रूरघाट पर

चित्र सं. ४ङ
मीर घाट
गं
गा
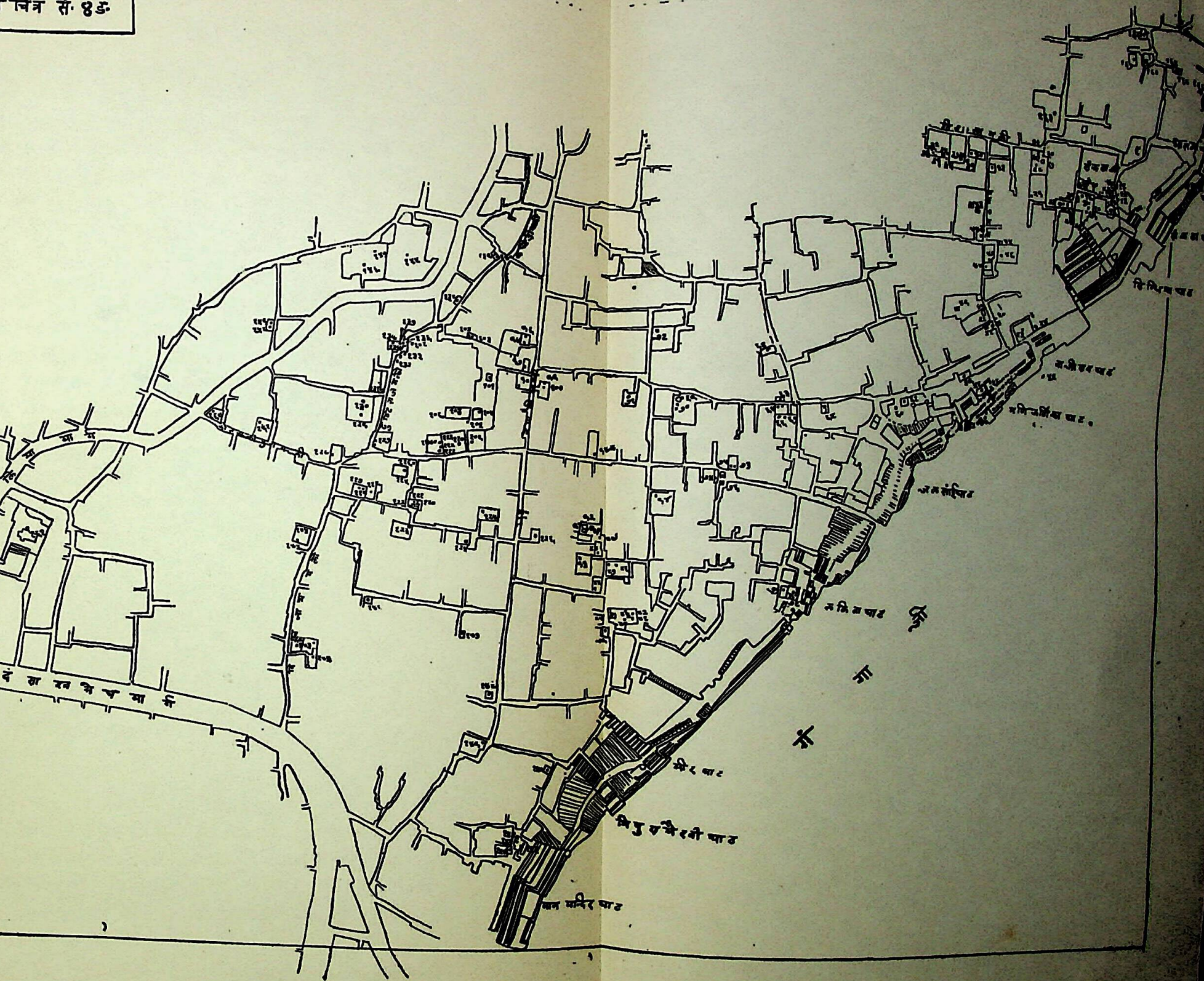
अक्रूरेश्वर प्रसिद्ध हैं। असि-गंगा-संगम से सम्बद्ध असिसंगमेश्वर का नाम पंचक्रोशी यात्रा में आता है। ये रानी सुरसरि के मन्दिर के द्वार पर मकान-नं० बी० १।१७७ में हैं। उद्दालकेश्वर भी राजघाट-क्षेत्र से यहाँ आये हैं। ज्येष्ठस्थान के कहोलेश्वर की स्थापना दो बार इस क्षेत्र में हुई—एक बार कमच्छा में और दूसरी बार डौड़ियावीर पर। ज्येष्ठेश्वर में भी उनका मन्दिर वर्त्तमान है।

आजकल के यात्राक्रम में इनके अतिरिक्त कुछ अन्य देवताओं का भी पूजन होता है, जिनका पुराणों में नाम नहीं है, यथा ब्रह्मपदेश्वर, नर्मदेश्वर, सुरेश्वर, पद्मसुरेश्वर। इनके अतिरिक्त कामाक्षा देवी तथा बटुकभैरव और वैद्यनाथ—ये भी प्रसिद्ध हैं। कामाक्षा देवी तथा बटुकभैरव प्राग्ज्योतिष अर्थात् आसाम के देवता हैं। ये उनके स्थानीय प्रतीक माने जाते हैं और इनके नाम से ही कमच्छा महल्ला प्रसिद्ध है। बटुकभैरव-मन्दिर के दालान में घृष्णेश्वर हैं, जो द्वादश ज्योतिर्लिंगों के घृष्णेश्वर या घुष्मेश्वर के प्रतीक कहे जाते हैं। कामाक्षादेवी के समीप ही वैद्यनाथ हैं, जो वैजनत्था नाम से प्रसिद्ध हैं। ये भी द्वादश ज्योतिर्लिंगों के वैद्यनाथ हैं। इन परम्पराओं के पौराणिक आधार अब नहीं मिलते, परन्तु ऐसी मान्यताएँ विना किसी आधार के नहीं होतीं—यह कहकर सन्तोष करना पड़ता है।

ऊपर शुष्केश्वर, जनकेश्वर, शंकुकर्णेश्वर, सिद्धेश्वर, माण्डव्येश्वर, द्वारेश्वर, द्वारेश्वरी, छागलेश्वर या जांगलेश्वर, कपर्दीश्वर, हरितेश्वर, कात्यायनेश्वर, अगारेश्वर, अगारेशी, अंगारेश्वर-तड़ाग, मुकुरेश्वर या मुकुटेश्वर, तथा मुकुटकुण्ड के वर्त्तमान स्थानों का वर्णन करते हुए कहा गया था कि उनका पूर्ण विवेचन पुनः किया जायगा। उस सम्बन्ध में विचार करने पर ऐसा समझ पड़ता है कि सम्भवतः नवाबगंज तथा दुर्गाकुण्ड पर के ये स्थान उनके आदिम स्थान नहीं हैं। शुष्केश्वर जहाँ पर भी रहे हों, परन्तु उनके पश्चिम के जनकेश्वर नवाबगंज के पश्चिम सुकुलपुर के समीप असी नदी के तट पर थे, जहाँ से लाकर उनको अब सुकुलपुर में एक मन्दिर में स्थापित किया गया है। उनके प्राचीन स्थान के समीप आठवीं-नवीं शताब्दी की बड़ी सुन्दर मूर्त्तियाँ भी थीं, जो अब सुकुलपुर में हैं। शुष्केश्वर के उत्तर में सिद्धेश्वर थे, जो अभी भी मकान-नं० बी० २।२८२ में अपने ही नाम से पूजे जाते हैं। सिद्धेश्वर-कुण्ड इस समय भद्रवनियाँ गड़ही या भवनियाँ गड़ही के नाम से प्रसिद्ध है। वहीं एक इन्द्रेश्वर भी हैं, जो सिद्धेश्वर का विकृत रूप हो सकता है। जनकेश्वर (सुकुलपुर के दक्षिण के स्थान) से उत्तर शखूधारा में मकान-नं० बी० २२।१२० के सामने शंकुकर्णेश्वर प्रसिद्ध हैं। इनके वायव्य कोण में माण्डव्येश तथा द्वारेश्वर और द्वारेश्वरी को होना चाहिए और उनके समीप में ही कहोलेश्वर तथा विमाण्डेश्वर। अंगारेश्वरकुण्ड, अंगारेशी, मुकुटकुण्ड, मुकुटेश्वर आदि देवता भी उन्हीं के समीप होने चाहिए। मुकुटकुण्ड को नवाबगंज में गाआवाई-कुण्ड मानने में कठिनाई यह है कि दुर्गाजी दक्षिण में, उत्तरेश्वरी नैर्ऋत्यकोण में तथा अंगारेशी पश्चिम में वाराणसी-क्षेत्र की रक्षा करती हैं, ऐसा पुराणों का मत है। अतएव अंगारेशी का स्थान दुर्गाजी से इतना निकट पश्चिम में नहीं हो सकता। उनका स्थान पर्याप्त दूरी पर और क्षेत्र के पश्चिम में

होना चाहिए। इस प्रकार इन देवताओं का स्थान कमच्छा के समीप अधिक उचित जान पड़ता है। विभाण्डेश्वर तथा कहोलेश्वर वहाँ हैं भी—सम्भवत: कोल्हुआ महल्ले का नाम ही कहोलेश्वर से सम्बद्ध है। कामाक्षादेवी के समीप चार-पाँच देवियों की मूर्त्तियाँ और उनके साथ के शिवलिंग अभी भी वर्त्तमान हैं। ये सभी प्राचीन जान पड़ते हैं, परन्तु इनके नाम अब जनमानस भूल गया है। कुछ नये नाम इनको मिल गये हैं। एक अंजनी देवी हैं, जो सम्भवत: अनजानी का विकसित रूप है। ये पुरानी अंगारेशा हो सकती हैं। द्वारेश्वरी कौन-सी हैं, यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। दो कुण्ड भी वहाँ पर हैं, जो अंगारेश्वर तड़ाग तथा मुकुटकुण्ड हो सकते हैं। एक कुण्ड का तो नाम भी रोहित-कुण्ड है, जो लोहित कुण्ड का अपभ्रंश है और लोहित मंगल का नाम है, जिनका ही दूसरा नाम अंगारक है। कुछ लोगों का कहना है कि द्वारेश्वर तथा द्वारेश्वरी ही वैजनाथ (बैजनत्था) तथा कामाक्षा देवी के नाम से अब प्रख्यात हैं, परन्तु इसको स्वीकार करना सम्भव होते हुए भी कठिन है। यह अधिक सम्भव है कि उनके समीप की कोई देवी द्वारेश्वरी हों और द्वारेश्वर उनके सामने या निकट में। सद्य: इस विषय में इतना ही कहा जा सकता है और आशा की जा सकती है कि सतत अन्वेषण से कुछ निश्चित बात भी कभी भविष्य में कही जा सके।

(ठ) विशिष्ट देवायतनों के स्थानान्तरण का विवेचन

(१) कालभैरव तथा कपालमोचन

सन् ११९४ ई० की पहली तोड़-फोड़ के बाद बहुत दिनों तक वाराणसी के सभी मन्दिर टूटे-फूटे पड़े रहे; क्योंकि नया शासन दमनकारी था। हिन्दुओं पर सभी प्रकार के अत्याचार हो रहे थे। लोग तलवार के बल पर मुसलमान बनाये जा रहे थे। हिन्दू-समाज स्तब्ध था। धीरे-धीरे चालीस-पचास वर्षों में इस दमनकारी नीति में शिथिलता आई और मन्दिरों का पुन: बनना सम्भव हो सका। इस पुनर्निर्माण की प्रक्रिया में सबसे पहले केवल मूर्त्तियों की स्थापना हुई। उनपर मन्दिर नहीं बने। यहाँ यह भी स्मरण रखना है कि इसी बीच नये महल्ले बसाने के लिए जंगल काटे जा रहे थे और धीरे-धीरे लोग अपने घर बना रहे थे। इन्हीं घरों में और घरों के आसपास मूर्त्तियाँ स्थापित हुई। जब कोई समझदार शासक आया तो कुछ सुविधाएँ मिलीं। इस प्रकार कुछ दिनों मे बहुत-से मन्दिर भी बन गये। जो तीर्थ जंगलों में थे, उनका पुनर्निर्माण उतना कठिन नहीं था; क्योंकि वहाँ शासकीय दमन कम था, परन्तु जो स्थान शासकों की सतत दृष्टि में थे, वहाँ कुछ सतर्कता बरतना आवश्यक था। जिस जगह शासक स्वयं रहते थे अथवा जहाँ मुसलमान लोगों का निवास था, वहाँ के तीर्थों का पुनरुद्धार कठिन ही नहीं, प्राय: असम्भव था। अतएव वहाँ के तीर्थ अन्यत्र स्थापित हुए। शासकों की दृष्टि से दूर जो स्थान थे, उनका पुनर्निर्माण कालान्तर में कुछ-कुछ सम्भव हुआ। एक बात और भी थी। बड़े मन्दिरों या प्रख्यात तीर्थों पर शासकों की दृष्टि सतर्क थी, अतएव इनका पुनर्निर्माण संकटपूर्ण था। इसलिए इनकी स्थापना अन्यत्र ही करनी पड़ी। कालभैरव काशी के प्रमुख देवताओं में से थे। जहाँ इनका स्थान था, वह जगह निचाट थी। वर्षाऋतु में बहुधा वहाँ पानी भर जाता था।

वहाँ घने जंगल भी नहीं थे। शासकों का आवास भी अपेक्षाकृत निकट था। इस कारण कालभैरव की स्थापना पुनः अपने ही स्थान पर असम्भव समझी गई और उनको अन्यत्र स्थापित करने का निश्चय किया गया।

कालभैरव का प्रथम स्थान ओंकारेश्वर के पश्चिम कपालमोचन-सरोवर के पश्चिमी तट पर था। यहीं पर भैरव के हाथ से कपाल छूटकर गिरा था। गंगा तथा मत्स्योदरी का कभी-कभी इसी स्थान पर संगम ह ता था, जो अत्यन्त पुनीत योग माना जाता था। काशीक्षेत्र के आध्यात्मिक दण्डनायक कालभैरव ही थे। अतएव उनकी पूजा-अर्चना पर जनसाधारण की पूर्ण श्रद्धा थी। इस कारण उनकी स्थापना ऐसे स्थान पर करना अभीष्ट हुआ, जहाँ लोग सुगमतापूर्वक उनके दर्शन कर सकें। जहाँ पर उनका वर्त्तमान मन्दिर है वहीं पर भैरवेश्वर का शिवायतन था। कालभैरव की स्थापना यदि अपनी जगह पर नहीं हो सकती तो उनको उनके ही देवायतन के समीप पुनः स्थापित करना निश्चय किया गया और बहुत छोटे-से कच्चे मकान में उनकी मूर्त्ति की प्रतिष्ठा की गई। इस मन्दिर के लिए 'मकान' शब्द का प्रयोग इसलिए किया गया है कि न तो उसमें शिखर था और न कोई विशेष चमत्कारपूर्ण स्थापत्य ही। खपड़े से छाया हुआ यह मकान गिरता-पड़ता प्रायः छह सौ वर्षों तक चलता रहा और बाद की तोड़-फोड़ में यह देवस्थान इस प्रकार बच गया।

कालभैरव की इस स्थापना के साथ-ही-साथ अथवा कालान्तर में सकट में पड़े हुए अन्य देवताओं की भी स्थापना उनके आसपास हुई। महाश्मशान-स्तम्भ के प्रधान देवता भी भैरव हैं। वे भी यहीं पुनः स्थापित हुए। भैरव के दो ध्यान प्रसिद्ध हैं। एक में वे हाथ में खप्पर लिए रहते हैं और दूसरे में कालदण्ड। कालभैरव भैरव का पहला स्वरूप है, महाश्मशान-स्तम्भ उनके दूसरे ध्यान से सम्बन्धित हैं। अतएव जब उसकी स्थापना की गई तो स्तम्भ-रूप से स्थापित होते हुए भी उनका नाम दण्डपाणि भैरव हुआ। प्राचीन स्तम्भ का शीर्षक भैरवेश्वर में रखा गया, जहाँ वह आज भी है और चक्रपाणि भैरव के नाम से उसकी पूजा होती है। हरिकेश यक्ष का वरदान देते हुए उनको दण्डपाणि तथा क्षेत्रपाल की दो पदवियाँ दी गई था और ज्ञानवापी के समीप उनकी मूर्त्ति भी थी। तोड़-फोड़ के समय यह मूर्त्ति वहाँ से उखाड़कर बचाई गई थी। उसकी स्थापना भी कालभैरव के समीप (मकान-नं० के० ३२।२६ में) की गई, जहाँ वह अभी भी क्षेत्रपाल भैरव कहे जाते हैं।

'अन्नदश्चापि लोकेभ्यः क्षेत्रपालो भविष्यसि'—मत्स्यपुराण, ८१।९७

कालभैरव तथा क्षेत्रपाल दण्डपाणि की स्थापना तो तेरहवीं शताब्दी में किसी समय अवश्य हुई, परन्तु दण्डपाणि भैरव अर्थात् महाश्मशान-स्तम्भ के भैरव का प्रतीक कब स्थापित हुआ, यह नहीं कहा जा सकता। क्षेत्रपाल की यह मूर्त्ति पहले कालभैरव के दक्षिण एक मन्दिर के भीतर थी, परन्तु अब उसकी बाहरी दीवार से लगकर स्थापित है। वृद्धकाल-क्षेत्र के महाकाल, कालेश्वर तथा नागेश्वर भी समीप में ही स्थापित हुए। इनमें से कालेश्वर तो तेरहवीं शताब्दी में ही यहाँ आये; क्योंकि काशीखण्ड में उनका अलग उल्लेख तथा उनके प्राचीन शिवलिंग का नाम वृद्धकालेश्वर हो गया है, परन्तु औरों के विषय में कुछ नहीं कहा जा सकता कि उनकी स्थापना यहाँ कब हुई।

कपालमोचन के विषय में पूरा विवेचन अपने स्थान पर पहले ही किया जा चुका है, परन्तु उसकी ओर भी कुछ संकेत यहाँ आवश्यक है। इस समय लाटभैरव के तालाब को कपालमोचन कहा जाता है। वह उसकी पुनः प्रतिष्ठा हैं, जो दण्डपाणि भैरव की देख-रेख में होनेवाली भैरवी यातना के भैरव-तीर्थ में हुई। कपालमोचन उस तीर्थ का नाम हैं, जिसमें स्नान करने से भैरव के हाथ में चिपका हुआ ब्रह्मा का पाँचवाँ शिर छूटकर गिर पड़ा था। यह तीर्थ ऋणमोचन-तीर्थ के दक्षिण में तथा ओंकारेश्वर के अत्यन्त समीप होना चाहिए। यहाँ पर गंगा-मत्स्योदरी का संगम होता था। इस तीर्थ को तालाव के रूप में रानी भवानी ने पक्का करवाया। प्रिंसेप के नक्शे में इसका नाम 'रानी भवानी का तालाब' तथा वैक्स के नक्शे में 'मत्स्योदरी-संगम' दिया गया हैं। इस समय यह तालाब टूटी-फूटी दशा में पड़ा है। पानी भी सूख गया हैं और पास-पड़ोसवाले इसमें कूड़ा फेंक रहे हैं। यदि किसी धर्मप्राण व्यक्ति ने अथवा महापालिका ने इस ओर ध्यान न दिया तो कुछ दिनों में इसका लोप ही हो जायगा। जिस क्षेत्र में यह है, उसमें पुराने समय में पचासों मन्दिर थे, जिनमें से केवल तीन ही अब बचे हैं, अन्य सभी लुप्त हो चुके हैं। वही दशा इसकी भी होने के लक्षण हैं। यहाँ पर इसकी यात्रा असम्भव होने से लाटभैरव में इसकी प्रतिष्ठा हुई होगी।

तस्यैव (कपालमोचनस्य) चोत्तरे पार्श्वे तीर्थं त्रैलोक्यविश्रुतम्।
ऋणमोचनकं नाम्ना विख्यातं भुवि सुन्दरि॥ (कृ०क०त०, पृ० ५५)
तत्रैव तीर्थं परमं कपालेश समीपतः।
कपालमोचनं नाम तत्रस्नातोऽश्वमेधभाक्।
ऋणमोचनतीर्थं तु तदुदग्दिशि शोभनम्॥ (का० खं० ९७।६५-६६)
वरणासिक्तसलिले जाह्नवीजलमिश्रिते॥
तत्र नादेश्वरे पुण्ये स्नातः किमनुशोचति।
तस्मिन् काले च तत्रैव स्नानं देवि कृतं मया॥
तेन हस्ततलाद्देवि कपालं पतितं क्षणात्।
कपालमोचनं नाम तत्रैव सुमहत्सरः॥
पावनं सर्व सत्वानां पुण्यदं सर्वदेहिनाम्।
ओंकारेश्वर नामानं तत्र स्नानं कृतं मया॥ (कृ०क०त०, पृ० १२७-२८)

(२) ढुंढिराज

ढुंढिराज के स्थान के सम्बन्ध में कोई विवाद नहीं है। वे अपने ही स्थान पर हैं, परन्तु उस स्थान पर दो मूर्त्तियाँ हैं, जिनके विषय में यह प्रश्न उठाया जाता है कि उन दोनों में यथार्थतः ढुंढिराज कौन-से हैं। एक मूर्त्ति तो गली के धरातल पर है और वही सौ-दो सौ वर्षों से ढुंढिराज कहकर पूजी जाती है। दूसरी मूर्त्ति ठीक उसके ऊपर रानी भवानी के मन्दिर में पंचमुखी है। कहा जाता है कि किसी समय कोई पेशवा काशी आये थे। यात्रा के समय जब वे ढुंढिराज के दर्शन करने पहुँचे, उस समय रानी भवानी के

मन्दिर का द्वार बन्द था और यात्रा में त्रुटि न रह जाय, इस विचार से ब्राह्मणों ने उनके नीचे स्थित गणेशजी की ही ढुंढिराज कहकर पूजा करवाई। तभी से इनके पूजन का प्रचलन हुआ। यह भी कहा जाता है कि इनकी स्थापना नेपाल-नरेश ने करवाई थी। इस विवाद का निर्णय असम्भव है और इस सम्बन्ध में इतना ही कहा जा सकता है कि यदि नीचेवाले गणेशजी ही ढुंढिराज होते तो अपना मन्दिर बनवाने के समय रानी भवानी उनके मन्दिर को इस प्रकार दबोचकर अपना मन्दिर न बनवातीं। उसका भी अलंकरण करते हुए उसको भी कुछ-न-कुछ अधिक विस्तार देतीं। उस समय के प्रसिद्ध देवायतनों पर रानी भवानी ने तथा महारानी अहल्याबाई ने मन्दिर बनवाये थे। ऐसी स्थिति में ढुंढिराज के समान मुख्य देवता के मन्दिर का इस प्रकार अपमान वे नहीं कर सकती थीं कि उनके ऊपर ही अपना मन्दिर बनवातीं और उनके मन्दिर को दबाते हुए अपने गणेशजी की स्थापना करतीं। इस तर्क में बल है।

सन् ११९४ ई० की तथा उसके बाद की तोड़-फोड़ में ढुंढिराज की मूर्त्ति भी नष्ट हुई होगी, इसमें कोई सन्देह नहीं है। और कालान्तर में उनकी स्थापना भी कहीं-न-कहीं हुई होगी, यह भी निश्चित है। इन मूर्त्तियों में से एक मूर्त्ति अभी भी बच रही है, जो मकान-नं० डी० ३७।१८ में पंचमुखी गणेश अथवा यक्षविनायक नाम से विख्यात है। परन्तु यथार्थतः वह ढुंढिराज की ही पुनःस्थापना है; क्योंकि यक्षविनायक छठे आवरण के देवता हैं, जिनको विश्वेश्वर-मन्दिर से कुछ दूर होना चाहिए। 'गणेश-पुराण' में इस बात का संकेत है कि ढुंढिराज की मूर्त्ति उस पुराण के निर्माण के समय पंचमुखी तथा दश-भुजाधारी थी। इस सम्बन्ध में गणेशपुराण के निम्नलिखित अंश देखना हितकर होगा:

१. "एकः पञ्चमुखस्तत्र विश्वेश्वर द्वारि तिष्ठति"—गणेशपुराण, उत्तरकाण्ड ४३।९–११।
२. "ऊचे सर्वं करिष्यामि दशायुधधरः प्रभुः"—गणेशपुराण, उत्तरकाण्ड ४१।८।
३. "एकदन्तं द्विदन्तं च त्रिनेत्रं दशहस्तकम्"—गणेशपुराण, उत्तर काण्ड ४०।२३।
४. "आविरासीन्मूर्त्तिमध्याड् ढुण्ढिराजो महोत्कटः। ऊचतुर्मुनिना प्रोक्तं यत्स्वरूपं महेशितुः। दशबाहुधरं चारु नेत्रपङ्कजशोभितम्।। (गणेशपुराण ४८।३५–३७)

इनमें कहा गया है कि 'एक तो पंचमुखी विश्वेश्वर के द्वार पर विराजमान हैं'; और 'दशआयुधधारी प्रभु बोले कि मैं सब करूँगा': 'दशभुजा और शुण्डादण्डमुखवाले'; 'तप से ढुंढिराज के दर्शन पाने पर दशभुजाधारी के सुन्दर नेत्र देखने से तृप्ति नहीं होती।' इस साक्ष्य से मकान-नं० डी० ३७।१८ में वर्त्तमान पंचमुखी गणेश ढुंढिराज के स्वरूप हैं। पचास वर्ष पहले इनको आदिढुंढिराज कहा भी जाता था। रानीभवानी के गणेश भी पंचमुखी होने से ढुंढिराज का ही स्वरूप हैं।

(३) बिन्दुमाधव

बिन्दुमाधव के स्थान के सम्बन्ध में कोई विवाद नहीं है। यह सर्वविदित है कि उनका स्थान पंचगंगाघाट के ऊपर था और यह कि उनका महाराज मानसिंह द्वारा बनवाया हुआ मन्दिर वहीं पर था। सन् १६६९ ई० में औरंगजेब द्वारा उस जगह मस्जिद

बनवा देने से उनके अन्यत्र स्थापित होने का प्रश्न उठ खड़ा हुआ। यहाँ इसी प्रश्न पर विचार करना है।

इस समय विन्दुमाधव की तीन मूर्त्तियाँ वाराणसी में हैं—एक तो पंचगंगा-घाट के ऊपर, दूसरी लालघाट के समीप बुचई टोला में मकान-नं० के० ४।४ में, और तीसरी भाट की गली में कालभैरव के पिछवाड़े मकान-नं० के० ३३।१८ में। इनमें से बुचई टोलावाली मूर्त्ति विन्दुमाधव के पुराने पण्डा के घर में है और जयपुर-दरबार से उनकी पूजा-अर्चा के लिए प्रबन्ध है। इस सम्बन्ध में कुछ परवाने इत्यादि भी जयपुर-दरबार के पण्डाजी के पास हैं। उनका कहना है कि औरंगजेब की आज्ञा से मन्दिर तोड़े जाने के एक दिन पूर्व ही मूर्त्ति हटा ली गई और वही मूर्त्ति उनके घर में वर्त्तमान है। यही बात सम्भवतः जयपुर-दरबार को लिखी गई होगी और इसी आधार पर वहाँ से पूजा का प्रबन्ध हुआ होगा। परन्तु उनकी यह बात स्वीकार नहीं की जा सकती; क्योंकि उनके घरवाली मूर्त्ति छोटी है जबकि मानसिंह के मन्दिर की मूर्त्ति प्रायः साढ़े पाँच फुट की थी। इसके पहले की टूट-फूट में विन्दुमाधव की मूर्त्ति मन्दिर से हटाकर भाट की गली में रखी गई थी। इसकी व्यवस्था धर्मप्राण जनता की ओर से हुई होगी। इस प्रकार विन्दुमाधव की दो मूर्त्तियाँ दो स्थानों पर वर्त्तमान हुईं। इसके बाद पंचगंगा-घाट पर भी विन्दुमाधव की पुनः स्थापना हुई। उस समय उनका मन्दिर बहुत छोटा था। औंधराज्य के महाराज पंतप्रतिनिधि ने इसका विस्तार तथा नवीनीकरण सन् १७५५ ई० में किया। इन तीनों मन्दिरों में से अधिकांश लोग पंचगंगा के मन्दिर में ही जाते हैं। कुछ जानकार भक्त तीनों मूर्त्तियों के दर्शन करते हैं। ऐसा कहा जाता है कि भाट की गली के विन्दु-माधव का वर्णन तुलसीदासजी की 'विनयपत्रिका' में मिलता है।

(४) वृद्धकालेश्वर

सन् ११९४ ई० की तोड़-फोड़ के पहले इनका नाम कालेश्वर था, जैसाकि कृत्य-कल्पतरु में उद्धृत लिंगपुराण से स्पष्ट है। उस तोड़-फोड़ के बाद इनकी स्थापना कालभैरव के समीप हुई, जहाँ ये मकान-नं० के० ३१।४९ में दण्डपाणि भैरव के उत्तर में हैं। पहले इनका स्वतंत्र द्वार था, परन्तु अब वह बन्द हो गया है और दण्डपाणि भैरव के मन्दिर के भीतर से ही रास्ता है। इसका परिणाम यह है कि इनका दर्शन-पूजन करने-वालों की संख्या बहुत छोटी है। जिस समय शेरिंग ने अपनी पुस्तक लिखी (सन् १८६८ ई०), उस समय इनकी ख्याति अधिक थी और इनके दर्शनों को बहुत-से यात्री आया करते थे। इनके दक्षिण में दण्डपाणि के मन्दिर में एक कुआँ है, जिसकी प्रतिष्ठा वृद्धकाल के कालोदक कूप के प्रतीक-रूप में हुई थी, परन्तु इसमें एक विशेषता यह थी कि लोग इस कुएँ में अपनी परछाहीं देखते थे और उसके न देख पड़ने पर अनिष्ट की आशंका करते थे। बात तो बहुत साधारण थी; क्योंकि इसके ऊपर एक झरोखा ऐसा है कि दोपहर को उसके द्वारा कुएँ में धूप कुछ इस प्रकार पड़ती थी कि पानी में मनुष्य को

अपनी छाया देख पड़ने लगती थी और कारणवश यदि किसी को न देख पड़ी तो वह चिन्तित होता था। पुराणों में इसका कहीं उल्लेख नहीं है। कालेश्वर के मन्दिर में पाँचों पाण्डवेश्वरों की स्थापना भी किसी समय हुई थी और वे अभी भी वहाँ हैं।

काशीखण्ड में इन कालेश्वर के साथ-ही-साथ वृद्धकालेश्वर का भी नाम मिलता है, जिससे यह सिद्ध होता है कि उस समय अपने पुराने स्थान पर भी कालेश्वर की स्थापना पुनः हो गई थी। और, कालेश्वर के दो शिवलिंग होने की असंगति का निवारण करने के लिए पुराने स्थान के कालेश्वर को वृद्धकालेश्वर कहा गया।

कालेश्वर का प्रथम मन्दिर, जो अब वृद्धकाल के मन्दिर के नाम से प्रख्यात है और जिसको काशीखण्ड में ही वृद्धकालेश्वर कहा गया है, पहली तोड़-फोड़ के बाद कब बना, यह नहीं कहा जा सकता, परन्तु जैसा ऊपर कहा जा चुका है, यह बात काशीखण्ड के वर्त्तमान स्वरूप पाने के पहले हुई। उस समय उनकी स्थापना पुनः अपने प्राचीन स्थल पर ही हुई या नहीं, यह बात भी अज्ञात है। इसके बाद पुनः इस मन्दिर की तोड़-फोड़ हुई होगी और इसका जो वर्त्तमान स्वरूप है, यह तो महाराज बलवन्त सिंह के राज्यकाल में ही बनाया गया होगा। अपने घेरे के भीतर भी वृद्धकालेश्वर जहाँ पर इस समय स्थापित हैं, यह उनका प्रथम स्थल नहीं है; क्योंकि काशीखण्ड में तथा कृत्यकल्पतरु में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि कालोदक-कूप उनके सम्मुख है। वहाँ यह नहीं बतलाया गया कि वृद्धकालेश्वर (कृ०क० त० में कालेश्वर) का मुख किस दिशा में था, परन्तु सौरपुराण में स्पष्ट लिखा है कि उनके पूर्व में कूप था। **देवस्य पूर्वदिग्भागे कूपो मुनिनिषेवितः (सौर-पुराण ६।३१)**। वर्त्तमान वृद्धकालेश्वरलिंग कूप से नैर्ऋत्यकोण में पड़ता है। इससे स्पष्ट है कि यह अपने पहले स्थान पर नहीं है। इस स्थान-परिवर्त्तन के कई कारण हो सकते हैं। एक तो यह कि जैसा अन्यत्र कहा जा चुका है, यह सम्भव है कि वृद्धकाल का मन्दिर तीसरी तोड़-फोड़ में टूटने के बाद फिर बना ही न हो और खण्डहर के रूप में प्रायः दो-तीन सौ वर्षों तक पड़ा रहा हो, जिस बीच में उसके भीतर के तीर्थों के स्थान स्पष्ट न रह गये हों, और दूसरा यह कि अट्ठारहवीं शताब्दी में जब इसका पुनर्निर्माण हुआ, उस समय इसमें इतने अधिक शिवलिंगों की स्थापना होने को थी कि प्राचीन स्थान का निर्वाह करना कठिन हो गया हो। बात यह है कि जिस प्रकार तोड़-फोड़ों के समय कालभैरव-क्षेत्र में बहुत-से शिवलिंगों की स्थापना हुई, उसी प्रकार तोड़-फोड़ के समाप्त होने पर वृद्धकाल के घेरे में उस क्षेत्र के बहुत-से शिवलिंगों की स्थापना की गई। इस घेरे में इस समय २६ देवता प्राचीन कोटि के तथा एक-दो और भी हैं। इन सभी का निर्वाह करने में स्थान-संकोच होना स्वाभाविक ही था। इस मन्दिर में पहले बारह चौक थे, जिनमें से सन् १८६८ ई० में केवल सात बचे थे। औरों के स्थान पर मकान बन चुके थे। इस मन्दिर में इस समय वर्त्तमान शिवलिंगों तथा अन्य देवताओं का वर्णन पहले किया जा चुका है, अतएव उसकी पुनरावृत्ति अनावश्यक है।

(५) सोमेश्वर तथा रामेश्वर

सोमेश्वर के इस समय दो मन्दिर वर्त्तमान हैं और ये दोनों नगर के दो भागों में दूर-दूर पर हैं। इसी कारण इस विषय का विशेष विवेचन आवश्यक समझ पड़ता है। सोमेश्वर का प्रथम स्थान संकठाजी के आसपास कहीं पर था। अंगारेश्वर इनके नैर्ऋत्य-कोण में थे। यह सम्भावना भी है कि चन्द्रेश्वर की पुनः स्थापना इन्हीं के मन्दिर में हुई। तदनन्तर इनकी स्थापना पाण्डेघाट के समीप गंगातट पर हुई और उस घाट का नाम सोमेश्वर-घाट प्रसिद्ध हुआ। यह स्थापना ब्रह्मवैवर्त्त-पुराण के काशी-रहस्य के समय के पहले हुई; क्योंकि उसमें सोमेश्वर का यही स्थान बतलाया गया है। पाण्डेघाट के समीप का यह मन्दिर अभी भी है और इसमें पूजा भी होती है, परन्तु इसकी ख्याति कम हो गई है और बहुधा लोग इस नाम को भूलने लगे हैं। उसी समय इनकी पुनः स्थापना मानमन्दिर-घाट पर भी हो चुकी थी; क्योंकि पंचक्रोशी यात्राक्रम में उनका यही स्थान कहा गया है, जहाँ वे अभी भी हैं। इस समय यात्रा में बहुधा मानमन्दिर-घाट के सोमेश्वर की ही पूजा होती है और उन्हीं के सामने गंगाजी में प्रभास-क्षेत्र माना जाता है।

सोमेश्वर के मानमन्दिरवाले शिवालय से मिला हुआ एक रामेश्वर का मन्दिर है, जिसके रामेश्वर होने में कुछ लोग सन्देह करते हैं। अतः इस विषय का भी विवेचन अपेक्षित है। वाराणसी में इस समय रामेश्वर के पाँच मन्दिर हैं, जिनमें से चार नगर में हैं तथा एक पंचक्रोशी मार्ग पर।

१. रामघाट पर वीररामेश्वर का मन्दिर;
२. सोमेश्वर के समीप मकान-नं० डी० १६।३४ के पास;
३. रामकुण्ड के समीप;
४. हनुमान-घाट पर;
५. पंचक्रोशी में प्रसिद्ध रामेश्वर।

इनमें से रामघाट पर तो वीररामेश्वर हैं और उनके सामने रामतीर्थ है। त्रिपुराभैरवी के उत्तर अथवा वायव्यकोण में एक रामेश्वर का नामांकन कृत्यकल्पतरु तथा काशीखण्ड दोनों में मिलता है (कृ० क० त०, पृ० ११३, काशीखण्ड ९७।२३१)। मदालसेश्वर तथा गणेश्वरेश्वर के बाद इनका नाम है और तदनन्तर त्रिपुरान्तकेश्वर, दत्तात्रेयेश्वर, हरिकेशेश्वर तथा गोकर्णेश्वर का उल्लेख है। इस प्रकार प्रायः साक्षीविनायक के समीप कहीं पर इनको होना चाहिए, परन्तु वहाँ पर अभी तक इनका पता नहीं लगा है। ऐसा जान पड़ता है कि इनकी ही पुनःस्थापना पहले रामकुण्ड पर हुई और वहाँ पर जब पुनः तोड़-फोड़ हुई तब ये हनुमान-घाट पर स्थापित हुए। रामकुण्ड की स्थापना ब्रह्मवैवर्त्त के काशी-रहस्य के समय के पहले हुई; क्योंकि उसमें इनका यही स्थान बतलाया गया है (ब्र० वै० पु० का० र० १३।३१-३२)। हनुमान-घाट पर इनकी स्थापना पन्द्रहवीं शताब्दी के चतुर्थ चरण के पहले हुई; क्योंकि गुरु-चरित्र में हनुमान-घाट पर हनुमदीश्वर तथा रामेश्वर दोनों का उल्लेख है। इसके बाद कालान्तर में इनके प्रथम स्थान के प्रतीक-रूप में

इनकी स्थापना मानमन्दिर-घाट पर हो गई और सेतुबन्ध की यात्रा भी वहीं होने लगी। इस समीक्षा का तात्पर्य यह हुआ कि सन् ११९४ ई० की तोड़-फोड़ के बाद और काशीरहस्य के समय के पहले ये रामकुण्ड पर स्थापित हुए और पन्द्रहवीं शताब्दी के तृतीय चरण के पहले ही ये हनुमान-घाट पर पहुँच चुके थे। मानमन्दिर-घाट पर इनकी स्थापना कब हुई, यह ठीक-ठीक नहीं कहा जा सकता, परन्तु यह सम्भव है कि जिस समय सोमेश्वर की स्थापना वहाँ हुई, उसी समय इनकी भी हुई होगी।

(६) मणिकर्णिका, गंगाकेशव तथा दशाश्वमेध-तीर्थ

मणिकर्णिका के परिमाण का वर्णन करते हुए काशीखण्ड में कहा गया है कि यह तीर्थ उत्तर में हरिश्चन्द्र-मण्डप तक, दक्षिण में गंगाकेशव तक, और पूर्व में गंगाजी की आधी धारा तक है।

आगङ्गाकेशवाच्चैव आहरिश्चन्द्रमण्डपात्।
आमध्याद्देवसरितः स्वर्द्वारान्मणिकर्णिका ॥

(काशीखण्ड ६१।७३; त्रि० से०, पृ० १४५)

हरिश्चन्द्र-मण्डप का स्थान निश्चित है कि वह संकठाजी के समीप था और अभी भी है। वहीं पर मणिकर्णिका की सीमा पर स्थित सीमाविनायक भी हैं। इस प्रकार मणिकर्णिका की उत्तरी सीमा तो स्पष्ट है। पश्चिम में स्वर्गद्वारी भी स्थिर है। पूर्व में गंगाजी के आधे पाट तक भी ठीक ही है। अब रही दक्षिण की सीमा। उसी पर यहाँ विचार करना है। गंगाकेशव का पहला स्थान अगस्त्यकुण्ड के दक्षिण में था, जैसाकि निम्नलिखित वाक्य से सिद्ध होता है:

दक्षिणेऽगस्त्यतीर्थाच्च तीर्थमस्त्यतिपावनम्।
गङ्गाकेशवसंज्ञं च सर्वपातकनाशनम् ॥
तत्र मे शुभदां मूर्त्तिम् मुने तत्तीर्थसंज्ञिकाम्।
सम्पूज्य श्रद्धया धीमान् मम लोके महीयते ॥
मणिकर्णी परीमाणमेत्तते कीर्त्तितं महत्।
सीमाविनायकात् याभ्यां सर्वविघ्नविघातनात् ॥

(काशीखण्ड ६१।१८०–१८३)

अर्थात् "अगस्त्यतीर्थ के दक्षिण में गंगाकेशव नाम का अत्यन्त पवित्र तीर्थ है, जिसमें स्नान करने से सब पातक नष्ट हो जाते हैं। वहाँ मेरी कल्याणकारी गंगाकेशव नाम की मूर्त्ति है, जिसकी पूजा से मेरे लोक की प्राप्ति होती है। सीमाविनायक से दक्षिण में यहाँ तक ही मणिकर्णिका—परिमाण है।" इस प्रमाण में मणिकर्णिका की दक्षिणी सीमा इन्हीं गंगाकेशव तक थी, यह बिल्कुल स्पष्ट कर दिया गया है। इसमें शंका का कोई भी स्थान नहीं रह जाता। इस प्रकार मणिकर्णिका उत्तर में सीमाविनायक से दक्षिण में अगस्त्यतीर्थ के दक्षिण गंगाकेशव तक थी। इन गंगाकेशव का स्थान भी परम्परा द्वारा निश्चित है; क्योंकि चौसट्ठी घाट के दक्षिण में गंगामहल-घाट अभी भी प्रसिद्ध है और उसके इस

नाम का कोई दूसरा कारण कभी सुनने में नहीं आया। सन् ११९४ ई० की तोड़-फोड़ के बाद ही ब्रह्मेश्वर इत्यादि देवताओं के साथ ही गंगाकेशव भी उत्तर की ओर सुरक्षित स्थान पर आये और उनकी स्थापना वर्त्तमान ललिताघाट पर हुई। उस समय सम्भवतः इस घाट का नाम भगीरथ-तीर्थ था और इस स्थान पर भागीरथी की मूर्त्ति तथा भगीरथ-लिंग थे। इसी कारण यह स्थान गंगाकेशव की पुनःस्थापना के लिए उपयुक्त समझकर उनकी स्थापना यहाँ पर हुई। ललितादेवी भी उसी समय यहाँ आई होंगी; क्योंकि काशी-खण्ड में उनके इस स्थान का उल्लेख है। त्रिसन्ध्येश्वर भी उसी समय इस स्थान पर आये। ललितादेवी के आने से घाट का नाम ललिताघाट हुआ। जरासन्धेश्वर के नाम पर जरासन्ध-घाट का ही नाम आगे चलकर मीरघाट हो गया जब मीर रुस्तमअली ने सन् १७३५ ई० के अगस्त मास में इस घाट पर पुश्ता बनवाया, जो आज भी मीर का पुश्ता कहलाता है। इस घाट के बनने के पहले ही जरासन्धेश्वर का मन्दिर टूट चुका था; क्योंकि मीर रुस्तमअली लोकप्रिय शासक थे और उन्होंने मन्दिर तोड़कर पुश्ता या घाट नहीं बनवाया होगा। इससे ऐसा समझ पड़ता है कि यह मन्दिर प्रायः औरंगजेब की तोड़-फोड़ में ध्वस्त हुआ।

मणिकर्णिका की दक्षिण-सीमा इस प्रकार गंगामहल-घाट तक स्थिर हुई। इसका एक और प्रमाण भी काशीखण्ड में ही उपलब्ध है। वहाँ कहा गया है कि योगिनियाँ मणिकर्णिका की ओर मुँह करके स्थिर हो गईं।

'अग्रेकृत्वा स्थिताः सर्वास्ताः काश्यां मणिकर्णिकाम्।' (का० खं०, ४५।५४)

मणिकर्णिका के इस सीमांकन का दशाश्वमेध-तीर्थ पर भी प्रभाव पड़ सकता है; अतः उस विषय पर भी विचार करना उचित है। दशाश्वमेध का पहला नाम रुद्रसरोवर था और ब्रह्माजी के अश्वमेधों के कारण बाद में दशाश्वमेध हो गया। डॉ० जायसवाल का मत है कि सम्राट् भारशिवों के दस अश्वमेध करके इस स्थान पर गंगा में अवभृथ स्नान करने से इसका नाम दशाश्वमेध-तीर्थ हुआ। जिस समय ब्रह्माजी ने अश्वमेध किये, उस समय रुद्रसरोवर मणिकर्णिका के तट पर था, ऐसा जान पड़ता है (क्योंकि सन् १८६८ ई० तक दशाश्वमेध-घाट पर रुद्रसर नाम का एक तालाब था, जिसमें लोग स्नान करते थे)। कालान्तर में जब गंगाजी वाराणसी में आईं तब मणिकर्णिका उनके प्रवाह में आ गई और उसकी सीमाओं के निर्देश की आवश्यकता पड़ने लगी, जिसमें लोगों को इस सम्बन्ध में भ्रम न होने पावे। यहाँ यह भी ध्यान में रखना है कि प्राचीन परम्परा में दशाश्वमेध-घाट पर स्नान करनेवाले संकल्प में, रुद्रसरोवर, ऐसा ही कहते रहे हैं। ब्रह्माजी का आवास ब्रह्मेश्वर के समीप ही रहा होगा और यह तीर्थ उससे ठीक पूर्व की ओर है। इसके अतिरिक्त यहाँ पर वर्णन किये हुए सभी देवता अपने-अपने स्थानों पर अभी भी हैं। भारशिवों ने अवभृथ स्नान दशाश्वमेध-घाट के उत्तर जिस स्थान पर किया था, वह घोड़ाघाट नाम से प्रसिद्ध है; क्योंकि वहाँ पर उन यज्ञों का स्मारक एक पत्थर का घोड़ा स्थापित था, जो पिछले सौ वर्षों के भीतर वहाँ से उठ गया।

छप्पन विनायक

काशीखण्ड के सत्तावनवें अध्याय में छप्पन विनायकों का उल्लेख है, जो आठ-आठ के क्रम से विश्वेश्वर-मन्दिर के चारों ओर आठो दिशाओं में सात आवरणों में स्थित हैं। इनमें किन-किन को अपने स्थान से हटकर अन्यत्र जाना पड़ा है, यह विचारणीय है।

प्रथम आवरण में आग्नेय कोण में अर्कविनायक (लोलार्क के समीप) से प्रारम्भ होकर दक्षिणावर्त्त क्रम से दुर्गविनायक (दुर्गाजी में), भीमचण्डी विनायक (भीमचण्डी पर), देहली-विनायक (चौखण्डी के समीप), उद्दण्डविनायक (भुइली गाँव में), पाशपाणिविनायक (वर्त्तमान स्थान सदर बाजार में), खर्वविनायक (आदिकेशव के समीप राजघाट के टूटे कोट में) तथा सिद्धिविनायक (मणिकर्णिका पर) हैं। ये सभी काशी की वर्त्तमान सीमा निर्धारित करते हैं। और, इसीलिए इनको नन्दिपुराण में 'सीमाविनायकाः' भी कहा गया है। पंचक्रोशी प्रदक्षिणा में इनको सदैव दाहिने हाथ रखकर ही यात्रा होती है, इनमें से पाशपाणि विनायक को छोड़कर सभी अपने पुराने स्थान पर ही वर्त्तमान हैं। केवल पाशपाणि ही अपने स्थान से हटकर पुनः अन्यत्र स्थापित हुए हैं। इनका प्रथम स्थान क्षेत्र की उत्तरी सीमा पर सम्भवतः धूपचण्डी के उत्तर में था, परन्तु ठीक स्थान कहाँ था, इसका अब पता नहीं रह गया। यह स्थानान्तरण प्रायः पाँच सौ वर्ष पहले पद्मपुराण-काल के पूर्व हो चुका था; क्योंकि पद्मपुराण में पाशपाणि गणेश को वाराणसी की पश्चिमी सीमा का देवता बतलाया गया है। सम्भावना यह भी है कि पाशपाणि-विनायक अपने वर्त्तमान स्थान पर काशीखण्ड के समय के पूर्व ही आ गये हों; क्योंकि चण्डीश्वर का स्थान वहाँ इनके पास ही बतलाया गया है, जैसा इस समय है (का० खण्ड, ६९।५८); यद्यपि यह सम्भावना भी है कि ये दोनों देवता साथ-ही-साथ यहाँ आये हों।

वाराणसीति विख्यातं तन्मानं निगदामि वः।
दक्षिणोत्तरयोर्नद्यौ वरणासिश्च पूर्वतः॥
जाह्नवी, पश्चिमे चापि पाशपाणिर्गणेश्वरः।
(पद्मपुराण, पातालखण्ड, त्रि०से०—पृ० १००)

इस प्रकार इन आठ विनायकों के आठों दिशाओं में स्थिर हो जाने के बाद अब एक-एक दिशा के विनायकों के सम्बन्ध में एक साथ विचार किया जायगा।

ईशानकोण के सात विनायक राजघाट के किले से लेकर मंगलागौरी तक क्रमशः फैले हुए होने चाहिए। इस समय :—

१. खर्वविनायक राजघाट किले में आदिकेशव के पास, २. राजपुत्र विनायक वहीं किले के प्रायः मध्य में सड़क के दक्षिण, ३. वरदविनायक प्रह्लादघाट पर सड़क के किनारे मकान-नं० ए० १३।१९ के बाहर, ४. पिचिण्डिल विनायक प्रह्लादघाट के ऊपर मकान-नं० ए० १०।८० में, ५. कालविनायक रामघाट के ऊपर सीढ़ी पर पेड़ के नीचे (मकान-नं० के० २४।१० के समीप), ६. मंगलविनायक मंगलागौरी में, तथा ७. अविमुक्त विनायक विश्वनाथजी के घेरे में नैर्ऋत्यकोण के छोट मन्दिर में।

मंगलविनायक के स्थान के विषय में विवाद है। कुछ लोग इनको आत्मावीरेश्वर के मन्दिर में बतलाते हैं और कुछ लोग मंगलागौरी में। इनके नाम से इस विवाद का निर्णय स्वयं हो जाता है। मंगलतीर्थ के ऊपर मंगलागौरी तथा मंगलोदक कूप कहे गये हैं। अतः मंगलविनायक का भी वहीं स्थान था और है।

इनमें से खर्वविनायक, राजपुत्र विनायक, पिचिण्डिल विनायक, अपने ही स्थानों पर हैं। मंगलविनायक तथा वरदविनायक सम्भवतः कुछ हटकर अपने स्थान के समीप में ही हैं। कालविनायक निश्चित रूप से अपने स्थान से हटे हैं, जो प्रह्लादघाट के और गोलाघाट के बीच में कहीं पर होना चाहिए। परन्तु यह स्थानान्तरण काशीखण्ड के समय में हो चुका था; क्योंकि तदनुसार कालगंगातीर्थ, जो कालविनायक के सामने होना चाहिए, इस समय भी उनके सामने रामघाट के पास है। अविमुक्तविनायक तो सन् १६६९ ई० के बाद इस नये स्थान पर आये हैं। इनका पहला स्थान अविमुक्तेश्वर के अर्थात् ज्ञानवापीवाले विश्वनाथ-मन्दिर के ईशानकोण में था।

पूर्व दिशा के सात विनायकों में १. सिद्धिविनायक तो विश्वेश्वर के पूर्व में मणिकर्णिका पर ही सदैव रहे हैं, परन्तु इनके बाद के आवरणों के विनायक इनके उत्तर-पूर्व में गंगातट पर ही क्रमशः स्थित थे। गंगातट के ईशानकोण की ओर निरन्तर मुड़ते जाने से ये स्वतः ही अपने नैर्ऋत्यकोण में पड़ते थे और इस प्रकार आवरणों का स्वरूप बनता रहा। २. प्रणवविनायक इस समय त्रिलोचन-घाट के ऊपर मढ़ी में हिरण्यगर्भेश्वर के समीप हैं। इनका प्राचीन स्थान गोलाघाट के नैर्ऋत्यकोण में प्रणवतीर्थ के ऊपर था और उसके समीप ही दक्षिण-पश्चिम हिरण्यगर्भ-तीर्थ के ऊपर हिरण्यगर्भेश्वर थे। इसी कारण इन दोनों की पुनः स्थापना एक ही स्थान में हुई। मुकीमगंज तथा तेलियानाला-क्षेत्र में सन् ११९४ ई० के बाद के मुसलमान शासकों का निवास होने के कारण इनको वहाँ से हटना पड़ा था। ३. इनके बाद के मोदकप्रिय विनायक आदिमहादेव में हैं। ये थोड़ा ही हटकर पुनः स्थापित हुए हैं। आदिमहादेव तो राजघाट-क्षेत्र से आये थे। ४. उद्दण्डमुण्ड विनायक अपने ही स्थान पर त्रिलोचन महादेव में वाराणसी देवी के समीप हैं। ये वाराणसी देवी आदिमहादेव के साथ ही उनके पश्चिम में पुनः स्थापित हुई थीं। ५. नागेश विनायक नागेश्वर के समीप नागेश्वर-तीर्थ के ऊपर थे। वहाँ से हटकर ये नागेश्वर के साथ ही भोंसलाघाट के पास मकान-नं० सी-के० १।२१ से सटे हुए मन्दिर में गये और वहीं इनकी इस समय पूजा होती है। कालान्तर में इनकी पुनः स्थापना सम्भवतः नागेश्वर के ही साथ महथाघाट पर अपने पुराने स्थान में हुई, परन्तु इनकी यात्रा भोंसलाघाट के मन्दिर में ही चल रही है। ६. इसके बाद मणिकर्णी विनायक हैं, जो मणिकर्णिका-घाट पर मकान-नं० सी-के० १०।४९ के सामने हैं। आत्मावीरेश्वर में मित्रविनायक हैं; जो छप्पन विनायकों के छठे आवरण में नवें होकर कहे गये हैं—यह उनकी पुनः स्थापना ही हो सकती है। त्रिस्थलीसेतु तथा वीरमित्रोदय ने सम्भवतः इसीलिए इनका नाम अपने निबन्ध में छोड़ दिया है। काशीखण्ड में इनका स्थान यमतीर्थ के उत्तर बतलाया गया है : **यमतीर्थादुदीच्यां च पूज्यो मित्र विनायकः**, जो सम्भवतः विघ्नेशतीर्थ

के ऊपर था। इस समय इन विघ्नेशकी प्राचीन मूर्त्ति संकठाजी के मन्दिर के दक्षिण की गली में स्थापित है। इस प्रकार इनको मंगलागौरी में कहना अनुचित है। ७. मोदविनायक का प्राचीन स्थान कहाँ पर था, यह नहीं कहा जा सकता; क्योंकि काशीखण्ड में सातवें आवरण के विनायकों के विषय में कुछ भी स्पष्ट नहीं कहा गया है। **मोदाद्याः पञ्चविघ्नेशाः षष्ठोज्ञान विनायकः। सप्तमोद्वारविघ्नेशो महाद्वार पुरश्चरः। अष्टमो सर्वकष्टौघानविमुक्त-विनायकः। (काशीखण्ड, ५८।११३-११४)**। पहले पाँच विनायकों के तो वहाँ नाम भी नहीं दिये गये हैं। त्रिस्थलीसेतु ने इतना बतलाया है कि ये पूर्व से दक्षिणावर्त्त क्रम से हैं, परन्तु वहाँ पर इनके नाम गिनाने में एक नाम 'आमोद-विनायक' का भी बतलाया गया है, जिसके स्थान पर मित्रमिश्र के 'वीरमित्रोदय' में 'गणनाथ विनायक' का नाम है। इन दोनों स्थान भी एक नहीं हैं, इस कारण पूरे दिशाक्रम में भेद पड़ जाता है।

१. मोदप्रमोदामोदसुमुखदुर्मुखज्ञानद्वाराविमुक्तविनायका अष्टौ प्रागादिक्रमेण सप्तमावरणे (त्रि० से०, पृ० १८९)

२. मोदप्रमोदसुमुखदुर्मुखगणनाथज्ञानद्वाराविमुक्तविनायका अष्टौ प्रागादिक्रमेण सप्तमावरणे (वी० मि०, ती० प्र०, पृ० २११)।

३. मोदं प्रमोदं सुमुखं दुर्मुखं गणनायकम् (ब्रह्मवैवर्त्त पुराण, का० र० १०।२२)

स्पष्ट ही काशीरहस्य में मित्रमिश्र द्वारा बताये हुए नाम मिलते हैं और वर्त्तमान काल में ये ही नाम प्रचलित हैं। ये सभी विनायक विश्वनाथ के टोडरमलवाले मन्दिर के चारों ओर थे। कुछ लोगों का कहना है कि ये मन्दिर के प्रांगण ही में थे, परन्तु प्रांगण का आकार तथा विस्तार कितना था, इस विषय में मतभेद हैं। इनका पूजन सर्वत्र ही विश्वेश्वर-पूजन के साथ संबद्ध होने से इतना स्पष्ट है कि ये उनके नितान्त समीप थे। इस समय मोदविनायक काशीकरवत में मकान-नं० सी-के० ३१।१२ में हैं।

आग्नेयकोण के पहले छह विनायक अपने-अपने स्थान पर ही हैं। १. अर्कविनायक लोलार्क के समीप; २. लम्बोदर विनायक लालीघाट के ऊपर सड़क पर केदारेश्वर के दक्षिण में पास में ही; ३. वक्रतुण्डविनायक, जो सरस्वती विनायक नाम से प्रसिद्ध है, राणामहल में चौंसट्ठी घाट के सन्निकट; ४. अभयदविनायक दशाश्वमेधघाट पर शूलटंकेश्वर के मन्दिर में; ५. स्थूलदन्त विनायक मानमन्दिर-घाट के ऊपर सोमेश्वर-मन्दिर में मकान-नं० डी० १६।३४ के पास; ६. आशाविनायक मीरघाट पर हनुमानजी के मन्दिर में (मकान-नं० डी० ३।७९) तथा ७. प्रमोदविनायक इस समय नैपाली खपड़ा के मकान-नं० सी-के० ३१।१६ में हैं।

दक्षिण-दिशा के पाँच विनायक सम्भवतः अपने प्राचीन स्थान पर ही हैं, यद्यपि कलिप्रिय विनायक तथा सृष्टिविनायक के सम्बन्ध में कुछ शंका हो सकती है; क्योंकि ये दोनों अत्यन्त समीप हैं। एकदन्त विनायक भी अपने स्थान से कुछ हटे हैं। १. दुर्गाविनायक दुर्गाजी के पूर्व टीले पर दुर्गाकुण्ड पर; २. कूटदन्त विनायक कृमिकुण्ड पर (मकान-नं० बी० ३।३३५); ३. एकदन्त विनायक पुष्पदन्तेश्वर के समीप में (मकान-नं० डी० ३२।१०२); ४. सिंहतुण्ड-विनायक ब्रह्मेश्वर में (मकान-नं० डी० ३३।६६ में), ५. कलिप्रिय विनायक साक्षीविनायक के

समीप मनःप्रकामेश्वर में (मकान-नं० डी० १०।५०); ६. सृष्टिविनायक कालिका गली में मकान-नं० डी० ८।३ की दीवाल में, तथा ७. सुमुख विनायक इस समय मकान-नं० सी-के० ३५।८ में नैपाली खपड़ा में गली में हैं।

नैर्ऋत्यकोण के विनायकों के स्थान में पर्याप्त गड़बड़ी समझ पड़ती है। इनमें से पहले चार विनायक तो प्रायः अपने प्राचीन स्थान पर ही हैं, परन्तु पाँचवें अर्थात् चतुर्दन्त-विनायक का स्थान सम्भवतः कुछ बदला है, परन्तु है वह निरा अनुमान-मात्र। इस शंका का कारण यह है कि जिस रेखा पर पहले चार विनायक पड़ते हैं, वह यहाँ आकर कुछ दक्षिण की ओर झुकती है, परन्तु यदि वह इस प्रकार न झुके तो छठे यक्षविनायक विश्वेश्वर से उत्तर जा पड़ें। इसी कारण से इस शंका को बल नहीं मिलता और वह निराधार भी हो सकती है। छठे विनायक के सम्बन्ध में पहले कहा जा चुका है कि यक्षविनायक ही सम्भवतः साक्षीविनायक के नाम से अब प्रसिद्ध हैं, परन्तु है यह भी अनुमान-मात्र ही। बाबू रुद्रप्रसाद के मन्दिर में ही उनकी पूजा इधर सौ वर्षों से होती रही है और वह स्थान भी उनका प्रथम स्थान हो सकता है। एक मत यह भी है कि यक्ष-विनायक वेणीधर की ब्रह्मपुरी में कुएँ के पास हैं। यह स्थान भी रुद्रप्रसादजी के मन्दिर के निकट ही है। सम्भवतः यह भी एक बार की पुनःस्थापना का स्थान है। १. भीमचण्डी विनायक पंचक्रोशी के रास्ते में भीमचण्डी पर; २. शालकटंकटविनायक मड़ुआडीह पर; ३. त्रिमुख विनायक सिगरा में त्रिपुरान्तकेश्वर में (मकान-नं० डी० ५९।९५); ४. कूणिताक्षविनायक लक्ष्मीकुण्ड पर (मकान-नं० डी० ५२।३८); ५. चतुर्दन्तविनायक ध्रुवेश्वर में सनातनधर्म स्कूल के पास; ६. यक्षविनायक कोतवालपुरा में ढुंढिराज से थोड़ी दूर पर मकान-नं० सी-के० ३७।२९ में बाबू रुद्रप्रसाद के मकान में हैं। कुछ दिनों पहले तक इनकी पूजा प्रचलित थी, परन्तु अब उसमें कुछ कठिनाई होने लगी है। ७. दुर्मुख विनायक इस समय मकान-नं० सी-के० ३४।६० में हैं।

पश्चिम के विनायकों के सम्बन्ध में भी उसी प्रकार की कठिनाई मिलती है जैसी नैर्ऋत्यकोण के विनायकों के सम्बन्ध में बतलाई गई है अर्थात् चौथे और पाँचवें विनायकों को मिलानेवाली रेखा पश्चिम-पूर्व दिशा में न होकर दक्षिण की ओर बहुत अधिक झुक जाती है। इसका कारण भी सम्भवतः वही होगा, जो उस सम्बन्ध में कहा गया है, अर्थात् अन्तिम विनायकों के विश्वेश्वर के पश्चिम में लाने के लिए। इस दृष्टिकोण से ये सभी अपने स्थान पर हैं, यही मानना उचित है। इस प्रकार १. देहली विनायक भटौली गाँव में चौखण्डी के समीप; २. कूष्माण्डविनायक फुलवरिया गाँव में; ३. पंचास्यविनायक पिशाचमोचन पर (मकान-नं० सी० २१।४०); ४. क्षिप्रप्रसादन पितरकुण्डा पर (मकान-नं० सी० १८।४१); ५. द्वितुण्डविनायक सूर्यकुण्ड पर साम्बादित्य के समीप; ६. गजकर्ण-विनायक ईशानेश्वर में (मकान-नं० सी-के० ३७।४३) तथा ७. गणनाथ विनायक ढुंढिराज गली में मकान-नं० सी-के० ३७।१ के कोने पर हैं। इनकी मूर्त्ति प्राचीन है, इसमें कोई सन्देह नहीं है और यही समझ पड़ता है कि बारम्बार की तोड़-फोड़ में ये किसी तरह बच गये।

वायव्यकोण के विनायकों में हेरम्बविनायक को छोड़कर औरों की स्थिति प्रायः प्राचीन ही है। इनका स्थान कुछ दक्षिण में आ जाने से इनके आग्नेय कोण में आनेवाले चिन्तामणि विनायक इनके पूर्व में पड़ जाते हैं। इसीसे समझ पड़ता है कि इनका स्थानान्तरण हुआ है। इस क्षेत्र में बहुत-से अन्य परिवर्त्तन भी हुए हैं। इस कारण इसकी सम्भावना भी हो सकती है। १. उद्दण्डविनायक मुइली गाँव में; २. मुण्डविनायक सदर बाजार में चण्डीदेवी के मन्दिर में; ३. हेरम्बविनायक इस समय पिशाचमोचन के उत्तर वाल्मीकि के टीले पर; ४. चिन्तामणि विनायक ईश्वरगंगी पर यागेश्वर-मन्दिर में (मकान-नं० के० ६६।४ में); ५. ज्येष्ठविनायक ज्येष्ठेश्वर में मकान-नं० के० ६२।१४४ में तथा ६. चित्रघण्टविनायक चौक में हैं। इनके दो मन्दिर कहे जाते हैं। एक तो रानीकुआँ पर सड़क के किनारे संगमरमर का है और दूसरा जगन्नाथदास वल्लभद्रदास की दूकान के चबूतरे पर। या तो दो बार की तोड़-फोड़ और पुनर्निर्माण के कारण यह स्थिति उत्पन्न हो गई है अन्यथा इसमें से एक मन्दिर स्थूलजंघविनायक का है। परन्तु इसके अतिरिक्त यह भी प्रायः निश्चित है कि इनमें से कोई भी स्थान इनका आदिम स्थान नहीं है। चित्रगुप्तेश्वर, चित्रघण्टादेवी तथा चित्रघण्टविनायक एक ही स्थान के देवता थे। चित्रगुप्तेश्वर अपने स्थान पर हैं, परन्तु और दोनों देवता अपने स्थान से हटकर चौक तथा रानीकुआँ के समीप किसी समय स्थापित हुए हैं। ७. ज्ञानविनायक ज्ञानवापी के पास पृथ्वी पर बैठे हैं, परन्तु इधर पाँच-छह वर्ष पूर्व उनका नामकरण 'गणनाथ विनायक' करके संगमरमर का एक पट भी वहाँ लगा दिया गया है। एक प्राचीन मत यह भी है कि ज्ञानविनायक लांगलीश्वर के मन्दिर में हैं। चिन्तामणि विनायक की पुनःस्थापना किसी समय वशिष्ठ वामदेव के द्वार पर हुई थी। वहाँ वे अभी भी हैं।

उत्तर के विनायकों में पाशपाणि के स्थानान्तरण का उल्लेख पहले हो चुका है। इनके अतिरिक्त विकटद्विज तथा विघ्नराज ठीक उत्तर-दक्षिण है, परन्तु दन्तहस्त इस समय अपने स्थान से कुछ पूर्व दिशा में हट गये हैं और गजविनायक अपने स्थान पर ही है। स्थूलजंघ विनायक के विषय में विवाद है। इस प्रकार वर्त्तमान काल में १. पाशपाणि-विनायक सदर बाजार में; २. विकटद्विज धूपचण्डी देवी के मन्दिर के पिछवाड़े (मकान-नं० जे० १२।१३४); ३. विघ्नराज विनायक चित्रकूट-तालाब पर; ४. दन्तहस्त विनायक बड़े गणेश के मन्दिर में (मकान-नं० के० ५८।१०१); ५. गजविनायक राजा दरवाजा में मकान-नं० ५४।४४ के पूर्व भारभूतेश्वर में हैं। ६. स्थूलजंघविनायक के स्थान में गड़बड़ी है। कुछ लोग इनको मंगलागौरी के मन्दिर में बतलाते हैं, जो ठीक नहीं है। कुछ लोगों का मत है कि ये पशुपतीश्वर के मन्दिर में हैं, जो पुनःस्थापना के रूप में सम्भाव्य है, और तीसरा मत यह है कि रानीकुआँ के मन्दिर में स्थूलजंघ विनायक तथा चित्रघण्ट विनायक दोनों की वर्त्तमान स्थापना है, जिसमें चित्रघण्ट विनायक अन्यत्र से आये हैं। यह तीसरा मत सबसे अधिक समीचीन जान पड़ता है; परन्तु बड़ी विचित्र बात यह है कि इनकी प्राचीन मूर्त्ति राजादरवाजे पर आषाढीश्वर में दीवार में लगी है। ७. द्वारविनायक इस समय पाँचों पाण्डव के मन्दिर (मकान-नं० सी-के० २८।१०) में हैं। यद्यपि कुछ लोग

इनको जौ-विनायक स्थिर करते हैं, जो स्वर्गद्वारी पर हैं, परन्तु इसका कोई प्रमाण नहीं मिल सका है।

(८) रामनगर के व्यासेश्वर अथवा वेदव्यास

वाराणसी-क्षेत्र के बाहर गंगा के उस पार रामनगर में महाराज काशिराज के किले में व्यासेश्वर हैं, जो जनसाधारण में वेदव्यास नाम से प्रसिद्ध हैं। यही उनका आदिम स्थान है। लोलार्कादग्निदिग्भागे स्वर्धुनीपूर्वरोधसी—(का० खण्ड–९६।२०१)। सन् ११९४ ई० की तोड़-फोड़ के बाद इनकी पुनःस्थापना समीप के एक गाँव में हुई, जहाँ इनका बृहदाकार शिवलिंग अभी भी वर्त्तमान है और बड़े वेदव्यास नाम से प्रसिद्ध है। सम्भवतः वाराणसी नगर से दूर गाँव में होने के कारण यह शिवलिंग बाद की टूट-फूट के अवसरों पर बच गया। वाराणसी के लांगलीश्वर और इन व्यासेश्वर के शिवलिंग एक ही आकार-प्रकार के हैं।

(९) दिवोदासेश्वर

इनका स्थान-निर्देश काशीखण्ड में नहीं मिलता, परन्तु काशी के धार्मिक इतिहास में राजा दिवोदास की स्थिति इतनी महत्त्वपूर्ण है कि उनके सम्बन्ध में कुछ कहना आवश्यक है। बहुत-से पुराणों में काशी के राजाओं की वंशावली मिलती है, जिसमें दिवोदास का नाम मिलता है। कुछ लोगों का यह मत है कि इस नाम के दो राजा हुए हैं, जिनमें से एक ने दूसरी वाराणसी गंगा तथा गोमती के दोआब में बसाई। ये दोनों ही दिवोदास महाभारत-युद्ध के बहुत पहले के हैं। यदि काशीखण्ड के दिवोदास इन्हीं दो में से एक रहे हैं, जैसा अभी तक समझा जाता है, तो काशीखण्ड के पचपनवें अध्याय में इनके राज्यकाल में बुद्ध भगवान् द्वारा बौद्धधर्म के प्रचार का जो उल्लेख है, वह असम्भव है। एक तीसरा मत यह भी हो सकता है कि काशी-खण्ड के दिवोदास उन दोनों से भिन्न तीसरे हैं, जिनके राज्यकाल में बुद्ध भगवान् काशी पधारे। पुराणों में रिपुंजय नामधारी एक राजा का उल्लेख भी मिलता है और काशीखण्ड के दिवोदास का नाम भी रिपुंजय था। जिस समय बुद्ध काशी आये, उस समय काशी कोशल राज्य के अधीन थी और वहाँ कोई राजा राज्य नहीं कर रहा था; क्योंकि बिम्बसार की पत्नी को उसके पिता ने काशी के कुछ ग्राम जेब-खर्च के लिए दिये थे। उसके देहान्त के बाद कोशल के नये राजा प्रसेनजित् ने ये गाँव अजातशत्रु से वापस माँगे और इस सम्बन्ध में उन दोनों की लड़ाई हुई और जीत जाने पर भी प्रसेनजित् ने अपनी कन्या का विवाह अजातशत्रु से किया और काशी के ग्राम पुनः उसको दे दिये। इस साक्ष्य से बुद्ध के समय में दिवोदास का राजा होना असम्भव हो जाता है। समझ एसा पड़ता है कि दिवोदास-सम्बन्धी काशीखण्ड की कथा तो प्राचीन पुराणाश्रित ही है, परन्तु बुद्ध-सम्बन्धी कथानक उसमें बाद को जुड़ गया है। बुद्ध भगवान् का दशावतारों में स्थापित करने की यह पहली सीढ़ी हो सकती है। सामग्री को देखने से ऐसा समझ पड़ता है कि यह विषय बहुत उलझा हुआ है, जिसको सुलझाने के लिए स्वतन्त्र एवं सर्वतोमुखी अनुसन्धान अपेक्षित है। डॉ० अल्तेकर ने लिखा है कि दिवोदास अनार्य था, इस कारण विषय और भी उलझ जाता है। वाराणसी में दिवोदास की एक मूर्त्ति भी तीस-चालीस वर्ष पूर्व स्वप्न देकर प्रकाश में आई है, जिसका चित्र आगे दिया जा रहा है।

परिशिष्ट (क)

वाराणसी-क्षेत्र के प्रधान देवायतनों तथा तीर्थों की सूची

(कृत्यकल्पतरु तथा काशीखण्ड के अनुसार)

क्र०सं० कृ०क०त०	नाम	क्र०सं० का०खं०
१	महादेव	१
२	महादेव-कूप	२
३	वाराणसी देवी	३
४	गोप्रेक्षेश्वर	४
५	गणेश्वर (सिद्धिविनायक)	५
६	अनसूयलिंग	६
७	हिरण्यकशिपु-लिंग	७
८	कूप-हिरण्यकूप	८
९	सिद्धेश्वर(मुण्डासरेश्वर सिद्धिम्)	९
१०	वृषभेश्वर	१०
११	दधीचीश्वर	११
१२	अत्रीश्वर	१२
१३	मधुनास्थापितं लिंगम्	—
१४	कैटभेनस्थापितं लिंगम्	—
१५	बालकेश्वर	—
१६	विज्वरेश्वर	१३
१७	वेदेश्वर	१४
१८	केशव (आदिकेशव)	१५
१९	संगमेश्वर	१६
२०	प्रयागलिंग	१७
२१	शांकरी देवी (शान्तिकरी गौरी)	१८
२२	गंगा-वरणा-संगम	—
२३	कुम्भीश्वर (कुन्तीश्वर)	१९
२४	कालेश्वर	—
२५	कपिलाह्रद	२०
२६	वृषध्वज (वृषभध्वज)	२१
२७	शाखेश्वर	२२
२८	स्कन्देश्वर	२३
२९	विशाखेश्वर	२४
३०	नैगमेयेश्वर	२५
३१	बलभद्रेश्वर	—
३२	नन्दीश्वर	२६
३३	शिलाक्षेश्वर (शिलादेश्वर)	२७
३४	हिरण्याक्षेश्वर	२८
३५	अन्य लिंग	—
३६	अट्टहास	२९
—	प्रसन्नवदनेश्वर	३०
—	प्रसन्नोदकुण्ड	३१
३७, ३८	मित्रावरुणेश्वरौ	३२, ३३
३९	वशिष्ठेश्वर	३४
४०	अरुन्धतीश्वर	—
४१	कृष्णेश्वर	३५
४२	याज्ञवल्क्येश्वर	३६
४३	मैत्रेयीश्वर	—
४४	प्रह्लादेश्वर (प्रह्लादेश्वर)	३७
४५	स्वर्लीनेश्वर (स्वयंलीनशिव)	३८

क्र०सं० क्रं०क०त०	नाम	क्र०सं० का०खं०	क्र०सं० क्रं०क०त०	नाम	क्र०सं० का०खं०
४६	वैरोचनेश्वर	३९	७६	विनायककुण्ड (विघ्नहरकुण्ड)	६५
४७	वलीश्वर	४०	७७	अमरकह्लद (अनारककुण्ड)	६६
४८	बाणेश्वर	४१	७८	अमरकेश्वर (अनारकेश्वर)	६७
४९	शाल्कटंकटेश्वर	—	७९	वरणेश्वर	६८
५०	हिरण्यगर्भ	—	८०	कोटीश्वर	६९
५१	मोक्षेश्वर	—	८१	भीमचण्डिका	—
५२	स्वर्गेश्वर	—	८२	शैलेश्वर	७०
५३	वासुकीश्वर	—	८३	कोटितीर्थ	७१
५४	वासुकितीर्थ	—	८४	ऋषिसंघेश्वर	—
५५	चन्द्रेश्वर	४२	८५	श्मशान-स्तम्भ	
५६	विद्येश्वर	४३		(महाश्मशान स्तम्भ)	७२
५७	वीरेश्वर	४४	८६	कपालमोचन	७३
५८	विकटा (विकटा देवी		८७	कापलेश्वर	७४
	पंचमुद्र महापीठ)	४५	८८	ऋणमोचनतीर्थ	७५
५९	सगरेश्वर	४६	८९	अंगारक कुण्ड (अंगारक तीर्थ)	७६
६०	वालीश्वर	४७	९०	अंगारेश्वर	—
६१	सुग्रीवेश्वर	४८	९१	विश्वकर्मेश्वर	७७
६२	हनुमदीश्वर	४९	९२	बुधेश्वर	—
—	जाम्ववतीश्वर	५०	९३	महामुण्डेश्वर	७८
६३	आश्विनेयेश्वर	५१	९४	महामुण्डेश्वर-कूप (शुभोद कूप)	७९
—	आश्विनेयेश्वरी	५२	९५	महामुण्डा देवी	८०
६४	भद्रदोह (भद्रह्लद)	५३	९६	खट्वांगेश्वर	८१
६५	भद्रेश्वर	५४	९७	भुवनेश्वर	८२
६६	उपशान्तशिव	५५	९८	भुवनेश्वर-कुण्ड	८३
६७	चक्रेश्वर	५६	९९	विमलेश्वर	८४
६८	चक्र ह्लद	५७	१००	विमलेश्वर-कुण्ड (विमलोदककुण्ड)	८५
६९	शूलेश्वर	५८	१०१	भृगोरायतनम्	८६
७०	शूलह्लद	५९		शुभेश्वर	८७
७१	नारदेश्वर	६०	१०२	नन्दीशेश्वर (नादेश्वर)	८८
७२	नारदकुण्ड	६१		कपिलेश्वर	
७३	धर्मेश्वर (अवम्नातकेश्वर)	६२		ओंकारेश्वर	
७४	धर्मेश्वर कुण्ड (ताम्रकुण्ड)	६३	१०३	श्रीमुखी गुहा (कपिलगुहा)	८९
७५	विनायक (विघ्नहर्त्तागणाध्यक्ष)	६४	——	यज्ञोदकूप	९०

क्र०सं० क्र०क०त०	नाम	क्र०सं० का०खं०	क्र०सं० क्र०क०त०	नाम	क्र०सं० का०खं०
१०४	उद्दालकेश्वर	९१	१३४	अन्धकेश (अध्वकेश)	११०
१०५	पाराशर्येश्वर	—	१३५	देवेश्वर	—
१०६	वाष्कलीश्वर (वाष्कुलीश्वर)	९२	१३६	भीष्मेश्वर	—
१०७	भाववृत्तेश्वर	—	१३७	सिद्धेश्वर (सिद्धीश्वर)	१११
१०८	अरुणीश्वर	—	१३८	गंगेश्वर	—
१०९	योगसिद्धेश्वर	—	१३९	यमुनेश्वर	—
११०	कौस्तुभेश्वर	९३	१४०	मण्डलेश्वर	११२
१११	सावर्णीश्वर	—	१४१	उर्वशीलिंग	—
—	शंकुकर्णेश्वर	९४	१४२	शान्तेश्वर	—
११२	अघोरेश्वर	९५	१४३	द्रोणेश्वर	—
११३	अघोरोदकूप	९६	१४४	बालखिल्येश्वर	—
११४	श्रीकण्ठलिंग		१४५	वाल्मीकेश्वर	—
११५	जावालीश्वर	—	१४६	च्यवनेश्वर	११३
११६	गार्ग्येश (गर्गेश)	९७	१४७	वातेश्वर	—
११७	पंचायतन-कूप	—	१४८	अग्नीश्वर	—
—	दमनेश	९८	१४९	भरतेश्वर	—
११८	रुद्रवासरुद्र (रुद्रेश)	९९	१५०	वरुणेश	—
११९	रुद्रकुण्ड (रुद्रवासकुण्ड)	१००	१५१	सनकेश्वर	११४
१२०	महालय	१०१	१५२	धर्मेश्वर	—
१२१	पार्वती	—	१५३	गरुडकेश्वर	—
१२२	पितृकूप	१०२	१५४	सनत्कुमारेश्वर	११५
१२३	वैतरणी दीर्घिका	१०३	१५५	सनन्दनेश्वर	११६
१२४	बृहस्पतीश्वर	—	१५६	आसुरीश्वर (आहुतीश्वर)	११७
१२५	पित्रीश्वर	—	१५७	पंचशिखीश्वर	११८
१२६	कामेश्वर	१०४	१५८	शनैश्चरेश्वर	—
१२७	कामकुण्ड	१०५	१५९	मार्कण्डेयेश्वर	—
१२८	पंचालकेश्वर (नलकूवरेश्वर)	१०६	१६०	मार्कण्डेय ह्रद	११९
१२९	पंचकेश्वर	—	१६१	मार्कण्डेय-कूप	—
१३०	पंचकेश्वर-कूप		१६२	कुण्डेश्वर	१२०
	(नलकूवरेश्वर-कूप)	१०७	१६३	कुण्डेश्वरकुण्ड	—
१३१	अघोरेशी	—	१६४	स्कन्देश्वर	—
१३२	दिवाकरेश्वर (सूर्येश्वर)	१०८	१६५	शाण्डिल्येश्वर	१२१
१३३	निशाकरेश्वर (चन्द्रमसेश्वर)	१०९	१६६	भद्रेश्वर	—

क्र०सं० क्रु०क०त०	नाम	क्र०सं० का०खं०
—	चण्डेश्वर	१२२
१६७	श्रीकुण्ड (श्रीकण्ठकुण्ड)	१२३
१६८	श्रीदेवी (महालक्ष्मी)	१२४
१६९	कुण्डेश्वरी देवी	—
१७०	महालक्ष्मीश्वर	१२५
१७१	स्वर्गद्वार	१२६
१७२	दधीचेश्वर	—
—	ब्रह्मपदप्रदलिंग	१२७
१७३	गायत्रीश्वर	१२८
१७४	सावित्रीश्वर	१२९
१७५	सत्यनयेश्वर (सत्यवतीश्वर)	१३०
१७६	उग्रेश्वर	१३१
१७७	उग्रेश्वर-कुण्ड	१३२
१७८	धनदेश्वर	—
१७९	धनदेश्वर-कुण्ड	—
१८०	करवीरेश्वर	१३३
१८१	मारीचेश्वर (मरीचीश)	१३४
१८२	मारीचकुण्ड (मरीचीश-कुण्ड)	१३५
१८३	इन्द्रेश्वर	१३६
१८४	इन्द्रेश्वर-कुण्ड	१३७
१८५	कर्कोटकवापी	१३८
१८६	कर्कोटकेश्वर	१३९
१८७	दृमिचण्डेश्वर	१४०
१८८	दृमिचण्डेश्वर-कुण्ड	१४१
१८९	दीर्घिका (आग्नेयकुण्ड)	१४२
१९०	अग्नीश्वर	१४३
१९१	आम्नातकेश्वर	१४४
१९२	उर्वशीश्वर	—
१९३	उर्वशीश्वर-कुण्ड (आम्नातकेश्वर-कुण्ड)	१४५
१९४	तालकर्णेश्वर (बालचन्द्रेश्वर)	१४६
१९५	तालकर्णेश्वरकूप (बालचन्द्रेश्वर-कूप)	१४७

क्र०सं० क्रु०क०त०	नाम	क्र०सं० का०खं०
१९६	चित्रेश्वर (विश्वेश्वर)	१४८
१९७	कालेश्वर (वृद्धकालेश्वर)	१४९
१९८	कालोदक-कूप	१५०
१९९	मृत्य्वीश	१५१
२००	दक्षेश्वर	१५२
२०१	कश्यपेश्वर	—
२०२	महाकालेश्वर	१५३
२०३	महाकाल-कुण्ड	१५४
२०४	अन्तकेश्वर	१५५
२०५	शक्रेश्वर (ऐरावतेश्वर)	१५६
२०६	सर्वेश्वर	—
२०७	मातलीश्वर (मालतीश्वर)	१५७
२०८	मातलीश्वरकुण्ड (ऐरावतकुण्ड)	१५८
२०९	बलीश्वर (बन्दीश्वर)	१५९
२१०	हस्तिपालेश्वर	१६०
२११	विजयेश्वर	—
—	जयन्तेश्वर	१६१
२१२	बलिकुण्ड (बन्दिकुण्ड)	१६२
२१३	कृत्तिवासेश्वर	—
२१४	कृत्तिवास-कूप	—
२१५	स्वयम्भूत विनायक	—
२१६	भृंगीश, तुंगेश (तुंगेश्वर)	१६३
२१७	वैद्यनाथ-कूप (वैद्येश्वर-कुण्ड)	१६४
२१८	सिद्धेश्वर	—
२१९	हरीशेश (हलीशेश)	१६५
२२०	शैव तड़ाग	—
२२१	शिवेश्वर	१६६
२२२	जमदग्नीश्वर	१६७
२२३	भैरवेश्वर	१६८
२२४	दुर्गा	—
२२५	भैरवेश्वर-कूप	१६९
२२६	व्यासेश्वर	१७०
२२७	व्यासकुण्ड (व्यासकूप)	१७१

क्र०सं० क्र०क०त०	नाम	क्र०सं० का०खं०
२२८	घंटाकर्णह्रद	१७२
२२९	शुकेश्वर	१७३
२३०	पंचचूडाह्रद	१७४
——	गौरी-कूप	१७५
२३१	पंचचूडेश्वर	१७६
२३२	विलोकतीर्थ (अशोकतीर्थ)	१७७
२३३	मन्दाकिनी	१७८
२३४	मध्यमेश्वर	१७९
२३५	विश्वेदेवेश्वर	१८०
२३६	वीरभद्रेश्वर	१८१
२३७	भद्रकाली	१८२
२३८	भद्रकाली-ह्रद	१८३
——	आपस्तम्वेश्वर	१८४
——	पुण्यकूप	१८५
२३९	मतंगेश्वर	१८६
२४०	शौनकेश्वर	१८७
२४१	शौनकह्रद	१८८
२४२	जयन्तेश्वर	——
——	जम्वुकेश्वर	१८९
२४३	ब्रह्मतारेश्वर	१९०
२४४	याज्ञवल्क्येश्वर	——
——	आज्यपेश्वर	१९१
२४५	सिद्धकूट (सिद्धकूप)	१९२
२४६	सिद्धेश्वर	१९३
२४७	सिद्धवापी	१९४
२४८	व्याघ्रेश्वर	१९५
२४९	ज्येष्ठेश्वर	१९६
२५०	ज्येष्ठ स्थान	१९७
२५१	प्रहसितेश्वर	१९८
२५२	चतुःसमुद्र-कूप	१९९
२५३	ज्येष्ठादेवी	२००
२५४	दण्डीश्वर (चण्डीश्वर)	२०१
२५५	दण्डखात	२०२

क्र०सं० क्र०क०त०	नाम	क्र०सं० का०खं०
२५६	जैगीषव्येश्वर	२०३
२५७	निवासेश्वर	२०४
२५८	जैगीषव्यगुहा	२०५
२५९	देवलेश्वर	२०६
२६०	शतकालेश्वर	२०७
२६१	शप्तातपेश्वर	२०८
२६२	हेतुकेश्वर	२०९
———	अक्षपादेश्वर	२१०
२६३	कणादेश्वर	२११
२६४	कणाद-कूप	२१२
२६५	भूतीश	२१३
२६६	आषाढलिंग (आषाढीश्वर)	२१४
२६७	दैत्येश्वर	——
——	दुर्वासेश्वर	२१५
२६८	भारभूतेश्वर	२१६
२६९	पराशरेश्वर	——
२७०	अत्रीश्वर	——
२७१	शंखेश्वर	२१७
२७२	विखितेश्वर	२१८
२७३	विश्वेश्वर	२१९
२७४	अवधूत तीर्थ	२२०
——	अवधूतेश्वर	२२१
२७५	पशुपतीश्वर	२२२
२७६	गोभिलेश्वर	२२३
२७७	जीमूतवाहनेश्वर	२२४
२७८	गभस्तीश्वर	२२५
——	मयूखार्क	२२६
२७९	दधिकर्णकूप (दधिकर्णकूप)	२२७
२८०	दधिकर्णेश्वर (दधिकल्पेश्वर)	२२८
२८१	दधिकर्णह्रद (दधिकल्पह्रद)	२२९
२८२	ललिता देवी (मंगलागौरी)	२३०
२८३	मुखप्रेक्षणिका (वदनप्रेक्षणा देवी)	२३१
———	मुखप्रेक्षणेश्वर	२३२

क्र०सं० कृ०क०त०	नाम	क्र०सं० का०खं०
२८४	वृत्रेश्वर	२३३
२८५	त्वाष्टेश्वर	२३४
२८६	चर्चिका देवी	२३५
२८७	रेवन्तेश्वर	२३६
२८८	पंचनदीश्वर	२३७
२८९	उपमन्यूवीश्वर	२३८
२९०	व्याघ्रपादेश्वर	२३९
२९१	ललिताकूप (मंगलोदकूप)	२४०
२९२	पंचनदतीर्थ	२४१
२९३	विश्वकर्मेश्वर	—
२९४	शशांकेश्वर	२४२
२९५	चित्ररथेश्वर	२४३
२९६	जैमिनीश्वर	२४४
२९७	सुमन्त्वीश्वर	—
२९८	बुधेश्वर	—
२९९	रावणेश्वर	२४५
३००	चतुर्मुखलिंग	—
३०१	वराहेश्वर	२४६
३०२	एकलिंग (माण्डव्येश्वर)	२४७
३०३	गालवेश्वर	—
—	प्रचण्डेश्वर	२४८
३०४	अयोगसिद्धि लिंग (योगेश्वर)	२४९
३०५	वातेश्वर (घातेश)	२५०
३०६	सोमेश्वर (सोमेश)	२५१
—	कनकेश	२५२
३०७	अंगारेश्वर	—
३०८	कुक्कुटेश्वर	—
३०९ से ३१३	पाण्डवेश्वर	२५३ से २५७
३१४	संवर्त्तेश्वर	२५८
३१५	श्वेतेश्वर	२५९
३१६	कलशेश्वर	२६०
३१७	चित्रगुप्तेश्वर	२६१
३१८	छायेश्वर	—
—	दृढेश	२६२
३१९	विनायक	—
३२०	विनायक-कुण्ड	—
३२१	विरूपाक्ष	—
३२२	विरूपाक्ष-कूप	—
३२३	गुहेश्वर (ग्रहेश)	२६३
—	यदृच्छेश	२६४
३२४	उत्तमेश्वर (उत्तथ्य वामदेव)	२६५
३२५	वामदेवेश्वर	—
३२६	कम्वलाश्वतराक्ष (कम्वलाश्वनरेशौं)	२६६, २६७
३२७	नलकूवरेश्वर	२६८
३२८	मणिकर्णी देवी	—
३२९	मणिकर्णिकातीर्थ	—
३३०	मणिकर्णीश्वर	२६९
३३१	मणिकर्णिका-कुण्ड	—
३३२	परिमेश्वर (पलितेश्वर)	२७०
	जराहरेश्वर	२७१
३३३	पापनाशन लिंग	२७२
३३४	निर्जरेश्वर	२७३
३३५	पितामहेश्वर	२७४
३३६	पितामहस्रोतिक	२७५
३३७	वारुणेश (वरुणेश)	२७६
३३८	वाणेश्वर	२७७
३३९	कूष्माण्डेश्वर	२७८
३४०	राक्षसेश्वर	२७९
३४१	गंगेश्वर	२८०
३४२	निम्नगेश्वराः	२८१
३४३	वैवस्वतेश्वर	२८२
३४४	आदित्येश (अदितीश)	२८३
३४५	वज्रेश्वर (चक्रेश)	२८४
३४६	कनकेश्वर (कालकेश)	२८५

क्र०सं० क्रु०क०त०	नाम	क्र०सं० का०खं०	क्र०सं० क्रु०क०त०	नाम	क्र०सं० का०खं०
३४७	तारकेश्वर	२८६	३७८	शुक्रकूप	३१७
३४८	मरुतेश	२८७	३७९	भवानी	३१८
३४९	इन्द्रेश्वर (शक्रेश्वर)	२८८	३८०	भवानीश्वर	३१९
३५०	कनकेश द्वितीय(स्वर्णमारदेश)	२८९	३८१	अनर्केश्वर (अलर्केश्वर)	३२०
३५१	रम्भेश्वर	२९०		मदालसेश्वर	३२१
३५२	शचीश्वर (शशीश्वर)	२९१	३८२	गणेश्वर (गणेश्वरेश्वर)	३२२
३५३	लोकपालेश्वर	२९२	३८३	रामेश्वर (रघुनाथेश्वर)	३२३
३५४	फाल्गुनेश्वर	२९३	३८४	त्रिपुरान्तक	३२४
३५५	महापाशुपतेश्वर	२९४	३८५	दत्तात्रेयेश्वर	३२५
३५६	समुद्रेश्वर	२९५	३८६	हरिकेशेश्वर	३२६
३५७	ईशानेश्वर	२९६	३८७	गोकर्णेश	३२७
३५८	लांगलीश्वर	२९७	३८८	गोकर्ण-तड़ाग (गोकर्णेश-सर)	३२८
३५९	नकुलीश	२९८	३८९	ध्रुवेश्वर	३२९
३६०	कपिलेश्वर	२९९	३९०	ध्रुवकुण्ड	३३०
३६१	अविमुक्तेश्वर	---	३९१	पिशाचेश्वर	३३१
३६२	वापी (ज्ञानवापी)	३००	——	पितृकुण्ड	३३२
३६३	दण्डपाणि	३०१	---	पित्रीश	३३३
३६४	तारकेश्वर	३०२	३९२	वैद्यनाथ	३३४
३६५	महाकालेश्वर	३०३	३९३	मन्धीश्वर	३३५
३६६	नन्दीश (शिवादणेश्वर)	३०४	३९४	मुचकुन्देश्वर	३३६
३६७	प्रीतिकेश्वर	३०५	३९५	प्रियव्रतेश्वर	३३७
३६८	मोक्षकेश्वर (मोक्षेश्वर)	३०६	३९६	गौतमेश्वर	३३८
३६९	वरुणेश (करुणेश)	३०७	३९७	विभाण्डेश्वर	३३९
३७०	सुवर्णाक्षेश्वर	३०८	——	मद्रेश्वर	३४०
——	ज्ञानदेश्वर	३०९	३९८	ऋष्यश्रृंगेश्वर	३४१
३७१	गौरी (सौभाग्यगौरी)	३१०	३९९	ब्रह्मेश्वर	३४२
३७२	निकुम्भगण (निकुम्भेश)	३११	४००	पिशाचेश्वर	---
३७३	विनायक (विघ्ननायक)	३१२	४०१	पर्जन्येश्वर	३४३
——	विरूपाक्ष	३१३	४०२	नहुषेश्वर	३४४
३७४	विजयलिंग	——	४०३	विशालाक्षीश्वर	३४५
३७५	शुक्रेश्वर	३१४	४०४	विशालाक्षी	३४६
३७६	देवयानीश्वर	३१५	४०५	जरासन्धेश्वर	३४७
३७७	कचेश्वर	३१६	४०६	भोगललिता	---

क्र०सं० कृ०क०त०	नाम	क्र०सं० का०खं०
४०७	हिरण्याक्षेश्वर	३४८
४०८	ययातीश्वर (गयाघीश्वर)	३४९
४०९	अगस्त्येश्वर	३५०
४१०	एकलिंग (भगीरथ-लिंग)	३५१
४११	दिलीपेश्वर	३५२
——	अगस्त्य-कुण्ड	३५३
४१२	विश्वावस्वीश्वर	३५४
४१३	मुण्डेश्वर	३५५
४१४	विधि	——
४१५	विधीश्वर	३५६
४१६	दशाश्वमेधतीर्थ	३५७
४१७	दशाश्वमेधेश्वर	३५८
४१८	मातरः	३५९
४१९	मातृकुण्ड (मातृतीर्थ)	३६०
४२०	पुलस्त्येश्वर	——
४२१	पुष्पदन्तेश्वर	३६१
४२२	सिद्धेश्वर (सिद्धीश्वर)	३६२
४२३	हरिश्चन्द्रेश्वर	३६३
४२४	नैर्ऋतेश्वर	३६४
४२५	अंगिरसेश्वर	३६५
४२६	क्षेमेश्वर	३६६
४२७	चित्रांगेश्वर	३६७
४२८	केदार	३६८
४२९	नीलकण्ठ	——
४३०	अम्बरीषेश्वर	——
४३१	लोलार्क	३६९
४३२	कालंजरेश्वर	——
——	अर्कविनायक	३७०
——	करंधमेश्वर	३७१
४३३	दुर्गादेवी (महादुर्गा)	३७२
४३४	असितेश्वर	——
४३५	शुष्केश्वर	३७३
४३६	जनकेश्वर	३७४
४३७	शंकुकर्णेश्वर	३७५
४३८	सिद्धेश्वर (महासिद्धीश्वर)	३७६
४३९	सिद्धेश्वर-कुण्ड (सिद्ध कुण्ड)	३७७
४४०	माण्डव्येश (वाडव्यलिंग)	३७८
——	विभाण्डेश	३७९
——	कहोलेश——	३८०
४४१	देव (द्वारेश्वर)	३८१
४४२	देवी (द्वारेश्वरी)	३८२
४४३	हरितेश्वर (हरिदीश)	३८३
४४४	कात्यायनेश्वर	३८४
४४५	एकमुखलिंग	——
४४६	कपर्दीश्वर	——
४४७	छागलेश्वर	——
	जांगलेश्वर	३८५
४४८	अंगारेश्वर	——
४४९	अंगारेश्वर तड़ाग	——
४५०	मुकुरेश्वर (मुकुटेश्वर)	३८६
४५१	मुकुरेश्वर-कुण्ड (मुकुटकुण्ड)	३८७
४५२	उपशान्तकूप	३८८
४५३	त्र्यम्बक	
४५४	चण्डेश्वर	
४५५	मुखनिमीलिका	
४५६	संवर्त्त-ललिता	
४५७	ढुंढि	
४५८	कोण विनायक	
४५९	देव्याः विनायक	
४६०	हस्ति विनायक	
४६१	सिन्दूर विनायक	
४६२	नवदुर्गा	
४६३——४६६	नवचण्डिका के अन्तर्गत चार नये नाम १. उत्तरेशी २. अंगारेशी ३. ऊर्ध्वकेशी ४. अधःकेशी	
४६७	जम्बुकेश्वर	

परिशिष्ट (ख)

वाराणसी के पुराणोक्त विनायक-पीठों का स्थान-निर्देश

(क) ढुंढिराज—प्रसिद्ध।

(ख) छप्पन विनायक :

(अ) आग्नेयकोण में :

(१) अर्कविनायक—लोलार्क के समीप।

(२) लम्बोदर विनायक—चिन्तामणि विनायक नाम से प्रसिद्ध। लालीघाट के ऊपर सोनारपुरा की सड़क पर। मकान-नं० बी० ७।२०८।

(३) वक्रतुण्ड विनायक (सरस्वती विनायक)—राणा महल में। मकान-नं० डी० २०।४।

(४) अभयद विनायक—दशाश्वमेघ-घाट पर शूलटंकेश्वर में।

(५) स्थूलदन्त विनायक—मानमन्दिर-घाट के ऊपर सोमेश्वर में। मकान-नं० डी० १६।३४ के पास।

(६) आशा विनायक—मीरघाट पर धर्मेश्वर में अथवा हनुमानजी में। मकान-नं० डी० २।२१ अथवा डी० ३।७९।

(७) प्रमोद विनायक—नेपाली खपड़ा में। मकान-नं० सी०के० ३१।१६।

(आ) दक्षिण में :

(१) दुर्गविनायक—दुर्गाजी में। मकान-नं० बी० २७।२।

(२) कूटदन्त विनायक—कृमिकुण्ड पर। कीनाराम की समाधि के पास सिद्धेश्वर-मन्दिर में। मकान-नं० बी० ३।३३५।

(३) एकदन्त विनायक—पुष्पदन्तेश्वर के समीप।

(४) सिंहतुण्डविनायक—ब्रह्मेश्वर में। मकान-नं० डी० ३३।६७।

(५) कलिप्रिय विनायक—मनःप्रकामेश्वर में। मकान-नं० डी० १०।५०।

(६) सृष्टिविनायक—कालिकागली में। मकान-नं० डी० ८।३।

(७) सुमुख विनायक—नेपाली खपड़ा की गली में। मकान-नं० सी-के० ३५।८।

(इ) नैर्ऋत्य कोण में :

(१) भीमचण्डीविनायक—पञ्चक्रोशी के मार्ग पर, भीमचण्डी पर।

(२) शालकटंकटविनायक—मड़ुआडीह में तालाव पर।

(३) त्रिमुखविनायक—सिगरा में त्रिपुरान्तकेश्वर में मकान-नं० डी० ५१।९५

(४) कूणिताक्षविनायक—लक्ष्मी-कुण्ड पर। मकान-नं० डी० ५२।३८।

(५) चतुर्दन्तविनायक—ध्रुवेश्वर में।
(६) यक्षविनायक—कोतवालपुरा में। मकान-नं० डी० ३७।२९ अथवा वेणीधर की ब्रह्मपुरी में कुएँ के पास।
(७) दुर्मुखविनायक—नेपाली खपड़ा में। मकान-नं० सी-के० ३४।६०।

(ई) पश्चिम में :

(१) देहलीविनायक—चौखण्डी में, पंचक्रोशी के मार्ग पर।
(२) कूष्माण्डविनायक—फुलवरिया गाँव में।
(३) पंचास्यविनायक—पिशाचमोचन पर। मकान-नं० सी० २६।४०।
(४) क्षिप्रप्रसादन विनायक—पितरकुण्डा पर। मकान-नं० सी० १८।४७।
(५) द्वितुण्डविनायक—सूर्यकुण्ड पर साम्वादित्य के पास।
(६) गजकर्णविनायक—ईशानेश्वर में। मकान-नं० सी-के० ३७।४३।
(७) गणनाथविनायक—ढुंढिराज गली में। मकान-नं० सी-के० ३७।१।

(उ) वायव्य कोण में :

(१) उद्दंडविनायक—भुइली गाँव में।
(२) मुण्डविनायक—सदर बाजार में, चण्डीदेवी के मन्दिर में।
(३) हेरम्बविनायक—पिशाचमोचन पर वाल्मीकि के टीले पर।
(४) चिन्तामणिविनायक—नागेश्वर में ईश्वरगंगी पर। मकान-नं० के० ६६।४।
(५) ज्येष्ठविनायक—ज्येष्ठेश्वर में मकान-नं० के० ६२।१४४।
(६) चित्रघण्टविनायक—चौक में (१) मकान-नं० सी-के० २३।२५ के पास; (२) मकान-नं० सी-के० ३९।७४—७६।
(७) ज्ञानविनायक—खोवा बाजार में लांगलीश्वर के मन्दिर में, बाहर कोने में मकान-नं० सी-के० २८।४।

(ऊ) उत्तर में :

(१) पाशपाणिविनायक—वर्त्तमान स्थान सदर बाजार में।
(२) विकटद्विज विनायक—धूपचण्डी मन्दिर में पीछे, मकान-नं० जे० १२।१३४।
(३) विघ्नराज विनायक—चित्रकूट तालाब पर। मकान-नं० जे० १२।३२।
(४) दन्तहस्तविनायक—बड़े गणेश पर।
(५) गजविनायक—भारभूतेश्वर में राजा दरवाजे में। मकान-नं० सी-के० ५४।४४ के पूर्व।
(६) स्थूलजंघविनायक—रानीकुआँ पर। मकान-नं० सी-के० २३।२५ के पास।
(७) द्वारविनायक—ज्ञानवापी के उत्तर फाटक के सामने पाँचों पाण्डव-मन्दिर में। मकान-नं० सी-के० २८।१०

(ऋ) ईशान कोण में :

(१) खर्वविनायक—राजघाट के किले में आदिकेशव के पास।
(२) राजपुत्र विनायक—वहीं भीतर सड़क के दक्षिण।
(३) वरद विनायक—प्रह्लादघाट महल्ले में। मकान-नं० ए० १३।१९ के बाहर।

(४) पिचिंडिल विनायक—प्रह्लादघाट पर। मकान-नं० ए० १०।८०।

(५) कालविनायक—वर्त्तमान स्थान रामघाट के ऊपर। मकान-नं० के० २४।१० के द्वार पर।

(६) मंगलविनायक—मंगलागौरी में। मकान-नं० के० २४।३४।

(७) अविमुक्त विनायक—वर्त्तमान स्थान विश्वनाथ-मन्दिर के नैर्ऋत्य कोण के छोटे मन्दिर में विरूपाक्षी गौरी के समीप।

(ऋ) पूर्व में :

(१) सिद्धिविनायक—मणिकर्णिका पर।

(२) प्रणवविनायक—त्रिलोचन घाट पर। हिरण्यगर्भेश्वर में।

(३) मोदकप्रिय विनायक—आदिमहादेव में।

(४) उद्दण्डमुण्ड विनायक—त्रिलोचन-मन्दिर में।

(५) नागेश विनायक—प्राचीन स्थान गायघाट पर। वर्त्तमान स्थान भोंसलाघाट के ऊपर। मकान-नं० सी-के० १।२१ से सटे हुए नागेश्वर-मन्दिर में।

(६) मणिकर्णी विनायक—मणिकर्णिका घाट पर। मकान-नं० सी-के० १०।४९ के सामने।

(७) मोद विनायक—काशीकरवत में। कचौड़ी गली में। मकान-नं० सी-के० ३१।१२।

(ग) इनके अतिरिक्त आत्मावीरेश्वर-मन्दिर में मित्रविनायक हैं, जो काशीखण्ड में छठवें आवरण में नवें होकर कहे गये हैं।

(घ) इन छप्पन विनायकों के अतिरिक्त पुराणों में कुछ अन्य विनायकों का भी नामांकन हुआ है। वे निम्नलिखित हैं:—

(१) हरिश्चन्द्र विनायक—संकठाघाट पर हरिश्चन्द्र-मण्डप में। मकान-नं० सी-के० ७।१६६।

(२) कपर्दिविनायक—पिशाचमोचन पर। मकान-नं० सी० २१।४०।

(३) बिन्दु विनायक—बिन्दुमाधव-मन्दिर में पंचगंगा-घाट के ऊपर। मकान-नं० के० २२।३३।

(४) भगीरथ विनायक—ललिताघाट के समीप लाहौरी टोले में।

(५) सेनाविनायक—संकठाजी के मन्दिर की दीवाल में। मकान-नं० सी-के० ७।१५९।

(६) सीमाविनायक—सेनाविनायक के ही मन्दिर में।

(७) चिन्तामणि विनायक—वहीं समीप में वशिष्ठ वामदेव के मन्दिर (मकान-नं० सी-के० ७।१६१) के द्वार पर।

(८) महाराज विनायक—बड़े गणेश प्रसिद्ध।

(९) भण्ड विनायक—लक्ष्मीकुण्ड पर।

परिशिष्ट (ग)

काशी में गंगाजी के तीर्थ तथा उनपर के घाट

१. पदोदक तीर्थ
२. श्वेतद्वीप ,,
३. क्षीराब्धि ,,
४. शंख ,,
५. चक्र ,,
६. गदा ,,
७. पद्म ,,
८. महालक्ष्मी ,,
९. गरुड़ ,,
१०. नारद ,,
११. आम्बरीष ,,
१२. आदित्यकेशव

(१ से १२ तक) पूर्व से पश्चिम क्रम से वरणा-संगम तथा आदिकेशव के बीच में।

१३. दत्तात्रेयेश्वर तीर्थ
१४. प्रणवतीर्थ प्रथम ,,
१५. वामनतीर्थ
१६. नरनारायण तीर्थ
१७. यज्ञवाराह ,,
१८. विदार नरसिंह ,,
१९. गोपीगोविन्द ,,
२०. लक्ष्मीनृसिंह ,,
२१. शेष ,,
२२. शंखमाधव ,,
२३. हयग्रीव अथवा नीलग्रीव तीर्थ
२४. उद्दालक तीर्थ

(१३ से २४ तक) आदिकेशव तथा स्वर्लीनेश्वर के बीच क्रम से।

२५. सांख्यतीर्थ
२६. स्वर्लीन तीर्थ—स्वर्लीनेश्वर के सामने।
२७. महिषासुर तीर्थ
२८. बाणतीर्थ—प्रह्लादघाट के सामने।

२९. गोप्रतार तीर्थ
३०. हिरण्यगर्भ तीर्थ
३१. प्रणव तीर्थ द्वितीय
३२. पिशंगिला तीर्थ
} —प्रह्लादघाट और त्रिलोचन के बीच क्रम से।

३३. पिल्प्पिलातीर्थ —त्रिलोचन घाट पर।
३४. नागेश्वर तीर्थ —महथाघाट तथा गायघाट के सामने।
३५. कर्णादित्य तीर्थ—लालघाट से राजमन्दिर के पुश्ते के नीचे तक।
३६. भैरवतीर्थ —ब्रह्माघाट पर।
३७. खर्वनृसिंह तीर्थ—दुर्गाघाट पर।
३८. मार्कण्डेय तीर्थ—पंचगंगाघाट पर दुर्गाघाट के दक्षिण।
३९. पंचनद तीर्थ—पंचगंगाघाट (कोनिया घाट)।

४०. ज्ञानह्रद ,,
४१. मयूखार्क ,,
४२. मख ,,
४३. बिन्दु ,,
४४. पिप्पलद ,,
४५. ताम्रवाराह ,,
४६. कालगंगा ,,
} पंचगंगाघाट तथा रामघाट के बीच में क्रम से।

४७. रामतीर्थ —रामघाट पर।

४८. इक्ष्वाकु ,,
४९. मरुत्त ,,
५०. मैत्रावरुण ,,
} रामघाट तथा अग्नीश्वर घाट के बीच में क्रम से।

५१. अग्नितीर्थ —अग्नीश्वर घाट पर।

५२. अंगारतीर्थ ,,
५३. कल ,,
५४. चन्द्र ,,
५५. वीर ,,
५६. विघ्नेश ,,
} अग्नीश्वर घाट तथा सेंधियाघाट के बीच में क्रम से।

५७. हरिश्चन्द्र ,, —हरिश्चन्द्र-मण्डप के सामने।
५८. पर्वत ,, सेंधियाघाट के सामने।

५९. कम्वलाश्वतर तीर्थ
६०. सारस्वत ,,
६१. उमातीर्थ ,,
} सेंधियाघाट तथा मणिकर्णिका घाट के बीच में क्रम से।

६२. मणिकर्णिका चक्रपुष्करिणी तीर्थ

६३. पशुपति तीर्थ
६४. रुद्रावास ,,
६५. विश्व ,,
६६. मुक्ति ,,
६७. अविमुक्तेश्वर ,, — मणिकर्णिका घाट के सामने उत्तर से दक्षिण क्रमशः।
६८. तारक ,,
६९. स्कन्द ,,
७०. ढुंढि ,,
७१. भवानी ,,
७२. ईशान ,,

७३. ज्ञान तीर्थ
७४. शैलाद ,, — मणिकर्णिका तथा ब्रह्मनाल के बीच में क्रमशः।
७५. विष्णु ,,
७६. पितामह ,,

७७. ब्रह्मनाल ,,—ब्रह्मनाल के सामने।
७८. भागीरथी ,, ब्रह्मनाल तथा ललिताघाट के बीच में।
७९. ललितातीर्थ—ललिताघाट पर।
८०. विशाल गंगा तीर्थ—विशालाक्षी के पीछे। ललिताघाट तथा मीरघाट के बीच में।
८१. जरासन्धेश्वर तीर्थ—मीरघाट पर।
८२. प्रभासतीर्थ—मानमन्दिर-घाट पर।
८३. प्रयागतीर्थ—दशाश्वमेध-घाट के उत्तर घोड़ाघाट पर।

८४. रुद्रसरोवर तीर्थ
८५. दशाश्वमेध तीर्थ — शीतलाघाट के दक्षिण अहल्याबाई-घाट पर।

८६. योगिनी तीर्थ—राणामहल घाट तथा चौसट्ठी घाट के सामने।

८७. खुरकर्त्तरि तीर्थ
८८. मार्कण्डेय तीर्थ
८९. वशिष्ठ तीर्थ — ललिताघाट तथा चौसट्ठी घाट के बीच में कहीं पर।
९०. अरुन्धती तीर्थ
९१. नर्मदा तीर्थ
९२. त्रिसन्ध्य तीर्थ

९३. अगस्त्यतीर्थ—चौसट्ठी घाट तथा गंगामहल-घाट के बीच में।
९४. गंगाकेशव तीर्थ—गंगामहल-घाट।
९५. प्राचीन प्रभासतीर्थ—पाण्डेघाट के समीप सोमेश्वर-मन्दिर के नीचे।

९६. हरपापतीर्थ
९७. आदिमणिकर्णिका — केदारघाट अथवा हरिश्चन्द्रघाट के सामने।

९८. असि संभेद तीर्थ—असी-गंगा-संगम। अस्सी घाट पर।

बनारस के घाट

आदिकाल में उपर्युक्त तीर्थों से सम्बन्धित स्थलों पर गंगा-स्नान करने की परिपाटी थी। वहाँ स्नान की सुविधाएँ प्राप्त करने की दृष्टि से तख्ते, चौकी इत्यादि का प्रवन्ध होता रहा होगा। कालान्तर में इन्हीं को घाट कहा जाने लगा। वाराणसी में गंगा का प्रवाह प्रायः पाँच मील तक है और इसमें ९८ तीर्थ हैं, परन्तु सभी तीर्थों का माहात्म्य एक-सा नहीं था, अतः प्रधान तीर्थों पर स्नानार्थियों की संख्या अधिक होती थी। इसी कारण इन स्थानों पर घाट भी विशेष रूप से विकसित हुए।

गाहड़वालों के ताम्रपत्रों में कुछ घाटों का उल्लेख है; जैसे—आदिकेशव घट्ट, वेदेश्वर घट्ट, त्रिलोचनघट्ट, स्वप्नेश्वर घट्ट। इन घाटों पर महाराज गोविन्दचन्द्र ने स्नान करने के उपरान्त ताम्रपत्र दानपत्र-रूप में लिखे थे। यह वात ग्यारहवीं शताब्दी से लेकर वारहवीं शताब्दी तक की है। इसके वाद तत्कालीन साहित्य में कुछ छिटपुट घाटों का उल्लेख मिलता है। एकनाथी गीता में मणिकर्णिका का संकेत है, यह पन्द्रहवीं शताब्दी के चतुर्थ चरण की बात है। इसके वाद सन् १६००–१६५० ई० के बीच में वरदराज की **गीर्वाण-पद मंजरी** लिखी गई। उसमें पच्चीस घाटों के नाम मिलते हैं।

राज्यघट्ट, गोघट्ट, त्रिलोचन घट्ट, ब्रह्मघट्ट, दुर्गाघट्ट, विन्दुमाधव घट्ट, मंगला-गौरी घट्ट, रामघट्ट, अग्नीश्वरघट्ट, नागेश्वर घट्ट, वीरेश्वर घट्ट, सिद्धिविनायक घट्ट, स्वर्गद्वारेश्वर घट्ट, मोक्षद्वारेश्वर घट्ट, जरासन्धेश्वर घट्ट, वृद्धादित्य घट्ट, सोमेश्वर घट्ट, दशाश्वमेधेश्वर घट्ट, चतुःषष्ठिघट्ट, सर्वेश्वर घट्ट, मानसरोवर घट्ट, रामेश्वरघट्ट लोलार्कघट्ट, असिसंगम तथा वरणा-संगम।

इन नामों के देखने से स्पष्ट है कि उन घाटों पर जो प्रधान देवायतन थे, उनके ही नामों से घाट बहुधा प्रख्यात थे। गोघट्ट पर एक गौ की मूर्त्ति होने से उसका नाम गोघट्ट था। इन नामों में से कुछ तो अभी भी प्रचलित हैं, परन्तु कुछ के नाम कालान्तर में बदलते रहे। नागेश्वर घट्ट के पास भोंसला-मन्दिर तथा पक्का घाट बनने पर उसका नाम भोंसला-घाट हो गया। सिद्धिविनायक-घट्ट तथा स्वर्गद्वारेश्वर-घट्ट मणिकर्णिका घाट के बनने पर उसमें विलीन हो गये। मोक्षद्वारेश्वर-घट्ट पर राजराजेश्वरी मठ बनने पर वह राजराजेश्वरी-घाट हो गया। जरासन्धेश्वर-घाट और वृद्धादित्यघाट पर मीर रुस्तम अली के द्वारा किला और पुश्ता बन जाने पर उनका संयुक्त नाम मीरघाट हो गया। सोमेश्वर घाट का नाम उसके ऊपर बने हुए मान-मन्दिर के नाम पर मानमन्दिर-घाट हुआ। दशाश्वमेधेश्वर घाट के कई टुकड़े हो गये; यथा दशाश्वमेध-घाट, शीतलाघाट तथा अहल्याबाई-घाट। अहल्याबाई-घाट का नाम उस घाट के वनवानेवाली महारानी अहल्या-बाई के नाम पर पड़ा। मनुष्य का नाम घाट से जोड़ने का यह पहला उदाहरण था। इसके बाद सर्वेश्वरघाट पाण्डेघाट हुआ। रामेश्वर-घाट बदलकर हनुमान्-घाट हो गया। लोलार्कघाट तुलसीघाट कहा जाने लगा। पहले ये सभी घाट कच्चे थे। जैसे-जैसे उन स्थानों पर पक्के घाट बनने लगे, वैसे-वैसे उन घाटों के नामों में निर्मायकों के नाम जुड़ने लगे।

प्रिंसेप के नक्शे के आधार पर सन् १८२२ ई० में घाटों के नाम इस प्रकार थे:—
(१) आदिकेशव घाट, (२) राजघाट, (३) प्रह्लादघाट, (४) फूटेश्वर घाट, (५) तेलियानाला-घाट, (६) शुकाघाट, (७) गोलाघाट, (८) त्रिलोचन-घाट, (९) महथाघाट, (१०) बालाबाई घाट, (११) गायघाट, (१२) लालघाट, (१३) शीतलाघाट, (१४) ब्रह्माघाट, (१५) चोरगलिया घाट, (१६) दुर्गा घाट, (१७) पंचगंगा-घाट, (१८) माधो राय घाट, (१९) मंगलागौरी घाट, (२०) चोर घाट, (२१) रामघाट, (२२) अग्नीश्वर घाट, (२३) गूलरघाट, (२४) घोंसला घाट, (२५) यमेश्वर घाट, (२६) संकठा घाट, (२७) वीरेश्वर घाट, (२८) सिद्धिविनायक-घाट, (२९) मणिकर्णिका-घाट, (३०) जलशायी घाट; (३१) राजराजेश्वरी घाट, (३२) ललिताघाट, (३३) मीरघाट, (३४) त्रिपुराभैरवी घाट, (३५) मानमन्दिर-घाट, (३६) प्रयाग-घाट, (३७) दशाश्वमेध घाट, (३८) शीतलाघाट, (३९) केवलगिर घाट, (४०) मुंशी घाट, (४१) चतु:षष्ठी घाट, (४२) पानड़ी घाट, (४३) गंगामहल-घाट, (४४) अमृतराव घाट, (४५) कुवई घाट, (४६) मानसरोवर-घाट, (४७) नालाघाट, (४८) चौकी घाट, (४९) केदारघाट, (५०) लाली घाट, (५१) मसान घाट, (५२) हनुमान्-घाट, (५३) दण्डी घाट, (५४) शिवाला घाट, (५५) बच्छराज घाट, (५६) कच्चाघाट, (५७) अस्सी घाट।

वेंकस के नक्शे के आधार पर सन् १८६८ ई० में घाटों के नाम इस प्रकार थे :—
(१) आदिकेशव घाट, (२) राजघाट, (३) प्रह्लाद-घाट, (४) तेलिया नाला घाट, (५) बाबू सूका घाट, (६) त्रिलोचन-घाट, (७) बालाबाई घाट, (८) गायघाट, (९) लाल घाट, (१०) घाट प्रीतम सिंह, (११) शीतला घाट, (१२) ब्रह्माघाट, (१३) दुर्गाघाट, (१४) बेनीमाधो घाट, (१५) माधोराय घाट, (१६) पंचगंगा घाट, (१७) मंगलागौरी घाट, (१८) चोर घाट, (१९) रामघाट, (२०) अग्नीश्वर घाट, (२१) घोंसला घाट, (२२) घाट गंगामहल, (२३) संकठा घाट, (२४) सेंधिया घाट, (२५) घाट बाजीराव, (२६) मणिकर्णिका घाट, (२७) जलशायी घाट, (२८) ललिता घाट, (२९) मीर घाट, (३०) त्रिपुराभैरवी घाट, (३१) मानमन्दिर-घाट, (३२) दशाश्वमेध-घाट, (३३) शीतला घाट, (३४) घाट अहिल्याबाई, (३५) मुंशी घाट, (३६) राणाघाट, (३७) चौंसट्ठी घाट, (३८) पाण्डे घाट, (३९) अमृतराव घाट, (४०) कवाई घाट, (४१) मानसरोवर-घाट, (४२) नालाघाट, (४३) चौकीघाट, (४४) केदार-घाट, (४५) लालीघाट, (४६) मसान-घाट, (४७) हनुमान्-घाट, (४८) दण्डीघाट, (४९) बरियाघाट, (५०) शिवाला घाट, (५१) बच्छराज घाट, (५२) घाट राय गिरधरलाल, (५३) नघम्बर घाट, (५४) गणेश घाट, (५५) तुलसी-घाट, (५६) अस्सी-संगम घाट।

इन दोनों सूचियों के देखने से जान पड़ता है कि इन चालीस वर्षों में कुछ नये घाट बने; जैसे घाट प्रीतमसिंह, सेंधिया घाट, बरियाघाट, घाट राय गिरधरलाल और कुछ के नामों में परिवर्त्तन हुए। प्रिंसेप के नक्शे का सं० ५६ वाला कच्चाघाट दो में बँटकर गणेशघाट तथा तुलसीघाट हो गया।

विवरण : मानचित्र—४छ

१. नीलकण्ठ द्वितीय
२. कूटदन्त विनायक
३. इन्द्रेश्वर
४. स्वप्नेश्वर स्वप्नेश्वरी
५. रामेश्वर
६. सीतेश्वर
७. लक्ष्मणेश्वर
८. हनुमंदीश्वर
९. रुरुभैरव
१०. वृद्धकेदार
११. लम्बोदर विनायक (चिन्तामणि विनायक)
१२. ज्येष्ठ विनायक
१३. किरातेश्वर
१४. जयन्त लिंग
१५. महालक्ष्मी
१६. नीलकण्ठ प्रथम
१७. निष्पापेश्वर
१८. गौरी कुण्ड
१९. तारकेश्वर
२०. केदारेश्वर
२१. विटंकनरसिंह

मानचित्र सं. ४ छ
केदार घाट
हरिश्चन्द्र घाट
गंगा
हनुमान घाट
शिवाला घाट
चेत सिंह घाट
कृमिकुण्ड

१. नी
२. कूट
३. इन्द्रं
४. स्वा
५. रा
६. सीं
७. लक्ष
८. हनु
९. रुरु
१०. वृद्ध
११. लम
१२. ज्ये
१३. कि
१४. जय
१५. मह
१६. नी
१७. नि
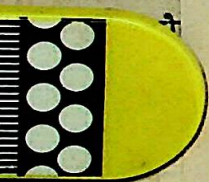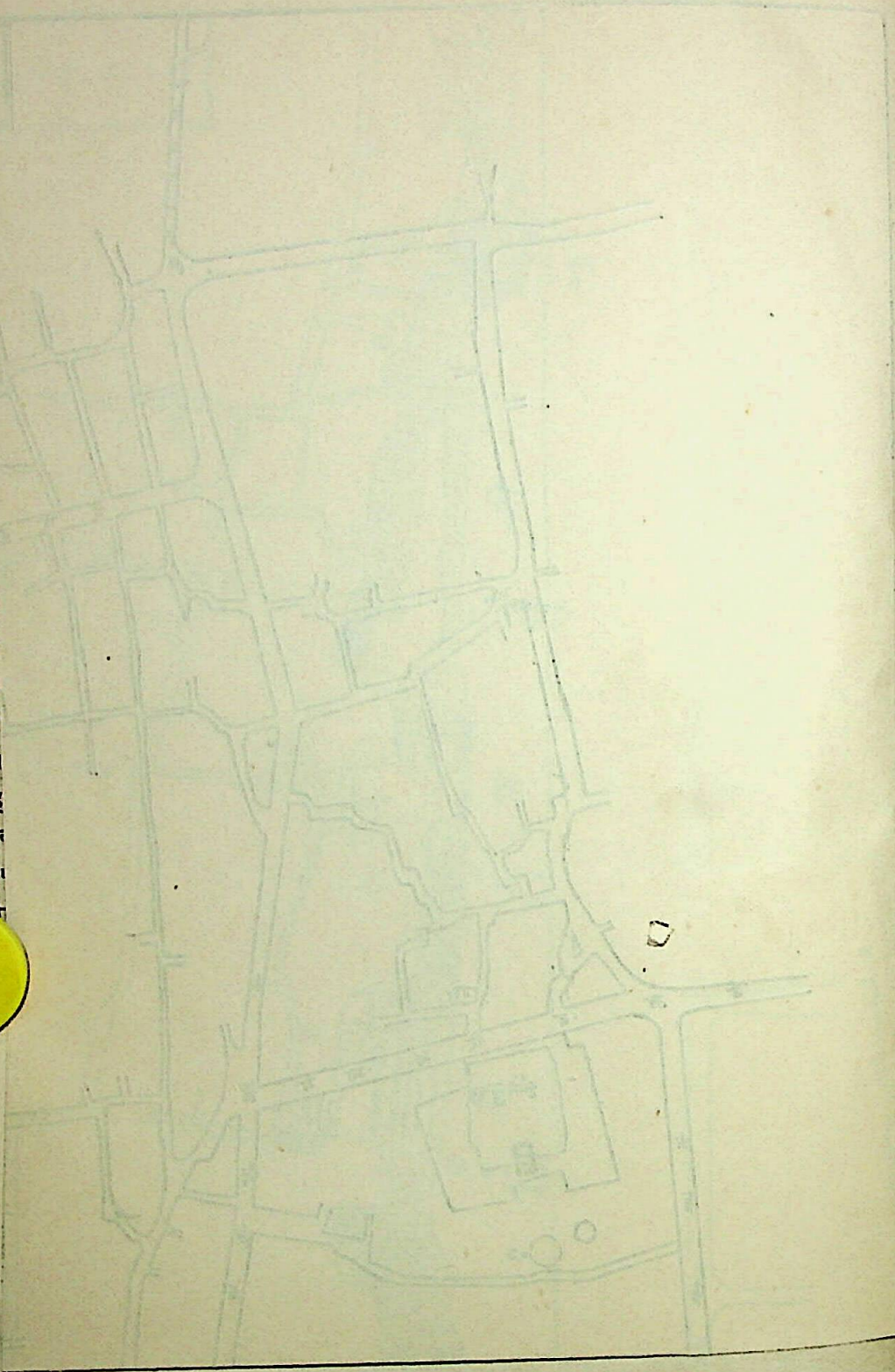
सन् १९०९ ई० में लिखी गई ग्रीव्ज की पुस्तक 'काशी दि सिटी इलस्ट्रियस' में दी हुई नामों की तालिका नीचे दी जा रही है। उसके देखने से जान पड़ेगा कि अस्सीघाट तथा तुलसी-घाट के बीच में एक घाट बाला मिसिर के नाम से बढ़ गया और एक टुकड़े का नाम बाजीराव-घाट हो गया—यह गणेश-घाट का ही नामान्तरण है; क्योंकि गणेश-मठ पेशवाओं का ही है। इसी प्रकार वाटर वर्क्स के भदैनी में स्थापित होने से जलकल-घाट का जन्म हुआ। घाट राय गिरधरलाल अथवा नघम्बर घाट में से किसी एक का नाम जानकी-घाट हो गया। बरिया घाट नेपाली घाट हो गया। प्रिंसेप तथा वैक्स दोनों के नक्शों के में जिस घाट का नाम मसान-घाट था, वह अब हरिश्चन्द्र-घाट हुआ। महाराज विजयानगरम् का बनवाया हुआ घाट ईजानगर-घाट कहलाया। नालाघाट कुमारस्वामी-घाट तथा क्षेमेश्वर-घाट हो गया। सम्भवतः कवाई घाट नारद-घाट हुआ। नेपाली मन्दिर-घाट नया जुड़ा। बाजीराव-घाट का नाम दत्तात्रेय-घाट कहा जाने लगा। अग्नीश्वर-घाट गणेश-घाट होकर अब नयाघाट हो गया है। लक्ष्मणबाला घाट प्रिंसेप के नक्शे के बाद बना।

ग्रीव्ज की पुस्तक में निम्नांकित घाटों का उल्लेख है :—

(१) अस्सी घाट, (२) लालामिसिर घाट, (३) बाजीराव-घाट, (४) तुलसी-घाट, (५) जलकल-घाट, (६) जानकी-घाट, (७) बच्छराज घाट, (८) शिवाला घाट (९) नेपाली घाट, (१०) दण्डी घाट, (११) हनुमान्-घाट, (१२) हरिश्चन्द्र-घाट, (१३) लाली घाट, (१४) ईजानगर घाट, (१५) केदार घाट, (१६) चौकी घाट, (१७) कुमारस्वामी-घाट, (१८) क्षेमेश्वर-घाट (सोमेश्वर घाट भ्रमवश लिखा है), (१९) मानसरोवर-घाट, (२०) नारद-घाट, (२१) अमृतराव-घाट, (२२) धोबी घाट, (२३) अन्नपूर्णाघाट या गंगामहल-घाट, (२४) पाण्डे-घाट, (२५) चौंसट्ठी घाट, (२६) राणामहल-घाट, (२७) मुन्शी घाट (अब इसका नाम दरभंगा-घाट हो गया है), (२८) अहल्याबाई घाट, (२९) शीतलाघाट, (३०) दशाश्वमेध-घाट, (३१) मानमन्दिर-घाट, (३२) त्रिपुराभैरवी घाट, (३३) मीर घाट, (३४) नेपाली मन्दिर घाट, (३५) ललिता घाट, (३६) राजराजेश्वरी घाट, (३७) जलशायी घाट, (३८) मणिकर्णिका-घाट, (३९) दत्तात्रेयघाट, (४०) सिंधिया घाट, (४१) संकठा घाट, (४२) गंगामहल-घाट, (४३) भोंसला-घाट, (४४) गणेश-घाट (पुराना अग्नीश्वर घाट), (४५) रामघाट, (४६) जड़ाऊ मन्दिर-घाट, (४७) लक्ष्मण-बाला घाट, (४८) चोरघाट, (४९) पंचगंगा-घाट, (५०) बेनीमाधो घाट, (५१) दुर्गा-घाट, (५२) ब्रह्मा घाट, (५३) राजमन्दिर-पुश्ता, (५४) शीतला घाट, (५५) लाल घाट, (५६) गायघाट, (५७) नारायण घाट (या महथा घाट), (५८) त्रिलोचन घाट, (५९) गोलाघाट, (६०) तेलिया नाला घाट, (६१) नया घाट (फूटेश्वर घाट), (६२) प्रह्लाद-घाट, (६३) राजघाट, (६४) आदिकेशव-घाट।

वर्त्तमान काल में इनके यही नाम हैं। इनमें आदिकेशव-घाट सम्भवतः सबसे पहले पक्का हुआ होगा; क्योंकि वहीं पर गाहड़वाल राजा बहुधा स्नान करते थे और वह उनके राज-भवन के निकट था, परन्तु इसका कोई लिखित प्रमाण प्राप्त नहीं है। इसके बाद सन् १५८० ई० (संवत् १६३७ वि०) में पंचगंगा-घाट पक्का बना, जैसा वहाँ लगे हुए शिला-

लेख में लिखा था। यह कार्य रघुनाथ टण्डन नामक किसी व्यक्ति ने किया। यहाँ स्मरण रखना है कि इसी साल टोडरमल ने विश्वनाथ-मन्दिर बनवाया। टोडरमल भी टण्डन थे, इससे कुछ लोगों का विचार है कि यह घाट भी उन्होंने ही अपने किसी गुरुजन के नाम पर बनवाया। इसके बाद औंध के पन्त-प्रतिनिधि श्रीपति राव ने इस घाट का विस्तार अथवा जीर्णोद्धार सन् १७७५ ई० में किया। सन् १७३५ ई० में मीरघाट बना। इसके पूर्व ही मणिकर्णिका पर सिद्धिविनायक घाट तथा दशाश्वमेध घाट को पेशवा ने पक्का कराया। इसके कुछ ही वर्षों बाद पेशवा के गुरु पं० नारायण दीक्षित ने शीतला घाट तथा ब्रह्मघाट पक्के करवाये।

सन् १७८५ ई० में महारानी अहल्याबाई ने मणिकर्णिका-घाट तथा दशाश्वमेध-घाट का विस्तार किया। सन् १७९५ ई० में नागपुर के श्रीधर नारायण मुंशी ने मुंशीघाट बनवाया। उसी समय नागपुर के भोंसला महाराज ने भोंसलाघाट तथा पूना के नाथूवाला ने त्रिलोचन घाट बनवाया। सन् १८०७ ई० में इतिहास-प्रसिद्ध राघोवा के पुत्र अमृतराव ने अमृत-राव घाट का निर्माण करवाया। सन् १८२८ ई० में ग्वालियर की महारानी बायजाबाई ने सेंधियाघाट बनवाना आरम्भ किया, परन्तु पूरा होने के पहले ही उसकी नींव धँस गई और वह अपूर्ण रह गया, किन्तु सन् १९३७ ई० में ग्वालियर-दरबार ने उसको खोदवाकर नया घाट बनवा दिया। प्रह्लादघाट के समीप के फूटेश्वर-घाट का जीर्णोद्धार चैनपुर-भमुआ-निवासी श्रीनरसिंह जपाल ने कराया। इधर उत्तरप्रदेश-सरकार ने भी घाटों के जीर्णोद्धार की दिशा में महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। परन्तु अभी भी बहुत-से घाट दयनीय दशा में ही हैं।

परिशिष्ट (घ)

चौंसठ योगिनियों के नाम

(१) गजानना
(२) सिंहमुखी
(३) गृध्रास्या
(४) काकतुण्डिका
(५) उष्ट्रग्रीवा
(६) हयग्रीवा
(७) वाराही
(८) शरभानना
(९) उलूकिका
(१०) शिवारावा
(११) मयूरी
(१२) विकटानना
(१३) अष्टवक्त्रा
(१४) कोटराक्षी
(१५) कुब्जा
(१६) विकटलोचना
(१७) शुष्कोदरी
(१८) ललजिह्वा
(१९) श्वदंष्ट्रा
(२०) वानरानना
(२१) ऋक्षाक्षी
(२२) केकराक्षी
(२३) बृहत्तुण्डा
(२४) सुराप्रिया
(२५) कपालहस्ता
(२६) रक्ताक्षी
(२७) सुकेशिनी
(२८) कपोतिका
(२९) पाशहस्ता
(३०) दण्डहस्ता
(३१) प्रचण्डा
(३२) चण्डविक्रमा
(३३) शिशुघ्नी
(३४) पापहन्त्री
(३५) काली
(३६) रुधिरपायिनी
(३७) वसाधया
(३८) गर्भभक्षा
(३९) शवहस्ता
(४०) अन्त्रमालिनी
(४१) स्थूलकेशी
(४२) बृहत्कुक्षि
(४३) सर्पास्या
(४४) प्रेतवाहना
(४५) दन्दशूककरा
(४६) क्रौंची
(४७) मृगशीर्षा
(४८) वृषानना
(४९) व्यात्तास्या
(५०) धूमनिःश्वासा
(५१) व्योमैकचरणा
(५२) ऊर्ध्वदृष्टी
(५३) तापिनी
(५४) शोषणीदृष्टि
(५५) कोटरी
(५६) स्थूलनासिका
(५७) विद्युत्प्रभा
(५८) बलाकास्या
(५९) मार्जारी
(६०) कटपूतना
(६१) अट्टाट्टहासा
(६२) कामाक्षा
(६३) शुक्या
(६४) मृगलोचना

परिशिष्ट (ङ)

वाराणसी के सुविख्यात देवायतनों तथा तीर्थों का स्थान-निर्देश

अक्रूरेश्वर—मदैनी के समीप अक्रूर-घाट पर।

अग्निजिह्व वेताल—वृद्धकाल के पास मकान-नं० के० ५३।३२ में शिवलिंग।

अग्निजिह्व वेतालकुण्ड—वहीं पर लुप्त।

अग्नितीर्थ—अग्नीश्वर-घाट पर।

अग्नीश्वर—अग्नीश्वर-घाट के ऊपर गली में मकान-नं० सी-के० २।३ में। अपने प्राचीन स्थान स्वर्लीनेश्वर के समीप मकान-नं० ए० १२।२ में भी वर्त्तमान।

अग्नीश्वर-कुण्ड—ईश्वरगंगी तालाब की वर्त्तमान मान्यता।

अग्नीश्वर दीर्घिका—वर्त्तमान नाम डिघियागड़ही। अब लुप्तप्राय।

अग्नीश्वर द्वितीय (आग्नीध्रेश्वर)—जागेश्वर नाम से प्रसिद्ध नरहरिपुरा में के० ६६।४ में।

अगस्त्य-कुण्ड—अगस्त्यकुण्डा महल्ले में प्रतीक-रूप से।

अगस्त्य-तीर्थ—चौंसट्ठीघाट के सामने गंगाजी में।

अगस्त्येश्वर—अगस्त्यकुण्डा महल्ले में। मकान-नं० डी० ३६।११ में।

अघोरेशी—कामेश्वर के समीप। मकान-नं० ए० २।२१ के सामने पेड़ के नीचे छोटी मढ़ी में।

अघोरोद-कूप—ओंकारेश्वर के ईशानकोण में।

अत्युग्र नरसिंह—कलशेश्वर के पश्चिम गोमठ में। मकान-नं० सी-के० ८।२१।

अनारकह्लद (अमरकह्लद-कु०)—अमरैया तालाब। लाटभैरव के समीप।

अनारकेश्वर (अमरकेश्वर)—वहीं पर, अब लुप्त।

अप्सरस कूप—दखिए गौरीकूप।

अप्सरसेश्वर—ज्ञानवापी मस्जिद की सीढ़ियों के सामने खिड़की में छोटा शिवलिंग।

अभयद विनायक—दशाश्वमेध पर शूलटंकेश्वर के मन्दिर में मकान-नं० डी० १७।१११ के नीचे।

अमृतेश्वर—स्वर्गद्वारी पर मकान-नं० सी-के० ३३।२८ में नीचेवाला शिवलिंग।

अमृतेश्वरी—वहीं पर कुएँ के ऊपर।

अम्बिका गौरी—रत्नेश्वर के पास मकान-नं० के० ५३।३८ में लुप्त।

अम्बिकेश्वर—वहीं। वर्त्तमान नाम मानकेश्वर।

अम्बरीषेश्वर—केदार-मन्दिर में अब लुप्त।

अमरेश्वर—लोलार्क के पास मकान-नं० बी० २।२० में।

अयोगन्धकुण्ड—पुष्कर नाम से प्रसिद्ध। पहले ओंकार-क्षेत्र में। अब मुमुक्षु भवन के सामने।

अयोगन्धेश्वर—वहीं।

अर्कविनायक——लोलार्क के समीप घाट के ऊपर मकान-नं० बी० २।१७ के सामने।

अरुणादित्य——त्रिलोचन-मन्दिर में।

अरुन्धती-तीर्थ——चौसट्ठी घाट के उत्तर में गंगाजी में।

अवधूत तीर्थ——पशुपतीश्वर के पश्चिम। इसी कुण्ड को पाटकर पशुपतीश्वर महल्ला बसा है। इसका पश्चिमीय तट वर्त्तमान लाजपत रोड के समीप था।

अवधूतेश्वर——पशुपतीश्वर-मन्दिर के सामने के मकान-नं० सी-के० १३।८५ में। वहीं पर अवधूत-तीर्थ का प्रतीक कुण्ड भी है।

अविमुक्त विनायक——विश्वनाथ-मन्दिर में नैर्ऋत्यकोण के छोटे मन्दिर में गौरी तथा विष्णु के समीप।

अविमुक्तेश्वर——वाराणसी का सबसे पुनीत शिवलिंग। इस समय दो मन्दिर हैं। एक तो विश्वनाथजी के घेरे में आग्नेय कोण का छोटा-मन्दिर और दूसरा ज्ञानवापी मस्जिद की सीढ़ियों के सामने खिड़की में बड़ा शिवलिंग। पास का छोटा शिवलिंग अप्सरसेश्वर का है।

अविमुक्तेश्वर तीर्थ——मणिकर्णिका-घाट के समीप गंगाजी में।

अशोक तीर्थ——इसका दूसरा नाम विलोक तीर्थ था, जो भरने पर विलोकनाला हुआ, जिसका अपभ्रंश बुलानाला हुआ। इसको पाटकर बुलानाला का महल्ला बसा।

अश्वारूढ़ा——वागेश्वरी के मन्दिर में चौक में आले पर। जैतपुरा महल्ला मकान-नं० जे० ६।३३ में।

असितांग-भैरव——वृद्धकाल के घेरे में सर्वेश्वर के मन्दिर की दीवाल में। मकान-नं० के० ५२।३९।

अस्थिक्षेप-तड़ाग——बेनियापार्क के तालाब का वह अंश, जिसको पाटकर हड़हा महल्ला बसा है।

असिसंभेद तीर्थ——अस्सी-संगम। प्रसिद्ध।

अत्रीश्वर——नारदघाट के समीप मकान-नं० डी० २५।११ में; पहला स्थान गोकर्ण के समीप लुप्त।

आदिकेशव——वरणा-संगम के समीप। प्रसिद्ध।

आदित्यकेशव——आदिकेशव के पास। लुप्त।

आदित्यकेशव तीर्थ——आम्बरीष तीर्थ तथा दत्तात्रेयेश्वर तीर्थ के बीच में। आदिकेशव के समीप गंगाजी में।

आनुसूयेश्वर——वर्त्तमान स्थान नारदघाट के ऊपर मकान-नं० डी० २५।११ में।

आपस्तंबकूप——कुछ लोगों का मत है कि बड़े गणेश के सामने के टीले के ऊपर का कुँआ यही कूप है।

आपस्तंबेश्वर——१. बूढ़े बाबा के नाम से प्रसिद्ध। मकान-नं० के० ५३।११६ के सामने मध्यमेश्वर महल्ले में। २. मध्यमेश्वर के दक्षिण के शिवालय में बड़ा शिवलिंग।

आम्बरीष तीर्थ——आदिकेशव के समीप गंगाजी में।

आमर्दकेश्वर—(१) काठ की हवेली के पीछे मकान-नं० के० ३०।४ में कालमाधव के सामने।
(२) समीप में ही मकान-नं० के० ३२।३३ में कालमर्दनेश्वर नाम से।

आम्नातकेश्वर—जैतपुरा में सिद्धेश्वर के समीप मकान-नं० जे० ६।८४ में।

आशापुरी देवी—मैदागिन तालाब के उत्तर मकान-नं० के० ५९।१६ में मैदागिन बगीचे से सटी हुई।

आशाविनायक—मीरघाट पर महावीरजी के मन्दिर में मकान नं० डी० ३।७९ में।

आश्विनेयेश्वरौ—गंगामहल के पास मकान-नं० सी-के० २।२६ में।

आषाढीश्वर—दो स्थान हैं। एक रानी बेतिया के मन्दिर के पास काशीपुरा में; दूसरा भारभूतेश्वर के समीप मकान-नं० सी-के० ५४।२४ में।

इन्द्रद्युम्न तीर्थ—रामघाट से मिला हुआ गंगाजी का भाग उत्तर की ओर।

इन्द्रद्युम्नेश्वर—वहीं।

इन्द्रेश्वर (प्रथम)—मणिकर्णिका घाट पर तारकेश्वर के समीप।

इन्द्रेश्वर (द्वितीय)—कर्कोटक वापी (नागकुँआ) के उत्तर अब लुप्त। सन् १८२२ ई० तक वहाँ पर इन्द्रेश्वर-कुण्ड था। अब वह भी लुप्त।

इन्द्रेश्वर-कुण्ड—तारा कुँआ के पास गड़हा, जो अब भर गया है।

इक्ष्वाकु-तीर्थ—रामघाट के दक्षिण मिला हुआ गंगाजी में।

ईशान तीर्थ—मणिकर्णिका तथा ललिताघाट के बीच के १३ तीर्थों में से सातवाँ तीर्थ।

ईशानेश्वर प्रथम—बाँसफाटक सिनेमा के उत्तर की गली में। मकान-नं० सी-के० ३७।४३ में।

ईशानेश्वर द्वितीय—प्रह्लादघाट पर दानेश्वर नाम से प्रसिद्ध।

उग्रलिंग—लोलार्क के समीप।

उग्रेश्वर—पहले ओंकार-क्षेत्र में। अब लक्ष्मीकुण्ड पर।

उटजेश्वर—दीनानाथ के गोला में।

उतथ्यवामदेव—मणिकर्णीश्वर के उत्तर सम्भवतः सेंधियाघाट के ऊपर वशिष्ठ-वामदेव-मन्दिर में।

उत्तरार्क—अलईपुरा में बकरिया कुण्ड के समीप लुप्त; बकरिया कुण्ड उत्तरार्क कुण्ड ही है।

उद्दालकतीर्थ—राजघाट से कुछ पूर्व गंगाजी में।

उद्दालकेश्वर—पहले ओंकार-क्षेत्र में—लुप्त। अब लोलार्क के समीप।

उद्दण्ड मुण्ड विनायक—त्रिलोचन महादेव के घेरे में वाराणसी देवी के समीप।

उद्दण्डविनायक—पंचक्रोशी में रामेश्वर के पास भुइली गाँव में।

उन्मत्त भैरव—पंचक्रोशी के रास्ते में देउरा गाँव में।

उपशांत शिव—पहले मदऊँ महल्ले में। अब अग्नीश्वर के पास मकान-नं० सी-के० २।४ में।

उमातीर्थ—मणिकर्णिका-घाट पर चक्रपुष्करिणी के उत्तर सटा हुआ गंगाजी में। ऊपर उमा देवी मकान-नं० सी-के० ७।१०२ में अम्बादेवी नाम से प्रसिद्ध।

उर्वशीकुण्ड—औसानगंज में बाबू शिवनारायण सिंह के मन्दिर के उत्तर। अब पट गया।

उर्वशीश्वर—बाबू शिवनारायण सिंह के मन्दिर में पीपल के नीचे। मकान-नं० जे० ५६।१०८ में।

ऊर्ध्वरेता—कूष्माण्डविनायक के समीप फुलवरिया गाँव में।

ऋणमोचन तीर्थ—लड्डू गड़हा। (ओंकारेश्वर के उत्तर में)

ऋष्यशृंगेश्वर—लक्ष्मीकुण्ड पर काली मठ में लुप्त। शृंगी ऋषि की मूर्त्ति वर्त्तमान। मकान-नं० डी० ५२।३५।

एकदन्त विनायक—(१) बंगाली टोला में पुष्पदन्तेश्वर के पास। पहले सम्भवतः कुछ और दक्षिण। (२) पुनःस्थापना संकठाजी की दक्षिण दीवार में वैरोचनेश्वर के पास।

ऐरावतकुंड—वृद्धकाल के आग्नेयकोण में सन् १८२५ ई० तक था, अब लुप्त।

ऐश्वर्येश्वर—कचौड़ी गली में मकान-नं० के० ३४।६० में दुर्मुख विनायक के सम्मुख।

ओंकारेश्वर
अकारेश्वर
उकारेश्वर
मकारेश्वर
बिन्दु
—मछोदरी के उत्तर पठानीटोला के पास हुक्कालेसन (ओंकारेश्वर का अपभ्रंश) महल्ले में टीले के ऊपर प्रसिद्ध। पहले यहाँ पाँच मन्दिर थे, जिनको पंचोंकार कहते थे। अब केवल तीन हैं। अकारेश्वर ए० ३३।२५ में, मकारेश्वर ए० ३३।४७ में तथा नादेश्वर अथवा ओंकारेश्वर ए० ३३।२३ में टीले के ऊपर। उकारेश्वर तथा बिन्दु लुप्त हो गये हैं।

अंगारक तीर्थ—अग्नीश्वर घाट से मिला हुआ दक्षिण में गंगाजी में।

अंगारेश्वर प्रथम—आत्मावीरेश्वर के मन्दिर में दालान में। मकान-नं० सी-के० ७।१५८।

अंगारेश्वर द्वितीय—ऋणमोचन के दक्षिण अब लुप्त।

अंगारेश्वर-कुण्ड—ऋणमोचन के पास। लुप्त।

अंगारेश्वर तृतीय—मुकुट-कुण्ड के समीप। लुप्त।

अंगारेशी चण्डी—(१) मुकुट-कुण्ड पर पंचकौड़ी देवी के नाम से वर्त्तमान स्थान, मकान-नं० बी० २७।२०। (२) कामाक्षा पर अनजानी देवी के नाम से।

अंगिरसेश्वर—(१) जंगमबाड़ी में मकान-नं० डी० ३५।७७ में। (२) स्वर्गद्वारी में मकान-नं० सी-के० १०।१६ में।

अंतकेश्वर—वृद्धकाल के घेरे में। मकान-नं० के० ५२।३९।

कचेश्वर—शुक्रेश्वर-मन्दिर का छोटा शिवलिंग; मकान-नं० डी० ८।३०।

कपर्दि विनायक—पिशाचमोचन पर। मकान-नं० सी० २१।४०।

कपर्दीश्वर—पिशाचमोचन पर। मकान-नं० सी० २१।४०।

कपालमोचन तीर्थ—ओंकारेश्वर के टीले के ठीक पश्चिम मिला हुआ तालाब, जिसको रानी-भवानी ने पक्का करवाया, यही कपालमोचन तीर्थ है। लाटभैरव का तालाब भैरवतीर्थ अथवा दण्डपाणिभैरव तीर्थ है। कपालमोचन ऋणमोचन के दक्षिण होना चाहिए। लाट-भैरव उत्तर में है। प्राचीन कपालमोचन की यात्रा सम्भव न रहने पर उसकी प्रतिष्ठा इस तीर्थ में हुई।

कपाली भैरव—पुराना स्थान तक्षककुण्ड के उत्तर में था। वहाँ लुप्त। आजकल लाटभैरव की पूजा होती है।

कपालीश्वर—प्राचीन स्थान कपालमोचन पर। अब लुप्त।

कपिलाह्रद—वरुणा पार कोटवा गाँव में। कपिलधारा नाम से प्रसिद्ध।

कपिलेश्वर—प्राचीन स्थान ओंकारेश्वर का ही नाम। दूसरी स्थापना चौखम्भा के पास कपिलेश्वर गली में मकान-नं० के० २९।१२ में।

कपिलेश्वर द्वितीय—विश्वनाथ-मन्दिर के घेरे में वायव्यकोण के छोटे मन्दिर में निकुम्भ के पास गर्त्त में।

कम्बलाश्वतर तीर्थ—मणिकर्णिकेश्वर के उत्तर गंगाजी में।

कम्बलाश्वतरेश्वर—मणिकर्णिकेश्वर के समीप। मकान-नं० सी-के० ८।१४।

कर्कोटक नाग—नागकुँआ पर। मकान-नं० जे० २३।२०६।

कर्कोटक वापी—नागकुँआ नाम से प्रसिद्ध। मकान-नं० जे० २३।२०६।

कर्कोटकेश्वर—नागाकुँआ पर। मकान-न० जे० २३।२०६।

कर्णादित्य—राजमन्दिर में मकान-न० के० २०।१४७ में।

कर्णादित्य तीर्थ—शीतला घाट तथा राजमन्दिर के नीचे की गंगा में।

करवीरेश्वर—वर्त्तमान स्थान मकान-न० डी० ५२।४१ लक्ष्मीकुण्ड पर।

करुणेश्वर प्रथम—ललिता घाट के समीप मकान-न० सी० के० ३४।१० में।

करुणेश्वर द्वितीय—लिपि-प्रमाद से काशीखण्ड में वरुणेश्वर का नाम विगड़कर करुणेश्वर हो गया। वरुणेश्वर देखिए।

करंधमेश्वर—लोलार्क के दक्षिण।

कलतीर्थ—संकटा घाट के उत्तर गंगा में। कलशेश्वर का प्राचीन मन्दिर यहीं कहीं था।

कलशेश्वर—कश्मीरीमल की हवेली के पीछे मकान-न० सी-के० ७।१०६ में।

कलिकालेश्वर—चन्द्रेश्वर के मन्दिर के सामने के दालान में कोने में गर्त्त में। मकान-नं० सी-के० ७।१२४।

कलिप्रियविनायक—साक्षीविनायक पर मनःप्रकामेश्वर में। मकान-नं० डी० १०।५०।

कश्यपेश्वर—जंगमबाड़ी में मकान-नं० डी० ३५।७७ में।

कहोलेश्वर—इनका प्रथम स्थान ज्येष्ठस्थान में था। वहाँ अब भी मकान-नं० के० ६३।२२ में हैं, परन्तु अब ये कोल्हुआ में भी हैं।

कामकुण्ड—कामेश्वर के दक्षिण पहले एक कुण्ड था, जिसका नाम कामकुण्ड था।

कामेश्वर—इस समय इनके दो मन्दिर हैं। एक तो प्राचीन स्थान पर मकान-नं० ए० २।९ में प्रसिद्ध और दूसरा घासीटोला की गली के कोने पर मकान-नं० के० ३०।१ में।

कालगंगातीर्थ—रामघाट से मिला उत्तर की ओर गंगा में तीर्थ। इसके ऊपर पेड़ के नीचे सीढ़ियों पर कालविनायक हैं।

कालभैरव—इनका प्रथम स्थान ओंकारेश्वर के पश्चिम कपालमोचन सरोवर के तट पर था। तेरहवीं शताब्दी के आसपास इनकी पुनः स्थापना इनके वर्त्तमान स्थान पर हुई। प्रसिद्ध। मकान-नं० के० ३२।२२।

कालमाधव—काठ की हवेली के पीछे मकान-नं० के ३०।४ में। वहीं आमर्दकेश्वर भी हैं।

कालविनायक—रामघाट की सीढ़ियों पर पेड़ के नीचे मकान-नं० के० २४।१० के द्वार पर।

कालकेश्वर—हनुमान-घाट पर मकान नं० बी० ४।४४ में।

कालेश्वर—दण्डपाणि गली में दण्डपाणि भैरव के मन्दिर, मकान-नं० के० ३१।४९ में। अपने प्रथम स्थान पर इन्हीं का नाम वृद्धकालेश्वर हो गया है।

कालेश्वर द्वितीय—वरणा-संगम पार। इनकी स्थापना काल नामक शिवगण ने की थी।

कालोदक कूप—वृद्धकाल का प्रसिद्ध कुँआ। मकान-नं० के० ५२।३९ में।

कालंजरेश्वर—केदार-क्षेत्र में।

कांचन वट—धर्मकूप के पास, जिसके नीचे सावित्री की मूर्त्ति है। मकान-नं० डी० २।१५।

किरातेश्वर—भारभूतेश्वर के पास। मकान-नं० सी-के० ५२।१५ में गुप्तेश्वर नाम से प्रसिद्ध अथवा समीप में ही। नक्शे में देखिए।

किरातेश्वर द्वितीय—शिवगण द्वारा स्थापित। केदारेश्वर के दक्षिण लाली घाट पर जयन्तेश्वर के समीप।

कीकसेश्वर—हड़हा महल्ले में मकान-नं० सी-के० ४८।४५ में।

कुक्कुटेश्वर—पहला स्थान ज्येष्ठस्थान। अब दुर्गाजी के घेरे में दुर्गाकुण्ड पर मकान-नं० बी २७।२।

कुक्कुटेश्वर द्वितीय—वक्रतुण्डविनायक के समीप चौंसट्ठी घाट के पास।

कुण्डोदरेश्वर—अस्सी संगम के पास अस्सी-घाट पर गंगा-तट पर बालू में दबे हुए।

कुन्तीश्वर—इनका प्राचीन नाम कुम्भीश्वर है। वरणा-संगम के पार मन्दिर है।

कुब्जादेवी—पितामहेश्वर के मन्दिर में शीतला नाम से प्रसिद्ध। मकान-नं० सी-के० ७।९२ शीतला गली में।

कुब्जाम्बरेश्वर—पितामहेश्वर के मन्दिर में। मकान-नं० सी-के० ७।९२।

कुलस्तम्भ—लाटभैरव का नाम। प्रसिद्ध।

कुबेरेश्वर—इनके दो स्थान कहे जाते हैं—(१) विश्वनाथ के घेरे में विश्वनाथजी के उत्तर कटेहरे में; (२) अन्नपूर्णाजी के मन्दिर में ईशान कोण में।

कूटदन्त विनायक—कृमिकुण्ड पर सिद्धेश्वर-मन्दिर में मकान-नं० बी० ३।३३५।

कूणिताक्ष विनायक—लक्ष्मीकुण्ड पर महालक्ष्मी के मन्दिर के पास मकान-नं० ५२।३८।

कूष्माण्ड विनायक—फुलवरिया गाँव में।

कूष्माण्डेश्वर—स्वर्गद्वारी पर।

क्रतुवाराह—देखिए यज्ञवाराहकेशव।

कृत्तिवास-कूप—दारानगर में आलमगीरी मस्जिद में। यहीं कृत्तिवासेश्वर का पुराना मन्दिर था।

कृत्तिवासेश्वर—प्राचीन स्थान पर मस्जिद; वर्त्तमान मन्दिर रत्नेश्वर के पूर्व मकान-नं० के० ४६।२३ में।

कृत्वीश्वर—कोनिया घाट के ऊपर वरणा पार पाकर-वृक्ष के नीचे।

कृष्णेश्वर—संकठा मन्दिर की दीवाल में हरिश्चन्द्रेश्वर के सामने मकान-नं० सी-के० ७।१५९।

केदारेश्वर—केदारघाट पर प्रसिद्ध। मकान-नं० बी० ६।१०२। प्राचीन पुनःस्थापना आत्मा-

वीरेश्वर के समीप बृहस्पतीश्वर-मन्दिर में हुई थी। वहाँ भी वर्त्तमान मकान-नं० सी-के० ७।१३३ में।

केशवादित्य—वरणा-संगम पर आदिकेशव-मन्दिर में।

कोकावाराह—सिद्धेश्वरी मन्दिर में घुसते ही बायें हाथ दीवाल में। मकान-नं० सी-के० ७।१२४।

कोटितीर्थ—शैलपुत्री दुर्गा के दक्षिण। सन् १८२२ ई० तक था। अब लुप्त।

कोटीश्वर—प्राचीन स्थान शैलेश्वर के दक्षिण—लुप्त। पुनः स्थापना त्रिलोचन-मन्दिर में (मकान-नं० ए० २।८०) तथा साक्षीविनायक के समीप गली में मकान-नं० डी० १०।४९ में।

कोलाहल नृसिंह—गोमठ के पास मकान-नं० सी-के० ८।१८९ में।

कंकालभैरव—गोमठ से मणिकर्णिका की सीढ़ियों पर मकान-नं० सी-के० ८।१८० में। मूर्त्ति पर पीतल का पत्र चढ़ा है।

कंगनवाली हवेली का राम-मन्दिर—मकान-नं० के० २२।२५ बिन्दुमाधव के समीप।

कंदुकेश्वर—सप्तसागर भूतभैरव महल्ले में, मकान-नं० के० ६३।२९ में।

क्रोधन भैरव—कमक्षा महल्ले में कामाक्षादेवी के मन्दिर में। मकान-नं० बी० २१।१२३।

खखोल्कादित्य—कामेश्वर महादेव के द्वार पर। मकान-नं० ए० २।९।

खर्वनृसिंह—(१) दुर्गाघाट के ऊपर की नृसिंह की मूर्त्ति। मकान-नं० के० २२।५३।
(२) ब्रह्मचारिणी दुर्गा के मन्दिर में दुर्गाघाट के ऊपर। मकान-नं० के० २२।७१।

खर्वनृसिंह तीर्थ—दुर्गाघाट के सामने गंगाजी में।

खर्वविनायक—आदिकेशव के समीप किले में।

गजकर्ण विनायक—कोतवालपुरा में ईशानेश्वर के मन्दिर में। मकान-नं० सी-के० ३७।४३।

गजविनायक—राजा दरवाजे के पास भारभूतेश्वर के मन्दिर में। मकान-नं० सी-के० ५४।४४ के पूर्व।

गणनाथ विनायक—ढुंढिराज गली के किनारे मकान-नं० सी-के० ३७।१ में।

गदातीर्थ—आदिकेशव के सामने गंगाजी में।

गभस्तीश्वर—मंगलागौरी के मन्दिर में। मकान-नं० के० २४।३४।

गरुडतीर्थ—आदिकेशव के सामने गदातीर्थ से कुछ दक्षिण।

गरुडेश्वर—प्रथम स्थान कामेश्वर मन्दिर के द्वार पर खखोल्कादित्य के छोटे मन्दिर में (मकान-नं० ए० २।९) (२) देवनाथपुरा में मकान-नं० डी० ३१।३९ ए० में।

गिरिनृसिंह—देहली विनायक के समीप।

गोकर्णकूप—गोकर्णेश्वर के समीप। मकान-नं० डी० ५०।३४ ए० के दक्षिण।

गोकर्णसरोवर—इसको पाटकर गोकर्ण का महल्ला बसा था, जिसका नाम अब काजीपुरा हो गया है। बाद में इसी का नाम हौजकटोरा पड़ा।

गोकर्णेश्वर—काजीपुरा महल्ले में सड़क पर मकान-नं० डी० ५०।३४ ए० के दक्षिण।

गोदावरी तीर्थ—दखिए गौतमकुण्ड।

गोपीगोविन्द—प्राचीन स्थान राजघाट किले में दक्षिण की ओर। अब मकान-नं० के० ४।२४ में लालघाट पर।

गोपीगोविन्दतीर्थ—राजघाट के किले के मध्य भाग के सामने गंगाजी में।

गोप्रतारेश्वर तीर्थ—प्रह्लादघाट के दक्षिण गंगाजी में। वहीं नये घाट के ऊपर गोप्रतारेश्वर।

गोप्रेक्षेश्वर—प्राचीन स्थान राजघाट के किले के दक्षिण भाग में मध्य में गोपीगोविन्द के समीप। वर्त्तमान गोपीगोविन्द के मन्दिर में लालघाट पर मकान-नं० के० ४।२४।

गोव्याघ्रेश्वर—दशाश्वमेध घाट पर। उनके सामने गंगाजी में गोव्याघ्रेश्वर-तीर्थ।

गौतम-कुण्ड—गोदौलिया के पोखरे का नाम। यही गोदावरी-तीर्थ था, जो अब लुप्त हो गया है।

गौतमेश्वर—गोदौलिया पर काशिराज के शिवाले के घेरे में पीछे की ओर। मकान-नं० डी० ३७।३३।

गौरीकुण्ड—इसी का नाम हरंपाप भी था। वह गंगाजी में केदारघाट पर है। प्रतीकात्मक कुण्ड घाट पर भी है।

गौरीकूप—काशीपुरा में काशीदेवी के मन्दिर के दक्षिण का कुँआ। इसका दूसरा नाम अप्सरस कूप भी है।

गंगाकेशव—वर्त्तमान स्थान ललिताघाट पर मकान-नं० डी० १।६७ में। प्राचीन स्थान चौंसट्ठी घाट के दक्षिण गंगामहल-घाट पर लुप्त।

गंगाकेशवतीर्थ—गंगामहल-घाट के सामने गंगाजी में।

गंगादित्य—ललिताघाट पर मकान-नं० डी० १।६७ में।

गंगेश्वर—(१) ज्ञानवापी के पूर्व पीपल के नीचे लुप्त। (२) पशुपतीश्वर के पूर्व मकान-नं० सी-के० १३।७९ में।

गन्धर्व सरोवर—नागकुँआ के पश्चिम का कुण्ड। समीप के गन्धर्वेश्वर लुप्त। इसका वर्त्तमान नाम भीरन सागर है।

घण्टाकर्णगण—कर्णघण्टा तालाव के दक्षिण। पानी भर जाने से अब लुप्त। मकान-नं० के० ६०।६७ में।

घण्टाकर्णह्लद—कर्णघण्टा तालाव। प्रसिद्ध मकान-नं० के० ६०।६७ में।

घण्टकर्णेश्वर—कुएँ के पास कण्ठेश्वर नाम से अब प्रसिद्ध। मकान-नं० के० ६०।६७ में।

चक्रतीर्थ—आदिकेशव के सामने गंगाजी में।

चक्रपुष्करिणी—मणिकर्णिका का नाम। मणिकर्णिका-घाट पर जो कुण्ड है, उसी की इस नाम से आराधना होती है।

चतुर्दन्तविनायक—ध्रुवेश्वर के मन्दिर के समीप।

चतुर्मुखेश्वर—वृद्धकाल के घेरे में। मकान-नं० के० ५२।३९।

चतुर्वक्त्रेश्वर—शकरकन्द गली में मकान-नं० डी० ७।१९ में।

चतुःसागरवापी—इसका नाम चतुःसमुद्रकूप भी है। काशीपुरा की सड़क पर का कुँआ। मकान-नं० के० ६३।४६ के सामने।

चर्चिका देवी—पंचगंगेश्वर से मंगलागौरी जाते हुए सीढ़ी चढ़ते ही मकान-नं० के० २३।७२ में।
चण्डभैरव—दुर्गाजी के घेरे में कालीजी के मन्दिर में। मकान-नं० बी० २७।२।
चण्डीचण्डीश्वर—कालिका गली में मकान-नं० डी० ८।२७ में पुरानी भग्न तथा नवीन दोनों मूर्त्तियाँ हैं।
चण्डीश्वर—सदर बाजार में चण्डीदेवी के मन्दिर में।
चन्द्रकूप—सिद्धेश्वरी महल्ले में मकान-नं० सी-के० ७।१२४ में।
चन्द्रतीर्थ—संकठाघाट के उत्तर गंगाजी में।
चन्द्रेश्वर—चन्द्रकूप के समीप उसी मकान-नं० सी-के० ७।१२४ में।
चामुण्डादेवी—भदैनी में। लोलार्क के पास अर्कविनायक के मन्दिर में। चामुण्डा मुण्डरूपिणी।
चित्रकूप—चित्रगुप्तेश्वर में राजादरवाजे के समीप मकान-नं० सी-के० ५७।७७ में।
चित्रगुप्तेश्वर—राजादरवाजे के समीप। मकान-नं० सी-के० ५७।७७ में। चित्रगुप्त की भी मूर्त्ति।
चित्रग्रीवा देवी—केदारेश्वर के समीप। मकान-नं० बी० १४।११८ में भग्नावस्था में।
चित्रघण्ट विनायक—इनके दो स्थान कहे जाते हैं: (१) रानीकुआँ पर सड़क के किनारे मकान-नं० सी-के० २३।२५ के पास छोटे संगमरमर के मन्दिर में, तथा (२) जगन्नाथ दास बल्भद्रदास की दूकान के चबूतरे पर मकान-नं० सी-के० ३९।७४—७६ में।
चित्रघण्टा देवी—लखीचौंतरे के सामने गली में मकान-नं० सी-के० २३।३४ में।
चित्रांगदेश्वर—केदारेश्वर के समीप मकान-नं० बी० १४।११८ में चित्रग्रीवा देवी के साथ ही।
चिन्तामणि विनायक प्रथम—सेंधियाघाट के ऊपर वशिष्ठवामदेव के मन्दिर के द्वार पर मकान-नं० सी-के० ७।१६१।
चिन्तामणि विनायक द्वितीय—ईसरगंगी महल्ले में जागेश्वर-मन्दिर की बाहरी दीवाल में। मकान-नं० के० ६६।४।
चिन्तामणि विनायक तृतीय—देखिए लम्बोदर विनायक।
छागलेश्वर—पितृकुण्ड पर। मकान-नं० सी० १८।५२।
छागवक्त्रगण—कपिलधारा पर छागवक्त्रेश्वरी मन्दिर में।
छागवक्त्रेश्वरी देवी—कपिलधारा पर।
जटीश्वर—पातालेश्वर नाम से प्रसिद्ध मकान-नं० डी० ३२।११७ के द्वार पर।
जनकेश्वर—(१) वृद्धकाल के घेरे में मकान-नं० के० ५२।३९ में। (२) संकठा जी के पास।
जनकेश्वर द्वितीय—दुर्गाकुण्ड के पश्चिम सुकुलपुर में अत्यन्त प्राचीन मूर्त्तियों के साथ।
जमदग्नीश्वर—कालभैरव के पूर्व मकान-नं० के० ३२।५७ में।
जम्बुकेश्वर—बड़े गणेश पर मकान-नं० के० ५८।१०३ में।
जयन्तलिंग—केदारेश्वर के दक्षिण लालीघाट पर।
जयन्तेश्वर—भूतभैरव पर। मकान-नं० के० ६३।२७।
जरासन्धेश्वर—मीरघाट पर मकान-नं० डी० ३।७९ में। प्राचीन स्थान लुप्त।

जरासन्धेश्वर तीर्थ—मीरघाट पर गंगाजी में।

जललिंग—मणिकर्णिका श्मशान पर जलशायी घाट के सामने गंगाजी के भीतर। चितास्थ शव का रुद्रांश इनको ही अर्पित होता है।

जानकी-कुण्ड—सीताकुण्ड नाम से प्रसिद्ध लक्सा महल्ले में।

जांगलेश्वर—मुकुटकुण्ड पर अथवा दुर्गाजी के मन्दिर में अथवा कामक्षा पर अज्ञात।

जैगीषव्य गुहा—जागेश्वर के दक्षिण मठ में। मकान-नं० जे० ६६।३।

जैगीषव्येश्वर—(१) जैगीषव्य-गुहा के द्वार पर मकान-नं० जे० ६६।३ में। (२) भूतभैरव के सामने उसी मन्दिर में। मकान-नं० के० ६३।२८।

ज्येष्ठविनायक—(१) ज्येष्ठेश्वर के मन्दिर में। सप्तसागर महल्ला। मकान-नं० के० ६२।१४४। (२) लालीघाट पर पुनः स्थापित।

ज्येष्ठागौरी—मकान-नं० के० ६३।२४ मे भूतभैरव पर।

ज्येष्ठावापी—इसी स्थान पर। लुप्त।

ज्येष्ठेश्वर—ज्येष्ठ विनायक के समीप मकान-नं० के० ६२।१४४ में।

ज्योतिरूपेश्वर—मणिकर्णीश्वर के समीप काकाराम की गली में। स्वामी बलजीत परमार्थ-भवन, मकान-नं० सी-के० ८।१० में।

ज्वालामालीनृसिंह—कपिलधारा के समीप कोटवा गाँव में।

ढुंढितीर्थ—ढुंढिराज के दक्षिण लुप्त। गंगाजी में मणिकर्णिका-घाट के समीप।

ढुंढिराज विनायक—१. प्रसिद्ध ढुंढिराज गली में; २. सटे हुए रानी भवानी के मन्दिर में (मकान-नं० सी-के० ३५।२८) पंचमुखी; ३. समीप में मकान-नं० सी-के० ३७।१८ में पंचमुखी।

तत्त्वेश—धर्मकूप के समीप मकान-नं० डी० ३।९७ में।

तक्षक-कुण्ड—वासुकिकुण्ड के पश्चिम लुप्त।

तक्षकेश्वर—पियरी महल्ले में तकिया औघड़नाथ के समीप। मकान-नं० के० ६४।११३।

ताम्रवाराह—ब्रह्मनाल पर नीलकण्ठ के समीप मकान-नं० सी-के० ३३।५७ में।

ताम्रवाराह तीर्थ—मंगलागौरी घाट तथा रामघाट के बीच में गंगाजी में।

तारकतीर्थ—मणिकर्णिका पर तारकेश्वर के सामने गंगाजी में।

तारकेश्वर प्रथम—ज्ञानवापी के पूर्व गौरीशंकर-मन्दिर के नीचे।

तारकेश्वर द्वितीय—तारकतीर्थ के ऊपर मणिकर्णिका-घाट पर।

तारकेश्वर तृतीय—केदारघाट पर बुर्जी के नीचे। शिवगण द्वारा स्थापित।

तार्क्ष्यकेशव—आदिकेशव में। लुप्त।

तार्क्ष्यतीर्थ—आदिकेशव के सामने।

तिलपर्णेश्वर—दुर्गाजी के घेरे में। इनके मन्दिर के द्वार पर बलि चढ़ती है। मकान-नं० बी० २७।२।

तिलभाण्डेश्वर—पाण्डे हवेली महल्ले में प्रसिद्ध।

तुंगेश्वर—धन्वन्तरीश्वर नाम से वृद्धकाल के घेरे में। मकान-नं० के० ५२।३९।

त्वाष्ट्रेश्वर—विश्वकर्मेश्वर नाम से बृहस्पतीश्वर के मन्दिर में। मकान-नं० सी-के० ७।१३३।

दत्तात्रेयेश्वर प्रथम—वर्तमान स्थान (१) मकान-नं० सी-के० ३४।३६ दत्तात्रेयेश्वर मठ में। (२) नारदघाट पर।

दत्तात्रेयेश्वर द्वितीय—मणिकर्णिका-घाट पर।

दत्तात्रेयेश्वर तीर्थ—राजघाट के किले के सामने गंगाजी में।

दशहरेश्वर—दशाश्वमेध घाट पर शीतलाजी के मन्दिर में।

दशाश्वमेध तीर्थ—दशाश्वमेध घाट पर से अहल्याबाई घाट तक गंगाजी में।

दशाश्वमेधेश्वर—दशाश्वमेध घाट पर शीतलाजी के मन्दिर में।

दक्षेश्वर—वृद्धकाल के मन्दिर में। (मकान-नं० के० ५२।३९)

दण्डखात तीर्थ—पियाला शहीद का कुण्ड—लुप्त।

दण्डपाणि—१. ढुंढिराज गली में मकान-नं० सी-के० ३६।१० में गली के कोने पर।
२. कालभैरव-मन्दिर के पीछे, मकान-नं० के० ३२।२६ में क्षेत्रपाल नाम से।
३. शिवलिंग रूप से विश्वनाथजी के घेरे में वैकुण्ठेश्वर के पश्चिम के मन्दिर में।

दण्डपाणिभैरव—महाश्मशान-स्तम्भ की पुनः स्थापना। मकान-नं० के० ३१।४९ में।

दन्तहस्त विनायक—बड़े गणेश-मन्दिर में।

दण्डीश्वर—देहली विनायक के पूर्व पंचक्रोशी मार्ग पर।

दण्डीश्वर द्वितीय—दण्डखात तीर्थ के दक्षिण लुप्त।

दाल्भ्येश्वर—मानमन्दिर-घाट के ऊपर। मकान-नं० डी० १६।२८।

दाक्षायिणीश्वर—सतीश्वर नाम से प्रसिद्ध। मकन-नं० के० ४६।३२।

दिलीपेश्वर—देवनाथपुरा में। समीप का दिलीपतीर्थ लुप्त।

दिवोदास—इनकी स्वप्न देकर निकली हुई मूर्त्ति परशुरामेश्वर के समीप मकान-नं० सी-के० १४।४३ में है।

दिवोदासेश्वर—(१) विश्वभुजा गौरी के मन्दिर में मकान-नं० डी० २।१३। (२) परशुरामेश्वर के पास पशुपतीश्वर की गली में मकान-नं० सी-के० १३।७६ पिण्डिका लुप्त।

दीप्ताशक्ति—सूर्यकुण्ड पर साम्बादित्य के समीप।

दुर्गविनायक—दुर्गाजी के घेरे में टीले के पूर्व। मकान-नं० बी० २७।२।

दुर्गा—दुर्गाकुण्ड पर प्रसिद्ध। वहीं दुर्गाकुण्ड प्रसिद्ध। मकान-नं० बी० २७।२।

दुर्मुख विनायक—कचौड़ीगली में मकान-नं० सी-के० ३४।६० में।

दुर्वासेश्वर (प्रथम)—रानी बेतिया के मन्दिर के घेरे में आषाढीश्वर के पास।

दुर्वासेश्वर (द्वितीय)—कामेश्वर मन्दिर में। मकान-नं० ए० २।९।

दृमिचण्डेश्वर—जैतपुरा में नागकुआँ के दक्षिण 'मल्लू हलवाई का मन्दिर' नाम से प्रसिद्ध। मकान-नं० जे० ११।१४८ समीप का दृमिचण्डेश्वर-कुण्ड लुप्त।

देवदेव—ढुंढिराज गली में। संन्यासी कॉलेज में। मकान-नं० सी-के० ३७।१२।

देवयानीश्वर—नकुलीश्वर नाम से प्रसिद्ध। विश्वनाथजी के समीप अक्षयवट की जड़ में मकान-नं० सी-के० ३५।२०।

देहली विनायक—पंचक्रोशी मार्ग पर। प्रसिद्ध।

द्रौपदादित्य—विश्वनाथजी के समीप अक्षयवट के पास। मकान-नं० सी-के० ३५।२०।

द्रौपदी—द्रौपदादित्य के निकट। मकान-नं० सी-के० ३५।२०।

द्वारविनायक—पाँचोपाण्डव मन्दिर में। मकान-नं० सी-के० २८।१०।

द्वारेश्वर—वर्त्तमान काल में दुर्गाजी के मन्दिर के दक्षिण के मन्दिर में। प्राचीन स्थान कामाक्षा पर।

द्वारेश्वरी—वहीं जलहरेश्वरी देवी नाम से प्रसिद्ध।

द्विमुखविनायक—सूर्यकुण्ड पर साम्बादित्य के पास।

धनदेश्वर—धनेसरा के समीप बाबा नृसिंह दास के मठ में। मकान-नं० जे० ४।९१।

धनदेश्वरकुण्ड—धनेसरा तालाव।

धन्वन्तरिकूप—वृद्धकाल के मन्दिर के द्वार पर सड़क के किनारे।

धरणिवाराह—देखिए क्षोणीवाराह।

धरणिवाराह-तीर्थ—देखिए क्षोणीवाराह-तीर्थ।

धर्मकूप—मीरघाट के ऊपर थोड़ी दूर पर धर्मेश्वर के घेरे में। मकान-नं० डी० २।१० के पूर्व।

धर्मपीठ—धर्मेश्वर के चारों ओर का क्षेत्र, जिसकी सीमा पर पूर्व में वैराग्येश, पश्चिम में धरिणीश, उत्तर में ऐश्वर्येश, दक्षिण में तत्त्वेश तथा ईशान कोण में ज्ञानेश्वर हैं। ये धर्मेश्वर के पंचवक्त्र कहे जाते हैं।

धर्मेश्वर प्रथम—धर्मकूप महल्ले में मकान-नं० डी० २।२१ में।

धर्मेश्वर द्वितीय—कामेश्वर के दक्षिण-क्षेत्र में लुप्त।

धर्मेश्वर तृतीय—भद्रेश्वर के नैर्ऋत्य अथवा दक्षिण-क्षेत्र में लुप्त। यह भी सम्भव है कि द्वितीय तथा तृतीय धर्मेश्वर एक ही हों।

धर्मेश्वर-कुण्ड—द्वितीय धर्मेश्वर के समीप लुप्त।

धौतपापेश्वर—पंचगंगा घाट पर पुश्ते के नीचे।

ध्रुवकुण्ड—ध्रुवेश्वर के समीप। लुप्त। यही मिश्रक तीर्थ और मिसिर पोखरा नाम से प्रसिद्ध था।

ध्रुवेश्वर—सनातनधर्म कॉलेज के समीप ध्रुवेश्वर महल्ले में।

नकुलीश्वर—विश्वनाथजी के मन्दिर के पश्चिम अक्षयवट में। मकान-नं० सी-के० ३५।२०।

नरनारायणकेशव—महथा-घाट पर वदरीनारायण नाम से प्रसिद्ध मकान-नं० ए० १।७२।

नरनारायण-तीर्थ—राजघाट के किले के मध्य भाग के समीप गंगाजी में।

नर्मदा तीर्थ—चौसट्ठी घाट के उत्तर गंगाजी में।

नर्मदेश्वर प्रथम—नर्मदा तीर्थ के ऊपर लुप्त।

नर्मदेश्वर द्वितीय—त्रिलोचन-मन्दिर के पीछे। मकान-नं० ए० २।७९।

नलकूबर-कूप—कामेश्वर के मन्दिर के सामने।

नलकूबरेश्वर प्रथम—प्राचीन नाम पंचालकेश्वर, जो कामेश्वर के पूर्व में थे, लुप्त। इनकी पुनः स्थापना घासीटोला में मकान-नं० के० ३०।६ में हुई। वहाँ वर्त्तमान।

नलकूबरेश्वर द्वितीय—मणिकर्णीश्वर के समीप। पितामहेश्वर के गह्वर में। मकान-नं० सी-के० ७।९२।

नक्षत्रेश्वर—आदिकेशव के निकट।

नागेश्वर—(१) गायघाट पर का शिवलिंग; (२) महथाघाट पर मकान-नं० ए० १।७२ में।
(३) भोंसलाघाट पर मकान-नं० सी-के० १।२१ से सटे मन्दिर में प्रसिद्ध।

नागेश्वर-तीर्थ—गायघाट तथा महथाघाट के सामने गंगाजी में।

नागेशविनायक—१. घोसलाघाट के समीप नागेश्वर-मन्दिर में (मकान-नं० सी-के० १।२१ के पास) तथा २. महथाघाट पर मकान-नं० ए० १।७२ में।

नाभितीर्थ—देखिए ब्रह्मनाल।

नारदकेशव—प्रह्लाद घाट पर। अब लुप्त।

नारदतीर्थ—आदिकेशव से कुछ पश्चिम गंगाजी में।

नारदेश्वर—भद्रेश्वर क्षेत्र में लुप्त। वर्त्तमान नारद-घाट के ऊपर मकान-नं० डी० २५।१२ में।

नारदेश्वर कुण्ड—भद्रेश्वर-क्षेत्र में लुप्त।

नारायणी देवी—गोपीगोविन्द के पश्चिम। सम्भवतः शीतला नाम से मकान-नं० के० २०।१९ में।

निकुम्भेश्वर—विश्वनाथजी के घेरे में पार्वती देवी के मन्दिर में कोने में गड़हे में।

निगड़भंजनी देवी—देखिए 'बन्दी देवी'।

निर्वाण केशव—(१) भदैनी में लोलार्क के समीप; (२) वृद्धकाल-मन्दिर के दक्षिण में।

निवासेश्वर—काशीपुरा की सड़क पर मकान-नं० के० ६३।४६ के सामने—अब लुप्त।

निष्कलंकेश्वर—ढुंढिराज गली में मकान-नं० सी-के० ३५।३४ में।

निष्पापेश्वर—केदारघाट पर कुण्ड के समीप।

नीलकण्ठ—प्रथम स्थान केदार के दक्षिण मकान-नं० बी० ६।९९ में। द्वितीय स्थान ब्रह्मनाल के समीप मकान-नं० सी-के० ३३।२३ में।

नीलकण्ठ द्वितीय—कृमिकुण्ड के उत्तर सड़क पर मकान-नं० बी० १०।३२ में।

नीलग्रीव तीर्थ—राजघाट से थोड़ा पूरब गंगाजी में। काशीखण्ड में इसका नाम एक जगह हयग्रीव-तीर्थ भी कहा गया है।

नैर्ऋतेश्वर—पुष्पदन्तेश्वर के समीप।

नन्दिकेश्वर—ज्ञानवापी के उत्तर लुप्त।

पद्मतीर्थ—आदिकेशव के सामने गंगा में।

परद्रव्येश्वर—ढुंढिराज गली में मकान-नं० सी-के० ३५।३४ में।

पर्वत तीर्थ—वीरेश्वर घाट के सामने गंगाजी में।

पर्वतेश्वर—वीरेश्वर घाट की सीढ़ियों पर मकान-नं० सी-के० ७।१५० में।

परशुराम-तीर्थ—नन्दन साहु के महल्ले में परशुरामेश्वर के समीप लुप्त।

परान्नेश—ढुंढिराज गली में मकान-नं० सी-के० ३५।३४ में।

पराशरेश्वर—कर्णघण्टा तालाब के दक्षिण व्यासेश्वर के समीप। मन्दिर अब जलमग्न है।

पवनेश्वर—भूतभैरव पर मकान-नं० के० ६३।१४ में।

पशुपति-तीर्थ—मणिकर्णिका-घाट के सामने गंगाजी में।
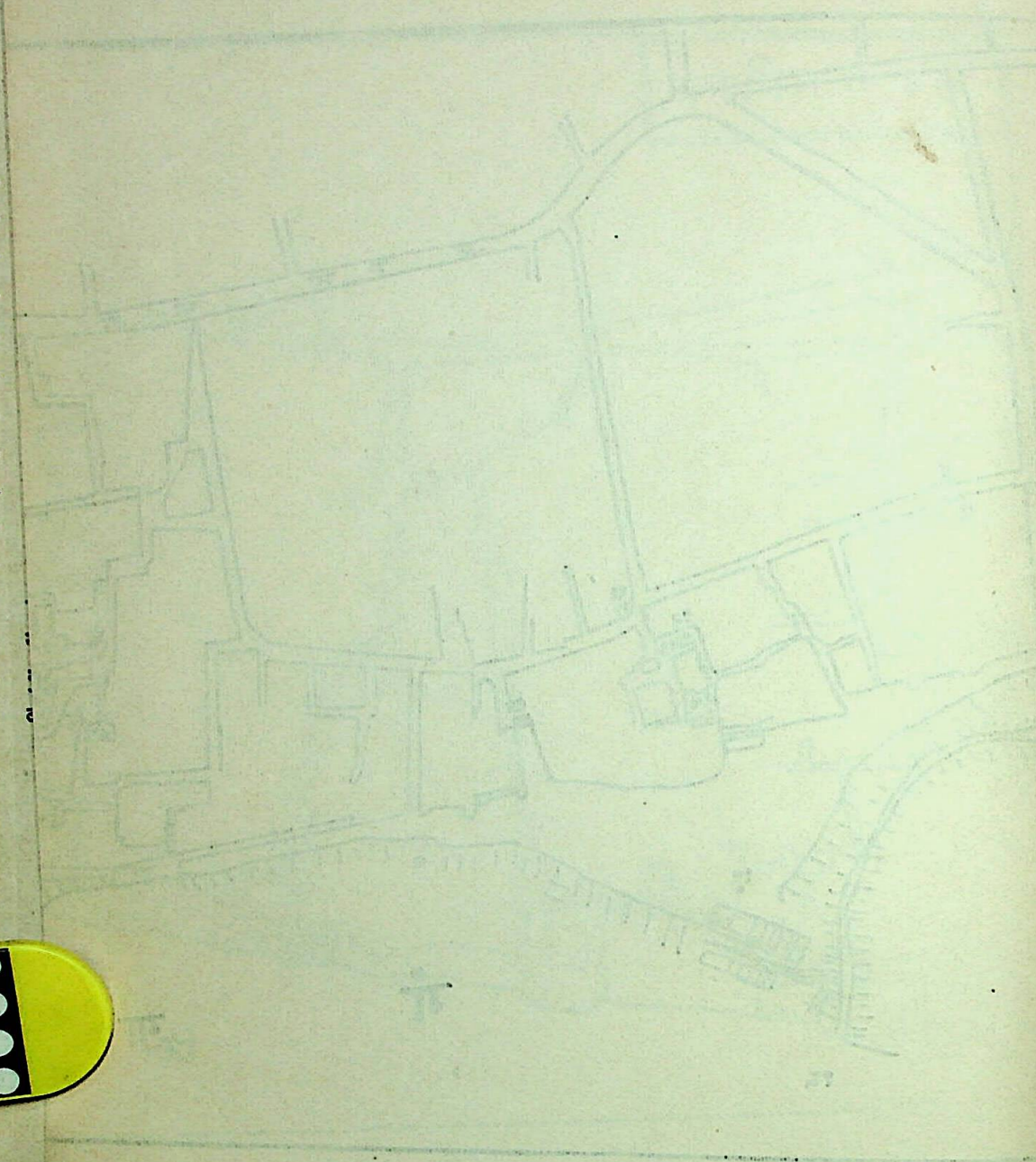
पशुपतीश्वर—पशुपतेश्वर महल्ले में मकान-नं० सी-के० १३।६६ में। प्रसिद्ध।

पंचचूड़ा सरोवर—कर्णघण्टा तालाव के उत्तर सप्तसागर महल्ले में—अब लुप्त।

पंचनदतीर्थ—पंचगंगाघाट का दक्षिण का भाग, जिसको कोनियाघाट कहते हैं। वहीं पर मढ़ी में शेषशायी की मूर्त्ति। पंचगंगा घाट के प्रथम निर्माण का शिलालेख भी इसी में था, जो अब लुप्त हैं।

पंचनदेश्वर—तैलंग मठ के समीप विन्दुमाधव के रास्ते पर मकान-नं० के० २२।११ में पंच-गंगेश्वर नाम से प्रसिद्ध।

पंचमुद्रपीठ—पहले स्वर्लीनेश्वर के उत्तर। अब संकठाजी के मन्दिर तथा आसपास का क्षेत्र।

पंचास्य विनायक—पिशाचमोचन पर मकान-नं० सी० २१।४०।

पंचाक्षेश्वर—त्रिलोचन के समीप रुद्राक्षेश्वर नाम से प्रसिद्ध। मकान-नं० ए० २।५६।

पादोदक कूप—पिलपिला का कुँआ नाम से प्रसिद्ध। त्रिलोचन की गली से पूर्व मकान-नं० ए० ३।८७ में।

पादोदक तीर्थ—वरणा-संगम। आदिकेशव के सामने गंगाजी में।

पापभक्षण—कालभैरव के दक्षिण गली में मकान-नं० के० ३२।३६ में।

पार्वतीगौरी—आदिमहादेव के मन्दिर में। त्रिलोचन के पिछवाड़े।

पार्वतीश्वर—आदिमहादेव के मन्दिर में।

पाराशर्येश्वर—लोलार्क के समीप मकान-नं० बी० २।२१ में।

पाशपाणिविनायक—सदर बाजार में प्रसिद्ध।

पाशुपततीर्थ—मणिकर्णिका के दक्षिण गंगाजी में।

पाण्डवेश्वर—(१) ज्ञानवापी के उत्तर फाटक के पास मकान-नं० सी-के० २८।१० में। (२) संकठाजी के दक्षिण की गली में। (३) दण्डपाणि भैरव में मकान-नं० के० ३१।४९।

पिचिंडिलविनायक—प्रह्लादघाट पर मकान-नं० ए० १०।८० में फाटक के भीतर।

पितामहतीर्थ—मणिकर्णिका-घाट के दक्षिण भाग में गंगाजी में।

पितामहेश्वर प्रथम—कश्मीरीमल की हवेली के पास शीतलागली में मकान-नं० सी-के० ७।९२ में फाटक के भीतर।

पितामहेश्वर द्वितीय—ज्येष्ठेश्वर में लुप्त।

पितामहेश्वर तृतीय—धर्मेश्वर के समीप लुप्त।

पितृकुण्ड—पितरकुण्डा नाम से प्रसिद्ध।

पित्रीश्वर—पितृकुण्ड पर। मकान-नं० सी० १८।४७।

पिप्पलादतीर्थ—मंगलागौरी घाट के दक्षिण गंगा में।

पिप्पलादेश्वर—विन्दुमाधव के वर्त्तमान मन्दिर के पास वृक्ष के नीचे—लुप्त।

पिलप्पिला-तीर्थ—त्रिलोचनघाट पर गंगाजी में।

पिशाचमोचनतीर्थ—प्रसिद्ध।

पिशाचेश्वर—पिशाचमोचन तालाव के पास। मकान-नं० सी० २१।४०।

पिशंगिलातीर्थ—त्रिलोचनघाट के पूर्वोत्तर का मिला हुआ घाट।

पिंगलेश्वर—पिशाचमोचन पर। मकान-नं० सी० २१।३९ में नकुलेश्वर नाम से प्रसिद्ध।

पुलस्त्येश्वर—(१) जंगमबाड़ी मठ के द्वार पर मकान-नं० डी० ३५।७७। (२) स्वर्गद्वारी पर मकान-नं० सी-के० ३३।४३ में।

पुलहेश्वर—पुलस्त्येश्वर के सामने मकान-नं० सी-के १०।१६ के चौतरे पर।

पुष्पदन्तेश्वर—देवनाथपुरा में मकान-नं० डी० ३२।१०२ में।

पृथुतीर्थ—खजुरी गाँव में।

पृथ्वीश्वर—वहीं पिसनहरिया पर।

प्रचण्ड नरसिंह—दुर्गाजी के मन्दिर में—लुप्त। अस्सी-संगम पर जगन्नाथजी में नृसिंहमूर्त्ति का पूजन होता है।

प्रणवतीर्थ—(१) त्रिलोचनघाट से उत्तर गंगाजी में। (२) राजघाट के किले के सामने गंगाजी में।

प्रणवविनायक—त्रिलोचनघाट पर ऊपर हिरण्यगर्भेश्वर के मन्दिर में।

प्रतिग्रहेश्वर—ढुंढिराज गली में मकान-नं० सी-के० ३५।३४ में।

प्रपितामहेश्वर—पितामहेश्वर के मन्दिर में कश्मीरी मल की हवेली के पास शीतला गली में। मकान-नं० सी-के० ७।९२ में फाटक के भीतर।

प्रभासतीर्थ—(१) सोमेश्वर घाट पर पाण्डेघाट के समीप। (२) अब सोमेश्वर के सम्मुख गंगाजी में मानमन्दिर-घाट पर। (३) ऋणमोचन-तीर्थ के ईशानकोण में जो सरोवर नौआ पोखरा नाम से प्रख्यात है, उसका भी प्रभासतीर्थ का माहात्म्य है। इसका नाम पापमोचन तीर्थ है।

प्रमोदविनायक—नैपाली खपड़ा में मकान-नं० सी-के० ३१।१६ में।

प्रयागतीर्थ—दशाश्वमेधघाट के उत्तर प्रयागघाट। इसी स्थान पर प्रयाग-लिंग तथा शूलटंकेश्वर के मन्दिर हैं और पूर्ववाहिनी यमुना का सोता गंगाजी में गिरता है।

प्रयागमाधव—दशाश्वमेधघाट पर ऊपर मकान-नं० डी० १७।१११ में।

प्रयागलिंग—(१) आदिकेशव पर चतुर्मुखलिंग आदिम स्थान; (२) दशाश्वमेध घाट पर शूलटंकेश्वर के समीप चतुर्मुखलिंग, जिसको लोग ब्रह्मेश्वर कहते हैं, तथा (३) मढ़िया घाट तथा ककरहाघाट के बीच में भी पुनः स्थापित।

प्रयागस्रोत—प्रयागघाट पर पूर्ववाहिनी यमुना का सोता, जो पृथ्वी के नीचे से बहता हुआ गंगाजी में गिरता है।

प्रह्लादकेशव—प्रह्लाद-घाट पर। मकान-नं० ए० १०।८०।

प्रह्लादतीर्थ—राजघाट के किले के मध्य भाग के सामने गंगाजी में।

प्रह्लादेश्वर—प्रह्लादघाट पर। मकान-नं० ए० १०।८०।

प्रीतिकेश्वर—साक्षीविनायक के पिछवाड़े मकान-नं० डी० १०।८ में।

बलिकुण्ड—काशीखण्ड में इसका नाम बन्दीकुण्ड है। घनेसरा के दक्षिण मुहम्मद शहीद गड़हा, जो सन् १८२२ ई० तक था, अब लुप्त। समीप के बलीश्वर या बन्दीश्वर भी लुप्त।

बलिवामन—आदिकेशव के पास उत्तर के घेरे में।

बन्दीतीर्थ—दशाश्वमेध-घाट पर। लुप्त।

बन्दीदेवी—दशाश्वमेध घाट पर मकान-नं० डी० १७।१०० में।

बाणतीर्थ—प्रह्लादघाट के समीप गंगाजी में।

बाणेश्वर प्रथम—स्वर्लीनेश्वर के ईशान कोण में। लुप्त।

बाणेश्वर द्वितीय—अस्सी महल्ले में असि-संगमेश्वर के मन्दिर में। मकान-नं० बी० २।१७७।

बाणेश्वर तृतीय—मणिकर्णेश्वर के समीप लुप्त। पुनःस्थापना सुखलालसाह महल्ले में मकान-नं० सी-के० १३।१७ में। वहीं बाणासुर की हजार हाथोंवाली मूर्त्ति।

बालचन्द्रकूप—प्राचीन नाम तालकर्ण कूप। औसानगंज के महल में। मकान-नं० के० ५६।११४।

बालचन्द्रेश्वर—प्राचीन नाम तालकर्णेश्वर। औसानगंज के महल में। मकान-नं० के० ५६।११४।

विन्दुतीर्थ—लक्ष्मणबाला-घाट के सामने गंगाजी में।

बिन्दुमाधव—इनके तीन मन्दिर वर्त्तमान हैं: (१) विन्दुमाधव-घाट के ऊपर पंचगंगा पर मकान-नं० के० २२।३३ में; (२) लालघाट के समीप बुचई टोला में मकान-नं० के० ४।४ में; (३) भाट की गली में मकान-नं० के० ३३।१८ में; (४) ब्रह्माघाट पर मठ में।

विन्दुविनायक—विन्दुमाधव-मन्दिर में पंचगंगा-घाट पर मकान-नं० के० २२।३३ में।

बुधेश्वर—आत्मावीरेश्वर के घेरे में मकान-नं० सी-के० ७।१५८ में दालान में अंगारेश्वर के उत्तर।

बृहस्पतीश्वर—आत्मावीरेश्वर के द्वार के सामने मकान-नं० सी-के० ७।१३३ में प्रसिद्ध।

ब्रह्मतीर्थ—बालमुकुन्द के चौहट्टे के ब्रह्मेश्वर के समीप। लुप्त।

ब्रह्मनालतीर्थ—मणिकर्णिकाघाट के दक्षिण भाग में।

ब्रह्मावर्त्तकूप—ढुंढिराज गली में अपारनाथ मठ में। मकान-नं० सी-के० ३७।१२।

ब्रह्मेश्वर—इनके तीन मन्दिर हैं: (१) बालमुकुन्द के चौहट्टे में मकान-नं० डी० ३३।६६-६७ में; (२) ब्रह्माघाट पर मकान-नं० के० २२।८२ में, तथा (३) वहीं मकान-नं० के० २२।८९ में। ब्रह्माघाट की सीढ़ियों के पूर्व दालान में ब्रह्माजी की तेरहवीं शताब्दी की मूर्त्ति, जिसके कारण इस घाट का नाम पड़ा।

ब्राह्मीदेवी—बालमुकुन्द के चौहट्टे में ब्रह्मेश्वर के मन्दिर में। मकान-नं० डी० ३३।६६-६७।

ब्राह्मीश्वर—शकरकन्द-गली में मकान-नं० डी० ७।६ में।

भगीरथलिंग—मणिकर्णिका के दक्षिण में बाबा विश्वनाथ सिंह के लकड़ी के अड़ार में। मकान-नं० सी-के० १०।४९ के सामने।

भगीरथ विनायक—करुणेश्वर के समीप लाहौरी टोले में।

भद्रकर्णह्रद—पंचक्रोशी मार्ग पर रामेश्वर के निकट भुइली गाँव में।

भद्रकर्णेश्वर—पंचक्रोशी मार्ग पर रामेश्वर के निकट भुइली गाँव में वहीं पर।

भद्रकाली—(१) मध्यमेश्वर-मन्दिर में; (२) उसीके उत्तर मकान-नं० के० ५३।१०७ में।

भद्रवनी कुण्ड—भवनिया गड़ही। सम्भवतः यही महासिद्धीश्वर कुण्ड है।

भद्रह्रद (भद्रदोह)—प्राचीन ह्रद मदऊँ महल्ले में था, वहाँ लुप्त। वर्त्तमान भोंसलाघाट पर नागेश्वर के नीचे घाट पर पक्का कुण्ड, जो बालू से ढका रहता है।

भद्रेश्वर—प्राचीन स्थान भदऊँ में। वहाँ अब मस्जिद है। वर्त्तमान स्थान अग्नीश्वर घाट के ऊपर गली में मकान-नं० सी-के० २।४ में उपशान्तेश्वर-मन्दिर में।

भरतेश्वर—हनुमान-घाट पर मकान-नं० बी० ४।९ में।

भवतीर्थ—ब्रह्मनाल के उत्तर गंगाजी में। ऊपर ताम्रवाराह की मूर्त्ति।

भवानी गौरी—वाराणसी की प्रधान देवी, जो प्राचीन काल की अन्नपूर्णा हैं। अन्नपूर्णाजी की बगल के राम-मन्दिर में जगन्नाथजी तथा कालीजी के बीच में। प्राचीन काल में यहाँ पर एक कुण्ड भी था, जो भवानी-तीर्थ कहलाता था।

भवानी-तीर्थ—(१) इस समय भवानी-तीर्थ अन्नपूर्णाजी के पास के राम-मन्दिर में कालीजी के सामने के दालान में फर्श के नीचे पक्के कुण्ड के रूप में दबा पड़ा है। (२) गंगाजी में मणिकर्णिका-घाट के समीप।

भवानीश्वर—भवानी गौरी के पास चबूतरे पर राम-मन्दिर में कालीजी तथा भवानी गौरी के बीच में।

भवेश्वर—भीमचण्डी के पास।

भस्मगात्रेश्वर—काशी करवत के दक्षिण मकान-नं० सी-के० ३१।१५ में।

भागीरथी तीर्थ—ललिताघाट के उत्तर में गंगाजी में।

भागीरथी देवी—ललिताघाट पर मकान-नं० डी० १।६७ में।

भागीरथीश्वर—स्वर्गद्वारी पर पं० मुक्तानन्द चतुर्वेदी के मकान में। मकान-नं० सी-के० ११।११।

भार्गवतीर्थ—राजघाट के किले के मध्य भाग के सामने गंगाजी में।

भारद्वारेश्वर—संकठाजी के निकट वशिष्ठ महादेव-मन्दिर में मकान-नं० सी-के० ७।१६१।

भारभूतेश्वर—राजादरवाजे पर मकान-नं० सी-के० ५४।४४ के पूर्व में।

भीमकुण्ड—भीमचण्डी पर पंचक्रोशी के मार्ग में।

भीमचण्ड विनायक—वहीं भीमचण्डी मन्दिर में।

भीमचण्डी देवी—पंचक्रोशी मार्ग पर। प्रसिद्ध।

भीमेश्वर—नेपाली खपड़ा महल्ले में काशीकरवत में। मकान-नं० सी-के० ३१।१२ में।

भीषण भैरव—भूतभैरव नाम से प्रसिद्ध। भूतभैरव महल्ले में मकान-नं० के० ६३।२८।

भीष्मकेशव—वृद्धकाल-मन्दिर में वृद्धकाल के दालान में। मकान-नं० के० ५२।३९।

भीष्मचण्डी—शैलपुत्री दुर्गा के दक्षिण। लुप्त। सदर बाजार की चण्डीदेवी पन्द्रहवीं शताब्दी में भीष्मचण्डी कही जाती थीं, जो उनकी पुनः स्थापना है।

भीष्मेश्वर—भीष्मचण्डी के समीप। लुप्त।

भीष्मेश्वर द्वितीय—त्रिलोचनघाट पर। नीचे की मढ़ी में छोटा शिवलिंग।

भूतधात्रीश—भूतेश्वर नाम से प्रसिद्ध। दशाश्वमेध के समीप ऊपर गली में मकान-नं० डी० १७।५० में। इनकी पुनःस्थापना सुखलाल साह के फाटक के भीतर मकान-नं० सी-के० १३।१५ में भी हुई। दोनों स्थानों पर पूजन होता है।

भूतीश्वर—काशीपुरा में रानी बेतिया के मन्दिर के घेरे में आषाढीश्वर के मन्दिर में।

भृगुकेशव—वर्त्तमान स्थान गोलाघाट के पास नन्दू फड़िया की सीढ़ी पर मकान-नं० ए० ४।१३ में।

भृगुनारायण—सप्तसागर में पवनेश्वर-मन्दिर में। मकान-नं० के० ६३।१४।

भृङ्गीशेश्वर—इनका ही नाम तुंगेश्वर तथा धन्वन्तरीश्वर। वर्त्तमान स्थान वद्धकाल के घेरे में धन्वन्तरीश्वर नाम से। मकान-नं० के० ५२।३९।

भैरवकूप—कालभैरव के उत्तर भैरव-वावली नामक महल्ले में। लुप्त। मकान-नं० के० ४०।२०।

भैरवतीर्थ—ब्रह्माघाट के सामने गंगाजी में।

भैरवेश्वर—कालभैरव के पश्चिम गली के कोने पर मकान-नं० के० ३२।७ में।

मखतीर्थ—पंचगंगा घाट के पास लक्ष्मणवाला घाट के सामने गंगाजी में।

मखेश्वर—वहीं। लुप्त।

मणिकर्णिका-तीर्थ—यह वहुत वड़ा तीर्थ है—सेंधिया घाट से गंगामहल-घाट तक, जो चौसट्ठी घाट के दक्षिण में है। वर्त्तमान काल में मणिकर्णिका-घाट का ही प्राधान्य है, जहाँ चक्रपुष्करिणी, मणिकर्णिकेश्वर, मणिकर्णी देवी इत्यादि हैं।

मणिकर्णिकेश्वर—मणिकर्णीश्वर भी इन्हीं का नाम है। घाट से ऊपर चढ़कर मकान-नं० सी-के० ८।१२ में। दर्शन ऊपर से गोमठ के समीप से भी होता है।

मणिकर्णी विनायक—मणिकर्णिका घाट पर मकान-नं० सी० के० १०।४८ के सामने।

मणिप्रदीप-कुण्ड—दुहरी गड़ही के पूर्व नागनाथ महल्ले में सन् १८२२ ई० तक था। अव लुप्त। स्ट्रीथफील्ड रोड इसको पाटकर उसपर से निकली है।

मणिप्रदीप नाग—समीप में ही मन्दिर। लुप्त।

मत्स्योदरी तीर्थ—मछोदरी का पोखरा। प्रसिद्ध।

मदालसेश्वर—नेपाली खपड़ा की गली के भीतर कालिका गली के मोड़ के पास। मकान-नं० डी० ५।१३३।

मध्यमेश्वर—मैंदागिन के उत्तर। मकान-नं० के० ५३।६३ के सामने मध्यमेश्वर महल्ले में।

मनःप्रकामेश्वर—साक्षीविनायक के समीप। मकान-नं० डी० १०।५०।

मयूखादित्य—मंगलागौरी के मन्दिर में। मकान-नं० के० २४।३४ में।

मयूखार्क तीर्थ—लक्ष्मणवाला-घाट के सामने गंगाजी में। वहीं पर कुण्ड है, जिससे किरणा नदी का उद्भव माना जाता है।

मयूरेश्वर—असी-संगम पर मकान-नं० वी० २।१७४ में।

मरीचिकुण्ड—चोरुआ तालाव। वर्त्तमान नाम छोहरा तालाव। समीप के मरीचीश्वर लुप्त।

मरुकेश्वर—देखिए नैर्ऋतेश्वर।

मरुत्त तीर्थ—रामघाट तथा अग्नीश्वर घाट के वीच में गंगाजी में।

महाकाल-कुण्ड—दुद्धी गड़ही। वद्धकाल के पूर्व में, जो अब लुप्तप्राय है।

महाकालेश्वर प्रथम—(१) वृद्धकाल के घेरे में वद्धकाल के मन्दिर से पश्चिम में। (२) कालभैरव के पूर्व मकान-नं० के० ३२।२४ में पुनः स्थापना।

महाकालेश्वर द्वितीय—महाकालगण द्वारा स्थापित। पुराना स्थान ज्ञानवापी के आग्नेय कोण के पीपल के पास। पुनःस्थापना विश्वनाथजी के घेरे में वैकुण्ठेश्वर के पश्चिम के मन्दिर में बड़ा शिवलिंग।

महादेव—आदि महादेव नाम से प्रसिद्ध। त्रिलोचन के पिछवाड़े मकान-नं० ए० ३।९२ में।

महादेव कूप—महादेव के प्राचीन स्थान के समीप राजघाट किले के पश्चिम लुप्त। इसको सारस्वत कूप भी कहते थे।

महानादेश्वर—आदिमहादेव के मन्दिर में।

महापाशुपतेश्वर—नेपाल पशुपति नाम से प्रसिद्ध। ललिताघाट पर मकान-नं० डी० १।६७ में।

महावल नृसिंह—कामेश्वर महादेव के घेरे में पुनः स्थापित। प्राचीन स्थान ओंकारेश्वर के पूर्व। लुप्त।

महाभयहर नृसिंह—पितामहेश्वर के पश्चिम। शीतलागली में कश्मीरी मल की हवेली के समीप। मकान-नं० सी-के० ७।९२ में।

महामुण्डाचण्डी—वर्त्तमान काल में वागीश्वरी देवी को महामुण्डा चण्डी कहा जाता है। मकान-नं० जे० ६।३३।

महामुण्डेश्वर—वहीं। प्राचीन स्थान ऋणमोचन तीर्थ के समीप. जहाँ अब लुप्त।

महाराज विनायक—वड़े गणेश नाम से प्रसिद्ध। मकान-न० के० ५८।१०१।

महारुण्डा—लोलार्क के उत्तर मकान-नं० बी० २।१७ के समीप से हटाकर अब दुर्गाजी में कालीजी नाम से वर्त्तमान।

महालक्ष्मी प्रथम—प्राचीन स्थान आदिकेशव के पास। वर्त्तमान केदारेश्वर के दक्षिण, मकान-नं० बी० ६।९९।

महालक्ष्मी द्वितीय—लक्ष्मीकुण्ड पर प्रसिद्ध मकान-नं० डी० ५२।४०।

महालक्ष्मी तृतीय—कृत्यकल्पतरु में श्रीदेवी नाम। ओंकारेश्वर के समीप। लुप्त। लक्ष्मी-कुण्ड पर मकान-नं० डी० ५२।३८ में आदिलक्ष्मी नाम से प्रतिष्ठित।

महालक्ष्मी-कुण्ड—लक्ष्मीकुण्ड नाम से प्रसिद्ध।

महालक्ष्मी-तीर्थ—आदिकेशव के समीप गंगाजी में।

महालक्ष्मीश्वर—लक्ष्मीकुण्ड पर। सोरहिया नाथ नाम से प्रसिद्ध।

महाश्मशान-स्तम्भ—लाटभैरव पर दो स्तम्भ थे—एक महाश्मशान-स्तम्भ, दूसरा कुलस्तम्भ। महाश्मशान-स्तम्भ लुप्त। उसका शीर्षक कालभैरव के समीप मकान-न० के० ३२।६ में रखा है और उसका प्रतीक दण्डपाणि भैरव नाम से मकान न० के० ३१।४९ में है।

महासिद्धकुण्ड—इसके सम्बन्ध में विवाद है। सम्भवतः भवनिया पोखरी। समीप के इन्द्रेश्वर ही महासिद्धीश्वर हैं।

महासिद्धीश्वर—कुरुक्षेत्र के समीप मकान-नं० बी० २।२८२ में अथवा भदनिया पोखरी के के पास इन्द्रेश्वर नाम से।

महिषासुरतीर्थ—प्रह्लादघाट के कुछ उत्तर का तीर्थ गंगाजी में।

महेश्वर (शूलटंक)—प्रथम स्थान ज्ञानवापी के नैर्ऋत्य कोण के पीपल के पास। वर्त्तमान शूलटंकेश्वर नाम से दशाश्वमेध पर और महेश्वर नाम से मणिकर्णिका-घाट पर।

महोत्कटेश्वर—कामेश्वर महादेव के घेरे में। मकान-नं० ए० २।९।

मंगलतीर्थ—लक्ष्मणवाला-घाट के सामने गंगाजी में।

मंगलविनायक—मंगलागौरी के मन्दिर में। मकान-नं० के० २४।३४।

मंगलागौरी—मकान-नं० के० २४।३४ में प्रसिद्ध।

मंगलोदकूप—मकान-नं० के० २३।८९ में।

मंडविनायक—लक्ष्मीकुण्ड पर मकान-नं० डी० ५२।३८ में।

मंदाकिनीतीर्थ—मैदागिन का पोखरा। प्रसिद्ध।

मातृकुण्ड—पितरकुण्डा के समीप माताकुण्ड के नाम से प्रख्यात। सम्भवतः सिद्धपुर के विन्दुसरोवर का प्रतीक।

मातृतीर्थ—दशाश्वमेध पर शीतलाजी के मन्दिर के पास अब लुप्त।

मातरः—दशाश्वमेध की शीतला के मन्दिर की देवियाँ।

मातलीश्वर—काशीखण्ड में इसका नाम मालतीश्वर हैं। वृद्धकाल के घेरे में मकान-नं० के० ५२।३९।

मानसरोवर-तीर्थ—मानसरोवर तालाव। प्रसिद्ध, परन्तु अब लुप्त।

मार्कण्डेयतीर्थ—इस नाम के दो तीर्थ हैं: (१) पंचगंगाघाट पर गंगाजी में; (२) ललिता-घाट के दक्षिण तथा चौंसट्ठी घाट के उत्तर किसी स्थान पर गंगाजी में।

मार्कण्डेयेश्वर—इनके तीन स्थानों का वर्णन है, जिनमें से दो लुप्त हैं। वर्त्तमान एक स्थान ढुंढिराज गली में दण्डपाणि-मन्दिर की बगल में। मकान-नं० सी-के० ३६।१० में।

मालतीश्वर—देखिये मातलीश्वर।

माहेश्वरी देवी—विश्वनाथजी की कचेहरी के गलियारे में उत्तर की दीवाल में।

मान्धातृतीर्थ—ललिताघाट के समीप कुण्ड। लुप्त।

मान्धात्रीश्वर—मोक्षद्वारेश्वर के समीप मकान-नं० सी-के० ३४।१४ में।

मित्रविनायक—आत्मावीरेश्वर के घेरे में। मकान-नं० सी-के० ७।१५८।

मुकुटकुण्ड—गोआबाई का कुण्ड, नवाबगंज में ऐसा प्रसिद्ध मत हैं। दूसरा मत यह है कि यह कुण्ड कमच्छा के समीप कहीं पर है।

मुकुटेश्वर—गोआबाई के कुण्ड पर लुप्त। कुछ दिनों पहले तक वर्त्तमान थे। अथवा कामाक्षा पर।

मुक्तितीर्थ—मणिकर्णिका-घाट के समीप गंगाजी में।

मुखनिर्मालिका गौरी—गायघाट के ऊपर हनुमानजी के मन्दिर में।

मुखप्रेक्षणी देवी—मंगलागौरी मन्दिर में मंगलागौरी से उत्तर पास में ही। मकान-नं० के० २४।३४।

मुचकुन्देश्वर—गोदौलिया पर बड़ादेव नाम से। मकान-नं० डी० ३७।४०।

मुण्डविनायक—सदर बाजार में चण्डीश्वर के मन्दिर में।

मृत्वीश—पुराना नाम अपमृत्युहरेश्वर। अब मत्युंजय नाम से प्रसिद्ध। मकान-नं० के० ५२।३९।

मैत्रावरुणतीर्थ—अग्नीश्वर-घाट से उत्तर गंगाजी में।

मोदकप्रिय विनायक—आदिमहादेव में त्रिलोचन के समीप।

मोदविनायक—काशीकरवत में। मकान-नं० सी-के० ३१।१२।

मोक्षद्वार—मोक्षद्वारेश्वर के समीप का गंगाजी का मार्ग।

मोक्षद्वारेश्वर—ललिताघाट के समीप मकान-नं० सी-के० ३४।१० में।

यमतीर्थ—यमघाट प्रसिद्ध। संकठा घाट के समीप। गंगाजी में।

यमादित्य—संकठा घाट की सीढ़ी पर। मकान-नं० सी-के० ७।१६४।

यमेश्वर—यमघाट पर गंगा-तट पर। संकठाघाट के पास।

यमुनेश्वर—त्रिलोचन के मन्दिर में।

यक्षविनायक—बाबू रुद्रप्रसाद के मन्दिर में मकान-नं० सी-के० ३७।२९ में। ये समीप की ब्रह्मपुरी में कुएँ के पास हैं, ऐसा भी दूसरा मत है।

यज्ञवाराहकेशव—स्वर्लीनेश्वर के समीप। मकान-नं० ए० ११।२९ की दीवार में। पुनःस्थापना मीरघाट, मकान-नं० डी० ३।७९।

यज्ञवाराहतीर्थ—राजघाट के किले के सामने राजघाट के कुछ उत्तर-पूर्व की ओर गंगाजी में।

यज्ञोदकूप—ओंकारेश्वर के टीले के ईशान कोण में वर्त्तमान। कुछ लोग इसको ही अघोरोदकूप कहते हैं।

याज्ञवल्क्येश्वर—संकठाजी के मन्दिर की दीवाल में सीमाविनायक तथा सेनाविनायक के बीच में।

योगिनीतीर्थ—चौसट्ठी घाट तथा राणामहल-घाट के सामने गंगाजी में।

योगिनीपीठ—राणामहल में जहाँ ६४ योगिनियाँ स्थापित थीं। कुछ अभी भी हैं।

रत्नेश्वर—वृद्धकाल की सड़क पर बीच में। मकान-नं० के० ५३।४०।

राजपुत्रविनायक—राजघाट के किले के भीतर सड़क के दक्षिण में।

राजराजेश्वर—इनके इस समय तीन स्थान हैं: (१) आदिमस्थान घुँघरानी गली में सड़क पर मकान-नं० सी-के० ३९।५७। (२) स्वर्गद्वारी पर मकान-नं० सी० के० १०।१६ के चबूतरे के नीचे, (३) ढुंढिराजगली में मकान-नं० सी-के० ३५।३३।

रामकुण्ड—लक्सा महल्ले में प्रसिद्ध।

रामतीर्थ—रामघाट के सामने गंगाजी में।

रामेश्वर—इनके पाँच स्थान हैं: (१) वीर रामेश्वर—रामघाट पर, (२) रामकुण्ड पर (मकान-नं० डी० ५५।११५), (३) हनुमानघाट पर मकान-नं० बी० ४।४२ में। हनुमान् जी के घेरे में, (४) मानमन्दिर-घाट के ऊपर सोमेश्वर-मन्दिर के पास मकान-नं० डी० १६।३४ के समीप, (५) पंचक्रोशी मार्ग पर। पहले और पाँचवें स्वतन्त्र हैं, परन्तु दूसरे, तीसरे तथा चौथे एक ही देवता की भिन्न-भिन्न कालों की पुनःस्थापना का स्वरूप हैं, जिनमें चौथे अपने प्राचीन स्थान के समीप हैं।

रुद्रसरोवरतीर्थ—अहल्याबाई-घाट के सामने गंगाजी में।

रुद्रावासकुण्ड—सुग्गी गड़ही का प्राचीन नाम। मच्छोदरी के उत्तर में।

रुद्रावासतीर्थ—मणिकर्णिका-घाट पर गंगाजी में।

रुद्रावासेश्वर—मणिकर्णिकेश्वर के दक्षिण। चक्रपुष्करिणी से सटे हुए। वहुधा बालू के नीचे।

रुद्रेश्वर—त्रिपुरा भैरवी के मन्दिर के पास मकान-नं० डी० ५।२१ में।

रुद्रेश्वर द्वितीय—सुग्गी गड़ही के तट पर। लुप्त।

रुरुभैरव—हनुमानघाट पर (१) मकान-नं० वी० ४।१६; (२) गोमठ की दीवाल में। मकान-नं० सी-के० ८।२१।

रेवातीर्थ—रेवड़ी तालाव प्रसिद्ध।

रेवन्तेश्वर—विन्दुमाधव-घाट की सीढ़ियों के ऊपर फाटक के पास छोटे शिवालय में।

(आचार्य) लकुलीश्वर—महादेव के आदिम स्थान के दक्षिण में। लुप्त। इनकी एक आधुनिक मूर्त्ति महापाशुपतेश्वर मन्दिर (नेपाल पशुपति-मन्दिर) के द्वार पर प्रतिष्ठित है। ललिताघाट, मकान-नं० डी० १।६७।

ललितागौरी—ललिताघाट पर प्रसिद्ध। मकान-नं० डी० १।६७। इनका पहला स्थान विशालाक्षी के दक्षिण में था।

ललितातीर्थ—ललिताघाट पर गंगाकेशव के सम्मुख गंगाजी में।

लक्ष्मणेश्वर—हनुमानघाट पर मकान-नं० वी० ४।४४ में।

लक्ष्मीतीर्थ—लक्ष्मीकुण्ड का नाम।

लक्ष्मीनृसिंह—राजमन्दिर में। मकान-नं० के० २०।१५९।

लक्ष्मीनृसिंहतीर्थ—राजघाट के किले के सामने गंगाजी में पश्चिम की ओर।

लांगलीश्वर—वर्त्तमान स्थान खोवाबाजार में मकान-नं० सी-के० २८।४ में।

लोलार्क—भदैनी महल्ले में प्रसिद्ध।

लोमशेश—वृद्धकाल के घेरे में। मकान-नं० के० ५२।३९।

वक्रतुण्डविनायक—सरस्वतीविनायक नाम से प्रसिद्ध। चौंसट्ठी घाट के समीप। मकान-नं० डी० २०।४।

वरणानदी—प्रसिद्ध।

वरणासंगम—आदिकेशव के समीप गंगा तथा वरणा का संगमस्थल।

वरदविनायक—प्रह्लादघाट की सड़क पर। मकान-नं० ए० १३।१९ के वाहर।

वराहेश्वर—(१) सिद्धेश्वरी-मन्दिर में अपने प्राचीन स्थान के समीप; (२) दशाश्वमेघ-घाट पर मकान-नं० डी० १७।१११ में।

वरुणेश्वर प्रथम—ढुंढिराज-गली में मकान-नं० सी-के० ३६।१० में। काशीखण्ड में इनका नाम करुणेश्वर कहा गया है।

वरुणेश्वर द्वितीय—सिद्धिविनायक के ऊपर मकान-नं० सी-के० ८।८ में।

वशिष्ठ ऋषि—सेंधिया घाट के ऊपर वशिष्ठ-वामदेव मन्दिर में। मकान-नं० सी-के० ७।१६१।

वशिष्ठतीर्थ—दशाश्वमेघ-घाट के दक्षिण चौंसट्ठी घाट के पहले गंगाजी में।

वशिष्ठेश्वर प्रथम—वर्त्तमान स्थान: (१) ललिताघाट गंगादित्य के पास मकान-नं० डी० १।६७ में; (२) सेंधियाघाट पर वशिष्ठवामदेव मन्दिर, मकान-नं० सी-के० ७।१६१ में।

वशिष्ठेश्वर (द्वि०)—वरणासंगम के पूर्व उस पार।

वामदेव ऋषि—शिवलिंग-रूप में वामदेवेश्वर का पूजन होता है। पहले इनकी ऋषि-रूप की मूर्त्ति थी, जो अब लुप्त है। मकान-नं० सी के० ७।१६१।

वामदेवेश्वर—सेंधियाघाट पर ऊपर मकान-नं० सी-के० ७।१६१।

वामनकेशव—इस समय त्रिलोचन के समीप मधुसूदन नाम से प्रसिद्ध। मकान-नं० ए० २।२९। प्राचीन स्थान आदिकेशव के समीप।

वामनतीर्थ—राजघाट के किले के दक्षिण गंगाजी में।

वायुकुण्ड—भुलोटन गड़हा।

वाराणसी देवी—वर्त्तमान स्थान त्रिलोचन-मन्दिर में।

वाराही देवी—मानमन्दिर-घाट के उत्तर मकान-नं० डी० १६।८४ में।

वाल्मीकीश्वर—त्रिलोचन-मन्दिर में।

वासुकि-कुण्ड—नागकुँआ के समीप लुप्त।

वासुकीश्वर—वर्त्तमान स्थान (१) आत्मावीरेश्वर के समीप मकान-नं० सी-के० ७।१५५ में; (२) नारदघाट के ऊपर नारदेश्वर के सामने मकान-नं० डी० २५।११ में।

विकटद्विज विनायक—धूपचण्डी देवी के मन्दिर में पीछे की ओर। मकान-नं० जे० १२।१३४ में।

विकटा मातृका—(१) आत्मावीरेश्वर-मन्दिर में। कात्यायिनी दुर्गा; (२) संकठाजी मकान नं० सी-के० ७।१५९ में। ये दोनों स्थान नवीन हैं। प्रथम स्थान स्वर्लीनेश्वर के उत्तर में था।

विघ्ननायक गणेश—विश्वनाथ के घेरे में पार्वती देवी के मन्दिर में पश्चिम की दीवाल में। प्राचीन मूर्त्ति खण्डित हो जाने पर नई संगमरमर की मूर्त्ति स्थापित हुई है।

विघ्नराज विनायक—चित्रकूट के तालाव पर। मकान-नं० जे० १२।३२।

विघ्नहरकुण्ड—अमरैयाताल के समीप लुप्त। विघ्नहर्त्ता गणेश भी लुप्त।

विघ्नेश्वर तीर्थ—वीरेश्वर-तीर्थ तथा हरिश्चन्द्र-तीर्थ के बीच गंगाजी में। हरिश्चन्द्रेश्वर के उत्तर संकठाघाट के सामने। वहाँ के गणेश की मूर्त्ति संकठाजी के मन्दिर में रखी है।

विजयलिंग—विश्वनाथजी के घेरे में निकुम्भ के समीप।

विटंक नरसिंह—केदारेश्वर के मन्दिर में। मकान-नं० बी० ६।१०२।

विदार नरसिंह—प्रह्लादघाट पर। मकान-नं० ए० १०।८२।

विदार नरसिंह-तीर्थ—राजघाट के किले के मध्य भाग के सामने गंगाजी में।

विद्येश्वर—नीमवाली ब्रह्मपुरी में मकान-नं० सी-के० २।४१ में।

विधितीर्थ—विधीश्वर के पास। अगस्त्यकुण्डा में अगस्त्येश्वर के पूर्व गली के मोड़ पर।

विधि देवी—विधीश्वर के समीप।

विधीश्वर—अगस्त्येश्वर के आग्नेय कोण में। अगस्त्यकुण्डा में।

विनतेश्वर—कामेश्वर-मन्दिर के द्वार पर खखोल्कादित्य के समीप मकान-नं० ए० २।९ में।

विमलादित्य—जंगमवाड़ी में खारीकुँआ के पास, मकान-नं० डी० ३५।२७३ में हरिकेशेश्वर के समीप।

विमलेश्वर—नया महादेव महल्ले में नीलकण्ठ नाम से प्रसिद्ध। मकान-नं० ए० १०।४७।

विमलोदक-कुण्ड—ओंकारेश्वर के नैर्ऋत्यकोण में नौगुतुरी गड़ही। समीप के विमलेश्वर तथा भृगोरायतन लुप्त।

विरूपाक्ष—विश्वनाथ के घेरे में शनैश्चरेश्वर के पूर्व प्राचीन बड़ा शिवलिंग।

विरूपाक्षी गौरी—विश्वनाथ के घेरे में नैर्ऋत्यकोण के छोटे मन्दिर में।

विशाल तीर्थ—विशालाक्षी के पीछे गंगाजी में।

विशालाक्षी गौरी—मीरघाट महल्ले में मकान-नं० डी० ३।८५ में।

विशालाक्षीश्वर—विशालाक्षी-मन्दिर में। मकान-नं० डी० ३।८५।

विश्वकर्मेश्वर प्रथम—स्ट्रीथफील्ड रोड पर ग्वाल गड़हे के पास मकान-नं० ए० ३४।६१ में।

विश्वकर्मेश्वर द्वितीय—आत्मावीरेश्वर के समीप वृहस्पतीश्वर के मन्दिर में सी-के० ७।१३३ में।

विश्वतीर्थ—मणिकर्णिका-घाट के सामने गंगाजी में।

विश्वभुजा गौरी—धर्मकूप के समीप। मकान-नं० डी० २।१३।

विश्वा गौरी—सिद्धिविनायक के पिछवाड़े।

विश्वावस्वीश्वर (अथवा विश्वावसुलिंग)—अगस्त्येश्वर के मन्दिर में सुतीक्ष्ण की मूर्त्ति नाम से प्रख्यात मुखलिंग। मकान-नं० डी० ३६।११।

विश्वेदेवेश्वर—मध्यमेश्वर के दक्षिण के शिवालय में। मकान-नं० के० ५३।६३ के सामने।

विश्वेश्वर प्रथम—प्रथम स्थान रजिया की मस्जिद में। मकान-नं० सी-के० ३८।५। तत्पश्चात् ज्ञानवापी मस्जिद के स्थान पर और वर्त्तमान मकान-नं० सी-के० ३५।१९ में प्रसिद्ध।

विश्वेश्वर द्वितीय—शुद्ध नाम चित्रेश्वर, जो लिपिप्रमाद से किसी समय विश्वेश्वर हो गया। (देखिए कृत्यकल्पतरु तीर्थ, विवेचनकाण्ड, पृ० ७२) मकान-नं० के० ५४।१३३ दारानगर में।

विष्णु—ज्ञानवापी के विश्वेश्वर-मन्दिर के मुक्तिमण्डप में स्थित विष्णु भगवान् की मूर्त्ति, जो अब विश्वाथजी के मन्दिर के नैर्ऋत्यकोण में विरूपाक्षी-मन्दिर में रखी है।

विष्णुतीर्थ—मणिकर्णिका घाट के समीप गंगाजी में।

वीरतीर्थ—संकठाघाट के आसपास गंगाजी में।

वीरभद्रेश्वर प्रथम—मध्यमेश्वर के दक्षिण के शिवालय में। मकान-नं० के० ५३।६३ के सामने।

वीरभद्रेश्वर द्वितीय—ज्ञानवापी मस्जिद के वायव्यकोण में स्थान। अब लुप्त।

वीरमाधव—आत्मावीरेश्वर की बाहरी दीवाल के आले में छोटी-सी मूर्त्ति। मकान-नं० सी-के० ७।१५८।

वीरेश्वर—आत्मावीरेश्वर नाम से प्रसिद्ध। मकान-नं० सी-के० ७।१५८।

वृद्धकालेश्वर—वृद्धकाल महल्ले में मकान-नं० के० ५२।३९ में प्रसिद्ध।

वृद्धादित्य—मीरघाट पर मकान-नं० डी० ३।१६ में। समीप में ही गंगाजी में वृद्धार्क तीर्थ।

वृषभध्वज—कपिलधारा के समीप प्रसिद्ध।

वृषभेश्वर—वर्त्तमान स्थान गोरखनाथ के टीले पर। मकान-नं० के० ५८।७८।

वृषरुद्र—हरतीरथ के पश्चिम तट पर वर्त्तमान मन्दिर में मूर्त्ति रखी है।
मकान-नं० के० ४६।१४७।

वेदेश्वर—आदिकेशव पर।

वैकुण्ठमाधव—सेंधिया घाट के ऊपर। मकान-नं० सी-के० ७।१६५।

वैतरणी दीर्घिका—सुग्गी गड़ही के समीप लुप्त। वर्त्तमान काल में लाटभैरव के पूर्व में थोड़ी दूर पर एक झील।

वैद्यनाथ—कोदई की चौकी के सामने। मकान-नं० डी० ५०।२०।

वैद्येश्वर कुण्ड—लुप्त। प्रतीक-रूप में वृद्धकाल के मन्दिर में अमृतकुण्ड नाम से। मकान-नं० के० ५२।३९।

वैरोचनेश्वर—सीमाविनायक के पीछे गली में प्राचीन शिवलिंग। पुनः स्थापित।

व्याघ्रेश्वर—भूतभैरव महल्ले में। मकान-नं० के० ६३।१६।

व्यासकूप—कर्णघण्टा तालाव के पूर्वीय तट पर। मकान-नं० के० ६०।६७ में।

व्यासेश्वर प्रथम—वहीं पर तालाव के दक्षिण-मन्दिर में, जो अव पानी में डूव गया है।

व्यासेश्वर द्वितीय—विश्वनाथजी के गर्भगृह के उत्तर। भोग अन्नपूर्णा के दक्षिण-द्वार के पास। (सौरपुराण)

शक्रेश्वर—इन्द्रेश्वर नाम से प्रसिद्ध। मणिकर्णिका पर।

शतकालेश्वर—वर्त्तमान काल में ठठेरी बाजार में पीतल के शिवाले में गर्त्त में। मकान-नं० सी-के० १७।२४ के पास।

शनैश्चरेश्वर—विश्वनाथजी के घेरे में मन्दिर के नैर्ऋत्यकोण में। पीतल की जलहरी में।

शशिभूषण लिंग—पापमोचनेश्वर नाम से पापमोचन पोखरे के समीप। ऋणमोचन के पूर्व।

शत्रुघ्नेश्वर—हनुमानघाट पर मकान-नं० बी० ४।४४ में।

शंकुकर्णेश्वर—शंखूधारा महल्ले में। मकान-नं० बी० २२।१२० के सामने।

शंखतीर्थ—आदिकेशव के सामने गंगाजी में।

शंखमाधव—वर्त्तमान शीतलाघाट पर मढ़ी में।

शंखमाधवतीर्थ—राजघाट के किले के सामने गंगाजी में।

शंखोद्धारतीर्थ—शंखूधारा का तालाव प्रसिद्ध।

शालकटंकट विनायक—मडुआडीह में तालाव के उत्तर प्रसिद्ध।

शान्तन्वीश्वर—त्रिलोचन-घाट पर नीचे की मढ़ी में बड़ा शिवलिंग। शान्तेश्वर नाम से प्रसिद्ध।

शान्तिकरी गौरी—वर्त्तमान मढ़ियाघाट और ककरहाघाट के वीच वरणा-तट पर। पुनः स्थापित।

शिखिचण्डी—लक्ष्मीकुण्ड पर महालक्ष्मी-मन्दिर में पूर्वाभिमुखी देवी। मकान-नं० डी० ५२।४०।

शिवदूती—(१) स्वर्लीनेश्वर के समीप; (२) मीरघाट पर हनुमानजी के मन्दिर में।

शिवेश्वर—विश्वेश्वरगंज में। मकान-नं० के० ४४।३३ में।

शिवेश्वरकुण्ड अथवा शैवतड़ाग—इसका वर्त्तमान नाम हालू गड़हा था। सन् १८२२ ई० तक यह था। उसके बाद इसको पाटकर उसपर विश्वेश्वरगंज का बाजार वना।

शुकेश—काशी गोशाला के पश्चिमी फाटक की बगल में कोठरी में। मकान-नं० के० ४०।२०।
शुक्रकूप—कालिका गली में। मकान-नं० डी० ८।३० के सामने।
शुक्रेश्वर—कालिका गली में। मकान-नं० डी० ८।३०।
शुष्केश्वर—केदारेश्वर की अन्तर्गृह-यात्रा में शुक्रेश्वर नाम से पूजित। मकान-नं० बी० १।१८५।
शृंगारगौरी—ज्ञानवापी के विश्वेश्वर-मन्दिर के शृंगार-मण्डप में। लुप्त। अब भोग अन्नपूर्णा नाम से विश्वनाथ-मन्दिर में ईशान कोण में। ज्ञानवापी मस्जिद के पश्चिमीय भाग में जो बीच का द्वार बन्द है, उसके उसके सामने इनका स्थान-पूजन भी होता है।
शेषमाधव—वर्त्तमान स्थान राज-मन्दिर में। मकान-नं० के० २०।१३७।
शेषतीर्थ—राजघाट से कुछ दूर ईशान कोण में गंगाजी में।
शैलाद तीर्थ—इसका नाम नन्दितीर्थ भी है। मणिकर्णिका-घाट के समीप।
शैलेश्वर—मढियाघाट पर शैलपुत्री दुर्गा के मन्दिर में।
शैलेश्वरी—शैलपुत्री दुर्गा का नाम। मढ़ियाघाट पर।
शौनककुण्ड—बड़े गणेश के उत्तर नई बस्ती में सन् १८२२ ई० तक था, अब लुप्त। समीप के शौनकेश्वर भी लुप्त।
श्रीकण्ठलिंग—लक्ष्मीकुण्ड पर मकान-नं० डी० ५२।३८ में।
श्रीमुखीगुहा—ओंकारेश्वर के टीले के नीचे। अब उसका द्वार बन्द हो गया है। लुप्त।
श्रुतीश्वर—रत्नेश्वर से मिले हुए उत्तर के मन्दिर में। मकान-नं० के० ५३।४०।
श्वेतद्वीप-तीर्थ—आदिकेशव का मन्दिर जिस स्थान पर है, उसका नाम।
श्वेतमाधव—मीरघाट पर हनुमानजी के मन्दिर में। मकान-नं० डी० ३।७९।
श्वेतेश्वर—पाँचों पाण्डवों के मन्दिर में, मकान-नं० सी-के० २८।१०।
षडानन प्रथम—मणिकर्णिका पर तारकेश्वर के पूर्व। लुप्त।
षडानन द्वितीय—सतीश्वर-मन्दिर में अब लुप्त। भग्न मूर्त्ति. कालभैरव-मन्दिर में रखी है।
षडानन तृतीय—वर्त्तमान आदिमहादेव के पश्चिम स्कन्देश्वर में। लुप्त। इनकी गुप्तकालीन मूर्त्ति भारत-कलाभवन में हैं।
सगरेश्वर—संकठाजी के मन्दिर में। मकान-नं० सी-के० ७।१५९।
सतीश्वर—इन्हीं का नाम दाक्षायिणीश्वर है। रत्नेश्वर के पूर्व मकान-नं० के० ४६।३२।
सप्तसागर तीर्थ—लुप्त। इसी स्थान पर सप्तसागर महल्ला बसा है।
समुद्रेश्वर—बाँसफाटक से दक्षिण सड़क पर ही छोटे मन्दिर में। मकान-नं० सी-के० ३७।३२ के बाहर ही।
सर्वेश्वर—पाण्डेयघाट पर लक्ष्मीनारायण के ऊपर।
सरस्वती देवी—गोमठ के समीप मकान-नं० सी-के० ७।१०९ में नील सरस्वती नाम से प्रसिद्ध। नीचे गंगाजी में सारस्वत तीर्थ।
सरस्वतीश्वर—त्रिलोचनघाट पर हिरण्यगर्भेश्वर के पास।
संगमेश्वर—आदिकेशव के पूर्व वरणा-संगम पर।

संनिहत्या तीर्थ—(१) कुरुक्षेत्र का तालाब, तथा (२) सोनहटिया गड़ही।
संवर्त्तेश्वर—पाँचोपाण्डव-मन्दिर में। मकान-नं० सी-के० २८।१०।
संहारभैरव—वर्त्तमान स्थान पाटन दरवाजे के पास। मकान-नं० ए० १।८३।
सारस्वतकूप—देखिए महादेव-कूप।
सारस्वत तीर्थ—मणिकर्णिका-घाट पर गोमठ के सामने गंगाजी में।
सांख्यतीर्थ—राजघाट के सामने गंगाजी में। सांख्येश्वर लुप्त।
साम्बादित्य—सूर्यकुण्ड महल्ले में कुण्ड के तट पर मन्दिर।
साम्बादित्य-कुण्ड—सूर्यकुण्ड नाम से प्रसिद्ध औरंगाबाद के समीप।
सिद्धकूट—वागेश्वरी के चारों ओर का ऊँचा स्थान।
सिद्ध्यष्टकेश्वर—बड़े गणेश पर। मकान-नं० के० ५८।१०३।
सिद्ध्यष्टक कुण्ड—गणेश गड़ही नाम से प्रसिद्ध। इसको पाटकर हरिश्चन्द्र कॉलेज का भवन बना है।
सिद्धयोगेश्वरी—सिद्धेश्वरी महल्ले में सिद्धेश्वरी नाम से प्रसिद्ध। मकान-नं० सी-के० ७।१२४।
सिद्धलक्ष्मी देवी—मणिकर्णिका-घाट पर सिद्धिविनायक के पिछवाड़े।
सिद्धवापी—वागेश्वरी-मन्दिर के दक्षिण। लुप्त।
सिद्धिविनायक—मणिकर्णिका पर। अमेठी मन्दिर के पास। मकान-नं० सी-के० ९।१।
सिद्धेश्वर प्रथम—सिद्धकूट पर। वर्त्तमान वागेश्वरी के दक्षिण। मकान-नं० जे० ६।८४।
सिद्धेश्वर द्वितीय—कुरुक्षेत्र के समीप मकान-नं० बी० २।२८२।
सिंहतुण्ड विनायक—बालमुकुन्द के चौहट्टा में ब्रह्मेश्वर मन्दिर में। मकान-नं० डी० ३३।६६-६७।
सीतेश्वर—हनुमानघाट पर मकान-नं० बी० ४।४२ में।
सीमाविनायक—हरिश्चन्द्रेश्वर के सामने संकठाजी की दीवार में।
सुप्रतीक सरोवर—कमाल गड़हा।
सुमन्त्रादित्य—हनुमान-फाटक पर तुलसीदासजी के हनुमानजी के मन्दिर में।
सुमन्त्वीश्वर—उसी मन्दिर में।
सुमुखविनायक—नेपाली खपड़ा की गली में। मकान-नं० सी-के० ३५।८।
सुमुखेश्वर—त्रिलोचन पर पादोदककूप के समीप। मकान-नं० ए० ३।८७।
सूक्ष्मेश्वर—धूपचण्डी देवी के मन्दिर में पिछवाड़े। विकट द्विज विनायक के सामने। मकान-नं० जे० १२।१३४।
सृष्टिविनायक—कालिका गली में मकान-नं० डी० ८।३ के बाहर की दीवाल में।
सेनाविनायक—संकठाजी के मन्दिर के बाहर की दीवाल में हरिश्चन्द्रेश्वर के सामने सीमाविनायक के पास।
सोमेश्वर—वर्त्तमान दो स्थान—(१) मानमन्दिर-घाट पर मकान-नं० डी० १६।३४ के पास प्रसिद्ध; (२) पाण्डेघाट के ऊपर।
सौभाग्य गौरी—वर्त्तमान आदिविश्वेश्वर-मन्दिर में उत्तर की कोठरी में। मकान-नं० सी-के० ३८।८।

स्कन्दतीर्थ—मणिकर्णिका पर तारकेश्वर के पास गंगाजी में।

स्कन्देश्वर—आदिमहादेव के समीप। लुप्त।

स्थाणु—कुरुक्षेत्र-तालाब के समीप मकान-नं० वी० २।२४७ में।

स्थूलजंघ विनायक—दो स्थान—(१) रानीकुआँ पर छोटे मन्दिर में चित्रघण्ट विनायक के पास मकान-नं० सी-के० २३।२५ के बाहर; (२) पशुपतीश्वर-मन्दिर में। मकान-नं० सी-के० १३।६६।

स्थूलदन्त विनायक—मानमन्दिर महल्ले में सोमेश्वर के द्वार पर। मकान-नं० डी० १६।३४ के समीप।

स्वप्नेश्वर—(१) शिवालाघाट के समीप प्रसिद्ध; (२) लोलार्क के उत्तर समीप मे मकान-नं० वी० २।३३ में।

स्वप्नेश्वरी—वहीं स्वप्नेश्वर के पास।

स्वयम्भुलिंग—रामकुण्ड के पास लकसा महल्ले में। मकान-नं० डी० ५४।११४ के बाहर।

स्वर्गद्वार—स्वर्गद्वारी महल्ले में। बाबू विश्वनाथ सिंह के मकान-नं० सी-के० १०।१६ के सामने।

स्वर्गद्वारेश्वर—स्वर्गद्वारी महल्ले में। मकान-नं० सी-के० १०।१६ में।

स्वर्णाक्षेश्वर—ढुंढिराज गली में दण्डपाणि के मन्दिर में। मकान-नं० सी-के० ३६।१०।

स्वर्लीनतीर्थ—स्वर्लीनेश्वर के सामने गंगाजी में। प्रह्लादघाट के उत्तर-पूर्व।

स्वर्लीनेश्वर—नया महादेव नाम से प्रसिद्ध। प्रह्लादघाट के पूर्व। मकान-नं० ए० ११।२९।

हनुमदीश्वर—वर्त्तमान स्थान हनुमान-घाट पर मढ़ी में। मढ़ी ध्वस्त हो जाने से शिवलिंग घाट पर ही रखा हुआ है।

हयकण्ठीदेवी—लक्ष्मीकुण्ड पर। कालीमठ में मकान-नं० डी० ५२।३५ में खिन्नी के पेड़ के नीचे।

हयग्रीवकेशव—मदैनी में। माँ आनन्दमयी अस्पताल के पास।

हयग्रीवतीर्थ—हयग्रीवकेशव के समीप का गड़हा, जो अब भर जाने से लुप्त हो गया है।

हरसिद्धिदेवी—मणिकर्णिका-घाट पर सिद्धिविनायक के पूर्व में।

हरंपापतीर्थ—केदारघाट के सामने गंगाजी में। प्रतीक-रूप से गौरीकुण्ड नाम से केदारघाट पर का कुण्ड। प्राचीन हरंपाप तीर्थ हरिश्चन्द्रघाट के सामने है। उसको आदिमणिकर्णिका भी कहते हैं।

हरिकेशेश्वर—जंगमबाड़ी में मकान-नं० डी० ३५।२७३ में।

हरिश्चन्द्रतीर्थ—सेंधियाघाट के उत्तर। हरिश्चन्द्रेश्वर के नीचे गंगाजी में।

हरिश्चन्द्रमण्डप—हरिश्चन्द्रेश्वर का वर्त्तमान मन्दिर। यहीं पर धर्मराज ने महाराज हरिश्चन्द्र को दर्शन दिया था। मकान-नं० सी-के० ७।१६६।

हरिश्चन्द्रविनायक—हरिश्चन्द्र-मण्डप की बगल में मकान-नं० सी-के० ७।१६५ में।

हरिश्चन्द्रेश्वर—पुष्पदन्तेश्वर के समीप।

हस्तिपालेश्वर—वृद्धकाल-मन्दिर में। मकान-नं० के० ५२।३९।

हंसतीर्थ प्रथम—विश्वेश्वरगंज के उत्तर, हरतीरथ का पोखरा।

हंसतीर्थ द्वितीय—देखिए हरंपापतीर्थ।

हिरण्यकूप—राजघाट के किले में राजपुत्रविनायक के समीप का कुआँ सड़क के दक्षिण।

हिरण्यगर्भतीर्थ—प्रह्लादघाट तथा त्रिलोचन-घाट के बीच में गंगाजी में।

हिरण्यगर्भलिंग—त्रिलोचनघाट पर ऊपर मढ़ी में।

हुण्डनमुण्डनगण—(१) शैलपुत्री दुर्गा के मन्दिर में मठियाघाट पर; (२) धूपचण्डी देवी के मन्दिर में पिछवाड़े की ओर। वहीं हुण्डनेश तथा मुण्डनेश। मकान-नं० जे० १२।१३४।

हुण्डनेशमुण्डनेश—(१) शैलपुत्री दुर्गा के मन्दिर में; (२) धूपचण्डीदेवी के मन्दिर में पीछे की ओर। मकान-नं० जे० १२।१३४।

हेरम्बविनायक—लहुरावीर की चौमुहानी से पश्चिम। पिशाचमोचन की सड़क के उत्तर वाल्मीकि के टीले के ऊपर।

क्षिप्रप्रसादविनायक—पितरकुण्डा तालाव के पास पित्रीश्वर के मन्दिर में। मकान-नं० सी० १८।४७।

क्षीराब्धितीर्थ—आदिकेशव के सामने गंगाजी में।

क्षेमकगण—क्षेमेश्वर-मन्दिर में। मकान-नं० बी० १४।१२ में।

क्षेमेश्वर—मकान-नं० बी० १४।१२ कुमारस्वामी-मठ, क्षेमेश्वर घाट के ऊपर।

क्षोणीवाराह—दशाश्वमेध घाट पर मकान-नं० डी० १७।१११ में।

क्षोणीवाराहतीर्थ—समीप में। लुप्त।

त्रिपुरान्तकेश्वर—सिगरा में त्रिपुरान्तक टीले पर। मकान-नं० डी० ५९।९५।

त्रिपुरेश्वर—त्रिपुराभैरवी-मन्दिर में। मकान-नं० ५।२४।

त्रिभुवनकेशव—(१) बन्दीदेवी के मन्दिर में दशाश्वमेध-घाट के ऊपर मकान-नं० डी० १७।१००। वहीं पर त्रिभुवनकेशव-तीर्थ अब लुप्त; (२) वृद्धकाल-मन्दिर के दालान में।

त्रिमुखविनायक—सिगरा में त्रिपुरान्तकेश्वर के टीले पर। मकान-नं० डी० ५९।९५।

त्रिलोकसुन्दरीदेवी—शीतलागली में पितामहेश्वर के द्वार पर की शीतला देवी। मकान-नं० सी-के० ७।९२।

त्रिलोचन—प्रसिद्ध। त्रिलोचन-घाट के ऊपर। मकान-नं० ए० २।८०।

त्रिविक्रम—त्रिलोचन-मन्दिर में। मकान-नं० ए० २।८०।

त्रिशूली—कृमिकुण्ड पर बाबा कीनाराम की बैठक के पास। लुप्त।

त्रिसन्ध्य तीर्थ—दशाश्वमेध के दक्षिण गंगाजी में।

त्रिसन्ध्येश्वर—वर्त्तमान स्थान ललिताघाट पर मकान-नं० डी० १।४० में।

त्र्यम्बक—त्रिलोकनाथ नाम से प्रसिद्ध। मकान-नं० डी० ३८।२१ बड़ादेव महल्ले में।

ज्ञानकेशव—आदिकेशव की बगल में—इनके ही स्थान पर श्वेतद्वीप तीर्थ है।

ज्ञानतीर्थ—गंगाजी में मणिकर्णिका-घाट के सामने।

ज्ञानमाधव—ज्ञानवापी के पास पाँचोपाण्डव-मन्दिर में। मकान-नं० सी-के० २८।१०।

ज्ञानवापी—विश्वनाथजी के उत्तर। प्रसिद्ध।

ज्ञानविनायक—लांगलीश्वर मन्दिर में बाहर की कोठरी में। मकान-नं० सी-के० २८।४।

ज्ञानह्रद तीर्थ—पंचगंगा के दक्षिण गंगाजी में। ऊपर ज्ञानेश्वर थे, वे लुप्त हैं।

ज्ञानेश्वर प्रथम—पंचगंगा घाट के दक्षिण लुप्त।

ज्ञानेश्वर द्वितीय—लाहौरी टोला में मकान-नं० डी० १।३२ में।

ज्ञानोद तीर्थ—देखिए 'ज्ञानवापी'।

विवरण : मानचित्र—४ झ

१. दुर्गाकुण्ड
२. दुर्गादेवी
३. तिलपर्णेश्वर
४. चण्डभैरव
५. काली (महारुण्डा की प्राचीन मूर्त्ति पुनः स्थापित)
६. लक्ष्मी
७. सरस्वती
८. प्रचण्ड नरसिंह का स्थान (मूर्त्ति लुप्त)
९. कुक्कुटेश्वर
१०. द्वारेश्वर
११. द्वारेश्वरी (वर्त्तमान नाम जलहरेश्वरी)
१२. दुर्गविनायक
१३. द्वारेश्वर का विग्रह (अन्यत्र से लाकर रखा गया)
१४. द्वारेश्वरी का विग्रह (अन्यत्र से लाकर रखा गया)
१५. मुकुटकुण्ड (वर्त्तमान नाम गोआबाई का कुण्ड)
१६. अंगारेशी चण्डी (पंचकौड़ी देवी)
१७. मुकुटेश्वर (लुप्त)

मानचित्र सं० ४.अ
१
दुर्गा कुण्ड
दुर्गा कुण्ड मार्ग
संकट मोचन मार्ग
१५
गोआबाई का कुण्ड
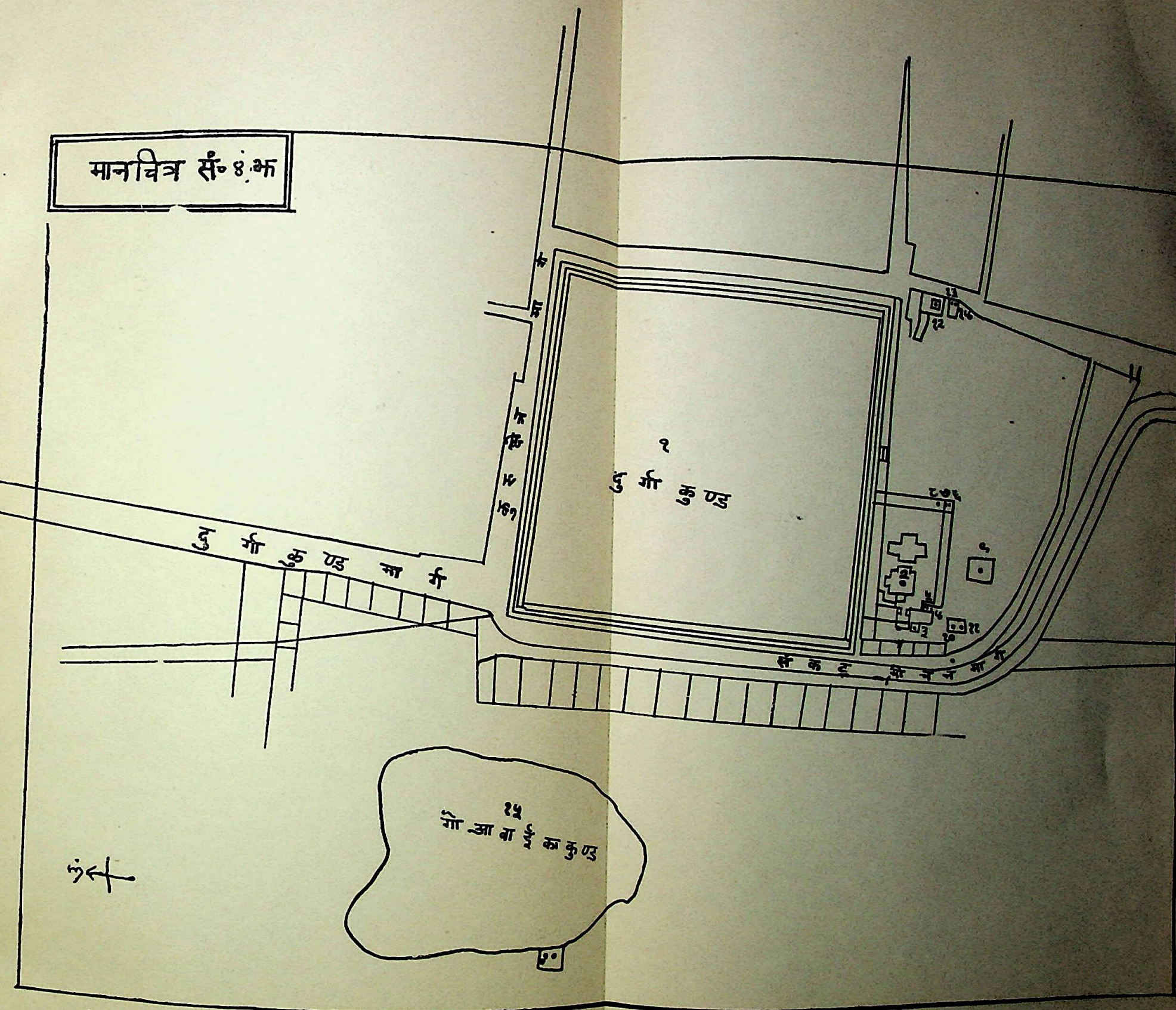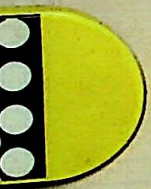
परिशिष्ट (च)

वाराणसी के सुविख्यात देवायतनों का भौगोलिक वर्गीकरण

वरणासंगम—संगम पर पादोदकतीर्थ, आदिकेशव, ज्ञानकेशव, केशवादित्य, संगमेश्वर, प्रयाग-लिंग, वेदेश्वर तथा नक्षत्रेश्वर।

राजघाटकोट—खर्वविनायक शान्तिकरी गौरी तथा राजपुत्र विनायक।

प्रह्लादघाट—प्रह्लादेश्वर, प्रह्लादकेशव, विदार नरसिंह, पिचिंडिलविनायक, मातृपीठ की देवियाँ, ईशानेश्वर (दानेश्वर), गोप्रतारेश्वर, विमलेश्वर (नीलकण्ठ), वरद विनायक, स्वर्लीनेश्वर, यज्ञवाराह, शिवदूती, नृसिंह, प्राचीन मातृपीठ की देवियाँ, अग्नीश्वर।

गोलाघाट—भृगुकेशव।

त्रिलोचनघाट के ऊपर—पंचाक्षेश्वर (रुद्राक्षेश्वर), नर्मदेश्वर, पादोदककूप, सुमुखेश्वर, वामनकेशव।

त्रिलोचन-मन्दिर में—त्रिलोचन, वाल्मीकीश्वर, अरुणादित्य, वाराणसी देवी, उद्दण्डमुण्ड विनायक, त्रिविक्रम, कोटीश्वर।

आदिमहादेव-मन्दिर में—आदिमहादेव, मोदकप्रिय विनायक, पार्वतीश्वर, महानादेश्वर, पार्वती देवी।

कामेश्वर-मन्दिर में—कामेश्वर, दुर्वासेश्वर, महोत्कटेश्वर, महाबल नृसिंह, दुर्वासा ऋषि, खखोल्कादित्य, विनतेश्वर, गरुडेश्वर। समीप में—नलकूबर-कूप, अघोरेशी देवी।

त्रिलोचन-घाट—हिरण्यगर्भलिंग, प्रणव विनायक, सरस्वतीश्वर, शातन्वीश्वर, भीष्मेश्वर, पिलिप्पिलातीर्थ।

महथाघाट—नागेश्वर, नागेश विनायक, नरनारायण केशव।

गायघाट—नागेश्वर-२, नागेश्वरी, मुखनिर्मालिका गौरी।

पाटन दरवाजा—संहारभैरव, यमुनेश्वर।

लालघाट—गोप्रेक्षेश्वर, गोपीगोविन्द, विन्दुमाधव-२।

शीतलाघाट—नारायणी देवी (शीतलाजी), शंखमाधव।

राजमन्दिर—लक्ष्मीनृसिंह, कर्णादित्य, शेषमाधव, विश्वनाथ, अन्नपूर्णा।

ब्रह्माघाट—ब्रह्माजी, ब्रह्मेश्वर-१, ब्रह्मेश्वर-२; विन्दुमाधव-४।

दुर्गाघाट—खर्वनृसिंह-१, ब्रह्मचारिणी दुर्गा, खर्वनृसिंह-२।

पंचगंगा घाट—धौतपापेश्वर, विन्दुमाधव, रेवन्तेश्वर, पंचगंगेश्वर, राम-मन्दिर (कंगनवाली हवेली)।

मंगलागौरी घाट—मंगलागौरी, गभस्तीश्वर, मुखप्रेक्षणिका, मयूखार्क, मंगल विनायक, मंगलोदकूप, चर्चिका देवी।

रामघाट—कालविनायक, वीर रामेश्वर।

बीवीहटिया—धनधान्येश्वर, कामेश्वर-२, नलकूबरेश्वर।

कालभैरव के समीप—आमर्दकेश्वर, कालमाधव, बिन्दुमाधव-२, कालमर्दनेश्वर-२, पापभक्षण, नागेश्वर, महाकाल, दण्डपाणि (क्षेत्रपाल), भैरवेश्वर, चक्रपाणि भैरव (महाश्मशान-स्तम्भ का शीर्षक), कालभैरव, नृत्यशालिनी दुर्गा, जमदग्नीश्वर, दण्डपाणि-भैरव (महाश्मशान-स्तम्भ की पुनः स्थापना), कालेश्वर, पाण्डवेश्वर।

गोशाला में—शुक्रेश्वर।

सिद्धमाता की गली—सिद्धमाता।

अग्नीश्वर घाट—अग्नीश्वर, उपशान्तशिव, भद्रेश्वर, नागेश्वर, नागेशविनायक।

यमघाट—यमेश्वर, यमादित्य।

गंगामहल—आश्विनेयेश्वरौ।

संकठाजी के पास—संकठाजी, सगरेश्वर, कृष्णेश्वर, हरिश्चन्द्रेश्वर, हरिश्चन्द्रविनायक, वैकुण्ठमाधव, सीमाविनायक, सेनाविनायक, याज्ञवल्क्येश्वर, चिन्तामणिविनायक। वशिष्ठ-वामदेव-मन्दिर में—जनकेश्वर, याज्ञवल्क्य अथवा वशिष्ठ ऋषि, अरुन्धती, वशिष्ठेश्वर वामदेवेश्वर, विश्वामित्रेश्वर, भारद्वाजेश्वर। बाहर गली में—वैरोचनेश्वर, पाण्डवेश्वर, विघ्नेश। आत्मावीरेश्वर में—वीरेश्वर, अंगारकेश्वर, बुधेश्वर मित्रविनायक, वीरमाधव। बृहस्पतीश्वर, विश्वकर्मेश्वर, केदारेश्वर, वासुकीश्वर, पर्वतेश्वर।

सिद्धेश्वरी के घेरे में—सिद्धयोगेश्वरी, चन्द्रेश्वर, कलिकालेश्वर, चन्द्रकूप, कोका वाराह, वाराहेश्वर।

शीतला गली में—पितामहेश्वर, त्रिलोकसुन्दरी, कुब्जादेवी, नलकूबरेश्वर, कुब्जा, वरेश्वर, प्रपितामहेश्वर, महाभयहर नृसिंह। समीप में—कलशेश्वर, कलशकूप, अम्बादेवी। ज्योतिरूपेश्वर, वरुणेश्वर, कोलाहलनृसिंह, कंकालभैरव, हरसिद्धि देवी, सिद्धिविनायक, सिद्धिलक्ष्मी, विश्वागौरी।

मणिकर्णिका-घाट—मणिकर्णी देवी, चक्रपुष्करिणी, रुद्रवासेश्वर, दत्तात्रेयेश्वर, तारकेश्वर, महेश्वर, इन्द्रेश्वर, मणिकर्णीविनायक, भगीरथ लिंग।

ब्रह्मनाल स्वर्गद्वारी—कूष्माण्डेश्वर, भागीरथीश्वर, पुलस्त्येश्वर, पुलहेश्वर, राजराजेश्वर, स्वर्गद्वारीश्वर, अंगिरसेश्वर, अमृतेश्वर, अमृतेश्वरी।

नीलकण्ठ महल्ला—नीलकण्ठ, ताम्रवाराह।

लाहौरी टोला—मोक्षद्वारेश्वर, करुणेश्वर, त्रिसन्ध्येश्वर, भगीरथविनायक, ज्ञानेश्वर, मान्धात्रीश्वर।

ललिताघाट—काशीदेवी, ललितादेवी, भागीरथी देवी, गंगादित्य, गंगाकेशव, वशिष्ठेश्वर, महापाशुपतेश्वर (नेपाल पशुपति), आचार्य लकुलीश्वर।

मीरघाट—वृद्धादित्य, आशाविनायक, श्वेतमाधव, शिवदूती, यज्ञवाराह, जरासन्धेश्वर, तत्त्वेश।

धर्मकूप—धर्मेश्वर, कांचनवट, धर्मकूप, विश्वभुजा गौरी, दिवोदासेश्वर, धरणीश्वर, विशालाक्षी, विशालाक्षीश्वर।

अन्नपूर्णा विश्वनाथ के समीप—भीमेश्वर, मोदविनायक, प्रमोदविनायक, दुर्मुखविनायक, ऐश्वर्येश्वर, सुमुखविनायक, अविमुक्तेश्वर, अप्सरसेश्वर, गंगेश्वर का स्थान, मार्कण्डेयेश्वर का स्थान, महाकालेश्वर का स्थान, महेश्वर, ज्ञानवापी, वीरभद्रेश्वर का स्थान, शृंगारगौरी का स्थान।

विश्वनाथजी के घेरे में—विश्वेश्वर, व्यासेश्वर, शृंगारगौरी, कुवेरेश्वर, निकुम्भ, विघ्ननायक गणेश, कपिलेश्वर, विजयलिंग, महाकालेश्वर, दण्डपाणीश्वर, वैकुण्ठेश्वर, विरूपाक्ष, शनैश्चरेश्वर, विरूपाक्षीगौरी, विष्णु, अविमुक्तविनायक, अविमुक्तेश्वर, माहेश्वरी देवी। पास के रानी भवानी-मन्दिर में—तारकेश्वर।

अक्षयवट में—देवयानीश्वर, नकुलीश्वर, द्रौपदी (नटराज की मूर्त्ति), द्रुपदादित्य।

अन्नपूर्णाजी में—अन्नपूर्णाजी, कुवेरेश्वर। राममन्दिर में—भवानीगौरी, भवानीश्वर।

ढुंढिराज-गली—ढुंढिराज–१, ढुंढिराज-२ (रानी भवानी के मन्दिर में प्रसिद्ध ढुंढिराज के ऊपर), ढुंढिराज-३ (गीतावाई के पंचमुखी गणेश)। अपारनाथ-मठ में—देवदेव, ब्रह्मावर्त्तकूप। गली में—गणनाथविनायक, राजराजेश्वर, प्रतिग्रहेश्वर, परद्रव्येश्वर, परान्नेश्वर, निष्कलंकेश्वर, वरुणेश्वर (करुणेश्वर द्वितीय), स्वर्णाक्षेश्वर, दण्डपाणि, मार्कण्डेयेश्वर। पाँचोपाण्डव-मन्दिर में—पाण्डवेश्वर, सम्वर्तेश्वर, श्वेतेश्वर, द्वारविनायक, ज्ञानमाधव।

खोवा बाजार—लांगलीश्वर, ज्ञानविनायक।

कोतवालपुरा—यक्षविनायक।

विश्वनाथ-गली—साक्षीविनायक, प्रीतिकेश्वर, मनःप्रकामेश्वर, कलिप्रिय विनायक, कोटीश्वर।

शकरकंद-गली—ब्राह्मीश्वर, चतुर्वक्त्रेश्वर।

कालिका-गली—शुक्रेश्वर, कचेश्वर, शुक्रकूप, सृष्टिविनायक, चण्डीचण्डीश्वर, कालरात्रि-दुर्गा। समीप में मदालसेश्वर।

त्रिपुराभैरवी घाट के ऊपर—वाराही देवी, त्रिपुराभैरवी, त्रिपुरेश्वर, रुद्रेश्वर।

मानमन्दिर-घाट—सोमेश्वर, रामेश्वर, दाल्भ्येश्वर, स्थूलदन्तविनायक।

दशाश्वमेध—प्रयागलिंग (ब्रह्मेश्वर), शूलटंकेश्वर, अभयदविनायक, प्रयागमाधव, वाराहेश्वर, क्षोणीवाराह (लुप्त), बन्दीदेवी, त्रिभुवनकेशव। शीतला-मन्दिर में—मातृकाएँ, दशहरेश्वर, दशाश्वमेधेश्वर।

राणामहल—कुकुटेश्वर, वक्रतुण्डविनायक (सरस्वतीविनायक), योगिनीपीठ।

पाण्डे घाट—सोमेश्वर, सर्वेश्वर।

नारद घाट—अत्रीश्वर, आनुसूयेश्वर, नारदेश्वर, वासुकीश्वर, दत्तात्रेयेश्वर।

क्षेमेश्वर घाट—क्षेमेश्वर, क्षेमकगण।

चौकी घाट—रुक्मांगदेश्वर।

पातालेश्वर महल्ला—जटी पातालेश्वर, नैर्ऋतेश्वर, पुष्पदन्तेश्वर, एकदन्तविनायक।

बालमुकुन्द का चौहट्टा—ब्रह्मेश्वर, ब्राह्मीदेवी, सिंहतुण्डविनायक।

अगस्त्यकुण्ड महल्ला—अगस्त्येश्वर, विश्वावस्वीश्वर, विधीश्वर, भूतधात्रीश्वर (भूतेश्वर), गरुडेश्वर।

जंगमबाड़ी—कश्यपेश्वर, पुलस्त्येश्वर, हरिकेशेश्वर, अंगिरसेश्वर, विमलादित्य।

केदारेश्वर के समीप—चित्रांगदेश्वर, चित्रग्रीवादेवी, नीलकण्ठ, महालक्ष्मी।

केदार-मन्दिर में तथा केदार-घाट पर—केदारेश्वर, विटंकनरसिंह, तारकेश्वर, गौरीकुण्ड, निष्पापेश्वर।

लालीघाट—जयन्तलिंग, ज्येष्ठविनायक, किरातेश्वर। ऊपर सड़क पर—लम्बोदर विनायक (चिन्तामणिविनायक)।

हरिश्चन्द्रघाट—वृद्धकेदार, गंगाजी में आदिमणिकर्णिका तथा हरपापतीर्थ।

हनुमान-घाट—रामेश्वर, हनुमदीश्वर, सीतेश्वर, लक्ष्मणेश्वर, भरतेश्वर, रुरुभैरव।

शिवाला घाट—हयग्रीवकेशव, बादशाहगंज शिवालय में—स्वप्नेश्वर तथा स्वप्नेश्वरी।

तुलसीघाट—लोलार्ककुण्ड, भद्रेश्वर, भद्रविनायक, पाराशरेश्वर, अमरेश्वर, स्वप्नेश्वर (आदिस्थान), स्वप्नेश्वरी (महिषमर्दिनी), अर्कविनायक, चामुण्डा।

असि-संगम—शुकेश्वर (शुक्रेश्वर), वाणेश्वर, असिसंगमेश्वर, मयूरेश्वर, कुण्डोदरेश्वर, असि-सम्भेदतीर्थ। समीप में—अयोगन्धेश्वरकुण्ड (पुष्कर तालाव), अयोगन्धेश्वर।

दुर्गाजी के समीप—संकटमोचन, दुर्गाजी, दुर्गाकुण्ड, तिलपर्णेश्वर, चण्डभैरव, काली (महारुण्डा की प्राचीन मूर्त्ति), लक्ष्मी, सरस्वती, प्रचण्डनरसिंह का स्थान, कुक्कुटेश्वर, द्वारेश्वर, द्वारेश्वरी (जलहरेश्वरी), दुर्गविनायक, शिवपार्वती-विग्रह।

कुरुक्षेत्र—कुरुक्षेत्र-तालाव, सोनहटिया गड़ही (सन्निहत्यातीर्थ), स्थाणु, सिद्धीश्वर।

गोआबाई का कुण्ड—मुकुटकुण्ड, अंगारेशीचण्डी (पंचकौड़ीदेवी)।

शंखूधारा—शंकुकर्णेश्वर, द्वारकाधीश, द्वारकेश्वर। **कोल्हुआ**—कहोलेश्वर। **डौंड़िया वीर**—विभाण्डेश्वर।

कमच्छा महल्ला—कामाक्षा देवी, क्रोधनभैरव, अंगारेशी चण्डी, अंगारेश्वर, अंगारेश्वर-कुण्ड (रोहित-कुण्ड), वटुकभैरव, घृण्णेश्वर (श्रवणेश्वर), वैद्यनाथ (वैजनत्था)।

रामकुण्ड—रामेश्वर, स्वयम्भुलिंग, सीतेश्वर, लवकुशेश्वर।

लक्ष्मीकुण्ड—महालक्ष्मीकुण्ड, महालक्ष्मीश्वर (सोरहियानाथ), श्रृंगीऋषि, ऋष्यश्रृंगेश्वर का स्थान, हयकंठीदेवी, करवीरेश्वर, महालक्ष्मी, काली, शिखिचण्डी, श्रीदेवी (आदिलक्ष्मी), कूणिताक्षविनायक, भण्डविनायक, श्रीकण्ठलिंग।

सूर्यकुण्ड—साम्बादित्य, साम्बादित्य-कुण्ड (सूर्यकुण्ड), दीप्ताशक्ति, द्विमुख विनायक।

पितरकुण्डामहल्ला—पित्रीश्वर, छागलेश्वर, क्षिप्रप्रसादनविनायक।

ध्रुवेश्वर—ध्रुवेश्वर, चतुर्दन्तविनायक।

कोदई चौकी—गोकर्ण, गोकर्णकूप, वैद्यनाथ।

बड़ादेव—त्र्यंबकेश्वर (त्रिलोकनाथ), पुरुषोत्तम भगवान्, मुचकुन्देश्वर (बड़ादेव)।

गोदौलिया—गौतमेश्वर।

बाँसफाटक—समुद्रेश्वर, ईशानेश्वर, गजकर्णविनायक, आदिविश्वेश्वर, सौभाग्यगौरी, । घुँघरानी गली—राजराजेश्वर।

राजादरवाजा—भारभूतेश्वर, गजविनायक, किरातेश्वर, आषाढीश्वर, चित्रगुप्तेश्वर, चित्रकूप।

हड़हा महल्ला—अस्थिक्षेपतड़ाग (हड़हाताल), कीकसेश्वर। पुरानी गुदड़ी में—हाटकेश्वर।

चौक—चित्रघण्टविनायक-१, चित्रघण्टविनायक-२, स्थूलजंघविनायक, चित्रघण्टादेवी।

पशुपतीश्वर महल्ला—पशुपतीश्वर, अवधूतेश्वर, अवधूतकुण्ड, गंगेश्वर, दिवोदासेश्वर, दिवोदास, परशुरामेश्वर, परशुरामविनायक।

ठठेरी बाजार—शतकालेश्वर।

कर्णघण्टा—व्यासेश्वर, पाराशरेश्वर, व्यासकूप, घण्टाकर्णेश्वर (कण्ठेश्वर), घण्टाकर्ण-ह्रद, काशीदेवी, गौरीकूप।

सप्तसागर—ज्येष्ठेश्वर, ज्येष्ठविनायक, ज्येष्ठागौरी, कहोलेश्वर, पवनेश्वर, भृगुनारायण, कन्दुकेश्वर, जैगीषव्येश्वर, भीषणभैरव (भूतभैरव), जयन्तेश्वर, चतुःसमुद्रकूप, निवासेश्वर का स्थान, आषाढीश्वर, दुर्वासेश्वर, सूतीश्वर।

दीनानाथ गोला—उटजेश्वर। औघड़नाथ तकिया—तक्षकेश्वर।

पिशाचमोचन—पिशाचेश्वर, विमलेश्वर, पंचास्यविनायक।

औसानगंज—तालकर्णेश्वर (वालचन्द्रेश्वर), उर्वशीश्वर।

ईश्वरगंगी—जैगीषव्येश्वर, जैगीषव्य गुहा, जैगीषव्य ऋषि, आग्नीध्रेश्वर (यागेश्वर), अग्नीश्वरकुण्ड (ईश्वरगंगी तालाव)।

जैतपुरा—सिद्धेश्वर, ज्वरहरेश्वर, आम्नातकेश्वर। वागीश्वरी (महामुण्डा चण्डी), स्कन्दमाता दुर्गा, अश्वारूढा, महामुण्डेश्वर।

नागकुँआ—कर्कोटकवापी (नागकुँआ), कर्कोटकेश्वर, कर्कोटक नाग, दृमिचण्डेश्वर (मल्लू हलवाई का मन्दिर), वासुकिकुण्ड (नागकुआँ के पश्चिम लुप्तप्राय), गन्धर्व-सरोवर (मीरनसागर), सुप्रतीक सरोवर, कमालगड़हा।

धूपचण्डी—ध्रुवचण्डीदेवी, विकटद्विजविनायक, सूक्ष्मेश्वर।

सदर बाजार—चण्डीश्वर, चण्डीदेवी, मुण्डविनायक, पाशपाणिविनायक।

विश्वेश्वरगंज—शिवेश्वर।

हरतीरथ—हंसतीर्थ (हरतीरथ का पोखरा), वृषरुद्र, कृत्तिवासेश्वर की मस्जिद।

वृद्धकाल के समीप—कृत्तिवासेश्वर, रत्नेश्वर, सतीश्वर, श्रुतीश्वर, अम्बिकेश्वर, अग्निजिह्ववेताल, अमृतकूप, अपमृत्युहरेश्वर (महामृत्युंजय)।

वृद्धकाल के घेरे में—मातलीश्वर (मालतीश्वर), महाकाल, वृद्धकालेश्वर, भीष्मकेशव, स्वयम्भूत विनायक, अन्तकेश्वर (अब्दतीश्वर), ऐरावतेश्वर (देवराजेश्वर), धन्वन्तरीश्वर, वैद्यनाथकुण्ड, शैलेश्वर, सिद्धेश्वर, असितांगभैरव, सर्वेश्वर, हलीशेश्वर, लोमशेश्वर, जनकेश्वर, कश्यपेश्वर, दक्षेश्वर, हस्तिपालेश्वर, मार्कण्डेयेश्वर, कालोदककूप, नागेश्वर, चतुर्मुखेश्वर। दारानगर—चित्रेश्वर (विश्वेश्वर)।

मध्यमेश्वर महल्ला—भद्रकाली-१, भद्रकाली-२, मध्यमेश्वर, विश्वेदेवेश्वर, वीरभद्रेश्वर, आशापुरी देवी, मन्दाकिनीतीर्थ (मैदागिन का पोखरा), आपस्तम्बेश्वर।

बड़े गणेश पर—महाराजविनायक (बड़ेगणेश), दन्तहस्तविनायक, जम्बुकेश्वर, सिद्धयष्टकेश्वर।

दुधीगड़ही धनेसरा—महाकालकुण्ड (दुद्धीगड़ही), धनदेश्वर-कुण्ड (धनेसरा), धनदेश्वर (बाबा नृसिंहदास के मठ में)।

हनुमान-फाटक—सुमन्त्वीश्वर, सुमन्त्वादित्य, विश्वकर्मेश्वर।

मढ़ियाघाट लाटभैरव—कुलस्तम्भ (लाटभैरव), कपालीभैरव। शैलेश्वरी (शैल-पुत्री), शैलेश्वर, हुण्डनेश, मुण्डनेश, हुण्डनमुण्डनगण। समीप में—अमरकह्रद (अमरैया ताल)।

पठानी टोला हुक्काकेसन महल्ला—पापमोचनतीर्थ (नौवापोखरा), ऋणमोचनतीर्थ (लड्डू गड़हा), ओंकारेश्वर, कपालमोचन तालाव, अकारेश्वर, मकारेश्वर, विमलेश्वर-कुण्ड (नौगिखरीगड़ही), रुद्रावासतीर्थ (सुग्गी गड़ही)।

ककरहाघाट—प्रयागलिंग, शान्तिकरी गौरी।

कोनिया घाट—वरणा-पार पेड़ के नीचे क्रत्वीश्वर।

परिशिष्ट (छ)

उन देवायतनों की सूची, जिनका अभी पता नहीं लगा है

अक्रोधनेश्वर
अग्निवर्णेश्वर
अघोरेश्वर
अट्टहासेश्वर
अदितीश्वर
अध्वकेश्वर
अनन्तवामन
अनन्तेश्वर
अनलेश्वर
अम्बरीषेश्वर
अयुतभुजा
अरुणीश्वर
अलर्केश्वर
अश्वत्थामेश्वर
आज्यपेश्वर
आहुतीश्वर
उग्रकुण्ड
उतथ्यवामदेव
उद्दालकतीर्थ
उपजंघनेश्वर
उपमन्यवीश
उमापति
ऐंद्री मातृका
अन्तकेश्वर
कणादकूप
कणादेश्वर
कण्वेश्वर
कनकेश
कपालीश
कलिंदमेश्वर
कात्यायन लिंग
कात्यायनेश्वर
किरणेश्वर
कुण्डेश्वर
कुन्तलेश्वर
कुम्भीश्वर
कोकावाराह तीर्थ
कौमारी
कौर्मीशक्ति
कौसुमेश्वर
कौस्तुभेश्वर
कंकेश्वर
कण्ठेश्वर
खट्वांगेश्वर
खुरकर्त्तरीश्वर
गजतीर्थ
गजास्या देवी
गणेश्वरेश्वर
गदाधरेश्वर
गयाधीश लिंग
गर्गेश
गायत्रीश्वर
गालवेश्वर
गोभिलेश्वर
गोव्याघ्रेश्वर
ग्रहेश
चक्रह्रद
चक्रेश्वर
चक्रेश्वर द्वितीय
चतुर्वेदेश्वर
चतुः सागरलिंग
चर्ममुण्डादेवी
चित्ररथेश्वर-तीर्थ
चौरतीर्थ
च्यवनेश्वर
च्यवनेश्वरद्वितीय
जराहरेश्वर
जलेश
जातुकर्णेश्वर
जाबालीश्वर
जाम्बवतीश्वर
जारुधीश्वर
जालकेश्वर
जाल्मेश
जीमूतवाहनेश्वर
जैमिनीश्वर
ताम्रकुण्ड
तालजंघेश्वरी देवी
तुम्बरेश्वर
त्वरिता देवी
दधिकल्पेश्वर
दधिकल्पह्रद
दधिचीश्वर
दधिवामन
दमनेश
दारुक तीर्थ
दारुकेश्वर
दिलीपेश्वर
दिवोदासतीर्थ
दीप्तेश
दुर्वासा तीर्थ
दृक्केश
दृढेश्वर
देवलेश्वर
द्रोणेश्वर
द्विभुजगण
धर्मशास्त्रेश्वर
धातेश
धुन्धुमारीश्वर
नन्दिषेणेश्वर
नन्दीश्वर द्वितीय
(महादेव दक्षिण)
नलेश्वर
नारसिंहीदेवी
निम्नगेश्वराः
निर्जरेश्वर
नैगमेयेश्वर
नैध्रुवेश्वर

पर्जन्येश्वर
पर्णादिश्वर
पलितेश्वर
पापनाशनलिंग
पितृकूप
पुराणेश्वर
पंचशिखेश्वर
प्रचण्डेश
प्रसन्न वदनेश्वर
प्रसन्नोदकुण्ड
प्रियव्रतेश्वर
बलिकेशव
बाणेश्वर
बाभ्रवेयेश्वर
वालखिल्येश्वर
बालीश्वर
बाष्कुलीश्वर
ब्रह्मरानीश्वर
भद्रकाली द्वितीय
भद्रनाग
भद्रवापी
भद्रेश्वर द्वितीय
भीषणाभैरवी
भुवनेश्वर
भुवनेश्वरकुण्ड
भूर्भुवलिंग
मखेश्वर
मगधेश्वर
मतंगेश्वर
मन्वीश्वर
मरुत्तेश
मरुत्तेश द्वितीय
महातेजलिंग
महाबललिंग
महायोगीश्वर
महालिंग
महाव्रत लिंग
महोदधि तीर्थ
महोदरेश्वर
माद्रीश्वर
मार्कंडेयेश्वर द्वितीय
मांधातृतीर्थ
मुखप्रेक्षेश्वर
मुण्डासुरेश्वर
मुण्डेश्वर
मेनकाकुण्ड
मण्डलेश्वर
मुण्डुकेश्वर
मंत्रेश्वर
मोक्षेश्वर
यदृच्छेश
यमदंष्ट्रादेवी
यक्षिणीकुण्ड
यज्ञेश्वर
यज्ञोदकूप
योगेश्वर
रम्भेश्वर
रसोदककूप
रावणेश्वर
राक्षसेश्वर
लिखितेश्वर
लोकपालेश्वर
वत्सेश्वर
वरणेश
वाजसनेयेश्वर
वाडव्यलिंग
विकटलोचना
विजयभैरवीगौरी
विज्वरेश्वर
विनायकेश्वर
विराधेश्वर
विशाखेश्वर
विन्दतीश्वर
वृद्धवशिष्ठलिंग
वृषेश्वरतीर्थ
वैराग्येश
वैवस्वतेश्वर
व्याघ्रपादेश्वर
व्रजेश
शचीश्वर
शतनेत्रादेवी
शर्व
शर्ववाहिनी
शशांकेश्वर
शाखेश
शातातपेश्वर
शालंकायनेश्वर
शाण्डिल्येश्वर
शान्तन्वीश्वर
शिलादेश्वर
शिलावृत्तीश्वर
शुभोदककूप
शुष्कोदरी
शूलह्रद
शूलेश्वर
शंकरेश्वर
शंखचूडावापी
शंखचूडेश्वर
शंखेश्वर
श्रीकण्ठकुण्ड
श्रेष्ठलिंग
सारस्वत लिंग
सारस्वत स्रोत
सावित्रीश्वर
सिद्धीश्वर
सुकुशेश्वर
सुग्रीवेश्वर
सूर्याचन्द्रमसेश्वरौ
सोमनन्दीश्वर
स्थूलकर्णेश्वर
स्वर्णभारदेश्वर
सक्तुप्रस्थेश्वर
सगरतीर्थ
सत्यवतीश्वर
सनकेश्वर
सनत्कुमारेश्वर
सनन्देश्वर
सप्तसागर-लिंग
सर्वतीर्थेश्वर
सहस्रास्यादेवी
सहस्राक्ष लिंग
हर्षितेश्वर
हलीशेश्वर
हिमस्थेश
हिरण्याक्षेश्वर
हिरण्याक्षेश्वर द्वितीय
हेतुकेश्वर
क्षपादेश
त्रिपुरेश्वर कुण्ड
त्र्यक्षेश्वर

—

कुल योग—२४०

मुद्रक—बेनी माधव प्रेस, राँची

१. रा
२. स्व
३. सी
४. ल
५. म
६. म
७. ऋ
८. ह
९. क
१०. म
११. क
१२. ि
१३. श्र
१४. व
१५. म
१६. श्र
१७. स
१८. स
१९. व
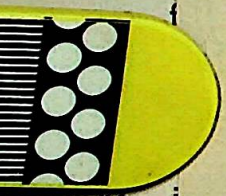
२५.
२६.
२७.
२८.

ग्रन्थ-नाम-संकेत

ऋग्वेद—ऋ० वे०
यजुर्वेद—य० वे०
अथर्ववेद—अ० वे०
महाभारत—म० भा०
ब्रह्मवैवर्त्तपुराण—ब्र० वै० पु०
काशी-रहस्य—१. ब्र० वै० पु०, का० र०
२. का० र०
ब्रह्मपुराण—ब्र० पु०
नारदपुराण—ना० पु०
अग्निपुराण—अ० पु०
मत्स्यपुराण—म० पु०
लिङ्गपुराण—लिं० पु०
पद्मपुराण—प० पु०
कूर्मपुराण—कू० पु०
गरुडपुराण—गरुड पु०
आदित्यपुराण—आ० पु०
स्कन्दपुराण—स्कं० पु०
भविष्यपुराण—भ० पु०
वायुपुराण—वा० पु०
शिवपुराण—शि० पु०
शिवरहस्य—शि० र०
वामनपुराण—वामन पु०
गणेशपुराण—ग० पु०
सनत्कुमार-संहिता—सन० सं०
छान्दोग्य उपनिषद्—छान्दोग्य०
मुण्डक-उपनिषद्—मुण्डक०
जाबाल-उपनिषद्—जा० उ०
काशीखण्ड—का० खं०
काशी-केदार-खण्ड—का० के० खं०
कृत्यकल्पतरु—कृ० क० त०
वीरमित्रोदय—वी० मि०
त्रिस्थलीसेतु—त्रि० से०
तीर्थचिन्तामणि—ती० चि०
हेमाद्रि—हेमाद्रौ०
काशीदर्पण—का० द०
तीर्थसुधानिधि—ती० सुधा०
महाभारत, वनपर्व—म० भा०, वन०-प०
पद्मपुराण पाताल खण्ड—प० पु०, पा० खं०

मानचित्रों की सूची

आधारभूत पुस्तकों की सूची

(क) अँगरेजी :

1. Cambridge History of India
2. History of Benares by Altekar
3. India of Aurangzeb by Sarkar
4. The Vedic Index by Keith and Macdonnel
5. History of India by Jaiswal
6. The Indian Antiquary
7. Epigraphia Indica—Vol. 2, 4, 5, 7, 12, 14 and 18
8. Corpus Inscriptionism Indicarum : Fleet—Vol. III
9. Epigraphia Carnatica
10. Cunnigham's Geography of Ancient India
11. Studies in Geography of Ancient and Mediaeval India—Sarkar
12. Benares; the Sacred City of the Hindus—Sherring
13. Handbook of Allahabad, Kanpur, Lucknow and Benares—Keene
14. Kashi; the City Illustrious—Edwin Greaves
15. Benares, Sketch of Hindu Life and Religion—Havell
16. A Handbook of Banaras—Rev. Arthur Parker
17. India as described in Early Texts of Bddhism & Jainism
18. History of Ancient India—Dr. R. S. Tripathi
19. Pre-Muslim India—V. Rangacharya
20. Benares Gazetteer, 1876
21. " " ; 1901.
22. Hindu Civilization by Dr. R. K. Mukerji
23. Kane's History of Dharmashastra; Vol. IV
24. Ain-i-Akbari
25. The Akbar-Nama.
26. Oxford History of India—V. Smith
27. Dara Shikoh—Kanungo
28. Travels in India—Hodge
29. Taverners' Travels—Crooke
30. Monumental Antiquities & Inscriptions of N. W. P. & Oudh—Fuhrer

(ख) हिन्दी तथा संस्कृत :

१. अथर्ववेद : पैप्पलादशाखा
२. ऋग्वेद
३. जाबालोपनिषद्
४. कौषीतकी उपनिषद्
५. शतपथ ब्राह्मण
६. बृहदारण्यक उपनिषद्
७. महाभारत—१. वनपर्व—अ० ८४
 २. भीष्मपर्व—अ० २४
 ३. कर्णपर्व—अ० ५
 ४. अनुशासन-पर्व—अ० ३०
८. हरिवंशपुराण
९. शिवपुराण
१०. स्कन्दपुराण : काशीखण्ड
११. लिङ्गपुराण
१२. ब्रह्मवैवर्त्तपुराण : काशी-रहस्य : काशी-केदार-माहात्म्य
१३. नारदपुराण
१४. ब्रह्मपुराण
१५. कूर्मपुराण
१६. पद्मपुराण : सृष्टि-खण्ड—अ० १४
 स्वर्ग-खण्ड—अ० ३३–३७
 भूमिखण्ड—अ० ९१
१७. वामनपुराण
१८. अग्निपुराण
१९. मत्स्यपुराण
२०. विष्णुपुराण
२१. मार्कण्डेय-पुराण
२२. वायुपुराण
२३. आदित्यपुराण
२४. भविष्यपुराण
२५. गणेशपुराण
२६. ब्रह्माण्ड-पुराण
२७. सनत्कुमार-संहिता
२८. कालिका-पुराण
२९. त्रिस्थलीसेतु : भट्टनारायण
३०. कृत्यकल्पतरु : तीर्थ-विवेचन काण्ड—लक्ष्मीधर
३१. वीरमित्रोदय : तीर्थप्रकाश—मित्र मिश्र
३२. तीर्थचिन्तामणि—वाचस्पति मिश्र
३३. तीर्थसुधानिधि
३४. तीर्थेन्दुशेखर
३५. काशी-दर्पण
३६. काशीतत्त्व-प्रकाशिका
३७. काशी-प्रादुर्भाव :
३८. काशी-माहात्म्यसारः
३९. काशीसारः
४०. काशी-स्थिति-चन्द्रिका
४१. काशीस्वरूपकथनम्
४२. काशी-मुक्ति-विवेकः
४३. पञ्चक्रोशी-मार्ग-शोधन—बापूदेव शास्त्री
४४. काशी-यात्रा—ज्योतिर्विद् लामू
४५. काशीयात्रा—गोरजी
४६. काशी-यात्रा—नारायणपति त्रिपाठी
४७. गुरुचरित्र (मराठी)
४८. माझा-चित्रपट (मराठी)—भाऊशास्त्री बझे
४९. विनय-सम्मति : गौरीशंकर दीक्षित
५०. आसार बनारस (उर्दू)—मौलाना अब्दुस्सलीम नोमानी

विवरण : मानचित्र—४ ट

१. अस्थिक्षेप-तड़ाग (हड़हा ताल)
२. हाटकेश्वर
३. कीकसेश्वर
४. किरातेश्वर-१ तथा २
५. आषाढ़ीश्वर
६. गजविनायक
७. भारभूतेश्वर
८. चित्रगुप्तेश्वर
९. चित्रकूप
१०. चित्रघण्ट विनायक तथा स्थूलजंघ विनायक
१०(क). चित्रघण्ट विनायक का दूसरा स्थान
११. चित्रघण्टा देवी
१२. पशुपतीश्वर
१३. अवधूतकुण्ड
१४. अवधूतेश्वर
१५. गंगेश्वर
१६. दिवोदासेश्वर
१७. दिवोदास की मूर्त्ति
१८. परशुरामेश्वर
१९. परशुराम विनायक
२०. शतकालेश्वर
२१. व्यासेश्वर
२२. पाराशरेश्वर
२३. घण्टाकर्णेश्वर (कण्ठेश्वर)
२४. व्यासकूप
२५. घण्टाकर्ण ह्रद (कर्णघण्टा तालाब)
२६. गौरीकूप-अप्सरसकूप
२७. काशी देवी
२८. ज्येष्ठेश्वर
२९. जेष्ठ विनायक
३०. ज्येष्ठागौरी
३१. कहोलेश्वर
३२. व्याघ्रेश्वर
३३. पवनेश्वर
३४. भृगुनारायण
३५. ———
३६. कन्दुकेश्वर
३७. जैंगीषव्येश्वर
३८. भीषणभैरव (भूतभैरव)
३९. ———
४०. ———
४१. जयन्तेश्वर
४२. चतुःसमुद्र-कूप
४३. निवासेश्वर (गुप्त)
४४. आषाढीश्वर
४५. दुर्वासेश्वर
४६. भूतीश्वर (अन्यत्र से लाकर रखे गये)

बे नि याँ
ता ला ब १

विवरण : मानचित्र—४ ठ

१. हंसतीर्थ (हरतीरथ का तालाव)
२. वृषरुद्र
३. कृत्तिवासेश्वर
४. सतीश्वर
५. रत्नेश्वर
६. श्रुतीश्वर
७. अम्बिकेश्वर
८. कृत्तिवासेश्वर मस्जिद
९. अग्निजिह्व वेताल
१०. अपमृत्युहरेश्वर मृत्युञ्जय)
११. वृद्धकाल का घेरा-विस्तृत विवरण संलग्न मानपट में देखिए।
१२. चित्रेश्वर
१३. आपस्तम्बेश्वर (वूढेबावा)
१४. मध्यमेश्वर
१५. भद्रकाली-१ तथा २
१६. विश्वेदेवेश्वर
१७. वीरभद्रेश्वर
१८. आशापुरी देवी
१९. मन्दाकिनी ह्रद (मंदागिन का तालाव)
२०. वृषभेश्वर
२१. बाणेश्वर
२२. सिद्ध्यष्टकेश्वर
२३. जम्बुकेश्वर
२४. महाराज विनायक
२५. दन्तहस्त विनायक
२६. आपस्तम्ब कूप
२७. तालकर्णेश्वर
२८. उर्वशीश्वर
२९. जैगीषव्य गुहा
३०. जैगीषव्येश्वर
३१. अग्नीध्रेश्वर (जामेश्वर)
३२. चिन्तामणि विनायक
३३. अग्नीध्रेश्वर कुण्ड (ईश्वरगंगी का तालाब)
३४. उटजेश्वर
३५. शिवेश्वर
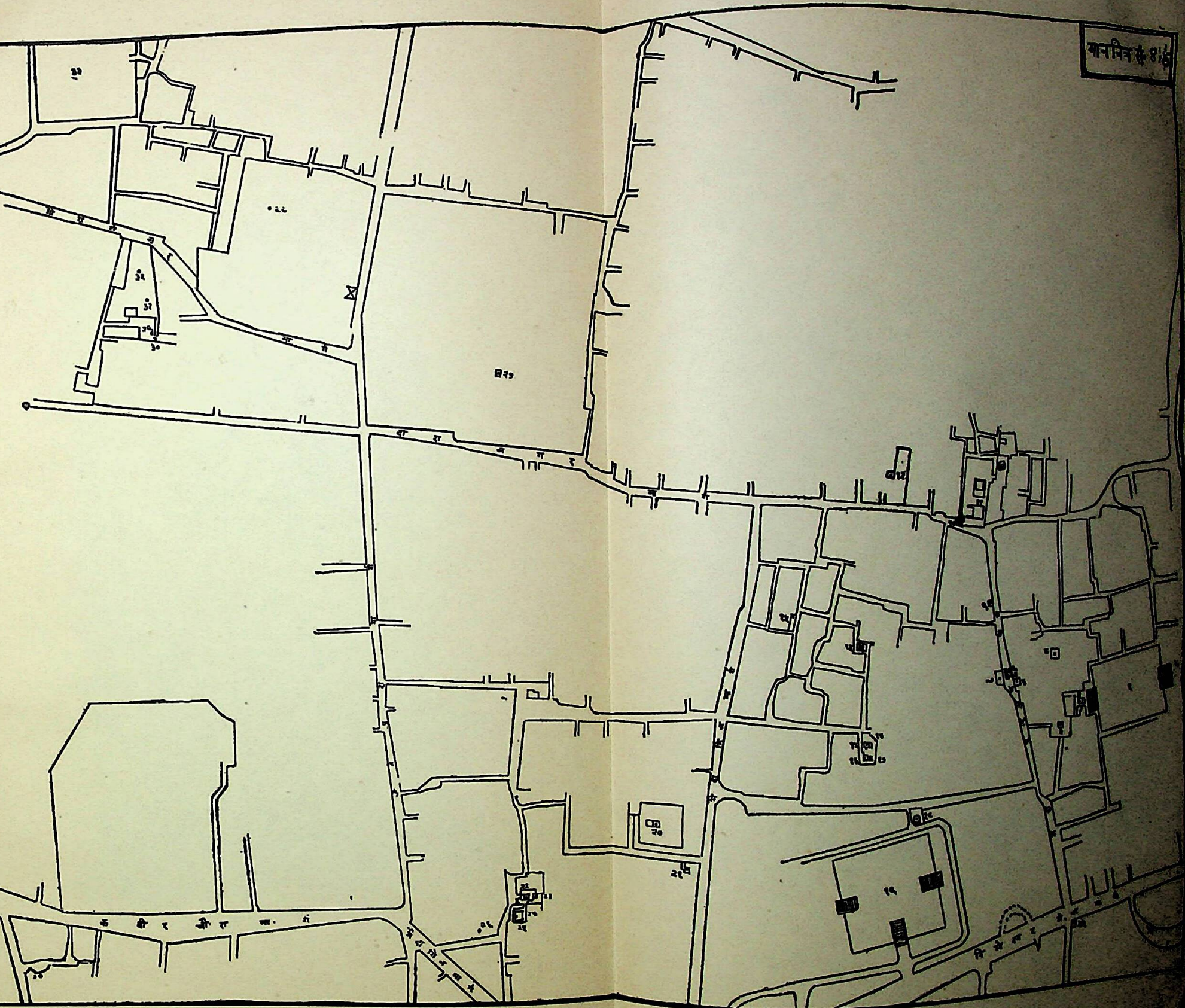
मानचित्र सं० ४

चित्र-स० १ : पारसनाथजी
(पृ० १७)

चित्र-सं० २ : शिवपूजक यक्ष (पृ० २४)
(उत्तरप्रदेश के राजकीय पुरातत्त्व-सग्रहालय के सौजन्य से प्राप्त)

चित्र-सं० ३ : मन्दाकिनी तीर्थ का उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ का स्वरूप

(पृ० ६२)
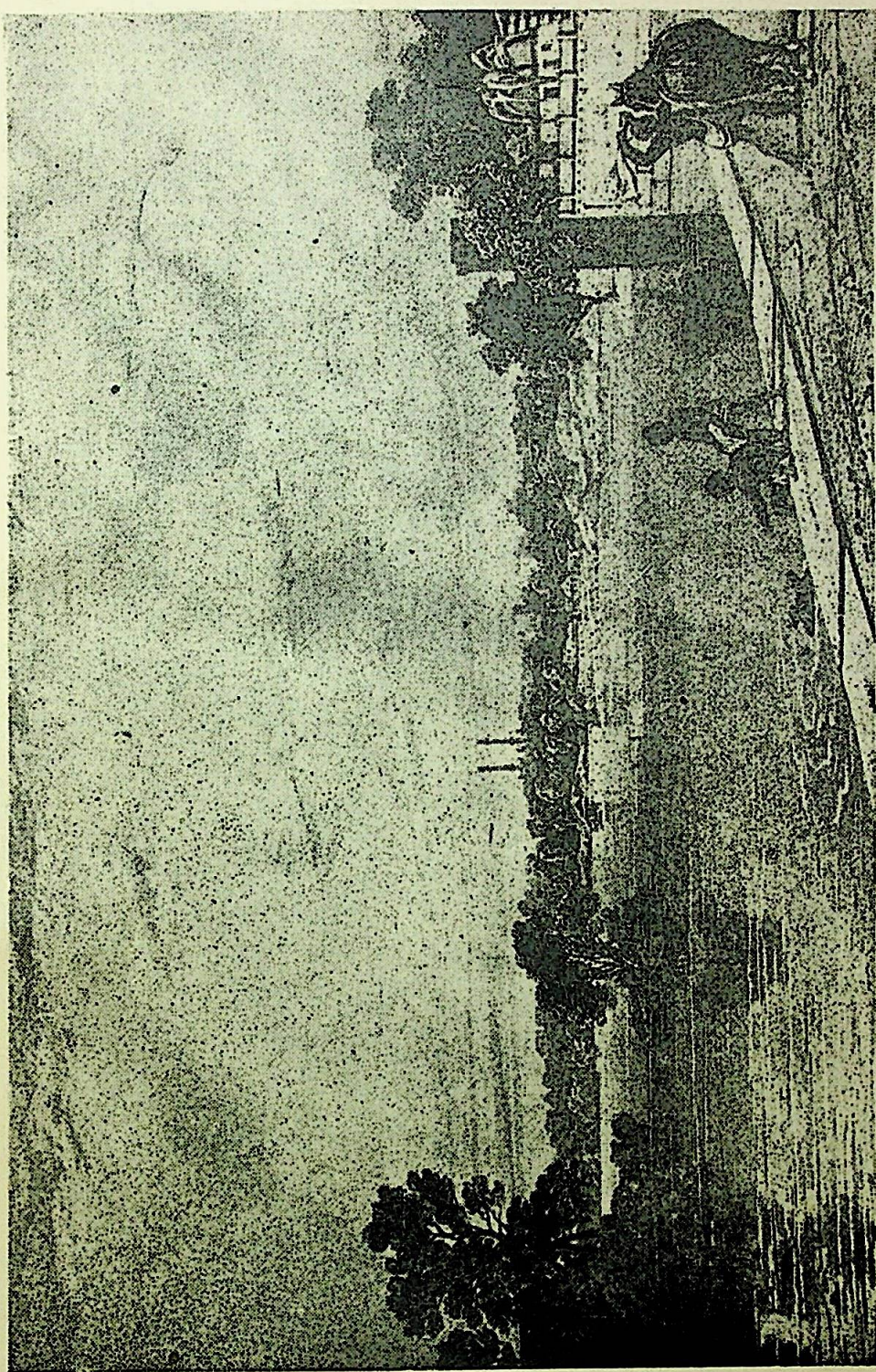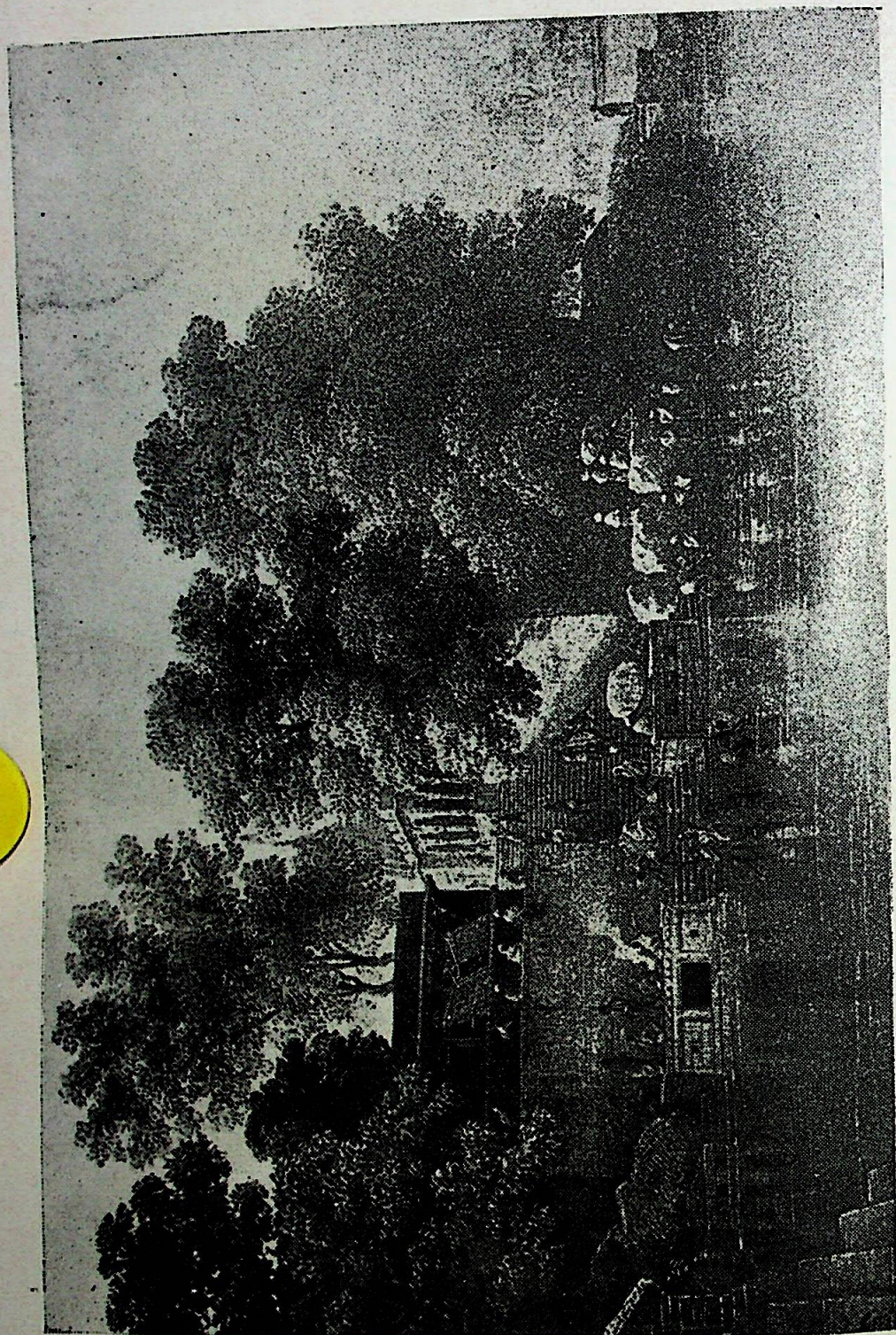
चित्र-सं० ४ : कपिलाह्रद का उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ का स्वरूप
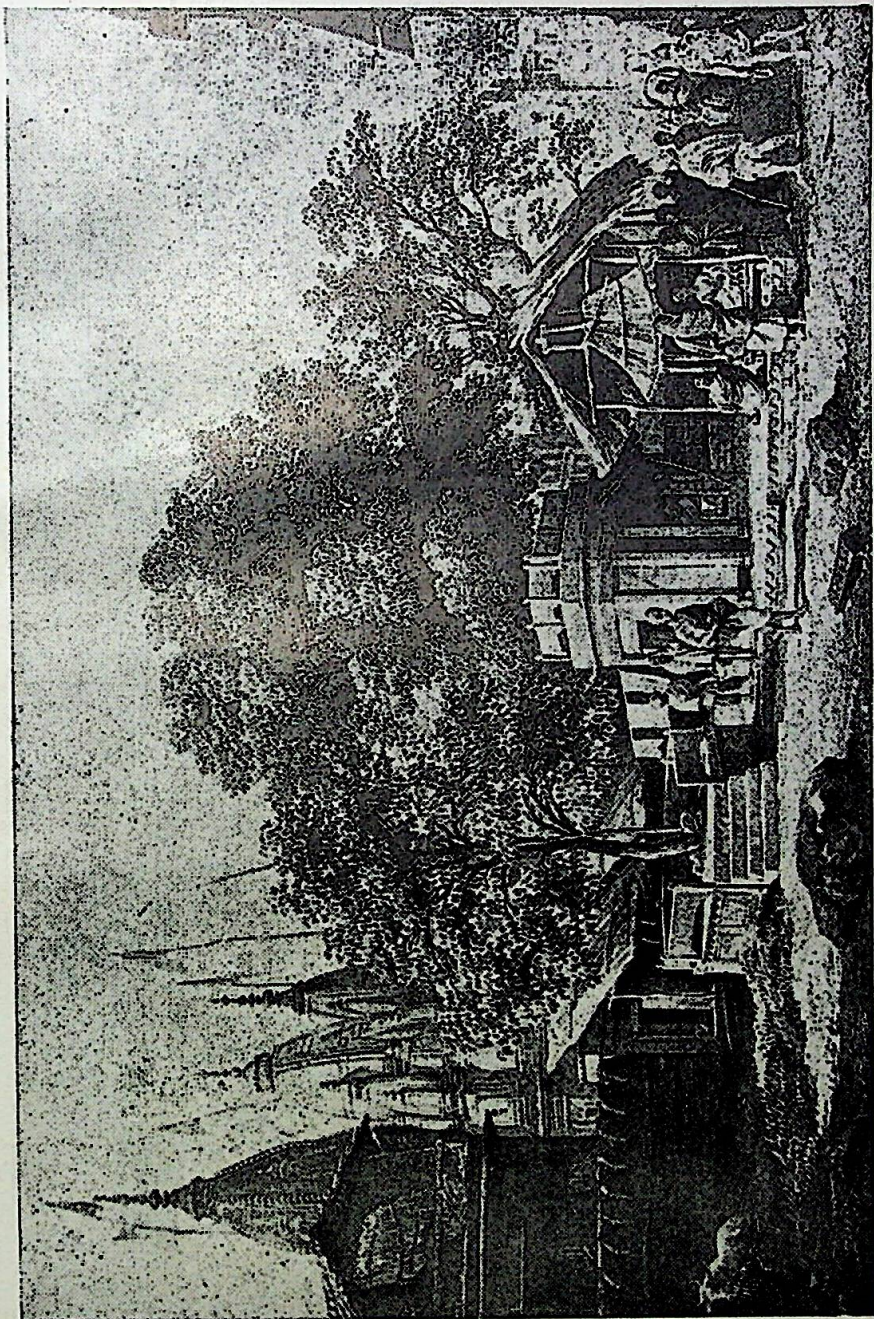
चित्र-सं० ५ : ज्ञानवापी के समीप का उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ का स्वरूप
(पृ० ७४-७५)
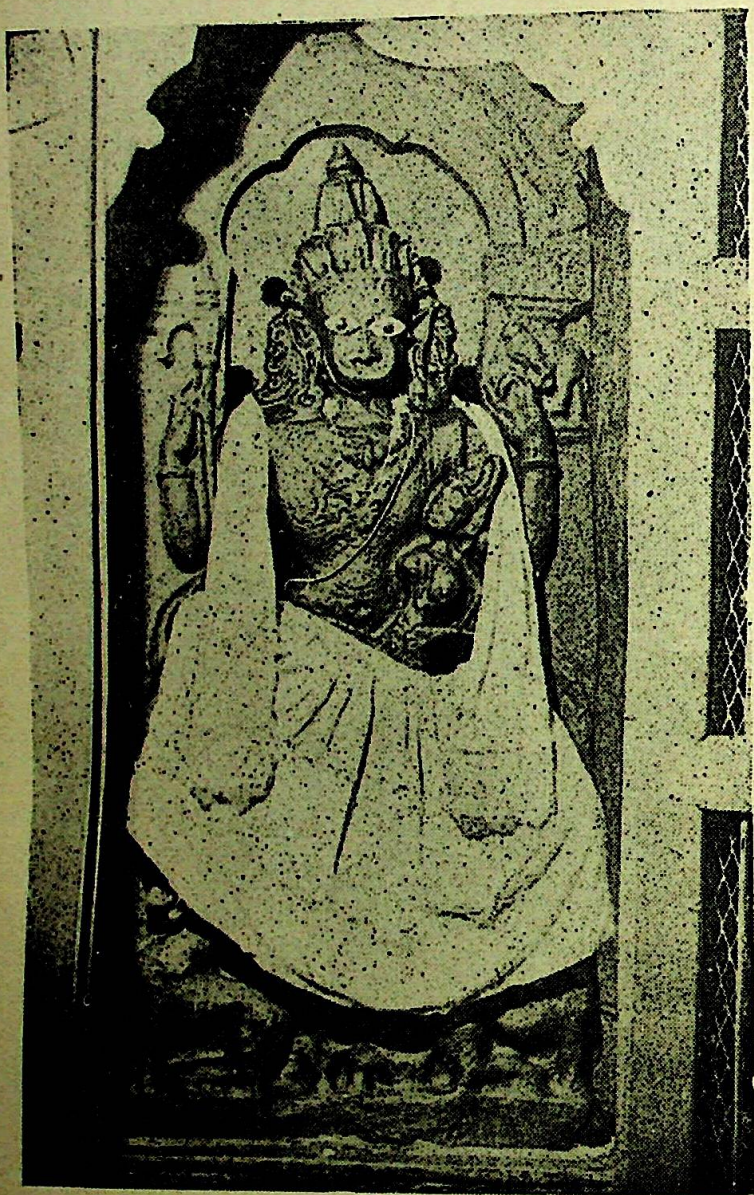
चित्र-सं० ६ : लक्ष्मी नृसिंह की वर्त्तमान प्राचीन मूर्त्ति

(पृ० ८०)

चित्र-सं० ७ : कोका वराह
(पृ० ८१/३२२)

चित्र-सं० ८ :
ताम्रवराह की वर्त्तमान मूर्त्ति

चित्र-सं० ९ : बिन्दुमाधवघाट का उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ का स्वरूप (पृ० ८२-८३)
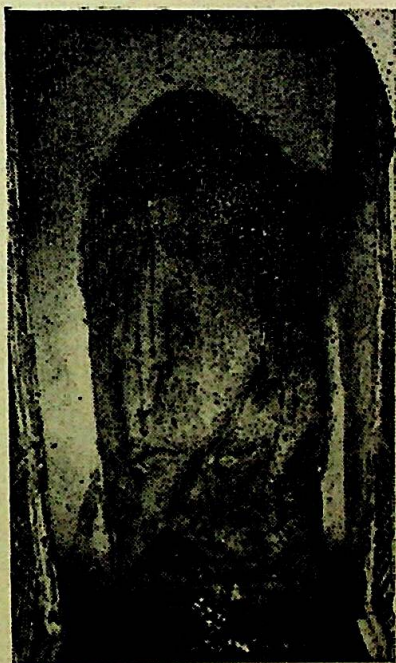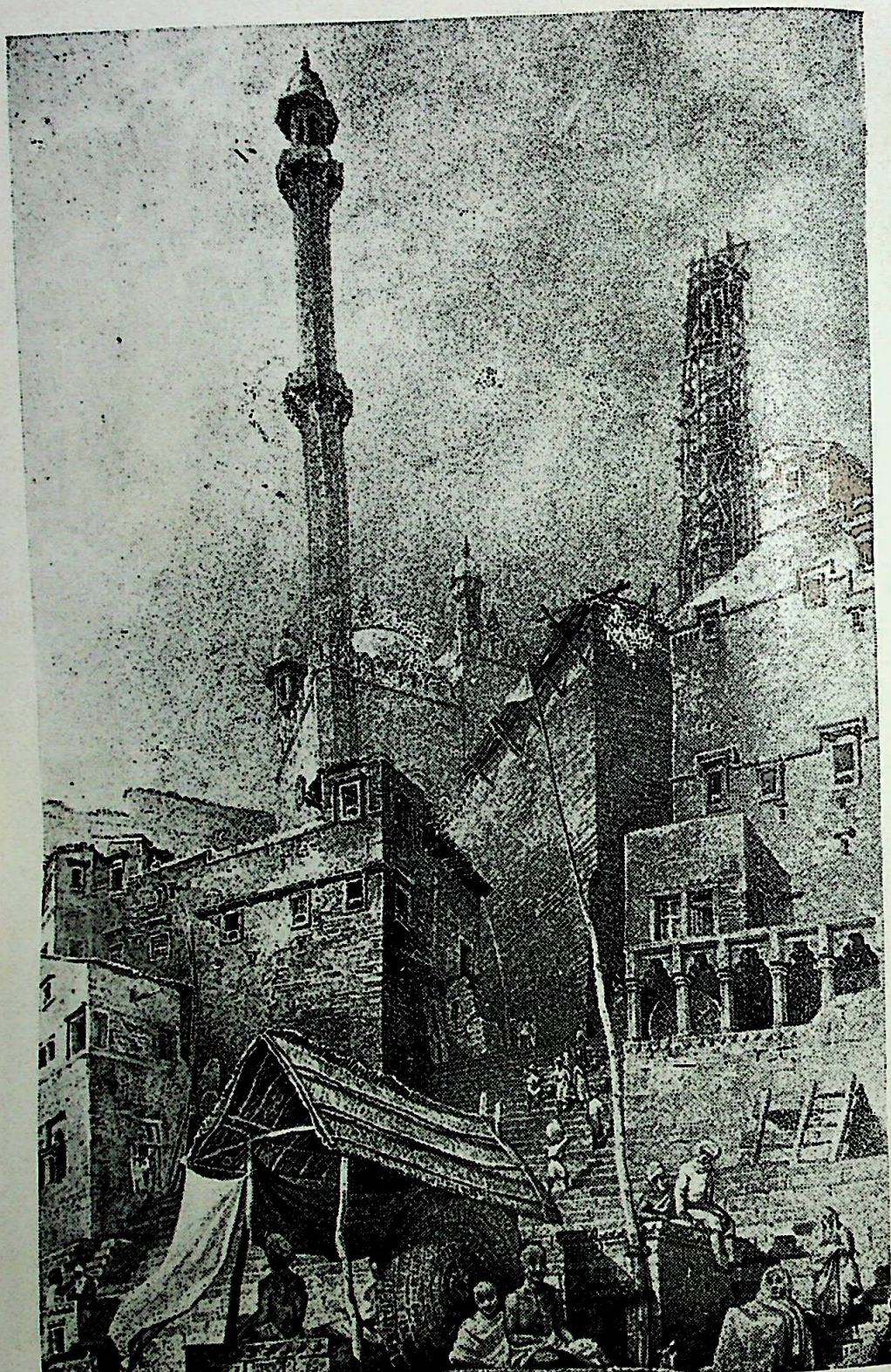
चित्र-सं० १० :
विष्णु तथा
विरूपाक्षी गौरी
(पृ० ८२-८३/९३)
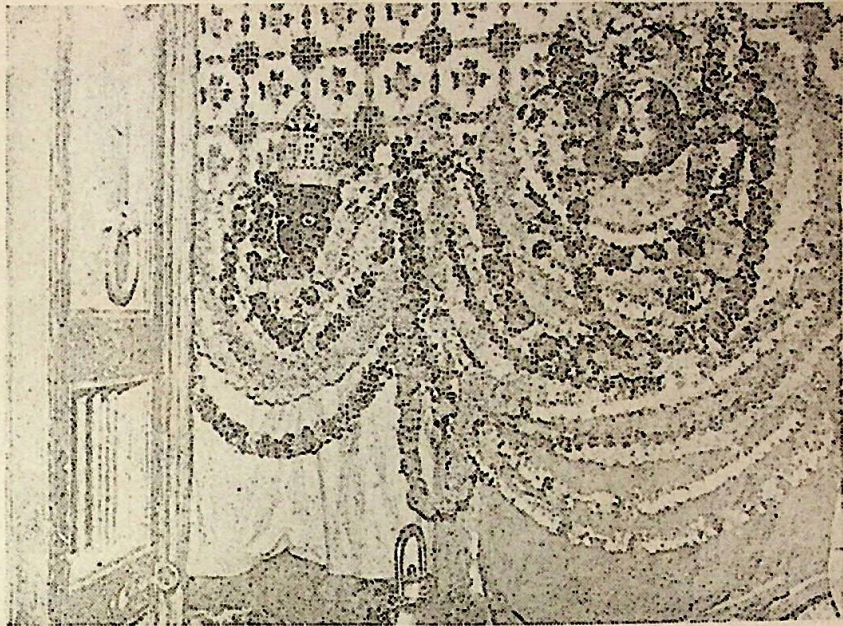
चित्र-सं० ११ : सौभाग्य गौरी
(पृ० ८६-८७)

चित्र-सं० १२ :
नृत्यमाना दुर्गा
(कालभैरव-मन्दिर के पास)
(पृ० ८७)

चित्र-सं० १३ :
भवानी गौरी की
वर्त्तमान मूर्त्ति
(पृ० ८९-९०)
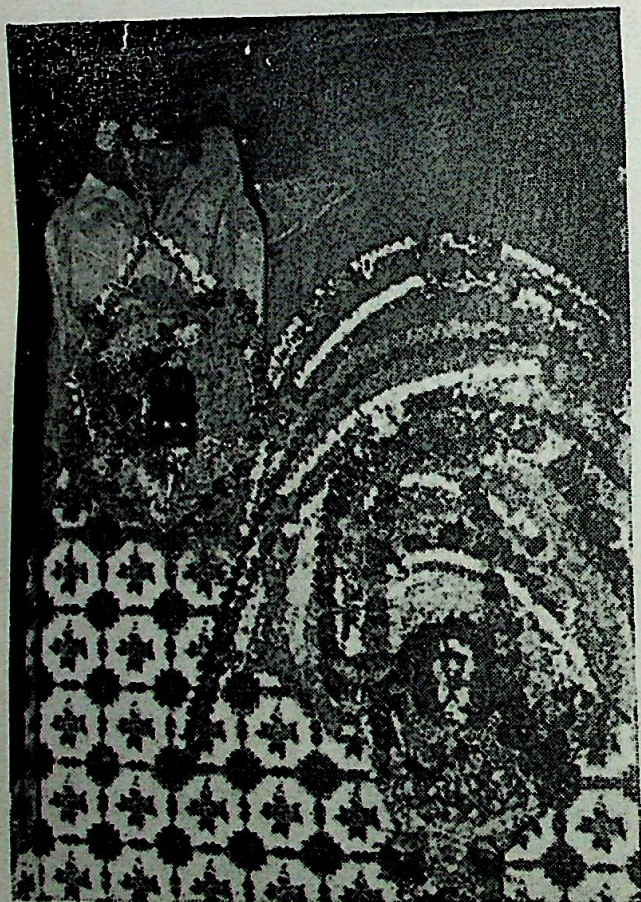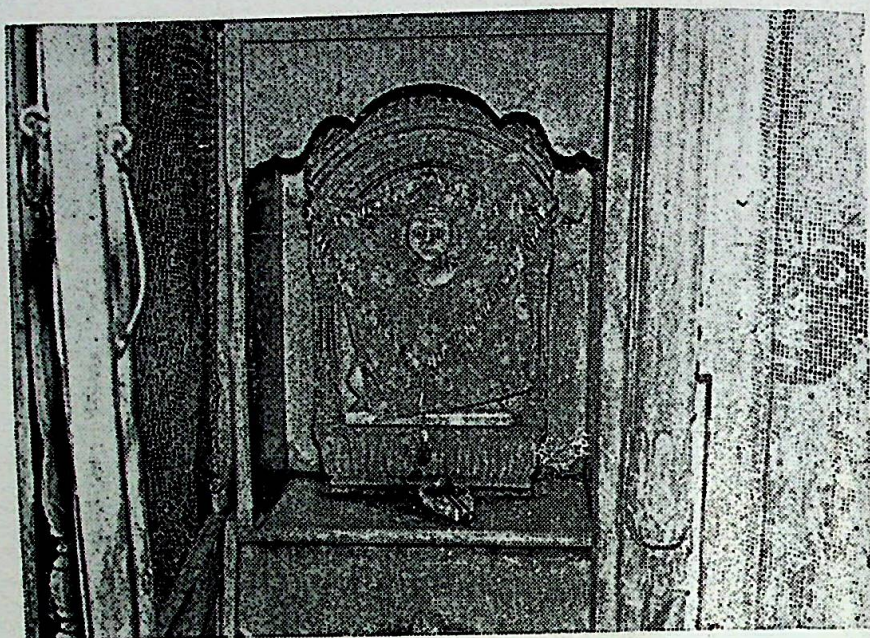
चित्र-सं० १४ :
विरूपाक्षी गौरी तथा अविमुक्त विनायक
(पृ० ९३)
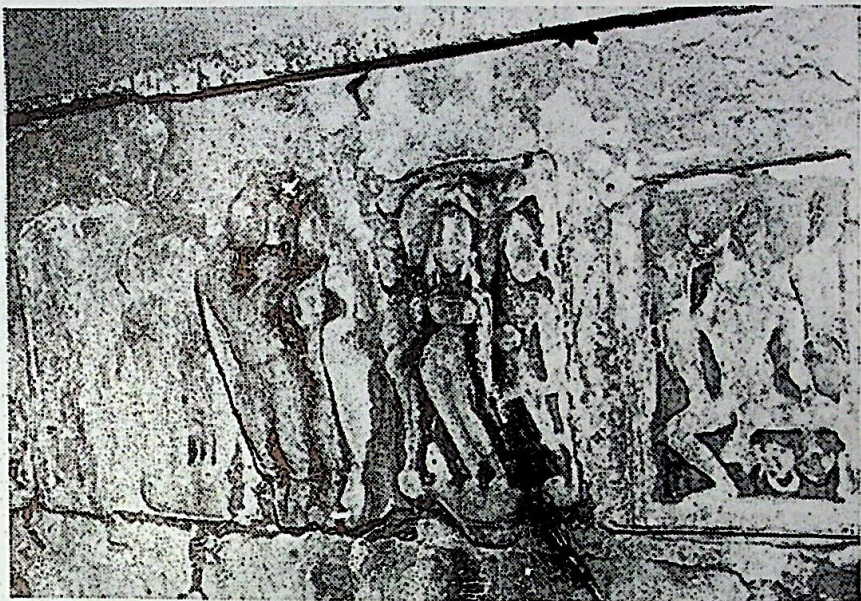
चित्र-सं० १५ : माहेश्वरी की मूर्त्ति (पृ० ९४-९५)
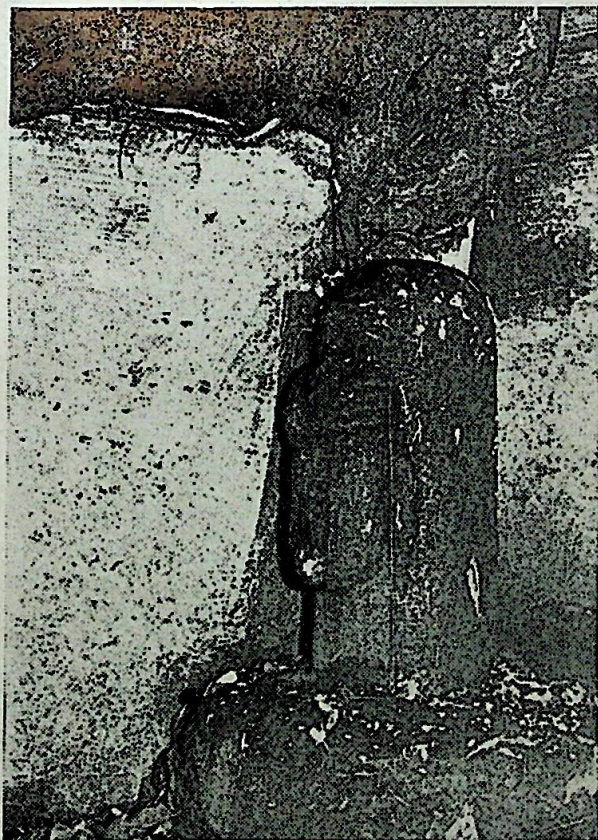
चित्र-सं० १६ : देवयानीश्वर (पृ० ९७)

चित्र-सं० १७ : हरसिद्धि देवी
(पृ० ९७)
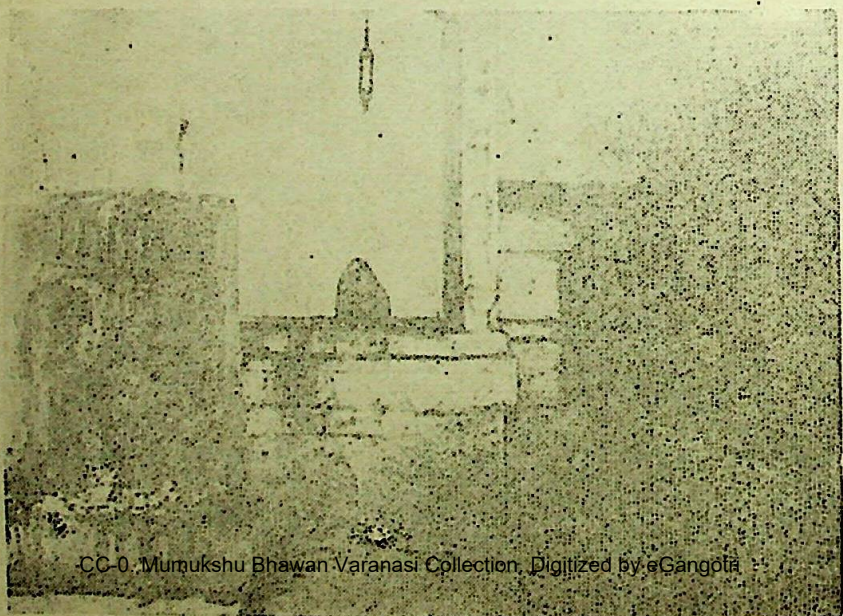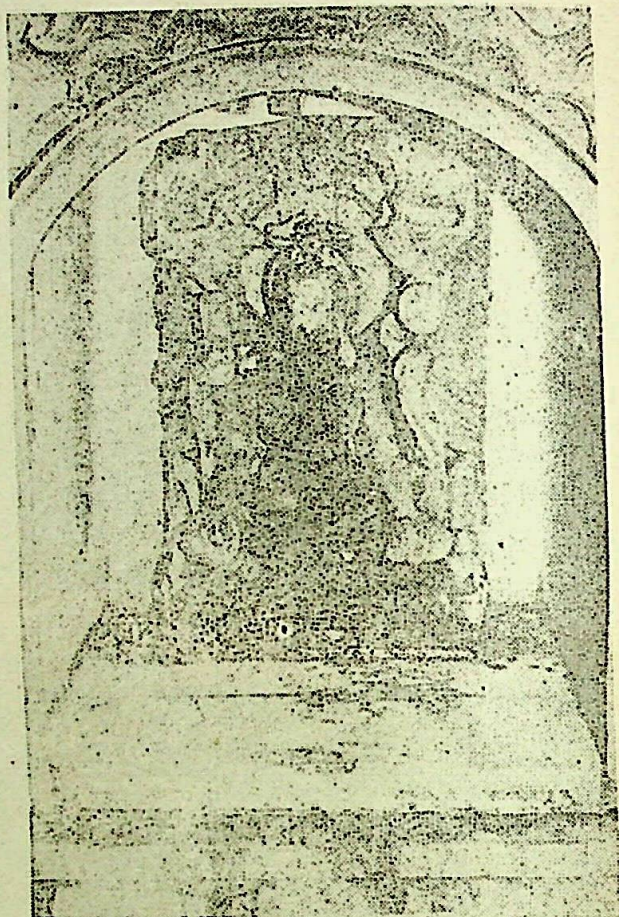
चित्र-सं० १९ : ढुंढिराज
(रानी भवानी द्वारा स्थापित मूर्त्ति)
(पृ० १०१/३४८)
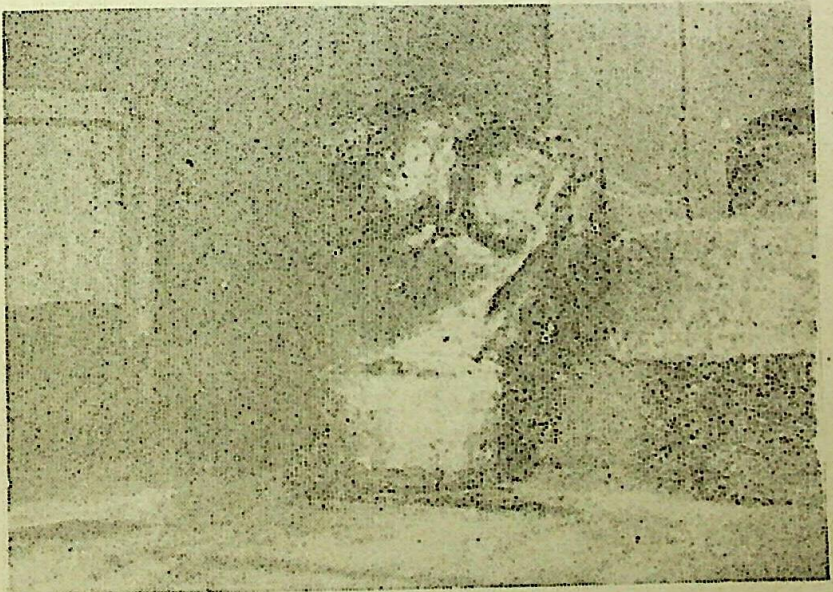
चित्र-सं० २० : षडानन की प्राचीन मूर्त्ति—शिवलिंग के रूप में (षडाननपीठ)
(पृ० १०२)

चित्र-सं० २१ : कंकाल भैरव
(पृ० १०७)

चित्र-सं० २२ : क्षेत्रपाल दंडपाणि
(नवीं दसवीं शताब्दी की मूर्त्ति)
(पृ० १०९-११०)

चित्र-सं० २३ : ब्रह्माघाट के ब्रह्माजी (तेरहवीं चौदहवीं शताब्दी की मूर्त्ति)
(पृ० ११२)

चित्र-सं० २४ : ब्रह्माघाट के ब्रह्माजी की तेरहवीं-चौदहवीं शताब्दी की मूर्त्ति
(पृ० ११० १११)
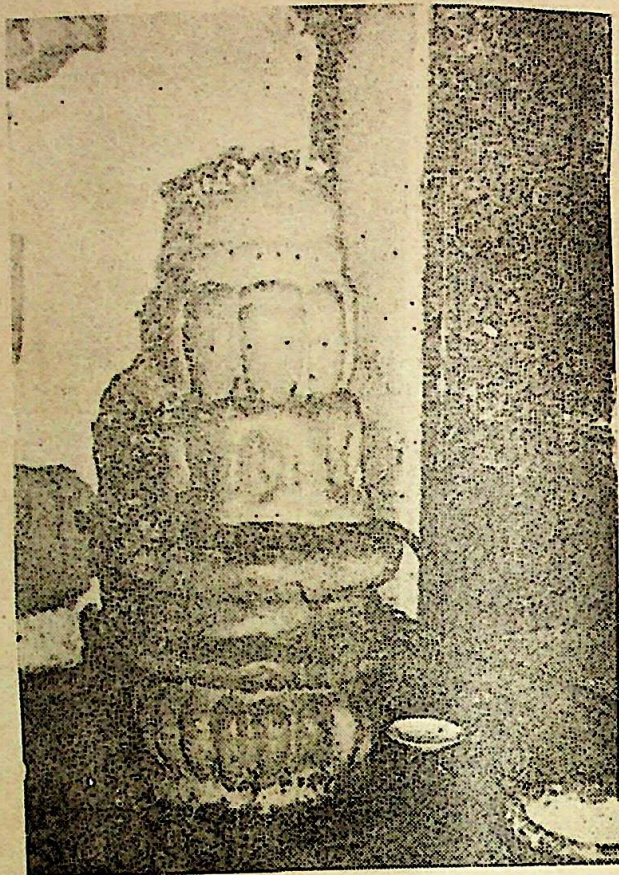
चित्र-सं० २५ : महाश्मशान-स्तम्भ का प्राचीन शीर्षक (चक्रपाणि भैरव के नाम से प्रख्यात)
(पृ० १२०-१२१)
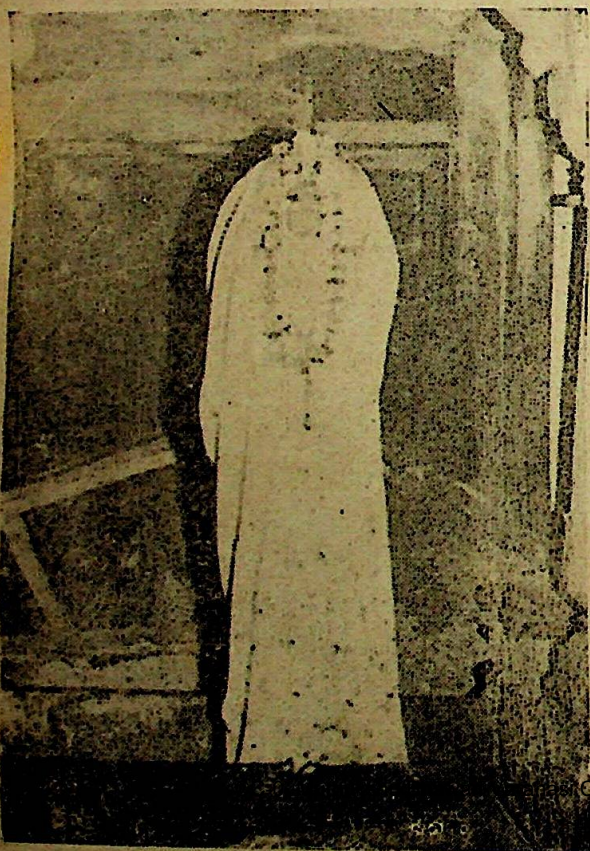
चित्र-सं० २६ : दण्डपाणि भैरव
(पृ० १२१)
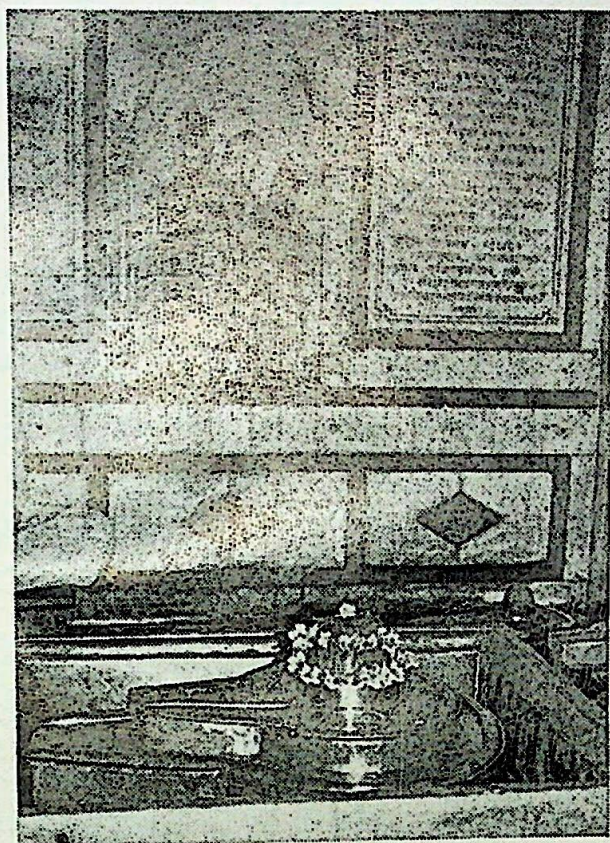
चित्र-सं० २७ : अविमुक्तेश्वर
(विश्वनाथ-मन्दिर में)
(पृ० १३५-३६/१४१-४२)

चित्र-सं० २८ : आदिविश्वेश्वर (पृ० १३७-३८)
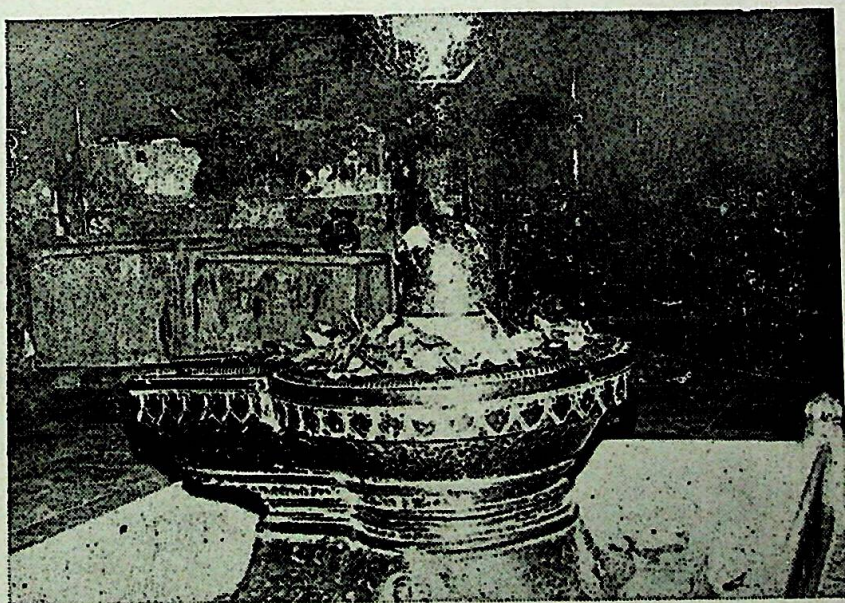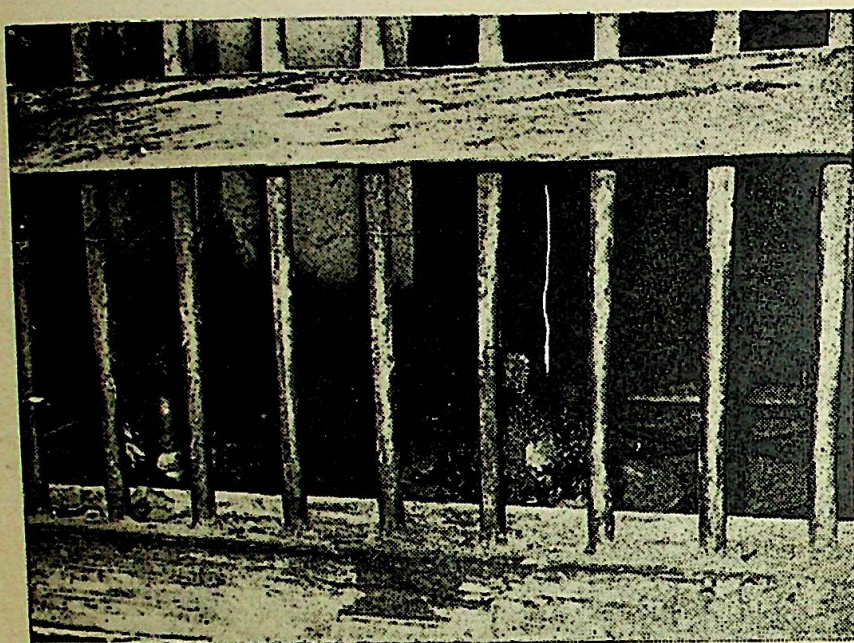
चित्र-सं० २९ : अविमुक्तेश्वर की पुनः स्थापित प्राचीन मूर्ति (ज्ञानवापी मस्जिद की सीढ़ियों के सामने) (पृ० १३६)
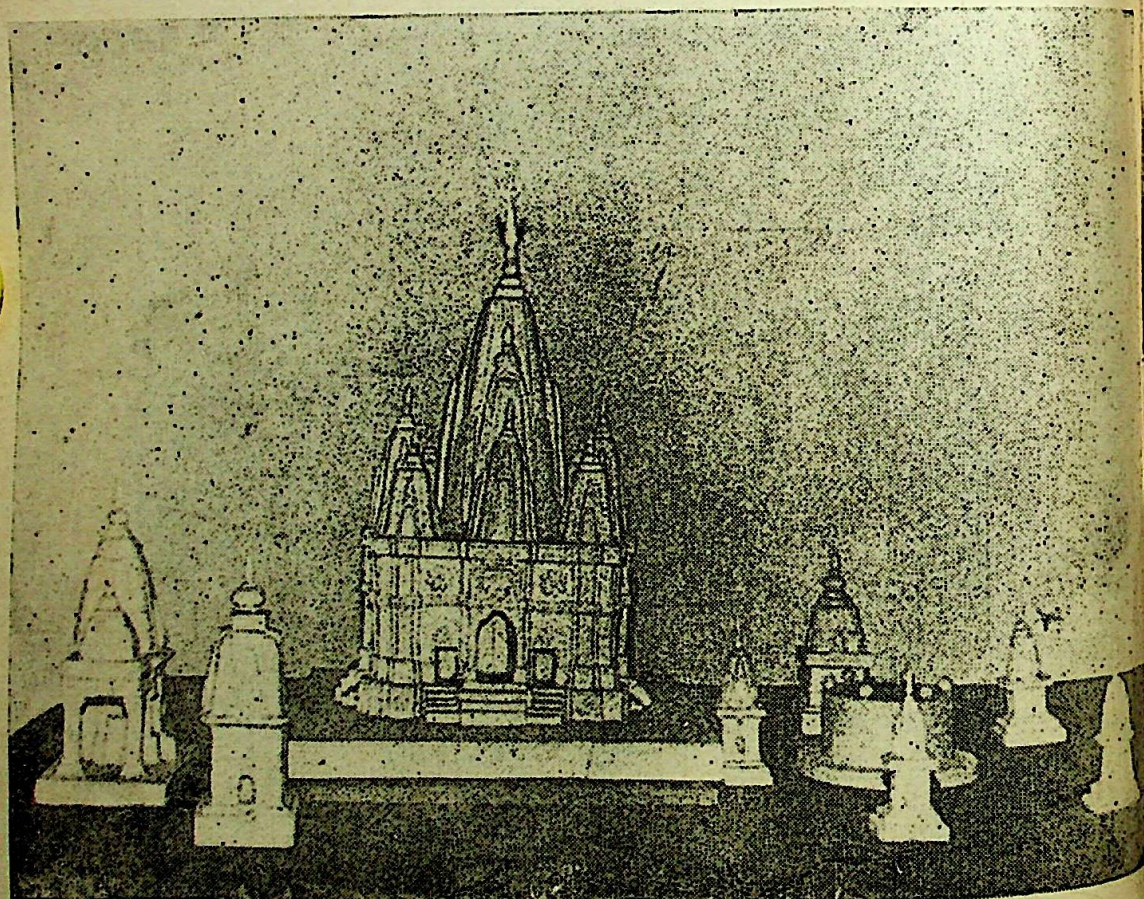
चित्र-सं० ३० : ज्ञानवापी के उत्तर विश्वेश्वर-मन्दिर

(राजा टोडरमल द्वारा सन् १५८५ ई० में निर्मित)
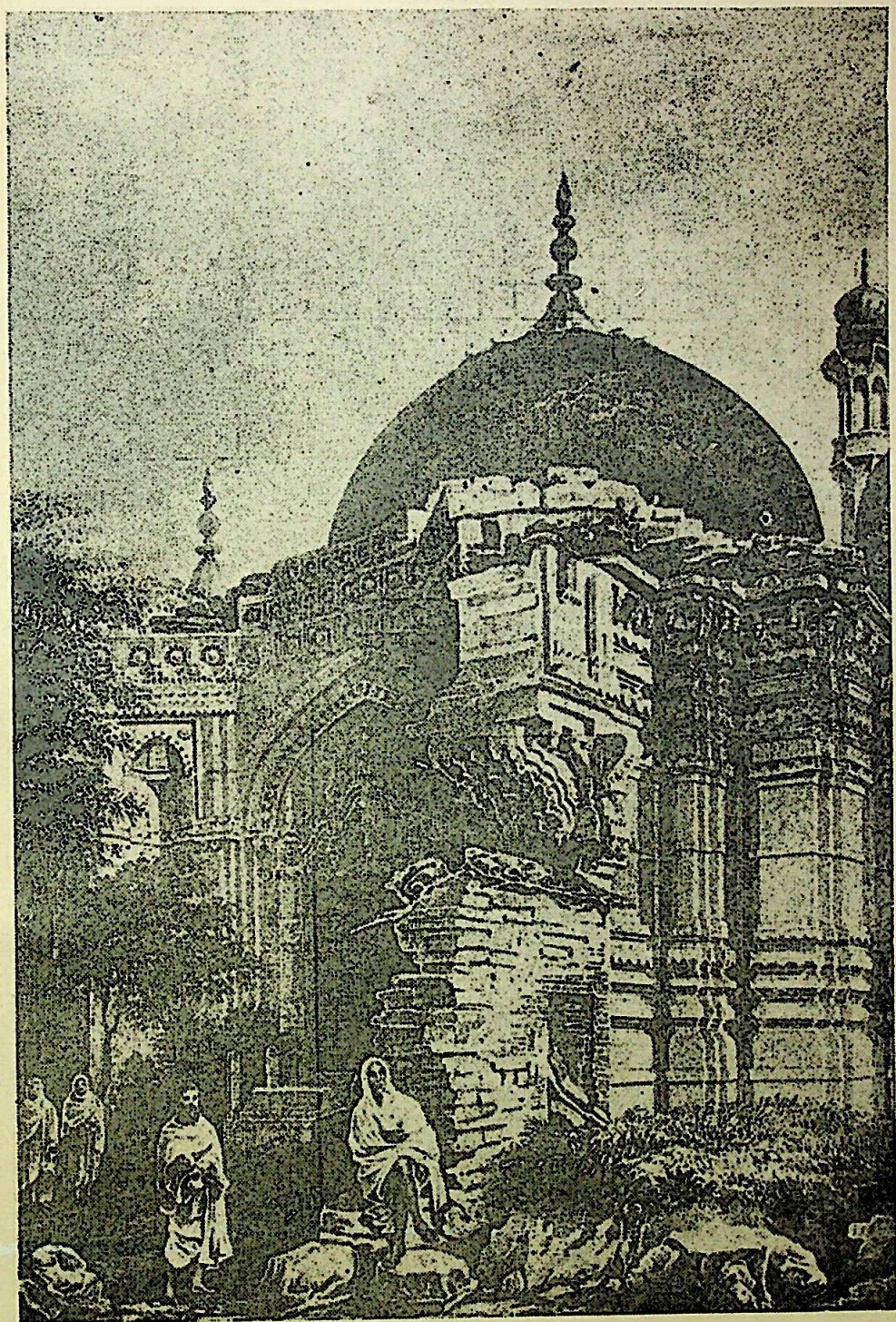
चित्र-सं० ३१ : ज्ञानवापी मस्जिद का पश्चिमीय पार्श्व
(उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ का स्वरूप)
(पृ० १४२/१४६)

चित्र-सं० ३२ : ज्ञानवापी के विश्वेश्वर-मन्दिर के स्थापत्य का स्वरूप
(प्रिन्सेप के अनुसार) (पृ० १४२/१४४/१४६/१४८)
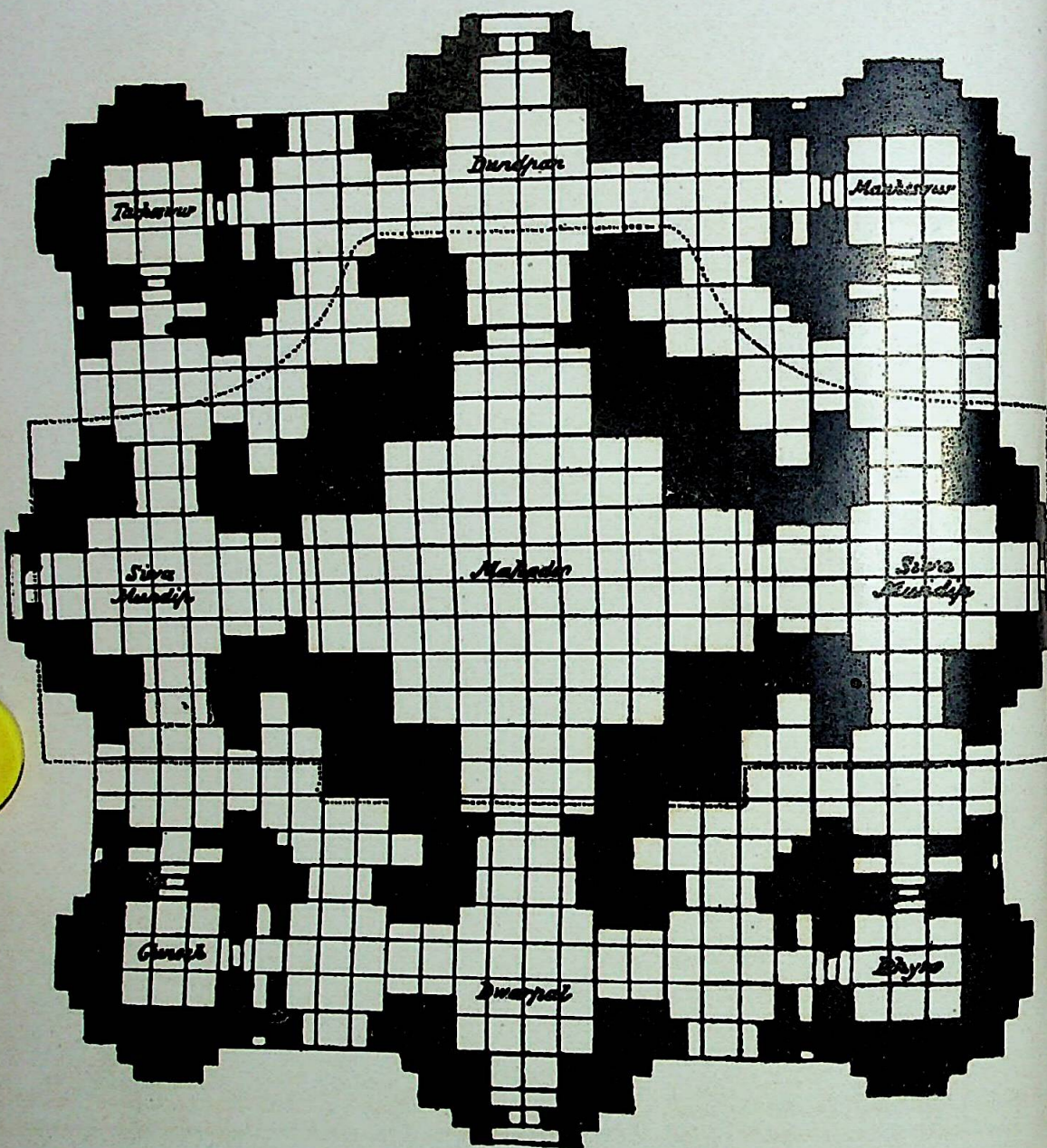
चित्र-सं० ३३ : विश्वनाथजी (पृ० १४४—१५०)

चित्र-सं० २४ : देहली विनायक (नवीं शताब्दी की मूर्त्ति)
(पृ० २४२/४३) (भारत-कला-भवन के सौजन्य से)
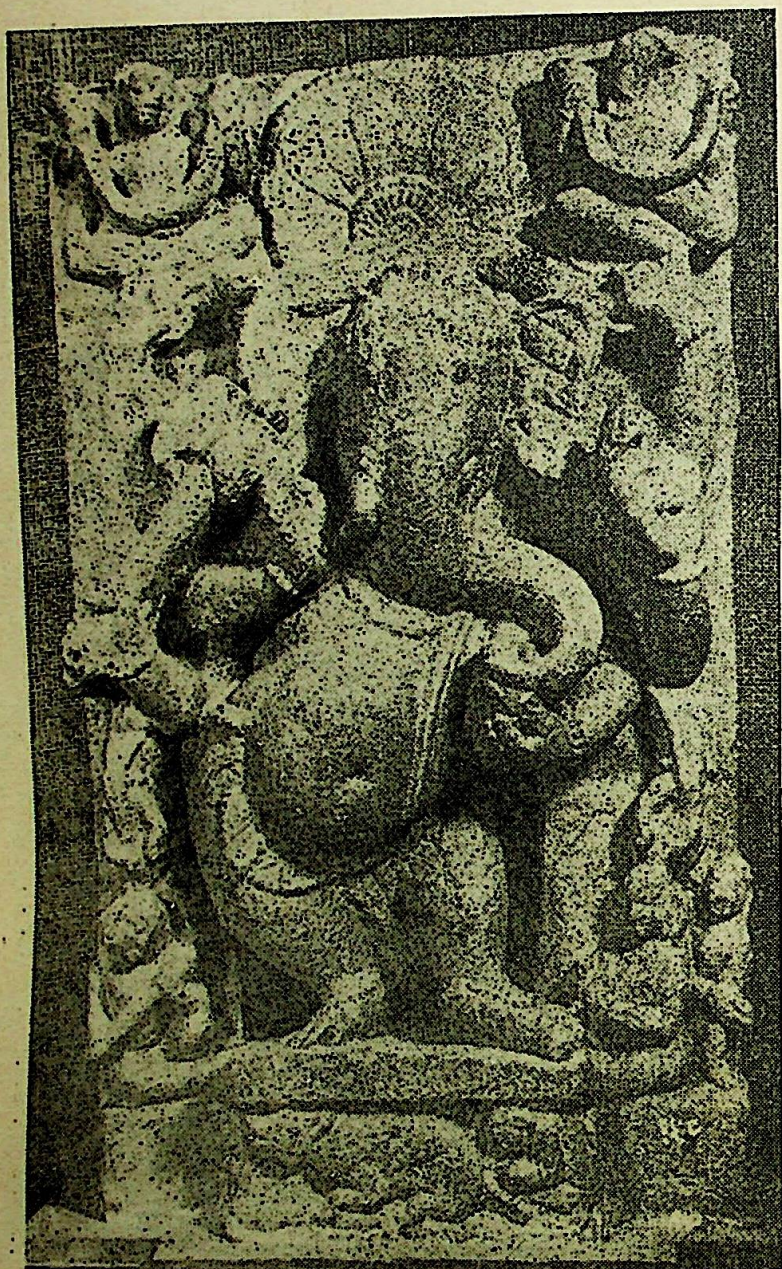
चित्र-सं० ३५ : राजपुत्र विनायक
(साँतवीं-आठवीं शताब्दी की मूर्त्ति)
(पृ० २४३)
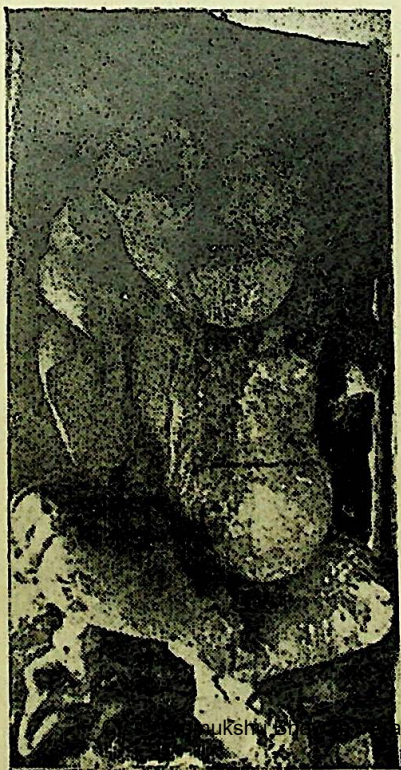
चित्र-सं० ३६ : राजपुत्र विनायक
(आठवीं-नवीं शताब्दी की मूर्त्ति)
(पृ० २४३)

चित्र-सं० ३७ : गोवर्धनधारी : पाँचवीं शताब्दी की मूर्त्ति, जो बकरियाकुण्ड के समीप स्थापित थी (पृ० २४६) (भारत-कला-भवन के सौजन्य से)
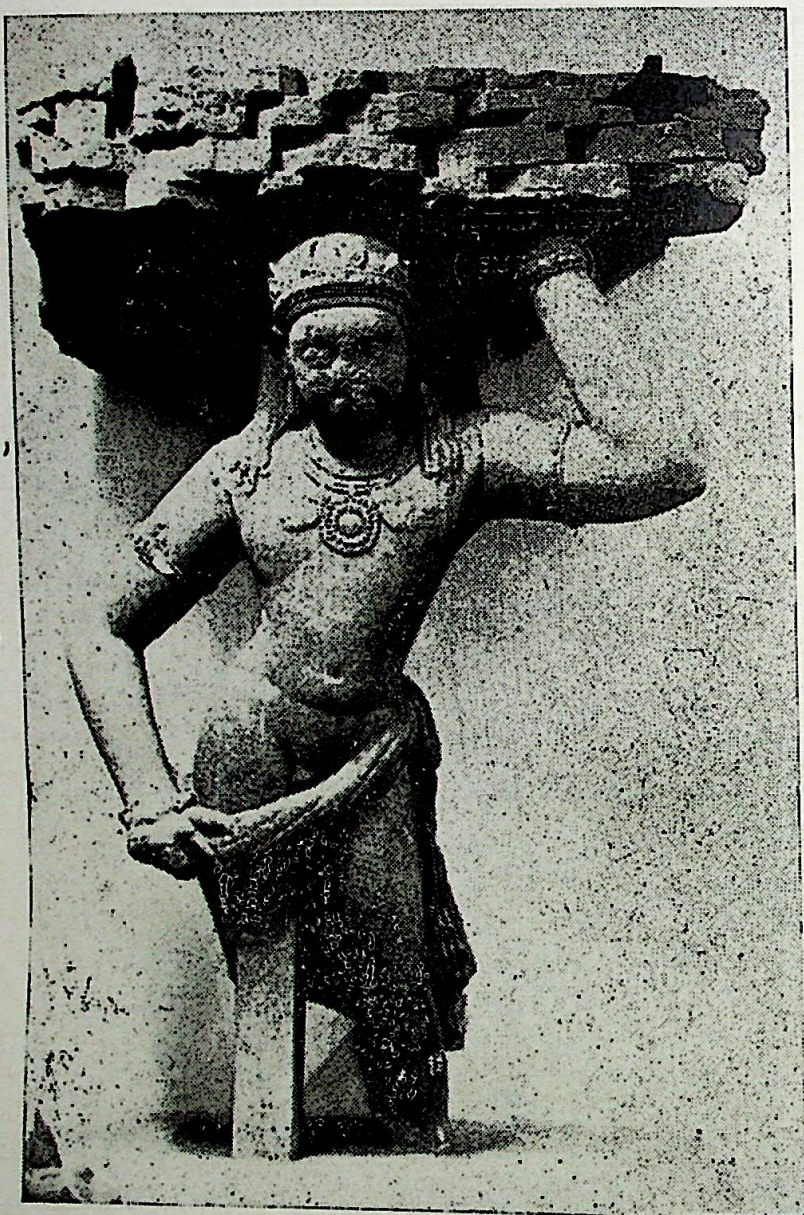
चित्र-सं० ३८ : स्कन्द : पाँचवीं शताब्दी की मूर्त्ति, जो स्कन्देश्वर में स्थापित थी (पृ० २८६)

चित्र-सं० ३९ : बलभद्रजी (शुङ्गकालीन मूर्त्ति, जो वनभद्रेश्वर में थी) (पृ० २८७)
(भारत कला भवन के सौजन्य से)

चित्र-सं० ४० : ब्रह्माघाट का प्रारम्भिक स्वरूप—उन्नीसवीं शताब्दी (पृ० २९९)

परिषद् के अभिनव गौरव-ग्रन्थ